हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण २७५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४=)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पैंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. U. P. (India)

❀ श्रीहरिः ❀

कल्याण आश्विन सं० १९९१ की

विषय-सूची

भूल-सुधार

श्रीशक्ति-अङ्क पृष्ठ ६५६ में श्रीअन्नपूर्णाजीके मन्दिरमें श्रीलक्ष्मीजी और श्रीसरस्वतीजी नामक चित्र छपा है। वह चित्र श्रीयुत गोपालमलजी पुरुषोत्तमदासजीके बनवाये हुए मन्दिरकी मूर्तियोंका है।

श्रीगीता-परीक्षा-समिति

श्रीगीता-परीक्षा-समिति, गोरखपुरद्वारा सञ्चालित श्रीगीताकी परीक्षाएँ कार्तिक शुक्ल ९ से न होकर कार्तिक शुक्ल १२ रविवार तदनुसार ता० १८-११-१९३४ ई० से होंगी।

संयोजक—
राघवदास

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह हर एक महीनेकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६||=) नियत है। एक संख्याका मूल्य।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते। कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी०के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

भगवान् श्रीविष्णु, शिव-पार्वती, ब्रह्मा कीर्तन देख रहे हैं। प्रह्लाद ताली बजा रहे हैं, उद्धव झाँझ बजाते हैं, नारद वीणा बजाते हैं, अर्जुन राग अलापते हैं, इन्द्र मृदंग बजाते हैं, सनत्कुमारादि जयजयकार कर रहे हैं, शुकदेव भाव बता रहे हैं, भक्तिदेवी अपने ज्ञान-वैराग्य दोनों पुत्रोंसहित नाच रही है।

(भागवत मा० अ० ६। ८६—८९)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रसिद्धान् सिद्धान् वा शिशुतरुणवृद्धानपि जनानुदारान् वा दाराननवरतमाराधनपरान् ।
चिदानन्दात्मेयं भुवनजननी संविदमला हरन्ती हृच्छल्यान्नयति किल कल्याणपदवीम् ॥

वर्ष ९ | गोरखपुर, आश्विन १९९१, अक्टूबर १९३४ | संख्या ३ पूर्ण संख्या ९९

माधव जू ! जो जनतें बिगरै ।
तउ कृपालु करुनामय केसव प्रभु नहिं जीय धरै ॥
जैसे जननि-जठर-अंतरगत सुत अपराध करै ।
तउ पुनि जतन करै अरु पोसै, निकसे अंक भरै ॥
जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटत कर कुठार पकरै ।
तऊ सुभाय सुगंध सुसीतल रिपु-तन-ताप हरै ॥
करुना-करन दयालु दयानिधि निज भय दीन डरै ।
इहि कलिकाल-ब्याल मुख ग्रासित 'सूर' सरन उबरै ॥

—श्रीसूरदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्रश्न—सत्संग पुरुषार्थसे मिलता है या भाग्यसे ?

उत्तर—भक्तोंका यही सिद्धान्त है कि सत्संग भगवत्कृपासे मिलता है। पुरुषार्थवादी कहते हैं कि वह पुरुषार्थसे मिलता है किन्तु इसमें भगवत्कृपा ही प्रधान है।

प्र०—यदि भगवत्कृपासे सत्संग मिलता है तो फिर पुरुषार्थ क्यों करना चाहिये ?

उ०—प्रभुकृपासे हमें कोई खजाना मिल जाय तो उसकी रक्षा करनेके लिये भी कुछ परिश्रम करनेकी आवश्यकता है, यह पुरुषार्थ भी भगवत्कृपासे ही होता है। भक्त तो भगवत्कृपाको छोड़ पुरुषार्थको कोई चीज़ मानता ही नहीं। सत्संगमें जानेके लिये पुरुषार्थकी आवश्यकता है पर पुरुषार्थ वही करेगा कि जिसमें कृपाका अङ्कुर होगा। बिना कृपाके सत्संगमें कोई पैर भी नहीं रक्खेगा।

प्र०—सत्संग मिलनेके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

उ०—प्रभुसे या भक्तसे प्रार्थना करनी चाहिये। भक्त और भगवान् एक ही हैं।

प्र०—सत्संगमें प्रीति कैसे बढ़े ?

उ०—प्रतिदिन सत्संग करनेसे सत्संगमें प्रीति बढ़ती है। एक दिन गये और चार दिन नहीं गये इससे प्रीति नहीं बढ़ती।

प्र०—सत्संग करनेपर भी सत्संगके परायण क्यों नहीं होते ?

उ०—सत्संग नियमपूर्वक नित्यप्रति निरन्तर नहीं करते। जो वैसा करते हैं वे परायण हो जाते हैं।

प्र०—सत्संग महात्माकी परीक्षाके लिये भी करनेमे लाभ है या नहीं ?

उ०—परीक्षाके लिये करनेमें भी लाभ है क्योंकि वह सत्संगमें जाता है और महात्मा भी उसके लिये भगवान्से प्रार्थना कर सकते हैं कि इनकी भी आपमें प्रीति हो। नहीं तो सत्संगकी महिमा भी क्या रहेगी ?

प्र०—सत्संग दम्भ या मानवृद्धिके लिये करनेसे भी लाभ होता है या नहीं ?

उ०—लाभ ही है, पहले-पहले यह सब नकली होता है पीछे धीरे-धीरे सब दोष दूर हो जाते हैं। नकल पहले होती है पीछे असली हो जाती है। परन्तु दम्भ और मानवृद्धिकी इच्छाको त्यागकर ही सत्संग करना चाहिये।

प्र०—सत्संग किनका करना चाहिये ?

उ०—जो सत्पुरुष भगवत्के गुणानुवाद तो करता है किन्तु वह स्वयं कामी, क्रोधी अथवा लोभी है, मेरा पहले यह विचार था कि ऐसे लोगोंका संग न करें किन्तु एक महात्माने मुझसे कहा, 'हलवाईकी मिठाई खानेवाला उसके गुण-दोष नहीं देखता' परन्तु यह बात ऊँची कोटिके लिये है, साधारण साधकके लिये नहीं है, अतएव साधकके लिये तो सर्व सद्गुणसम्पन्न भगवद्भक्तका ही संग करना लाभप्रद है, नहीं तो दोष देखकर उसकी सत्संगसे अरुचि हो जायगी, या वह दोषोंका अनुकरण करने लगेगा।

प्र०—सत्संगसे बढ़कर भी कोई सुलभ और सर्वोत्तम साधन है क्या ?

उ०—सब साधनोंका सर्वोच्च मूलकारण सत्संग है। यह बीजरूप है। और सब शाखा-प्रशाखा हैं। सत्संग सबसे बढ़कर सुलभ साधन है।

प्र०—सत्संगके अभावमें सत्-शास्त्र-विचार करनेके लिये प्रधान-प्रधान कौन-से ग्रन्थ हैं ?

उ०—प्रधान ग्रन्थोंमें मैंने तो चार ग्रन्थ मान रक्खे हैं । उपनिषद्, गीता, रामायण और भागवत । बिनय-पत्रिका रामायणमें आ जाती है । वैसे तो सब ग्रन्थ उत्तम हैं ।

प्र०—सत्-शास्त्र-विचारसे भी सत्संगके समान ही लाभ हो सकता है या नहीं ?

उ०—जो सत्-शास्त्रका विचार कर लेगा, वही सत्संगसे अधिक लाभ उठावेगा । यद्यपि सत्-शास्त्र-विचारसे सत्संगका महत्त्व बहुत अधिक है किन्तु सत्संगके साथ-साथ सत्-शास्त्र-विचार भी करना चाहिये। जो अद्वैतवादी हैं उनके लिये भी उपनिषदोंमें और श्रीमद्भागवतमें सब सामग्री मिल जाती है ।

प्र०—मनुष्य-जीवनका क्या लक्ष्य होना चाहिये ?

उ०—मननशीलको मनुष्य कहते हैं, उसके दो लक्ष्य होने चाहिये, एक ईश्वरप्रेम और दूसरा शास्त्रोक्त शुद्ध व्यवहार ।

प्र०—लक्ष्य-प्राप्तिके लिये गुरुकी भी आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—सद्गुरुकी आवश्यकता जरूर है । यदि लौकिक गुरुमें पूर्ण श्रद्धा न हो तो वसिष्ठ आदिको गुरु मानना चाहिये । उनमें विश्वास होनेसे वे स्वप्नमें उपदेश दे देंगे परन्तु यह कठिन है इसलिये लौकिक गुरु करनेकी आवश्यकता है ।

प्र०—सद्गुरुके लक्षण बतलानेकी कृपा कीजिये ।

उ०—जिसका नाम सुननेसे, जिसके दर्शन करनेसे, जिसके वचन सुननेसे भगवत्स्मृति हो और विलक्षण आनन्द हो, उसको गुरु समझना चाहिये । दूसरा लक्षण है, जो कामिनी-काञ्चनका त्यागी हो और दैवीसम्पत्तिसे युक्त हो । इनमें पहला लक्षण मुख्य है । गुरुको समझनेकी तो शिष्यमें सामर्थ्य नहीं है इसलिये जहाँतक बन पड़े उपर्युक्त लक्षणोंवालेको ही गुरु मानना चाहिये । यदि एकसे काम न बने तो दूसरा गुरु भी कर सकते हैं ।

प्र०—शिष्यके लक्षण कौन-से हैं ?

उ०—शिष्यमें पहला लक्षण यह होना चाहिये कि वह अमानी हो और श्रद्धालु हो । जबतक अमानी न होगा तबतक शिष्य हो ही नहीं सकता । मत्सररहित हो, गुरुमें दृढ़ प्रेमी हो, जल्दबाज़ न हो और सत्यवादी हो । कम-से-कम वह श्रद्धालु और अमानी तो अवश्य होना चाहिये ।

प्र०—वैराग्य किसे कहते हैं ?

उ०—विषय पासमें रहनेपर भी उसमें राग न हो । इन्द्रियोंके समीप विषय रहनेपर भी उनके भोगमें अरुचि होनेको वैराग्य कहते हैं, वैराग्य घरमें रहनेपर भी हो सकता है ।

प्र०—त्याग किसे कहते हैं ?

उ०—वस्तुको स्वरूपसे त्याग देनेको त्याग कहते हैं।

प्र०—क्या त्यागके बिना भी वैराग्य हो सकता है ?

उ०—हो सकता है, कैसे ?—प्रेम होनेसे ।

प्र०—भगवत्प्रेमके लिये वैराग्यकी आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—भगवत्प्रेम होनेसे वैराग्य होगा और वैराग्य होनेसे प्रेम होगा । इनका परस्पर अन्योन्यसम्बन्ध है, अविनाभावी सम्बन्ध है अर्थात् वैराग्यके बिना प्रेम नहीं होता और प्रेमके बिना वैराग्य नहीं होता ।

कर्मयोग-रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

र्मयोगका रहस्य बड़ा ही गहन है। इसका वास्तविक तत्त्व या तो श्रीपरमेश्वर जानते हैं या वे महापुरुष भी जानते हैं जिन्होंने कर्मयोगद्वारा परमेश्वर (परमात्मा) को प्राप्त कर लिया है। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इस रहस्यका व्यक्त करना अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि कर्मयोगके रहस्यको वास्तवमें मैं अच्छी प्रकार जानता ही नहीं। इसके अतिरिक्त यत्किञ्चित्—जितना कुछ जानता हूँ उतना कह नहीं सकता और जितना कहता हूँ उतना स्वयं काममें नहीं ला सकता, तथापि मित्रोंके अनुरोध करनेपर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कर्मयोगके रहस्यका कुछ अंश प्रश्नोत्तरके रूपमें व्यक्त करनेका प्रयत्न करता हूँ। श्रीभगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है (और) उलटा फलरूप दोष (भी) नहीं होता है (इसलिये) इस (निष्काम कर्मयोगरूप) धर्मका थोड़ा भी (साधन) जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।'

प्रश्न—निष्काम कर्मयोगके आरम्भका नाश नहीं होता इसका क्या अभिप्राय है ? क्या एक बार प्रारम्भ होनेपर यह चालू ही रहता है, या जितना बन गया, उसका नाश नहीं होता ?

उत्तर—पूर्वसञ्चित पाप, अहंता-ममता और आसक्ति आदि अवगुणोंके कारण तथा विषय-भोगोंका एवं प्रमादी विषयी पुरुषोंका संग होनेसे मार्गमें रुकावट तो हो जाती है, किन्तु निष्काम कर्म-योगरूप धर्मका जितना पालन हो जाता है उसका नाश नहीं होता। क्योंकि फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वभावसे किये हुए साधनके नाश होनेका कोई भी कारण नहीं है। फलकी इच्छासे किया हुआ कर्म ही फलको देकर समाप्त होता है।

प्र०—प्रत्यवाय यानी उलटे फलरूप दोषका भागी नहीं होता इसका क्या अभिप्राय है ?

उ०—मनुष्य जैसे अपना उपकार करनेवालेकी सेवा न करनेसे दोषका भागी होता है, तथा जैसे देव, पितर, राजा, मनुष्यादिकी सेवा किसी कामनासे करता है और उसमें किसी कारणवश त्रुटि हो जानेपर उनके रुष्ट होनेसे उसका अनिष्ट भी हो सकता है किन्तु निष्काम कर्मयोगके पालनमें त्रुटि रहनेपर भी उसका उलटा फल यानी कर्त्ता-का अनिष्ट नहीं होता तथा नहीं पालन करनेसे वह दोषका भागी भी नहीं होता।

प्र०—कोई-कोई प्रत्यवाय शब्दका विघ्न अर्थ करते हैं, क्या यह भी बन सकता है ?

उ०—'विघ्न' अर्थ युक्तिसंगत नहीं है। निष्काम कर्मयोग-रूप धर्मके पालनमें विघ्न-बाधाएँ तो आ सकती हैं, किन्तु उसका परिणाम बुरा नहीं होता।

(गीता ६। ४०—४२)

प्र०—यहाँ 'अपि' शब्द किस बातका द्योतक है ?

उ०—जब कि इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन भी महान् भयसे उद्धार करनेवाला है तब इसका पूर्ण साधन महान् भयसे मुक्त कर देता है, इसमें तो कहना ही क्या है ।

प्र०—इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन महान् भयसे कैसे उद्धार करता है ?

उ०—निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन संस्कारके बलसे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर अन्तमें साधकको मुक्त कर देता है ।

प्र०—जब कि यह निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन वृद्धिको प्राप्त होकर ही महान् भयसे उद्धार करता है तब फिर थोड़ेका क्या महत्त्व रहा ?

उ०—निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है । अतः वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्कामी बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है, यही इसका महत्त्व है ।

प्र०—जो लोग धार्मिक संस्थाओंमें स्वार्थ त्यागकर बिना वेतन लिये या स्वल्प वेतन लेकर तन-मनसे काम करनेवाले हैं, उनका कर्म स्वार्थरहित होनेके कारण उसे तो निष्काम कर्मयोग ही मानना चाहिये, किन्तु निष्काम कर्मयोगके पालन करनेसे जितना लाभ बतलाया जाता है उतना लाभ देखनेमें नहीं आता, इसका क्या कारण है ?

उ०—निष्काम कर्मयोगसे जितना लाभ होना चाहिये उतना लाभ अपने साधनसे होता नजर नहीं आता, इस प्रकार वे सेवा करनेवाले भाई भी कहते हैं, अतः सम्भव है कि निष्काम कर्मयोगके रहस्यको न जाननेके कारण उनमें वास्तविक त्यागकी कमी है, इसीलिये वे पूरा लाभ नहीं उठा सकते, नहीं तो उन लोगोंको निष्काम कर्मयोगके साधन-का जितना लाभ गीतादि शास्त्रोंमें बतलाया है, उसके अनुसार लाभ उन्हें अवश्यमेव मिलता ।

प्र०—जो कञ्चन, कामिनी और शरीरके आरामको त्यागकर धार्मिक संस्थाकी तन-मनसे सेवा करते हैं उनके त्यागमें फिर और किस बातकी कमी रही ?

उ०—केवल कञ्चन-कामिनीके बाहरी त्यागसे ही मनुष्य सर्वत्यागी नहीं होता । वास्तवमें कञ्चन-कामिनीका बाहरी त्याग निष्काम कर्मयोगके साधनमें उतना आवश्यक भी नहीं है, उसमें तो भावकी ही प्रधानता है । अतः इसमें स्त्री, पुत्र और धनादिसे मिलनेवाले विषयभोगरूप सुख त्यागके साथ-साथ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं राग, द्वेष, अहंता, ममता आदिके त्यागकी भी बड़ी आवश्यकता है । जबतक इन सबका त्याग नहीं होता तबतक साधकको पूरा लाभ नहीं मिल सकता ।

प्र०—निष्काम कर्मयोगके अनुसार क्या इन लोगोंका थोड़ा भी साधन नहीं होता ?

उ०—जो जितना त्याग करता है उतने अंशमें उसका साधन अवश्य होता है तथा लाभ भी उसके अनुसार उसे अवश्य ही मिलना चाहिये ।

प्र०—जब कि कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे तार देता है तो फिर अधिक न भी हो तो क्या आपत्ति है ? क्योंकि उद्धार तो उसका हो ही जायगा ।

उ०—उद्धार तो होगा किन्तु समयका नियम नहीं । न मालूम इस जन्ममें हो या जन्मान्तरमें, क्योंकि वह थोड़ा-सा साधन क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर ही उद्धार करेगा । अतएव साधनकी कमीको

मिटानेके लिये शीघ्र कल्याण चाहनेवाले मनुष्य-को तो तत्पर होकर ही प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

प्र०—कर्मयोगके थोड़े साधनसे यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उ०—प्रथम तो कर्मयोगका स्वरूप समझना चाहिये । शास्त्रविहित उत्तम क्रियाका नाम कर्म है, उसमें आसक्ति और स्वार्थके सर्वथा त्यागपूर्वक समत्व-भावका यानी निष्कामभावका नाम योग है। यह निष्कामभाव ही इसका स्वरूप, प्राण और रहस्य है । इसलिये जिस कर्ममें निष्कामभाव है उसी-की 'कर्मयोग' संज्ञा है । जिन शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंमें निष्कामभाव नहीं है उनकी 'कर्म' संज्ञा है किन्तु 'कर्मयोग' नहीं । इसलिये सकामभावसे आजीवन किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे अनेकों कर्म भी क्षणभङ्गुर फल देनेवाले होनेके कारण महत्त्वके नहीं हैं, परन्तु निष्काम-भावसे अल्प मात्रामें किये हुए शास्त्रविहित कृषि, वाणिज्य, नौकरी और शिल्पक्रिया आदि साधारण कर्म भी परम कल्याणदायक होनेके कारण महान् हैं । अतएव जिसका नाम निष्काम कर्मयोग है उसका थोड़ा भी पालन यानी अल्प मात्रामें किया हुआ भी वह साधन क्रमसे वृद्धि-को प्राप्त होकर महान् भयसे मुक्त कर देता है किन्तु सकामभावसे किये हुए शास्त्रविहित बहुत-से कर्म भी जन्ममरणरूप महान् भयसे मुक्त नहीं कर सकते ।

प्र०—निष्काम कर्मयोगका स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाइये!

उ०—शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंमें फल और आसक्ति-को त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वबुद्धिसे केवल भगवत्-अर्थ या भगवत्-अर्पण कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है । इसीको समत्वयोग, बुद्धि-योग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म इत्यादि नामोंसे कहा है ।

प्र०—कर्मोंमें फलके त्यागका क्या स्वरूप है ?

उ०—स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि सांसारिक सुखदायक सम्पूर्ण पदार्थों-की इच्छा या कामनाका सर्वथा त्याग ही कर्मोंके फलका त्याग है ।

प्र०—कर्मोंमें आसक्तिका त्याग किसे कहते हैं ?

उ०—मन और इन्द्रियोंके अनुकूल सांसारिक सुख-दायक पदार्थों और कर्मोंमें चित्तको आकर्षण करनेवाली जो स्नेहरूपा वृत्ति है; 'राग', 'रस', 'सङ्ग' आदि जिसके नाम हैं उसके सर्वथा त्यागका नाम कर्मोंमें आसक्तिका त्याग है ।

प्र०—भगवत्-आज्ञासे यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उ०—श्रुति, स्मृति, गीतादि सत्-शास्त्र तथा महा-पुरुषोंकी आज्ञा ही भगवत्-आज्ञा है ।

प्र०—समत्वबुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, जीवन-मरण आदि इष्ट-अनिष्टकी प्राप्ति-में सदा-सर्वदा सम रहना समत्वबुद्धि है ।

प्र०—भगवत्-अर्थ और भगवत्-अर्पण कर्ममें क्या भेद है ?

उ०—फलमें कोई भेद नहीं । फल तो सबका ही परम-श्रेय है । यानी परमेश्वरकी प्राप्ति है, साधनकी प्रणालीमें कुछ भेद है ।

(क) भगवत्-अर्थ कर्म

स्वयं भगवत्की पूजा-सेवारूप कर्मोंको या भगवत्-आज्ञानुसार शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको भगवत्-प्रेम, प्रसन्नता या प्राप्तिके लिये कर्तव्य समझकर केवल भगवान्की आज्ञापालनके लिये

करना यानी कर्म करनेके पूर्व ही इन सब उद्देश्योंमेंसे किसी भी उद्देश्यको रखकर कर्मोंका करना भगवत्-अर्थ कर्म है। (गीता १२।१०)

(ख) भगवत्-अर्पण कर्म

शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको तथा मन, वाणी, शरीरसहित अपने-आपको प्रभुकी वस्तु समझकर प्रभुके समर्पण कर देना यानी कर्मोंके करनेमें अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के परतन्त्र समझकर कठपुतलीकी भाँति स्वामीके हाथमें सौंप देना। कठपुतलियोंका तो जड़ होनेके कारण स्वयं नटके अधीन होकर रहना नहीं है, नट ही उनको अपने अधीन रखता है, किन्तु इसका तो स्वयं स्वामीके अधीन होकर रहना है। इसलिये इसमें यह और विशेषता है। इसके सिवा पद-पदपर स्वामीकी दयाका दर्शन करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होते रहना और सर्वस्व स्वामीका ही समझते हुए कर्तापनके अभिमानसे रहित रहकर निमित्तमात्र बनकर प्रभुकी आज्ञानुसार कर्मोंका करना सर्वोत्तम भगवत्-अर्पण कर्म है। (गीता ९। २७-२८)

प्र०—क्या निष्काम कर्मयोगका यह साधन कष्टसाध्य है?

उ०—वास्तवमें कष्टसाध्य नहीं है, हाँ, जो कष्ट-साध्य मानते हैं उनके लिये कष्टसाध्य है और जो सुखसाध्य मानते हैं उनके लिये सुखसाध्य है।

प्र०—यदि ऐसा है तो साधकको सुखसाध्य ही मानना चाहिये। किन्तु जो कञ्चन, कामिनी, कुटुम्ब और शरीरके आरामको छोड़कर साधन करते हैं उनको भी यह कष्टसाध्य क्यों प्रतीत होता है?

उ०—मनकी चञ्चलता, तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा एवं राग, द्वेष, ममता, अहङ्कार और अज्ञान आदि दोषोंके कारण, तथा श्रद्धा और प्रेमकी कमीके एवं इसके रहस्य और प्रभावको न जाननेके कारण यह कष्टसाध्य प्रतीत हो सकता है।

प्र०—इस साधनमें रुकावट डालनेवाले दोषोंमें भी विशेष दोष कौन-कौनसे हैं?

उ०—श्रद्धा और प्रेमकी कमी, मान और बड़ाईकी इच्छा, मनकी चञ्चलता, अज्ञान, आसक्ति और अहङ्कार प्रभृति विशेष दोष हैं।

प्र०—इन सबके नाशके लिये साधकको क्या करना चाहिये?

उ०—विवेक और वैराग्यद्वारा सारे विषयभोगोंसे मनको हटाकर भगवान्‌की शरण रहते हुए, श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम कर्मयोगके साधनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार चेष्टा करनेसे सम्पूर्ण दुःख और दोषोंका नाश होकर परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

प्र०—'प्राणपर्यन्त चेष्टा' करना किसे कहते हैं?

उ०—कञ्चन, कामिनी, भोग और आरामकी तो बात ही क्या है, निष्काम कर्मयोगरूप धर्मके थोड़े-से भी पालनके मुकाबलेमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और अपने प्राणोंको भी तुच्छ समझना एवं परम तत्पर होकर उसके पालनके लिये सदा-सर्वदा प्रयत्न करनेको प्राणपर्यन्त चेष्टा करना कहते हैं।

प्र०—इस प्रकारकी चेष्टा तत्परतासे न होनेमें क्या कारण है?

उ०—इसके प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे न समझना।

प्र०—प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे जाननेके लिये क्या करना चाहिये?

उ०—इसके प्रभाव और रहस्यको बतलानेवाले गीतादि शास्त्रोंका मनन एवं इसके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंका सङ्ग करके उनके बतलाये हुए

मार्गके अनुसार कटिबद्ध होकर चेष्टा करनेसे इसके प्रभाव और रहस्यको मनुष्य तत्त्वसे जान सकता है ।

जो इस निष्काम कर्मयोगके रहस्य और प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह फिर इसको छोड़ नहीं सकता । तथा साधन करते-करते अहंता, ममता और आसक्ति आदि सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है, और उसका सारे संसारमें सदा-सर्वदा समभाव हो जाता है । इस प्रकार जिसकी समतामें निश्चल-स्थिर स्थिति है उसकी परमात्मामें ही स्थिति है क्योंकि परमात्मा सम है । इसलिये वह सारे दुःख, पाप और क्लेशोंसे छूटकर परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है । ऐसी स्थिति जिसकी अन्तकालमें भी हो जाती है, वह भी जन्म-मृत्युके महान् भयसे छूटकर विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

(गीता २ । ७२)

कल्याण

दृढ़ निश्चय करो कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं नाम नहीं हूँ । ये नाम-रूप मुझमें आरोपित हैं । इनसे मेरा वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है । शरीरके नाशसे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता, नामके अयशसे मेरा अयश नहीं होता । मैं अमर हूँ, अजर हूँ, निष्कलङ्क हूँ, शुद्ध हूँ, सनातन हूँ, सदा एकरस हूँ, कभी घटने-बढ़नेवाला नहीं हूँ । शरीरके उपजनेसे मैं उपजता नहीं, शरीरके नष्ट होनेपर मैं नष्ट नहीं होता । मैं नित्य हूँ, असङ्ग हूँ, अव्यय हूँ, अज हूँ । मेरे स्वरूपमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

× × ×

जो कुछ परिवर्तन होता है, सब नाम-रूपमें होता है । नाम-रूपसे आत्मा सर्वथा पृथक् है । माताके गर्भमें जब जीवात्मा आया, उस समय उसका यह स्थूल शरीर (रूप) नहीं था, परन्तु जीवात्मा था, मरनेके बाद शरीर नष्ट हो जायगा, परन्तु जीवात्मा रहेगा, अतएव यह सिद्ध हुआ कि शरीर जीवात्मा नहीं है । इसी प्रकार माताके गर्भमें जीवका कोई नाम नहीं था । लोग कहते थे बच्चा होनेवाला है । यह भी पता नहीं था कि गर्भमें लड़की है या लड़का । जन्म होनेपर कहा गया, लड़का हुआ ! कुछ समय बाद एक नाम रक्खा गया । माता-पिताको वह नाम नहीं रुचा, उन्होंने दूसरा सुन्दर नाम रख लिया । बड़े होनेपर वह नाम भी बदल दिया गया । इससे यह सिद्ध हो गया नाम भी जीवात्मा नहीं है ।

× × ×

नाम-रूप दोनों ही कल्पित हैं—आरोपित हैं । परन्तु जीव इन्हींको अपना स्वरूप समझकर इनके लाभ-हानिमें अपनी लाभ-हानि समझता है और दिन-रात इन्हींकी सेवामें लगा रहता है । शरीरको आराम मिले, नामका नाम (कीर्ति) हो । बस, इसीके पीछे छोटे-बड़े सब पागल हैं । यह मोह है, अज्ञान है, उन्माद है, माया है । इससे अपनेको छुड़ाओ, अपने स्वरूपको सँभालो । याद रक्खो, जबतक इस नाम-रूपको अपना स्वरूप समझे हुए हो तभीतक जगत्के सुख-दुःख तुम्हें सताते हैं । जिस दिन जिस क्षण नाम-रूपको मिथ्या प्रकृतिकी चीज मान लोगे और अपनेको उनसे परे समझ लोगे, उसी क्षण प्रकृति-जन्य सुख-दुःखसे छूट जाओगे । सारा कार्य प्रकृतिमें हो रहा है, आत्मा निर्लेप है । आत्मा तुम्हारा स्वरूप है ।

× × ×

याद रक्खो, शरीरके बीमार होनेपर तुम बीमार नहीं होते, शरीरके स्वस्थ होनेपर तुम स्वस्थ नहीं होते, शरीरके मोटे होनेपर तुम मोटे नहीं होते, शरीरके दुबले हो जानेपर तुम दुबले नहीं होते। तुम निःसङ्ग हो, सदा सम हो, तुम्हारे अन्दर ये द्वन्द्व हैं ही नहीं। सारे द्वन्द्व प्रकृतिमें हैं। परन्तु हाँ, जबतक तुम प्रकृतिमें स्थित हो तबतक प्रकृतिके सारे विकार तुम्हें अपने अन्दर भासते हैं, तुम प्रकृतिके रोगोंसे भरे हो—महान् रोगी हो, शरीरके मोटे-ताजे और पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी सर्वथा अस्वस्थ हो, तुम्हारी असली स्वस्थता—स्व (आत्मा) में स्थित होनेमें है। जो आत्मामें स्थित है, वही स्वस्थ है और जो प्रकृतिमें स्थित है, वही अस्वस्थ है।

× × ×

इसी प्रकार तुम्हारे नामका खूब यश फैलनेमें तुम्हारा कोई यश नहीं होता, नामकी बदनामीमें तुम्हारी कोई बदनामी नहीं होती। नामके अपमानमें तुम्हारा अपमान नहीं, और नामके सम्मानमें तुम्हारा सम्मान नहीं। तुम नामसे अलग हो। परन्तु जबतक नामको अपना स्वरूप समझते रहोगे, तबतक नामकी बदनामीमें तुमको महान् दुःख होगा और नामके नाम होनेमें सुख होगा। यही कारण है कि तुम आज नामका नाम कमानेमें अमूल्य जीवन खो रहे हो। नामका नाम हो भी गया तो वह किस कामका ? कितने दिन ठहरेगा और तुम्हें उससे क्या लाभ हुआ ? नामके नामसे बन्धन और भी दृढ़ होगा, तुम आत्मामें स्थित होकर स्वस्थ होनेकी अवस्थासे और भी दूर हट जाओगे।

× × ×

अतएव नाम-रूपका मोह छोड़कर—शरीरके आराम और नामके नामकी परवा छोड़कर अपने स्वरूपको सम्हालो। तुम सदा मुक्त हो, बन्धन तुम्हारे समीप भी नहीं आ सकता। सुख-दुःखके द्वन्द्व तुम्हारी कल्पनामें भी नहीं रह सकते। तुम आनन्दरूप हो, तुम सत् हो और तुम चेतन हो। तुम स्वयं शान्तिके खजाने हो, तुम पूर्ण हो, तुम अखण्ड हो, तुम अनन्त हो, तुम कूटस्थ हो, तुम ध्रुव हो और तुम एक सनातन हो।

× × ×

सारे संसारकी उत्पत्ति भगवान्से हुई है और भगवान् ही सारे जगत्में परिपूर्ण हैं। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंद्वारा इन भगवान्की पूजा करके परम-सिद्धिरूप भगवान्को सहज ही प्राप्त कर सकता है। जो जिस कार्यको करता हो, जिसका जो स्वाभाविक कर्म हो, उसीको करे; न तो सबके कर्म एक-से हो सकते हैं और न एक-सा बनानेकी व्यर्थ चेष्टा ही करनी चाहिये। नाटकमें सभी पात्र एक ही पात्रका पार्ट करना चाहें तो खेल ही बिगड़ जाय। अपनी-अपनी जगह सभीकी जरूरत है और सभीका महत्त्व है। राजा और मजदूर दोनोंकी ही आवश्यकता है और दोनों ही अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। इसलिये कर्म न बदलो, मनके भावको बदल डालो। कर्मका छोटा-बड़ापन बाहरी है। महत्त्व तो हृदयके भावका है। ऊँच-नीचका भाव रखकर राग-द्वेषपूर्वक पराये अहितके लिये लोकदृष्टिमें शुभकर्म करनेवाला नरकगामी हो सकता है, शास्त्रविधिके अनुसार किसी फलकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्म करनेवाला ऐश्वर्य और स्वर्गादि विनाशी फलों और भोगोंको प्राप्त कर सकता है, और स्वार्थको सर्वथा छोड़कर निष्काम भावसे श्रीभगवान्की प्रीतिके लिये भगवदाज्ञानुसार साधारण स्वकर्म करता हुआ ही मनुष्य परमसिद्धिरूप परमात्माको पा सकता है। मनुष्य इस प्रकार अपने प्रत्येक कर्मको मुक्ति या भगवत्प्राप्तिका साधन बना सकता है।

× × ×

अतएव मनसे दम्भ, दर्प, अभिमान, मान, बड़ाई, काम, क्रोध, वैर, लोभ, असत्य, हिंसा आदि दोषों और दुर्गुणोंको निकालकर अथवा यथाशक्ति इन दोषों-का दमन करते हुए केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ, भगवान्‌की आज्ञा समझकर और भगवान्‌की सेवाके भावसे अपने-अपने कार्योंको करो। हर एक कर्मसे भगवान्‌की पूजा करो; याद रक्खो—जिस कर्ममें काम, क्रोध, लोभ आदि नहीं हैं, जिसमें भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी भी फलकी आकांक्षा नहीं है, जो कर्म कर्मकी अथवा फलकी आसक्तिसे नहीं, किन्तु भगवान्‌के दिये हुए स्वाँगका खेल अच्छी तरह खेलनेकी इच्छासे निरन्तर भगवत्-स्मरण करते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ सात्त्विक उत्साहपूर्वक किया जाता है उसी विशुद्ध कर्मसे भगवान्‌की पूजा होती है। यह पूजा अपने किसी भी उपर्युक्त दोषोंसे रहित विहित स्वकर्मके द्वारा प्रत्येक स्त्री-पुरुष सहज ही कर सकता है। केवल मनके भावको बदलकर कर्मका प्रवाह भगवान्‌की ओर मोड़ देनेकी जरूरत है। फिर प्रत्येक कर्म तुम्हारी मुक्तिका साधन बन जायगा और अपने सहज कर्मोंको करते हुए भी तुम भगवान्‌को प्राप्त कर जीवनको सफल कर सकोगे।

× × ×

यदि तुम व्यापारी या दूकानदार हो तो यह समझो कि मेरा यह व्यापार धन कमानेके लिये नहीं है, श्रीभगवान्‌की पूजा करनेके लिये है। लोभवृत्तिसे नहीं, जिन-जिनके साथ तुम्हारा व्यवहार हो उन्हें लाभ पहुँचाते हुए अपनी आजीविका चलानेमात्रके लिये व्यापार करो। याद रक्खो—व्यापारमें पाप लोभसे ही होता है। लोभ छोड़ दोगे तो किसी प्रकारसे भी दूसरेका हक मारनेकी चेष्टा नहीं होगी। वस्तुओंका तौल-माप, गिनतीमें ज्यादा लेना और कम देना, बढ़िया-के बदले घटिया देना और घटियाके बदले बढ़िया लेना, आढ़त-दलाली वगैरहमें शर्तसे ज्यादा लेना आदि व्यापारिक चोरियाँ लोभसे ही होती हैं। परन्तु केवल लोभ ही नहीं छोड़ना है, दूसरोंके हितकी भी चेष्टा करना है। जैसे लोभी मनुष्य अपनी दूकानपर किसी ग्राहकके आनेपर उसका बनावटी आदर-सत्कार करके उसे ठगनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही तुम्हें कपट छोड़कर ग्राहकको प्रेमके साथ सरल भाषामें सच्ची बात समझाकर उसका हित देखना चाहिये। यह समझना चाहिये कि इस ग्राहकके रूपमें साक्षात् परमात्मा ही आ गये हैं, इनकी जो कुछ सेवा मुझसे बन पड़े वही थोड़ी है। यों समझकर व्यापार करोगे तो तुम श्री-भगवान्‌के कृपापात्र बन जाओगे। और वह व्यापार ही तुम्हारे लिये भगवत्प्राप्तिका साधन बन जायगा।

× × ×

यदि तुम दलाल हो तो दो व्यापारियोंको झूठी-सच्ची बातें समझाकर अपनी दलालीके लोभसे किसीको ठगाओ मत! दोनोंके रूपमें ईश्वरके दर्शन कर सत्य और सरल वाणीसे दोनोंकी सेवा करनेकी चेष्टा करो। याद रक्खो, अभी नहीं तो आगे चलकर तुम्हारी इस वृत्तिका लोगोंपर बहुत प्रभाव पड़ेगा। यदि न भी पड़े कोई हर्ज नहीं, तुम्हारी मुक्तिका साधन तो बन ही जायगा।

× × ×

यदि तुम राजा या जमींदार हो तो जिस किसी प्रकारसे कर या लगान आदि वसूल करके उसे मौज-शौकमें या अपनेसे ऊँचे शासकोंको खुश करनेमें खर्च करना छोड़ दो। अपनी प्रजाको—किसानोंको अपने ही परिवारके लोग समझकर उनके सुख-दुःखका खयाल करो, दुःखमें उन्हें न सताओ, अपने खर्चमें कमी करके भी अनुचित लगान माफ कर दो; याद रक्खो, तुम्हारे या तुम्हारे किसी कर्मचारीके द्वारा गरीब प्रजाके किसी

आदमीपर कोई जुल्म न होने पावे, गरीबोंका, स्त्रियों-का सम्मान और आदर करो, तथा उनके बच्चोंपर अपने बच्चों-जैसा ही प्यार करो; उनके आशीर्वादसे तुम फलो-फूलोगे—तुम्हें भगवत्प्राप्ति करनी हो तो जमींदारीके द्वारा ही उसे भी कर सकते हो, उसका तरीका यह है कि प्रजाके स्त्री-पुरुषोंको अपने अन्नदाता श्रीभगवान्‌का स्वरूप समझो, और अपने राजा या जमींदारके स्वाँग-के अनुसार—जो भगवान्‌का ही दिया हुआ है—उनसे न्याय तथा सहजमें ही प्राप्त होने योग्य करको उन्हें सुख पहुँचानेकी नीयतसे—उन्हींके पूजार्थ वसूल करो, तदनन्तर मेहनतानेके रूपमें उसमेंसे कुछ अंश अपने खर्चके लिये रखकर शेष सब उन्हीं-की सेवामें लगा दो। तुम्हें राजा या जमींदारका स्वाँग इसीलिये दिया गया है कि तुम प्रजाका धन उनसे लेकर व्यवस्थापूर्वक उन्हींके हितके लिये खर्च करो, उनकी सँभाल, रक्षा और सेवाका काम तुम्हारे जिम्मे है। उन्हें सताकर मौज उड़ानेका तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। इससे तो उनके साथ ही तुम्हारा दुःख भी बढ़ेगा ही। यदि तुम उन्हें भगवान्‌का स्वरूप समझकर अपनी योग्यताके अनुसार भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही भगवदाज्ञानुसार उनपर शासन करोगे तो उसीके द्वारा तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

× × ×

तुम हाकिम हो तो अपने स्वाँगके अनुसार दया-पूर्ण न्याय करो, तुम्हारे इजलासमें कोई भी मुक़दमा आवे तो उसे ध्यानसे सुनो, रिश्वत खाकर या अन्य किसी भी कारणसे पक्षपात और अन्याय न करो। प्रत्येक न्याय चाहनेवालेको भगवान्‌का स्वरूप समझ-कर न्यायरूप सामग्रीसे उसकी पूजा करो, उसे न्याय-प्राप्तिमें जहाँतक हो सहूलियत कर दो। और सेवाके भावसे ही अपनेको मैजिस्ट्रेट या जज समझो, अफसर नहीं। तुम्हारी इसी निष्काम सेवासे तुमपर भगवान्‌की कृपा होगी और तुम भगवत्प्राप्ति कर सकोगे। तुम वकील हो तो पैसेके लोभसे कभी अन्यायका पैसा मत लो, झूठी गवाहियाँ न बनाओ, किसीको तंग करनेकी नीयत न रक्खो। प्रत्येक मवक्किलको भगवान्‌का स्वरूप समझकर भगवत्सेवाके भावसे उचित मेहनताना लेकर उनका न्यायपक्ष ग्रहण करो। तुम चाहो तो भगवान्‌की बड़ी सेवा कर सकते हो। और उसी सेवासे तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

× × ×

तुम डाक्टर या वैद्य हो तो रोगीको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उसके लिये सेवाके भावसे ही उचित पारिश्रमिक लेकर औषधकी व्यवस्था करो; लोभवश रोगीको सताओ नहीं। गरीबोंका सदा ध्यान रक्खो। तुम अपनी निःस्वार्थ सेवासे भगवान्‌के बड़े प्यारे बन सकते हो और भगवान्‌की प्राप्ति कर सकते हो।

× × ×

तुम पुलिस अफसर हो तो अपनेको जनतारूप भगवान्‌का सेवक समझो, किसीको न गाली दो, न सताओ; लोभ, घमण्ड, अभिमान या द्वेषवश किसीको कभी भूलकर भी व्यर्थ तंग न करो। सेवाके भावसे ही सारे कार्य करो। तुम अपना सुधार करके इस प्रकार भगवत्सेवामें लग जाओ तो अपने इसी पुलिसके कामसे तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

× × ×

तुम नेता या उपदेशक हो तो अपनी पूजा-प्रतिष्ठा न चाहो—सच्चे अनुभवयुक्त मार्गपर लोगोंको लगाओ, दलबन्दी न करो, सम्प्रदाय न बनाओ। सबका हित हो, वही कार्य अभिमान, लोभ और मान-बड़ाई-की इच्छा छोड़कर करो—तुम्हारी इसी सेवासे भगवान् प्रसन्न होकर तुम्हें अपना पद दे देंगे।

× × ×

तुम मालिक हो तो नौकरोंको सताओ मत, अभिमानवश अपनेको बड़ा न समझो, अपने स्वाँगके अनुसार नौकरोंसे काम लो परन्तु मन-ही-मन उन्हें भगवान्का स्वरूप समझकर उनके हितरूपी सेवा करनेकी चेष्टा करते रहो। मनसे किसीका तिरस्कार न करो। लोभवश किसीकी न्याय्य आजीविकाको न काटो। उनके भलेमें लगे रहो। इसीसे तुमपर भगवान् कृपा करेंगे और तुम्हें अपना परमपद प्रदान करेंगे।

× × ×

इसी प्रकार और भी सब लोगोंको अपने-अपने कर्मोंद्वारा भगवान्की निष्काम पूजा करनी चाहिये।

'शिव'

ब्रह्मानन्द

(लेखक—कृष्णवियोगी योगिराज परमहंस श्रीब्रह्मानन्दजी)

यह लेख उन प्रेमीजनोंके लिये है जो श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द प्यारेको पूर्णब्रह्म, सच्चिदानन्द, अद्वितीय, अविनाशी, अजन्मा, स्वयंप्रकाश जानकर हरिकीर्तन करते हैं।

(क) संसार—ब्रह्माण्ड जगत्का विस्तार पचास करोड़ योजनका है। यह योगमायाका रचा हुआ, जड़, परतन्त्र, एक दिनकी मिकदारवाला है।

(ख) भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सत्-चित्-आनन्दकन्द, अविनाशी, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, अव्यक्त, एक, अजन्मा, स्वयं प्रकट होकर लीला करनेवाले, नित्य चेतन, गुणसे अतीत, निर्गुण, स्वतन्त्र, सदा रहनेवाले, योगसे योगियोंको मिलनेवाले हर समय मौजूद हैं।

(ग) जीवात्मा व्यक्त, शरीरधारी, अनेक, अविनाशी, परतन्त्र, अपने काम करनेमें स्वतन्त्र, भोगनेमें परतन्त्र, गुणोंमें बँधा हुआ, भगवान्का अंश, चेतन तत्त्व और अल्पज्ञ है।

यह संसार एक स्वप्नके समान है। जब अपने अन्तःकरणमें स्वयंज्योतिस्वरूप गोपालको रख ले उस वक्त यह जगत् एक स्वप्न-जैसा मालूम होने लगता है। यहाँ हर कोई चन्द दिनोंका मेहमान है, इसमें भूलकर भी न फँसना चाहिये। इस गहरे दलदलमें न धँसना चाहिये। यदि चित्तको आनन्द देनेवाली कोई वस्तु है, तो वह श्रीकृष्णनाम ही है। मुझे दिनरात काम है, मैं संसारी धन्धोंमें पड़ना नहीं चाहता, मुझको लेखकी आज्ञा नहीं है क्योंकि किसी समय आनन्दकन्द अपने आनन्दसे नहीं छोड़ते इस कारण लिखनेकी फुरसत कभी नहीं मिलती। किन्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके एक प्रेमी भक्तने मजबूर किया; उनके प्रेमको देखकर आनन्दकन्द प्यारेसे आज्ञा लेकर यह लेख उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके अर्पण किया जाता है। बार-बार विचार करो; हर समय याद रक्खो—

यह पाञ्चभौतिक शरीर एक दिन प्राणवायुसे रहित होकर जड़ हो जावेगा फिर जीवको हरि-शरण-के बिना चौरासी लाख योनियोंमें चक्कर लगाते हुए इस ब्रह्माण्डमें भटकना पड़ेगा, महान् दुःख-सुख भोगने पड़ेंगे, इस कारण मनुष्यजन्मको सर्वोपरि समझकर अपने हाथों अपना भला करो! विचारसे संसारको मिथ्या जानकर विषयविरक्त हो सको तो उत्तम है। प्रत्येक अमोलक श्वासको हरि-स्मरणमें खर्च कर दो! मौतको याद रखनेसे मन हरि-स्मरणमें लग जाता है।

वाए नादानी कि वक्ते, मरके यह साबित हुआ।
ख्वाब था जो कुछ कि देखा जो सुना अफसाना था॥

गया वक्त फिर हाथ आता नहीं—
सदा दौर दौरा दिखाता नहीं !

प्रेम-भक्ति

श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्ति उपदेश देनेसे नहीं होती, यह वह वस्तु है जो मनमें पैदा होकर वहीं फलती-फूलती है, और फिर बाहर निकलकर श्रीकृष्णरूपी पालनेमें झूलती है—

कृष्ण कृष्ण रटते रहो—बिना प्रेम क्या होता।
वही कृष्णको पाता है—जो सब उसपर है खोता॥
प्रेमका उसके पार नहीं है—प्रेमीसे वह करता यारी।
भक्तोंकी वह पूजा करता—ऐसा है वह प्रेम-पुजारी॥

परोक्षज्ञानद्वारा जब कृष्ण-वियोगी अपने अन्तः-करणमें आनन्दकन्दको धारण करता है तब भगवान् आनन्दकन्द अपने अपरोक्ष स्वरूपका दरवाजा खोलनेके लिये तत्त्वज्ञान-दीपक प्रकाशित करते हैं। परन्तु अन्तर्यामीरूपसे तो हर समय अपने मिलनेकी प्रेरणा करते रहते हैं।

जब कृष्ण-वियोगी श्रीकृष्णकी पहचान करता है तो पागल हो जाता है, परन्तु आनन्दकन्द, योगक्षेम प्राप्त कराके उसको स्वेच्छाचारी कर देते हैं और आप भी हर समय उसकी खबरगीरी रखते हैं, जिससे कोई विघ्न उसपर कारगर नहीं होता ! इस शरीरको पाखण्डियोंने बहुत दुःख दिया परन्तु भगवान्‌ने हर जगह हमको आगाह कर दिया, अर्थात् बचा लिया।

दर्शनी योगीको चाहिये कि योगक्षेम प्राप्त करके सदाके लिये छुट्टी पा लेवे ! क्योंकि जबतक प्रभु-साक्षात्कार नहीं होता, तभीतक संसारका विषय-भोग संसारचक्रमें डालता है, साक्षात्कार होनेपर सदाके लिये आनन्दस्वरूप प्यारेसे मिलते रहो ! जीवन्मुक्त हो जाओ, रमण करते रहो, हँसते-खेलते रहो, मगर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार काम करते रहो ! आज्ञाके भंगसे भगवान् आनन्दकन्द योगीको भी परेशान करते हैं, जिस प्रकार गोपियोंको किया था।

प्रेम (इश्क़) दो हैं—मजाज़ी और हक़ीकी। लेकिन हक़ीकी प्रेमके सामने मजाज़ीकी कोई कदर नहीं।

अदालत इश्क़में अरज़ी सनम तुमपर लगायेंगे।
जलाकर ख़ाक कर डाला यही दावा लिखायेंगे॥
न लेंगे माल मनकूला न लेंगे गैर मनकूला।
फ़क़त एक आपकी कुर्की अदालतसे करायेंगे॥

मगर आनन्दकन्द नटवर और भी पास आकर उसको अपने आनन्दस्वरूपमें पागल बनानेके लिये खूब खेल दिखलाते हैं।

रूप

है सख-सा क़द गुंचा हैं दहन, गुलेज़ार हैं जिनके गुल खंदाँ।
हैं माहेतवाँ और बादेफशाँ—दुरफिशाँ पुरफिशाँ व सरफिशाँ॥

तड़प जाता है दिल पहलूमें लेना साँस मुशकिल है।
लटक तिरछी नज़र पड़ती है जब बाँकेबिहारीकी।
न मुझको ताब कहनेकी, न ताकत बयाँ करनेकी॥

परम रहस्य

आनन्दकन्दके नासिकाग्रबिन्दुका मोती तो अजीब ही बहार दिखला देता है, वह तो प्राणप्रीतमको बस एक ही कर देता है, न मालूम शरीर क्यों बैठा रहता है; नहीं, नहीं, वह भी तो मस्त होकर गिर पड़ता है, उसको अपनी ही सुध-बुध नहीं रहती, फिर भला बैठना कैसे ?

सच है प्रेमियोंका यही हाल होता है !

जिसका दिल नंदनंदनसे लगा हो उसको कब आती है नींद।
करवटें लेते ही लेते साफ़ उड़ जाती है नींद॥

योगीको चाहिये कि आसनजित् होकर निद्राजित् हो जावे, फिर रजोगुण और तमोगुण दोनों भाग जाते हैं।

आजकल कलियुगमें संसार और साधु दोनोंकी

बुद्धिको प्रकृतिने घेर लिया है जिससे वे सिवा दम्भ-पाखण्डके प्रायः दूसरा काम ही नहीं करते ।

नारि मुई गृह संपति नासी । मूँड मुँडाय भये संन्यासी ॥
भूखे मरें गृहस्थ बेचारे । मालपुअन पै हाथ हमारे ॥

अब तो आरामसे गुजरती है,
आकबतकी खबर खुदा जाने ।

संसारके जीवोंने भगवान्‌को केवल निराकार समझ रक्खा है । जिसकी वजहसे मनमानी पाखण्डकी रचना करके संसार और जीव दोनोंको भवसागरमें ही बारम्बार डाला जा रहा है । इस कारणसे तीनों तापोंसे संसारी जीव तपकर विद्याहीन, बुद्धिहीन, आत्महीन, दीन और धनहीन होते चले जा रहे हैं ।

हमको तो ऐसी मोहिनी मूरतिने अपने वशमें कर रक्खा है वरना हम आजतक किसीके काबूमें नहीं आये ! इस वजहसे हमारे मालूम होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान्‌का प्रेम—अनन्य-प्रेम सारे कुटुम्ब, परिवार, हशमत, दौलत, इज्जत, शान-शौकतको लात मारकर होता है ! दम्भ-पाखण्डसे नहीं !

परमहंस श्रीस्वामी श्रीकृष्णानन्दजी अवधूतके उपदेश

(प्रेषक—श्रीरामसरनदासजी)

(१) जैसे मूली खानेवाले मनुष्यको मूलीकी डकार आया करती है इसी प्रकार विषयी मनुष्यको निरन्तर विषय-चिन्तन करते रहनेसे विषय-संस्कारोंका उद्‌गार उठा करता है । श्रीभगवन्नाम तथा श्री-भगवद्रूपमाधुर्यके ध्यान बिना विषय-संस्कार दूर नहीं हो सकता तथा मनुष्य-शरीर पवित्र नहीं हो सकता । अतएव मनुष्यमात्रको चाहिये कि श्रीभगवद्ध्यान और श्रीहरिनाम-संकीर्तनका नियमितरूपसे सेवन करे । बस, जीवोंके काम-क्रोधादि विषयतृष्णारूप हृद्रोगोंको दूर करनेके लिये यही औषध है । इसी सम्बन्धमें प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

जानिय तबहि जीव जग जागा ।
जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा ।
तब रघुबीर चरन अनुरागा ॥

(२) श्रीकृष्ण-प्रेममें पागल हो जाओ और संसार तथा सांसारिक भोगोंसे उदासीन रहो । श्रीकृष्ण भजो । यही सार है, यही त्रिकालमें सत्य है ।

(३) जब अन्तिम समयमें कफसे कण्ठ रुक जाता है तब श्रीकृष्णनामका मुखसे उच्चारण नहीं हो सकता । इसलिये बाल्यावस्थासे ही श्रीकृष्णनाम रटन करना चाहिये जिससे कि प्राण निकलनेके समय जीवनभरके अभ्यासके कारण स्वाभाविक ही कण्ठसे श्रीकृष्णनाम निकले ।

(४) श्रीकृष्ण अनादि सनातन धर्मवृक्ष हैं, जिसमें भक्तविहग-कुल निरन्तर निश्चिन्ततासे बैठे हुए श्रीकृष्णकीर्तन करते हैं और उस वृक्षका प्रेमामृत-रूप फल खाते हुए आनन्दमें मस्त रहते हैं । उनको नास्तिक उल्लुओंकी कोई परवा नहीं है ।

(५) पापी मनुष्य मनमें यह विचार कर सकता है कि 'मैं बेधड़क पाप करता रहूँ, मुझे दण्ड देनेवाला कौन है ।' परन्तु यह उसकी भूल है, क्योंकि यमपुरमें सबको अपने-अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है । श्रीमद्भागवतमें भी नरकका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो स्त्री वा पुरुष परपुरुष अथवा परायी स्त्रीसे व्यभिचार करते हैं वे यहाँ तो लोगोंकी आँखोंमें धूल

डाल सकते हैं, परन्तु विश्वकर्ता श्रीकृष्णसे नहीं छिपा सकते। उन स्त्री या पुरुषोंको नरकमें अग्निसे तपाकर लाल किये हुए लौहनिर्मित पुरुष अथवा लौहनिर्मित स्त्रीसे बाँध दिया जाता है। यौवनके मदमें मत्त होकर जीव विचारता है कि मेरा यह रूप, रंग, देह सदा विषय भोग करनेके लिये ऐसा ही बना रहेगा। इसी मोहको दूर करनेके लिये पूज्यपाद जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजने कहा है—

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातन्तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते॥

(६) श्रीकृष्णनाम नित्य है, श्रीकृष्णधाम नित्य है और श्रीकृष्णरूप नित्य है।

(७) ऐ सांसारिक मनुष्यो! तुम्हारा असली आनन्द तुम्हारे हृदयकमलमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णमें ही है। तुम उस आनन्दको भूलकर क्यों श्वानकी नाईं विषयरूप रुधिर तथा मांसशून्य सूखी हड्डियोंको चबा-चबाकर अपने मुँहसे खून निकालनेमें आनन्द मानते हो। देखो, देखो श्रीकृष्णभगवान् मृदु मुस्कराते हुए तुमको दुष्कर्मोंसे निवृत्त करनेके लिये अँगुली उठाकर चेतावनी दे रहे हैं, वे कह रहे हैं, रे जीव! क्यों इस झूठे आनन्दमें सुख मान रहा है। अरे! तेरे असली आनन्दका खजाना तो मैं ही हूँ।

(८) श्रीकृष्ण-कीर्तन करो, श्रीकृष्ण-भजन करो, श्रीकृष्ण-भक्तोंका संग करो, दुष्ट मनुष्योंका संग सर्वथा त्याग दो।

(९) जैसे कामी मनुष्यसे स्त्रीके बिना नहीं रहा जाता, लोभी मनुष्यसे दाम बिना नहीं रहा जाता, वैसे ही श्रीकृष्णप्रेमियोंका यह व्यसन है कि उनसे श्रीकृष्ण-कीर्तन बिना नहीं रहा जाता।

(१०) रोगी हो, भोगी हो, सुखी हो चाहे दुखी हो, इस संसारमें श्रीकृष्ण-भजन, श्रीकृष्ण-कीर्तन बिना किसीका निस्तार नहीं है।

(११) श्रीकृष्ण-कीर्तनमें आबालवृद्धवनितादि सबका अधिकार है। कलिपावनावतार राधाद्युति सुवलितपुरट सुन्दर प्रेम और महाभावकी मूर्ति श्रीगौराङ्गदेवने कलिहत जीवोंकी दुर्दशा देखकर आपामर निखिल जीवोंका उद्धार करनेके लिये श्रीनवद्वीपधाममें अवतीर्ण होकर अयाचितरूपसे घर-घरमें श्रीहरिनाम-प्रेम वितरण किया। उस समय श्रीकृष्ण-कीर्तनका इतना प्रचार था कि नवद्वीपके नागरिकगण सब अपने-अपने घरोंको सायंकालके समय मंगल कलश, केलोंके खम्भ, तथा बन्दनवार आदिसे सजाकर सुन्दर घृतदीप जलाकर लाखों मनुष्योंके साथ नगर-संकीर्तनमें पाखण्डियोंका दलन करते हुए प्रेमोन्मत्त श्रीश्रीगौर-निताईकी अभ्यर्थना करते थे। समस्त नगर 'श्रीहरि बोल, श्रीहरि बोल' की पवित्र ध्वनिसे गूँज उठता था। पाखण्डियोंका हृदय दहल जाता था। ऐसे श्रीश्रीहरिनाम-संकीर्तनके जीवनदाता श्रीमान् महाप्रभु गौराङ्गदेवकी शरणमें श्रीकृष्ण-कीर्तनप्रेमियोंको अवश्य आना चाहिये। जिनकी कृपासे उनमें भी वही शक्ति, वही बल, वही तेज, वही प्रभाव और वही श्रीकृष्ण-प्रेम हो, जिससे कि वे श्रीहरिनामविरोधी नास्तिकोंके बकवादकी परवा न करते हुए निरन्तर स्वयं श्रीकृष्ण-कीर्तन करें और दूसरोंसे करावें तथा प्रचार करें।

(१२) जगत् ध्वन्यात्मक है, ध्वनिसे ही जगत्की उत्पत्ति है, 'ॐ' प्रणव ही अनाहत ध्वनि है। अनाहत ध्वनि प्रेमी भक्तोंके मधुरकण्ठसे राम, कृष्ण, शिव आदि श्रीभगवन्नाम अर्थात् संकीर्तनरूपसे उच्चारित होता है, आकाशमें ध्वनि वायुमण्डलाकारसे अणु-परमाणुओंमें आघात प्राप्त होकर स्वरूपाकार उत्पन्न करता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका भी यही मत है।

ध्वनि यदि करुणारससे भरी हुई हो तो स्वरूपाकार भी करुण होता है। यदि ध्वनि रुद्ररसात्मक हो तो स्वरूपाकार रौद्र होता है। जब प्रेमाश्रुओंसे नयन भरकर भक्त श्रीकृष्णकीर्तन करते हैं तब करुणावतार श्रीकृष्ण संकीर्तनध्वनिसे तथा भक्तके प्रेमसे प्रसन्न होकर भक्तके कण्ठोच्चारित ध्वनिसे स्वरूपाकार बननेमें जो कुछ त्रुटि रह जाती है उसे पूर्ण करके कृपया अपनी माधुरी मूरतिका दर्शन देकर भक्तोंकी मनोकामना पूर्ण करते हैं। इसीलिये कीर्तन-मण्डलमें भक्तोंको श्रीहरिके दर्शन होते हैं। बस, संकीर्तनका यही असली रहस्य है।

(१३) जैसे शान्त सरोवरके जलमें तटस्थ वृक्षके असत्य प्रतिबिम्ब सत्य वृक्षावलियों-से सुन्दर दीखते हैं और जैसे आडम्बरशून्या स्वल्पाभरणा सती रमणीके सौन्दर्यसे वारविलासिनी पूर्णाभरणा वेश्याकी कपट-शोभा अधिक चमकीली माऌम होती है, एवं जैसे शुद्ध राग-रागिनियोंके शास्त्रविहित आलापकी अपेक्षा अशास्त्रीय विकृत एक रागिनीकी तान दूसरी रागिनीमें युक्त करके गजल तथा ठुमरी आदिकी नकली तानें अज्ञ साधारण मनुष्योंको अधिक प्रिय माऌम होती हैं इसी प्रकार इस संसारमें अज्ञ जीवोंको झूठी मायाका विस्तार मणि-माणिक्यखचित सुन्दर महल, अप्सरा, विनिन्दिता स्त्री, नवनीतसुकोमल बालक, दुग्धफेनवत् शय्या इत्यादि झूठे विषय-भोगोंकी चमक सत्य प्रेमस्वरूप श्रीश्यामसुन्दरकी माधुरी मूरतिसे भी अधिक प्रिय माऌम होती है, बस, इस प्रकार असत्यको सत्य मानना ही माया है। श्रीकृष्ण-भजन-कीर्तन बिना इस माया-सागरके पार कोई नहीं जा सकता। स्वयं परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्दसे मोहग्रस्त अर्जुनको समझाते हुए कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

(१४) प्रश्न—श्रीकृष्णकीर्तन क्यों करना चाहिये?

उत्तर—श्रीकृष्ण-कीर्तन इसलिये करना चाहिये कि कीर्तन करनेसे मन निर्मल और पवित्र हो जाता है, कुवासना दूर चली जाती है, ऊँचे स्वरसे संकीर्तन करनेसे हृदयपर गहरी छाप पड़ जाती है और जैसे वृक्षोंमें आकर बसे हुए पक्षी ताली बजा-बजाकर आवाज करनेसे उड़ जाते हैं वैसे ही ऊँचे स्वरसे ताली बजा-बजाकर श्रीकृष्ण-कीर्तन करनेसे देहरूपी वृक्षपर बैठे हुए पापरूपी पक्षी उड़ जाते हैं। पाप दूर होनेसे ही उच्चः हरिध्वनि वायुमण्डलमें आघात-प्रतिघात-द्वारा नामी श्रीभगवत्स्वरूपको प्रकट कर दिखाती है।

(१५) प्र०—कीर्तन नित्यप्रति क्यों करना चाहिये?

उ०—जिस प्रकार एक दिन दातुन करनेसे सदाके लिये मुख साफ नहीं रहता तथा एक दिनके स्नान करनेसे सदाके लिये शरीरका मैल दूर नहीं होता इसी प्रकार एक रोजके श्रीश्रीकृष्ण-कीर्तन करनेसे सदाके लिये पाप, विषयतृष्णा, भोग, विलास इत्यादि मनो-मालिन्य दूर नहीं होते। इसलिये प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कीर्तन करना चाहिये, जिससे कि प्रतिदिन किये हुए पाप नष्ट होते रहें।

(१६) प्र०—भक्त किसे कहते हैं?

उ०—जिनके दर्शन करनेमात्रसे अपने-आप ही श्रीकृष्ण-नाम मुखसे निकलने लगे तथा श्रीकृष्ण-ध्यान होने लगे, वही श्रीकृष्णका भक्त है।

(१७) प्र०—श्रीकृष्णभगवान्‌के दर्शन किस प्रकार होते हैं?

उ०—जब भक्त सब कुछ भूलकर श्रीकृष्ण-भगवान्‌का नाम रो-रोकर आर्तस्वरसे लेते हैं तब श्रीकृष्णभगवान् भक्तको दर्शन देते हैं।

(१८) प्र०—महात्माओंके दर्शनसे क्या लाभ है?

उ०—महात्माओंके दर्शनमात्रसे ही लोग पवित्र हो जाते हैं और अपने किये हुए पापोंके लिये पश्चात्ताप करने लगते हैं।

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

[भाग ८ पृ० १४०२ से आगे]

प्रेम-भक्तिके लक्षण और उदाहरण

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामत-भेदात् ॥१५॥

१५—अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण कहते हैं ।

विभिन्न आचार्योंने भक्तिका स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपसे बतलाया है, पहले उनका वर्णन करके देवर्षि नारदजी अपना मत दिखलाना चाहते हैं ।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥१६॥

१६—पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है।

अपने तन, मन, धनको भगवान्‌की पूजन-सामग्री समझना और परम श्रद्धापूर्वक यथाविधि तीनोंके द्वारा भगवान्‌की प्रतिमाकी अथवा विश्वरूप भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये । भगवत्-पूजामें मन लगनेसे संसारके बन्धनकारक विषयोंसे मन अपने आप ही हट जाता है । बाह्य और मानस दोनों ही प्रकारसे भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये । भगवत्‌की पूजासे भगवान्‌का परमपद प्राप्त होता है—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥
(विष्णुरहस्य)

'इस धरातलमें जो लोग भगवान्‌की पूजा करते हैं वे सनातन आनन्दमय परमपदको प्राप्त होते हैं ।'

कथादिष्विति गर्गः ॥१७॥

१७—श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है ।

श्रीभगवान्‌की दिव्य लीला, महिमा, उनके गुण और नामोंके कीर्तन तथा श्रवणमें मन लगाना निस्सन्देह भक्तिका प्रधान लक्षण है । संसारमें अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं जिन्हें भगवान् और भगवान्‌की कथासे कोई मतलब ही नहीं है । दिन-रात विषय-चर्चामें ही उनका जीवन बीतता है । न तो वे कभी भगवान्‌का गुणगान करते हैं और न उन्हें भगवच्चर्चा सुहाती है । 'स्रवन न रामकथा अनुरागी ।' इस अवस्थामें जिन मनुष्योंका मन भगवान्‌के गुणानुवाद सुनने और कहनेमें लगा रहता है वे अवश्य ही भक्त हैं । सूत्रकार आचार्य श्रीनारदजीने स्वयं महर्षि वेदव्याससे कहा है कि—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । २२)

'विद्वानोंने यही निरूपित किया है कि भगवान्‌का गुणानुवाद-कीर्त्तन तप, वेदाध्ययन, यज्ञ, मन्त्र, ज्ञान और दान आदि सबका फल देनेवाला है ।' और तप आदिका फल भी भगवत्-कीर्तन ही है । श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

राम कथा सुंदर करतारी । कलिमलबिहँग उड़ावनहारी ॥
भवसागर चह पार जो जावा । रामकथा ताकहँ दृढ़ नावा ॥

ऐसी कल्याणकारिणी हरिकथाको जो कान नहीं सुनते वे कान साँपकी बाँबीके समान हैं और जो जीभ गान नहीं करती वह मेंढककी जीभके समान केवल टर्र-टर्र करनेवाली है ।

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना । स्रवनरंध्र अहिभवन समाना॥
जो नहिं करइ रामगुनगाना । जीह सो दादुरजीह समाना ॥

अतएव श्रीहरिकथामें यथार्थ अनुराग होना भक्ति है और इस भक्तिसे भगवान्‌की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है ।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥१८॥

१८—शाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है ।

अविच्छिन्नरूपसे शुद्ध आत्मस्वरूपमें रत रहना ही आत्मरति है; इस आत्मरतिमें नित्य स्थित रहनेको ही अव्यक्तोपासक महानुभाव भक्ति कहते हैं । श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

आत्मस्वरूपसे प्रत्येक प्राणीमें श्रीभगवान् ही विराजमान हैं अतः उन सर्वात्मामें रति होना वस्तुतः भगवान्‌की भक्ति ही है । और ऐसी भक्ति करनेवालेको मुक्ति प्राप्त होनेमें कोई सन्देह नहीं ।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥१९॥

१९—परन्तु देवर्षि नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है ।

नारदजीको महर्षि व्यास, गर्ग और शाण्डिल्य-कथित भक्तिके लक्षणोंसे कोई विरोध नहीं है । भगवान्‌की पूजा करना, भगवान्‌के गुणगान करना और सर्वात्मरूप भगवान्‌में प्रेम करना उचित और आवश्यक है । व्यासजीको तो भगवद्गुणगानमें श्रीनारदने ही लगाया था । अतः इन लक्षणोंका खण्डन करने या इन्हें तुच्छ बतलानेके लिये नहीं, परन्तु इन्हींको और भी पुष्ट करनेके लिये नारदजी इन सभी लक्षणोंसे युक्त एक सर्वाङ्गपूर्ण भक्तिका लक्षण निर्देश करते हुए कहते हैं कि अपने समस्त कर्म, (वैदिक और लौकिक) भगवान्‌में अर्पण करके प्रियतम भगवान्‌का अखण्ड स्मरण करना और पलभरके लिये भी उनका यदि विस्मरण हो जाय (प्रियतमको भूला जाय) तो परम व्याकुल हो जाना यही सर्वलक्षण-सम्पन्न भक्ति है । इसमें पूजा-कथामें अनुराग और विश्वात्मा भगवान्‌में रति तो रहती ही है । भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें सब प्रकारके योगियोंमें इन्हीं लक्षणोंसे युक्त भक्ति-योगीको सर्वोत्तम बतलाया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(६ । ४६-४७)

'तपस्वियोंसे, शास्त्र-ज्ञानियोंसे और सकाम कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है अतएव हे अर्जुन ! तू योगी बन । परन्तु सम्पूर्ण योगियोंमें भी वह भक्ति-योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है जो मुझमें श्रद्धावान् है और अन्तरात्माको मुझमें लगाकर निरन्तर मुझे भजता है ।'

भगवान्‌ने फिर आज्ञा की है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समय (बिना विराम) मेरा स्मरण कर और (स्मरण करता हुआ ही मेरे लिये

ही) युद्ध कर । इस प्रकार मुझमें ही मन-बुद्धि अर्पण करके तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख आदिकी परवा न करके आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, शरीर और संसारमें अपने लिये अहंता-ममतासे रहित होकर एकमात्र परम प्रियतम श्रीभगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, परम सुहृद् समझकर अनन्य-भावसे, अत्यन्त श्रद्धाके साथ, प्रेमपूर्वक निरन्तर तैल-धारावत् उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते हुए परमानन्दमें मग्न रहना और इस प्रकार चिन्तनपरायण रहते हुए ही केवल उन परम प्रियतम भगवान्‌के लिये उनकी रुचि तथा इच्छाके अनुसार उन्हींके प्रीत्यर्थ उन्हींको सुख पहुँचानेके दृढ़ और परम स्वार्थसे प्रेरित होकर सर्वथा निःस्वार्थ-भावसे समस्त दैहिक, वाचसिक और मानसिक कर्मोंका आचरण करना । यदि किसी कारणवश क्षणभरके लिये भी उनका चिन्तन-स्मरण छूट जाय तो जलसे निकाली हुई मछलीसे भी अनन्त गुणा अधिक व्याकुलताका अनुभव करना, यही सर्वोच्च भक्ति है ।

ऐसा पूर्ण समर्पणकारी प्रेमी भक्त त्रैलोक्यके राज्य-सुखकी तो बात ही क्या है, अपुनरावर्त्ती मोक्षके लिये भी, किसी भी हालतमें अपने प्रियतम भगवान्‌का स्मरण छोड़ना नहीं चाहता । भगवान् ऐसे भक्तकी प्रशंसा करते हुए भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति य-
त्तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५—१७)

'हे उद्धव ! इस प्रकारके तुम भक्त मुझको जैसे प्रिय हो, वैसे प्रिय ब्रह्मा, शङ्कर, बलराम, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी नहीं है । ऐसे किसी वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले, शान्त चित्त, निर्वैर, सर्वत्र सम-भावसे मुझको देखनेवाले और निरन्तर मेरा मनन करनेवाले प्रेमी भक्तोंकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा-सर्वदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ । मुझमें चित्तको अनुरक्त कर रखनेवाले, सर्वस्व मुझको अर्पण करके अकिञ्चन बने हुए ऐसे शान्त, और मेरे नाते सब जीवोंके प्रति स्नेह करनेवाले महात्मा जिस परमसुखका अनुभव करते हैं, उस निरपेक्ष परमानन्दको दूसरे लोग नहीं जानते ।' बस, श्रीनारदजीके मतसे यही भक्ति है, ऐसा भक्त समस्त आचरण श्रीभगवान्‌के अर्पण करके अनवच्छिन्नरूपसे भगवत्स्मरण करता रहता है; और कहीं तनिक भी भूल जानेपर परम व्याकुल हो जाता है ।

अस्त्येवमेवम् ॥२०॥

२०—ठीक ऐसा ही है ।

देवर्षि नारद पिछले सूत्रमें बतलाये हुए सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये कहते हैं कि वस्तुतः भक्तिका यही स्वरूप है !

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥२१॥

२१—जैसे व्रजगोपियोंकी (भक्ति) ।

भक्तिका लक्षण बतलाकर अब देवर्षि उदाहरणमें प्रेमिकाशिरोमणि प्रातःस्मरणीया श्रीगोपिकाओंका नाम लेते हैं । वस्तुतः गोपियोंकी ऐसी ही महिमा है, जगत्‌में ऐसा कौन है जो गोपियोंके प्रेमके तत्त्व

का बखान कर सके? उनका तन, मन, धन, लोक, परलोक सब श्रीकृष्णके अर्पित था, वे दिन-रात श्रीकृष्णका ही चिन्तन करतीं, गद्गद वाणीसे निरन्तर श्रीकृष्णका ही गुणगान करतीं और सर्वत्र सर्वदा श्रीकृष्णको ही देखा करती थीं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'हे गोपिकाओ! तुमने मेरे लिये दुस्तर गृहशृङ्खलाओंको तोड़कर मेरा भजन किया है। तुम्हारा यह कार्य सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओंकी आयुपर्यन्त भी तुम्हारे इस उपकारका बदला नहीं चुका सकता। तुम अपनी उदारतासे ही मुझे ऋणमुक्त करना।'

उद्धवको सन्देशा देकर भेजते समय भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्गद वाणीसे कहा—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४-६)

'हे उद्धव! गोपियोंने अपना मन मुझको समर्पण कर दिया है, मैं ही उनका प्राण हूँ, मेरे लिये उन्होंने अपने देहके सारे व्यवहार छोड़ दिये हैं। जो लोग मेरे लिये समस्त लौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनको मैं सुख पहुँचाता हूँ। वे गोपियाँ मुझको प्रियसे अति प्रिय समझती हैं, मेरे दूर रहनेपर मुझे स्मरण करके वे दारुण विरहवेदनासे व्याकुल होकर अपने देहकी सुधि भूल जाती हैं। मेरे बिना वे बड़ी ही कठिनतासे प्राण धारण कर रही हैं, मेरे पुनः व्रज जानेके सन्देशके आधारपर ही वे जी रही हैं। मैं उन गोपियोंकी आत्मा हूँ और वे मेरी हैं।'

उद्धवने व्रजमें आकर जब प्रेममयी गोपियोंकी दशा देखी, उन्हें सब ओर बाहर-भीतर श्रीकृष्णके दर्शन करते पाया और जब उनके मुखसे सुना—

[१]

नाहिंन रह्यो हियमहँ ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत, स्वपन सोवत रात।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधो! लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

[२]

ऊधो! जोग जोग हम नाहीं।
अबला ग्यान सार कहा जानैं कैसे ध्यान धराहीं॥
ते ये मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।
ऐसी कथा कपटकी मधुकर हमतें सुनी न जाहीं॥
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अँग भसम बतावत बिरह अनल अति दाहीं॥
जोगी भरमत जेहि लगि भूले, सो तो है हम पाहीं।
'सूरदास' सो न्यारो न पल छिन ज्यों घटतें परिछाहीं॥

गोपियोंने कहा—'उद्धवजी! योग उन्हें जाकर सिखाओ, जहाँ श्यामसुन्दरका वियोग हो। यहाँ तो देखो, सदा ही संयोग है, हमारा प्यारा श्याम सदा-सर्वदा हमारे साथ ही रहता है।' तब उद्धवकी आँखें खुलीं, वह गोपियोंके शुद्ध प्रेमके प्रबल प्रवाहमें बह गये—

सुनि गोपीके बैन, नेम ऊधोके भूले।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमें फूले॥
खिन गोपिनके पग परै, धन्य सोइ है नेम।
धाइ धाइ द्रुम भेंटहीं, ऊधो छाके प्रेम॥

उन्होंने भक्तिप्रणत चित्तसे कहा—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥
नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदयाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५९, ६१-६२)

'जगत्में ये गोपललनाएँ ही समस्त देहधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इनका चित्त विश्वात्मा भगवान् श्रीगोविन्दमें लगा हुआ है, जिनकी भवभयसे भीत हुए मुनिगण तथा हमलोग सभी इच्छा करते हैं। सत्य है, जो श्रीअनन्तकी लीला-कथाओंके रसिक हैं उन्हें ब्राह्मणोंके तीनों जन्मों (जन्म, यज्ञोपवीत और यज्ञदीक्षा) की क्या आवश्यकता है ? रासलीलाके समय भगवान् श्रीहरिके भुजदण्डको कण्ठहार बनाकर पूर्णकाम हुई इन व्रजबालाओंको श्रीहरिका जो प्रसाद प्राप्त हुआ है, वैसा निरन्तर हृदयमें रहनेवाली श्रीलक्ष्मीजी और कमलकी-सी कान्ति और सुगन्धिसे युक्त सुरसुन्दरियोंको भी नहीं मिला; फिर अन्योंकी तो बात ही क्या है ? इन महाभागा गोपियोंने कभी नहीं छोड़े जा सकनेवाले बन्धुओंको और आर्यधर्मको त्यागकर श्रुति जिसकी खोज करती है, उस मुकुन्दपदवीका अनुसरण किया है। अहो ! क्या ही उत्तम हो, यदि मैं आगामी जन्ममें इस वृन्दावनकी कोई लता, ओषधि या झाड़ियोंमेंसे होऊँ, जिनपर इन गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती है।' मथुराकी कुलाङ्गनाओंने गोपियोंकी दशाका वर्णन करके उनके जीवनको धन्य बताते हुए कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरे गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके गुणगान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है !'

इन गोपियोंकी जितनी भी महिमा गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। सर्वत्यागी व्रजवासी भक्तोंने तो गोपीपदपङ्कजपराग ही बनना चाहा है। सत्य ही कहा है—

गोपी प्रेमकी धुजा ।
जिन घनस्याम किये बस अपने उरधरि स्याम भुजा ॥

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव-सदृश महान् त्यागी महापुरुषोंने तो गोपियोंको प्रेममार्गका गुरु माना है। महान् भक्त श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

जयति ललितादि देवीय व्रजस्तुतिरिचा,
कृष्ण प्रिय केलि आधीर अंगी।
जुगल-रस-मत्त आनंदमय रूपनिधि,
सकल सुख समयकी छाँह संगी ॥
गौरमुख हिमकरनकी जु किरनावली,
स्रवत मधु गान हिय पिय तरंगी।
'नागरी' सकल संकेत आकारिनी,
गनत गुनगननि मति होति पंगी ॥

एक व्रजभक्तने कहा है—

ये हरिरस ओपी गोपी सब तियतें न्यारी।
कमल नयन गोविंदचंदकी प्रानपियारी॥
निर्मत्सर जे संत तिनहिं चूड़ामनि गोपी।
निरमल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी॥
जे ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावें।
क्यों नहिं परमानंद प्रेमभगती सुख पावें॥

गोपियोंकी महिमा तभी कुछ समझमें आ सकती है, जब साधक परम वैराग्य धारणकर प्रेमपथपर कुछ अग्रसर होता है।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥२२॥

२२—इस अवस्थामें भी (गोपियोंमें) माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं।

अर्थात् गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव, रहस्य और गुणोंको जानती थीं। कुछ लोगोंका कहना है कि प्रेममें माहात्म्यज्ञान नहीं रहता। माहात्म्यज्ञान होगा तो प्रेम नहीं रहेगा, परन्तु गोपियोंमें ऐसी बात नहीं थी। गोपियाँ श्रीकृष्णको साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् जानती हुई ही अपना प्रियतम समझती थीं। लौकिक प्रेम और भगवत्प्रेममें यही खास भेद है। भगवत्प्रेममें वस्तुतः ऐसा ही होता है। जो लोग कहते हैं कि गोपियाँ श्रीकृष्णको भगवान् नहीं जानती थीं, वे श्रीमद्भागवतके नीचे लिखे श्लोकोंका मनन करें—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥
(१०।२९।३१-३२, ३६-३७)

व्यक्तं भवान्व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
(१०।२९।४१)

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
(१०।३१।४)

'हे विभो! आप ऐसे कठोर शब्द (वापस जानेकी बात) न कहिये। हम अन्य सम्पूर्ण विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके ही चरणकमलोंमें अनुराग रखती हैं। हे स्वच्छन्द! जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको भजते हैं, (उनकी इच्छानुसार उन्हें स्वीकार करते हैं) उसी प्रकार आप हमें अङ्गीकार कीजिये, त्यागिये नहीं। हे हरि! आप धर्मको जाननेवाले हैं (फिर आप कैसे कहते हैं कि तुमलोग लौट जाओ, आपकी शरण आनेपर भी क्या कोई कभी वापस लौटता है?) आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है सो ये उपदेशके सारे पदार्थ आप ईश्वरमें ही आ जाते हैं क्योंकि समस्त देहधारियोंके बन्धु और आत्मा तो आप ही हैं। हे कमललोचन! जिस समय श्रीलक्ष्मीजीको (श्रीविष्णुरूपमें) कभी

कभी आनन्दित करनेवाले आपके चरणकमलोंको हमने स्पर्श किया था और आपने हमें आनन्दित किया था, तभीसे हे वनवासी तपस्वियोंके प्रिय ! हमारे लिये अन्यत्र कहीं ठहरना असम्भव हो गया है । जिनकी कृपादृष्टि पानेके लिये देवगण अत्यन्त प्रयास करते हैं, वे लक्ष्मीजी बिना किसी प्रतिद्वन्द्वीके आपके वक्षःस्थलमें स्थान पाकर भी तुलसी तथा अन्य भक्तोंसे सेवित आपके चरणरजकी इच्छा करती हैं, हम भी निस्सन्देह आपकी उसी चरणरजकी ही शरणमें आयी हैं । क्योंकि देवताओंकी रक्षा करनेवाले आप आदिपुरुष परमात्मा ही व्रजमण्डलका भय और दुःख दूर करनेके लिये प्रकट होकर अवतीर्ण हुए हैं । यह निश्चय है कि आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं वरं समस्त देहधारियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं । हे सखे ! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे ही आपने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है ।'

ऐसे अनेकों प्रमाणोंसे तथा युक्तियोंसे यह सर्वथा सिद्ध है कि गोपियोंने श्रीकृष्णको साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् समझकर ही उन्हें आत्मसमर्पण किया था।

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥

२३–उसके बिना (भगवान्‌को भगवान् जाने बिना किया जानेवाला ऐसा प्रेम) जारोंके (प्रेमके) समान है ।

माहात्म्यज्ञान बिना स्त्रियोंके द्वारा किसी पुरुषके प्रति किया जानेवाला ऐसा प्रेम, जारोंका-सा प्रेम होता है । जिस प्रेममें सर्वार्पण है, जिसमें लौकिक स्वार्थका तनिक-सा गन्ध भी नहीं है, ऐसा प्रेम केवल भगवान्‌के प्रति ही हो सकता है । यद्यपि जाने-अनजाने किसी प्रकार भी भगवान्‌के प्रति किया हुआ प्रेम निष्फल नहीं होता, परन्तु जानकर होनेवाले प्रेममें विशेषता होती है । भगवान् हमारे प्रियतम हैं, इस कल्पनामें ही कितना अपार आनन्द है । फिर जिनको वे भगवान् परम प्रियतमरूपमें प्राप्त हो जायँ उनके सुखका तो कहना ही क्या है ? गोपियाँ इसी परम पवित्र दिव्य सुखकी भागिनी थीं । इसीसे जीवन्मुक्त महात्मा शुकदेव मुनिने, मृत्युके लिये तैयार हुए राजा परीक्षितको यह पवित्र प्रेमलीला सुनायी थी । अतएव यह प्रेम भगवत्-माहात्म्यके ज्ञानसे युक्त परमपवित्र था।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥२४॥

२४–उसमें (जारके प्रेममें) प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है ।

व्यभिचारी मनुष्य कामवश होकर केवल अपने सुखके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये प्रीति किया करते हैं, वे अपने प्रेमास्पदके सुखसे सुखी नहीं होते । गोपियोंके प्रेममें यह भाव नहीं था । लौकिक कामजनित प्रीतिमें प्रेमास्पद पुरुष जार होता है और उसके अंग-संगकी इच्छा होती है । यहाँ प्रेमास्पद साक्षात् विश्वात्मा भगवान् थे और गोपियोंके मनोंमें अंग-संगकी कामना नहीं थी । गोपियाँ केवल श्रीकृष्ण-सुखकी अभिलाषिणी थीं । उन्होंने अपना तन, मन, रूप, यौवन, धन, प्राण, बुद्धि आदि सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रियतम श्रीकृष्णकी पूजनसामग्री बना दिया था । अपना सर्वस्व देकर वे श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना चाहती थीं । जिस बातमें श्रीकृष्णकी प्रसन्नता होती, वही उनका धर्म था । इसीमें उन्हें परम सुखकी अनुभूति होती थी । इसके अतिरिक्त

उनके मनमें अन्य प्रकारसे होनेवाले सुखकी कामना तो दूर रही कल्पना भी नहीं थी। यही तो काम और प्रेमका अन्तर है। काम चाहता है दूसरेके द्वारा अपने सुखी होना, और प्रेम चाहता है अपने द्वारा प्रियतमको सुखी करना और उसे सुखी देखकर ही सुखी होना। श्रीचैतन्यचरितामृतमें गोपियोंके प्रेम-का वर्णन करते हुए बहुत सुन्दर कहा गया है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥
लोक धर्म, वेद धर्म, देह धर्म कर्म।
लज्जा, धैर्य, देह सुख, आत्म सुख मर्म॥
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन।
कृष्ण सुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ अनुराग।
स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कोन दाग॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अंतर।
काम अंधतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपीगणे नाहि काम गंध!
कृष्ण सुख हेतु मात्र कृष्णेर संबंध॥

भगवान् श्रीकृष्णको सर्वस्व अर्पण, पलभरके लिये भूल जानेमें परम व्याकुलता, श्रीकृष्णके प्रभाव और माहात्म्यका सम्यक् ज्ञान और श्रीकृष्णके सुखमें ही सुखी होना, यही चार बातें गोपी-प्रेममें मुख्य हैं।

यह गोपी-प्रेम परम पवित्र और अलौकिक है। इसमें जो पाप या व्यभिचार देखते हैं, उनपर श्रीकृष्ण दया करें। (क्रमशः)

प्रेमियोंकी चाह

गिरि कीजै गोबरधन, मयूर नवकुंजनकौ,
पसु कीजै महाराज नंदके बगरकौ।
नर कीजै तौन जौन 'राधे-राधे' नाम रटै,
तरु कीजै बर कूल कालिंदी-कगरकौ॥
इतनेपै जोई कछु कीजिये कुँवर कान्ह!
राखिये न आन फेरि 'हठी' के झगरकौ।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै, महाराज!
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगरकौ॥

—हठीजी

बोल्यो करै नूपुर स्रवननके निकट सदा,
पद-तल माहिं मन मेरो बिहर्यौ करै।
बाज्यो करै बंसीधुनि पूरि रोम-रोम मुख,
मन मुसुकानि मंद मनहिं हर्यौ करै॥
'हरीचंद' चलनि मुरनि बतरानि चित्त,
छाई रहै छबि जुग दृगनि भर्यौ करै।
प्रानहूँतें प्यारो रहै प्यारो तू सदाई प्यारे!
पीत-पट सदा हीय बीच फहर्यौ करै॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(भाग ८ पृ० १३२६ से आगे)

[मणि १०]

याज्ञवल्क्य तथा गार्गीका संवाद

गार्गी—हे याज्ञवल्क्य ! जो पदार्थ कार्यरूप है, वह अपने कारणमें रहता है और बाहर तथा भीतर कारणसे व्याप्त होता है। जैसे पटरूप कार्य तन्तुरूप कारणमें रहता है और बाहर-भीतर कारणरूप तन्तुओंसे व्याप्त होता है। यह बात सब लोगोंके अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार मनुष्य-लोकमें रहनेवाले स्थावरजङ्गमरूप पार्थिव पदार्थ कार्यरूप होनेसे कारणरूप जलमें रहते हैं और भीतर-बाहर कारणरूप जलसे व्याप्त हैं। यदि पार्थिव पदार्थ जलसे व्याप्त न हों तो वे रेतके समान बिखर जाने चाहिये किन्तु घटपटादि पदार्थ बिखरते नहीं हैं, इससे ऐसा सिद्ध होता है कि घटपटादि पार्थिव पदार्थ कारणरूप जलसे व्याप्त हैं। ऐसा कहनेसे यह अनुमान होता है कि जैसे कार्यरूप होनेसे पट तन्तुओंसे व्याप्त है इसी प्रकार स्थावरजङ्गम पार्थिव पदार्थ कारणरूप जलसे व्याप्त हैं, इसलिये हे याज्ञवल्क्य ! पृथिवीके समान जल भी कार्यरूप है, इसलिये जल भी किसी एक अपने कारणमें ओतप्रोत होगा। जलका कारणरूप क्या है कि जिसमें जल ओतप्रोत है ?

इस प्रकार जब गार्गीने प्रश्न किया तो याज्ञवल्क्य इस प्रकार कहने लगे—

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! जल वायुरूप कारणमें ओतप्रोत है।

हे डोरूशङ्कर ! यद्यपि वेदान्तमतके अनुसार जलका उपादान कारण तेज है और तेजका उपादान कारण वायु है, इसलिये वायुको जलका कारणरूप कहना सम्भव नहीं है तो भी लोकमें अग्निरूप तेजकी काष्ठरूप ईंधनमें ही उपलब्धि होती है, काष्ठरूप ईंधनके बिना अन्य किसी पदार्थमें अग्निरूप तेजकी उपलब्धि नहीं होती। और काष्ठमें रहे हुए धूमसे रहित अग्निमें जलका विरोधीपना प्रत्यक्ष दिखायी देता है, इसलिये जलके विरोधी अग्निमें जलकी उपादानताका कारण सम्भव नहीं है किन्तु काष्ठरूप ईंधनसे रहित अग्निमें जलकी कारणता शास्त्रके प्रमाण बिना अन्य किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, वह शास्त्रप्रमाणसे ही सिद्ध होती है। यद्यपि गीले ईंधनवाले अग्निमें धूमके सम्बन्धद्वारा जलकी कारणता प्रत्यक्ष-प्रमाणसे सिद्ध है तो भी उस स्थलमें जलकी कारणता अग्निमें है अथवा गीले ईंधनमें रहे हुए जलमें है, इसका निर्णय नहीं हो सकता। इसलिये अग्निको छोड़कर वायुमें जलकी कारणता कही है, भाव यह है कि जैसे पुत्रका कारण पिता, पुत्रके पुत्रका भी कारण होता है, इसी प्रकार तेजका कारणरूप वायु तेजके कार्यरूप जलका भी कारण हो सकता है, इसलिये उसमें कुछ भी विरोध नहीं है। हे वत्स ! इस प्रकार जब याज्ञवल्क्यने कहा तब गार्गीने फिर उनसे प्रश्न किये और याज्ञवल्क्यने उनके उत्तर दिये। प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं—

'हे याज्ञवल्क्य ! यह वायु किस कारणमें ओतप्रोत है ?'

'हे गार्गी ! वायु अन्तरिक्षलोकमें ओतप्रोत है।'
'अन्तरिक्षलोक किस कारणमें ओतप्रोत है ?'
'अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोकमें ओतप्रोत है।'
'यह गन्धर्वलोक किस कारणमें ओतप्रोत है ?'

'गन्धर्वलोक सूर्यलोकमें ओतप्रोत है।'
'सूर्यलोक किसमें ओतप्रोत है?'
'सूर्यलोक चन्द्रलोकमें ओतप्रोत है।'
'चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है?'
'चन्द्रलोक नक्षत्रलोकमें ओतप्रोत है।'
'नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत है?'
'नक्षत्रलोक देवलोकमें ओतप्रोत है।'
'देवलोक किसमें ओतप्रोत है?'
'देवलोक इन्द्रलोकमें ओतप्रोत है।'
'इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है?'
'इन्द्रलोक प्रजापतिलोकमें ओतप्रोत है।'
'प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत है?'
'प्रजापतिलोक ब्रह्ममें ओतप्रोत है।'

अन्तरिक्षादि शब्दोंका वर्णन

अवकाशरूपसे सब लोकोंमें प्रसिद्ध स्थूल आकाशको अन्तरिक्ष कहते हैं। गन्धर्वलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक तथा इन्द्रलोक—ये छः प्रकारके शब्द आकाशादि पञ्चभूतोंके उत्तरोत्तर सूक्ष्म अवस्थाके वाचक हैं। भाव यह है कि अन्तरिक्षलोकके आरम्भक आकाशादि पञ्चभूतोंसे अन्तरिक्षलोक सब दिशाओंसे परिवेष्टन किया हुआ स्थित है और अन्तरिक्षलोकके आरम्भक पञ्चभूतोंकी अपेक्षा सूक्ष्मरूप है। इसी प्रकार गन्धर्वलोकको सब तरफसे घेरे हुए सूर्यके आरम्भकरूप जो पञ्चभूत हैं, वे गन्धर्वलोकके आरम्भक भूतोंसे सूक्ष्म हैं, इस प्रकार इन्द्रलोकतक आकाशादि पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मता जान लेनी चाहिये। इसमें विलक्षणता इतनी है कि गन्धर्वलोकसे लेकर इन्द्रलोकतक छः प्रकारके भूतोंकी अवस्था पूर्व-पूर्व अवस्थाकी अपेक्षासे सूक्ष्म हैं और उत्तरोत्तर अवस्थाओंकी अपेक्षासे स्थूल हैं। जैसे गन्धर्वलोककी अपेक्षासे सूर्यलोक सूक्ष्म है और चन्द्रमाकी अपेक्षासे सूर्यलोक स्थूल है, इसी प्रकार चन्द्रलोक भी सूर्यलोककी अपेक्षासे सूक्ष्म है और नक्षत्रलोककी अपेक्षासे स्थूल है, इस प्रकार इन्द्रलोकतक स्थूलता तथा सूक्ष्मता जान लेनी चाहिये।

इन्द्रादि लोकनिरूपण

सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च आत्मरूपसे देखे, इसको इन्द्र कहते हैं, इस प्रकारका इन्द्र शब्दका अर्थ विराट् पुरुषमें ही घटता है क्योंकि यह सब विश्व विराट् पुरुषके शरीरमें स्थित है, इसलिये विश्वको आत्मारूपसे विराट् पुरुष देखता है। अतएव इन्द्र शब्दसे विराट् पुरुषका ग्रहण करना चाहिये, ब्रह्माण्डरूप कढ़ाईके अन्दर तथा बाहर व्यापक सूत्रात्माको पारिक्षित पुरुष प्राप्त होता है, इसलिये प्रजापति शब्दसे सूत्रात्मा ग्रहण करना चाहिये। मायारूप अज्ञान शब्दका अर्थ सबका कारणरूप अव्याकृत है। यह अव्याकृत सूत्रात्माकी स्थितिका आधाररूप है, इसलिये ब्रह्मलोक शब्दसे अव्याकृतका ग्रहण करना चाहिये। यह अव्याकृत समष्टिरूपसे एक प्रकारका है तथा व्यष्टिरूपसे अनेक प्रकारका है।

याज्ञवल्क्यका इस प्रकारका उत्तर सुनकर गार्गीने अपने मनमें विचार नहीं किया कि सर्व जगत्का कारणरूप अव्याकृत यद्यपि शुद्ध आत्माके आश्रित रहता है तो भी वह अव्याकृत जलादिके समान अनुमानप्रमाणसे जाननेमें नहीं आता क्योंकि जो कार्य होता है, वह कारणसे व्याप्त होता है, जैसे कि तन्तुरूप कारणसे पटरूप कार्य व्याप्त है। जो-जो कार्य होता है, वह-वह कारणसे व्याप्त होता है, ऐसा ज्ञान अनुमानप्रमाणकी प्रवृत्तिका कारण है। अनुमानसे पूर्व इस प्रकारका व्याप्तिज्ञान तथा कार्यत्वरूप हेतुका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। व्याप्तिज्ञान बिना तथा हेतुज्ञान बिना अनुमानप्रमाणसे किसी अर्थकी सिद्धि नहीं होती, और अव्याकृत तथा आश्रयरूप आत्माके ज्ञानमें पूर्वोक्त व्याप्तिके ज्ञानका तथा कार्यत्वरूप हेतुके ज्ञानका कुछ भी उपयोग नहीं है क्योंकि अज्ञान मायारूप अव्याकृत

अनादि है, इसलिये अव्याकृतमें कार्यपना सम्भव नहीं है। और शुद्ध आत्मामें कार्यपना तथा कारणपना दोनों ही सम्भव नहीं हैं। अतएव अव्याकृतका आश्रयरूप आत्मा अनुमानप्रमाणका विषय नहीं है। सम्यक् विचारसे देखा जाय तो सूत्रात्मा भी अनुमानका विषय नहीं है क्योंकि लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तको लेकर अनुमानकी प्रवृत्ति होती है, लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त बिना किसी अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं होती, और सूत्रात्माकी सिद्धिमें लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त है नहीं, इसी कारण ब्रह्माण्डके बाहर सूत्रात्मा है, इस प्रकारकी प्रक्रिया किसी भी नैयायिकने मानी नहीं है। इसलिये सूत्रात्मा तथा अव्याकृतका आश्रयरूप शुद्ध आत्मा अनुमानरूप तर्कका विषय नहीं है, इस प्रकारके विचार बिना गार्गी आग्रहसे याज्ञवल्क्यसे पूछने लगी—

'हे याज्ञवल्क्य ! अव्याकृतरूप ब्रह्मलोक किस कारणमें ओतप्रोत है ?'

हे वत्स ! केवल शास्त्रप्रमाणसे जानने योग्य आत्माके वास्तव स्वरूपको जब गार्गीने अपनी मूर्खतासे अनुमानप्रमाणकी रीतिसे पूछा तब मुनि कहने लगे—

'हे गार्गी ! यह आनन्दस्वरूप आत्मा केवल शास्त्रके प्रमाणसे जानने योग्य है, इसलिये शास्त्रके प्रमाणसे ही तुझे आत्माका स्वरूप मुझसे पूछना योग्य है किन्तु मर्यादाको त्यागकर अनुमानकी रीतिसे आत्माके सम्बन्धमें तेरा प्रश्न करना व्यर्थ है क्योंकि सबका अधिष्ठानरूप आत्मा किसी अनुमानका विषय नहीं है, इसलिये सबके अधिष्ठानरूप आत्माको अनुमानप्रमाणसे कभी न पूछना चाहिये। यदि तू विचारसे रहित होकर दुराग्रहसे अतिप्रश्न करेगी तो तेरा मस्तक भूमिपर गिर जायगा क्योंकि जो पुरुष परम उत्कृष्ट पदार्थको निकृष्ट पदार्थके समान देखता है उसको परम अनर्थकी प्राप्ति होती है। जैसे यदि कोई ऐसा कहे कि अर्जुनके हाथमें स्थित पाशुपत अस्त्र अन्य तीरके समान होने योग्य है क्योंकि वह अस्त्रत्व-धर्मवाला है तो ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके अनुमानप्रमाणसे पाशुपत अस्त्र अन्य शरके समान नहीं हो सकता। यदि कोई पुरुष दुराग्रहसे पाशुपत अस्त्रको अन्य शरके समान कहे तो वह पाशुपत अस्त्र उस विपरीतदर्शी पुरुषके सिरको काटकर भूमिपर डाल देता है। जैसे अथर्वणवेदसे उत्पन्न हुए मारणमन्त्र अति क्रोधवाले दुर्वासा ऋषिके हृदयमें रहे हुए हों तो भी वे प्राकृत मन्त्रोंके समान नहीं हो सकते, फिर भी यदि कोई दुराग्रहसे उन मन्त्रोंको प्राकृत मन्त्रोंके समान कहे तो वे अथर्वण-वेदके मन्त्र उस विपरीतदर्शी पुरुषके सिरको गिरा देते हैं, इसी प्रकार अनुमानके अविषयरूप आत्माको जलादिके समान अनुमानका विषय मानकर यदि तू आत्मा सम्बन्धी अतिप्रश्न करेगी तो तेरा सिर भूमिपर गिर जायगा।

इस प्रकारके मुनिके वचन सुनकर गार्गी अत्यन्त भयको प्राप्त हुई और अरुण ऋषिके पुत्र उद्दालक नामके ऋषिके मुखकी तरफ देखकर प्रश्न करनेसे निवृत्त हुई। पश्चात् उद्दालक अत्यन्त क्रोधयुक्त होकर पूर्वमें अग्निदेवके उपदेश किये हुए अत्यन्त गुह्य अर्थको पूछनेके लिये प्रथम अपनी विद्याकी उत्कृष्टता जनानेके लिये अपना पूर्वका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे—

याज्ञवल्क्य तथा उद्दालकका संवाद

उद्दालक—पूर्व ब्रह्मचर्य-आश्रममें हम बहुत-से ब्रह्मचारी वेदका अध्ययन करनेके लिये भद्रदेशमें पतञ्चल नामके ब्राह्मणके घरमें रहते थे। एक समय पतञ्चल ब्राह्मणकी स्त्रीके शरीरमें पिशाचके समान अग्निदेवने प्रवेश किया, पश्चात् गुरु पतञ्चल-सहित हम सब ब्रह्मचारी अग्निदेवसे पूछने लगे कि आप कौन हैं ? तब अग्निदेवने कहा कि हे ब्राह्मणो ! अथर्वण मेरा गोत्र है, कबन्ध मेरा नाम है, तुम सब ब्राह्मणोंके उपकारके लिये मैंने इस स्त्रीके शरीरमें प्रवेश किया है। इस प्रकारके

वचन कहकर फिर हम शिष्योंसहित गुरुसे अग्निदेवने कहा कि 'हे पतञ्चल ! जैसे मालाके पुष्पोंको सूत्र धारण करता है, इसी प्रकार सर्व भूतभौतिक प्रपञ्च जिस सूत्रसे बँधा है, क्या तू उस सूत्रको जानता है ?' जब इस प्रकारका प्रश्न अग्निदेवने गुरुसे किया तो हमारे गुरु कहने लगे कि 'हे अग्नि ! सर्व जगत्को जो सूत्र धारण किये है, उस सूत्रको हम नहीं जानते।' जब इस प्रकार हमारे गुरुने उत्तर दिया तो अग्निदेवने फिर गुरुसे पूछा कि 'हे पतञ्चल ! जो सर्व जगत्का प्रेरक अन्तर्यामी है, क्या तू उसको जानता है ?' जब इस प्रकारका दूसरा प्रश्न अग्निदेवने गुरुसे पूछा तो वे कहने लगे कि 'हे अग्निदेव ! अन्तर्यामीके स्वरूपको मैं भी नहीं जानता।' जब पतञ्चलने अग्निदेवसे सूत्रका तथा अन्तर्यामीका स्वरूप नहीं कहा तो अग्निदेव कृपा करके हमारे गुरुसे कहने लगे कि 'हे पतञ्चल ! मैंने तुमसे जिस सूत्र तथा अन्तर्यामीका स्वरूप पूछा है, उस सूत्र तथा अन्तर्यामीको जो पुरुष जानता है, वह पुरुष सर्वज्ञभावको प्राप्त होता है, भाव यह है कि वह पुरुष परमात्माको, भूतादि सात लोकोंको, सर्व देवोंको, सर्व प्राणियोंको, पञ्चभूतोंको तथा आत्मा इत्यादि सर्व पदार्थोंको जानता है। इस प्रकार सूत्र तथा अन्तर्यामीके ज्ञानकी उत्कृष्टता कहकर अग्निने हम सब ब्राह्मणोंको सूत्र तथा अन्तर्यामीका स्वरूप बताया। अग्निके उपदेशसे हमने सूत्रका तथा अन्तर्यामीका स्वरूप भली प्रकार जाना है, सूत्रका तथा अन्तर्यामीका स्वरूप जाने बिना ही यदि तुम सब ब्राह्मणोंकी गायें अपने घर ले गये होगे तो शीघ्र ही तुम्हारा सिर पृथिवीपर गिर जायगा। क्या तुम इन दोनोंका स्वरूप जानते हो ?'

याज्ञवल्क्य–हे उद्दालक ! पूर्वमें अग्निने तुमको जिस सूत्र तथा अन्तर्यामीका स्वरूप बताया था, उस सूत्र तथा अन्तर्यामीको मैं भली प्रकार जानता हूँ।

उद्दालक–(क्रोधयुक्त होकर) हे याज्ञवल्क्य ! जैसे अज्ञानी पामर पुरुष ऐसा कहता है कि मैं सर्व अर्थ जानता हूँ, इसी प्रकार तुम भी 'मैं सूत्रको, अन्तर्यामीको जानता हूँ' ऐसा कहते हो, किन्तु उनके स्वरूपका निरूपण नहीं करते ! इससे ऐसा जाननेमें आता है कि तुमको सूत्रका तथा अन्तर्यामीका स्वरूप मालूम नहीं है। क्योंकि जिस पुरुषको जिस पदार्थका ज्ञान होता है, वह ऐसा नहीं कहता कि मैं अमुक वस्तुको जानता हूँ, किन्तु उस वस्तुके स्वरूपका वर्णन करने लगता है, इसलिये यदि तुम सूत्रका और अन्तर्यामीका स्वरूप जानते हो तो कहो, यदि तुम उनका स्वरूप नहीं जानते तो 'मैं उनका स्वरूप जानता हूँ' ऐसी व्यर्थ गर्जना मत करो !

हे वत्स ! जब इस प्रकार उद्दालकने कहा तो याज्ञवल्क्य कहने लगे—

सूत्रात्मा तथा अन्तर्यामीका स्वरूप

याज्ञवल्क्य–हे उद्दालक ! सर्व जगत्के बन्धनका कारणरूप जो सूत्र तूने पूछा है, वह सूत्र प्राणरूप वायु है। क्योंकि जैसे तन्तु पटको धारण करते हैं, इसी प्रकार यह प्राणरूप वायु इस लोकको, अन्य लोकोंको तथा सर्व भूतप्राणियोंको धारण करता है। इसी कारणसे मरणकालमें जब प्राणका लोकान्तरमें निर्गमन होता है तब हस्तपादादि सर्व अवयव शिथिल हो जाते हैं, जैसे कि सूत्र निकल जानेसे मालाके पुष्प शिथिल हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणके निकल जानेसे सब अवयव ढीले हो जाते हैं। इस प्रकार लोकप्रसिद्ध युक्तिसे भी प्राणको सूत्ररूपता सम्भव है, यहाँ प्राणवायु शब्दसे समष्टि-व्यष्टिरूप सूक्ष्म शरीरका ग्रहण है।

जब मुनिने इस प्रकार सूत्रात्माका स्वरूप कहा तो उद्दालक उनके वचन मानकर फिर इस प्रकार प्रश्न करने लगा—

उद्दालक–हे याज्ञवल्क्य ! पूर्वमें अग्निने मुझसे जिस सूत्रका स्वरूप कहा था, वही स्वरूप तुमने मुझसे कहा, इसलिये सूत्रके स्वरूपके सम्बन्धमें मैं तुमसे प्रश्न नहीं करता, किन्तु अन्तर्यामीका स्वरूप मुझसे कहो !

याज्ञवल्क्य—हे उद्दालक ! जिस सर्वज्ञ परमात्मा-देवको पृथिवी, जल, अग्नि, भुवर्लोक, वायु, स्वर्ग, आदित्य, दिशा, चन्द्र, तारा, आकाश, अन्धकार, तथा तेज—इन बारह अधिदेवोंमें श्रुतिने निरूपण किया है, जिस परमात्माको स्थावरजङ्गमरूप सर्व अधिभूतोंमें श्रुतिने कहा है, जिस सर्वज्ञ परमात्मा-को प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, बुद्धि, उपस्थ इन्द्रिय—इन आठ प्रकारके अध्यात्ममें श्रुतिने प्रतिपादन किया है, जो परमात्मा पृथिवी आदि इक्कीस स्थानोंमें रहकर भी पृथिवी आदि स्थानोंसे भिन्न होकर स्थित है; जैसे गृहवाला पुरुष अपने गृहसे भिन्न होता है, इसी प्रकार जो परमात्मा पृथिवी आदिसे भिन्न है, और जो देव पृथिवी आदिके भीतर रहता है तो भी पृथिवी आदि जिस परमात्माको नहीं जानते, जो परमात्मा पृथिवी आदिको नियमसे अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये किसी अन्य शरीरको ग्रहण नहीं करता किन्तु जैसे अस्मदादि जीवोंके शुक्रशोणित-विकाररूप ये ही शरीर हैं, इसी प्रकार जिस परमात्माके पृथिवी आदि ही शरीर हैं, जैसे राजा अपने चाकरोंको अनेक प्रकारके व्यापारोंमें नियमसे प्रवृत्त करता है, इसी प्रकार जो परमात्मा पृथिवी आदिके अभिमानी चेतनरूप लिङ्गशरीरों-को अपने-अपने व्यापारमें नियमसे प्रवृत्त करता है, वह मायाका अधिपति परमात्मा अन्तर्यामी है। इसलिये हे उद्दालक ! जिस अन्तर्यामीका स्वरूप तूने मुझसे पूछा है, वह अन्तर्यामी तेरा, मेरा तथा सर्व जीवोंका आत्मारूप है, यह अन्तर्यामी जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, शोक, मोह—इन छः ऊर्मियोंसे रहित है।

इस प्रकार मुनिने उद्दालकको पृथिवी आदिमें इक्कीस बार अन्तर्यामीके स्वरूपका उपदेश किया। तात्पर्य यह है कि जो पृथिवी आदिमें पृथिवी आदिसे भिन्न, पृथिवी आदिसे अज्ञात तथा पृथिवी आदिका शरीररूप है और पृथिवी आदिको अपने कार्यमें प्रवृत्त करता है, वह परमात्मा तेरा अन्तर्यामी तथा अमृतरूप है। इस प्रकार याज्ञ-वल्क्यने पृथिवी आदिमें इक्कीस बार अन्तर्यामीका स्वरूप कहा।

पश्चात् 'नेति-नेति' इस श्रुतिको अङ्गीकार करके सर्व धर्मोंको निषेध करनेवाले अदृष्टत्व आदि आत्माके धर्मोंको कहने लगे—

याज्ञवल्क्य—हे उद्दालक ! यह अन्तर्यामी परमात्मा पुरुषके नेत्रोंसे दिखायी नहीं दे सकता, श्रोत्रसे सुनायी नहीं दे सकता और मनसे चिन्तन नहीं किया जा सकता, उसका निश्चय शुद्ध बुद्धि-से ही हो सकता है। इस प्रकार किसी भी इन्द्रिय-से परमात्मा जाननेमें नहीं आ सकता। इसलिये परमात्मा अदृष्टत्वादि तथा अश्रुतत्वादि धर्मवाला है। यह अन्तर्यामी आत्मा दृष्टि, श्रुति, मति तथा विज्ञाति—इस प्रकारकी बुद्धिकी वृत्तियोंको प्रकाश करता है, इसलिये अन्तर्यामी आत्माको द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञाता इत्यादि नामोंसे श्रुति निरूपण करती है। यह परमात्मा नेत्रादि इन्द्रियोंको, बुद्धि आदिको और बाह्य तथा आन्तर सर्व व्यापारोंको जानता है किन्तु नेत्रादि इन्द्रियाँ अन्तर्यामी परमात्माको जान नहीं सकतीं इसलिये अन्तर्यामी आत्माके सिवा कोई भी पदार्थ द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञाता नहीं है किन्तु अन्तर्यामी आत्मा ही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञाता है। इसलिये हे उद्दालक ! यह अन्तर्यामी परमात्मा ही तेरा आत्मा है। अन्तर्यामीके सिवा अन्य कोई आत्मा नहीं है क्योंकि जो पदार्थ चैतन्य आत्मासे भिन्न होता है, वह पदार्थ जड होता है। जो पदार्थ जड होता है, वह घटादिके समान उत्पत्ति तथा नाशवाला होता है।

हे डोरूशङ्कर ! जब इस प्रकारका उत्तर मुनि-ने दिया तो उद्दालकने फिर प्रश्न नहीं किया। पश्चात् वचक्नु ऋषिकी पुत्री गार्गी नामकी स्त्री सब ब्राह्मणोंसे कहने लगी— (क्रमशः)

गोविन्द-गुण-गान

गीता-तत्त्व-ज्ञाता जग-त्राता बलदेव-भ्राता,
चारि-फल-दाता हैं चरित्र ब्रजचंदके ।
बृंदावन-चारी त्यौं ही बृंदा-मनहारी भले,
बंदनीय इंद्रादिक बृंदारक-बृंदके ॥
सुखमा-समंद त्यौं अमंद सुखकंद स्याम,
मोसे मतिमंदके हरैया भव-फंदके ।
भरन अनंद त्यौं हरन दुख-द्वंदहूके,
बंदौं पद-कंज नंद-नंदन गोबिंदके ॥

—साह मोहनराज

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

किसी सज्जनने निम्नलिखित शङ्काएँ 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ भेजी हैं, इनका समाधान मानस-प्रेमियोंके विनोदार्थ यहाँ किया जा रहा है ।

पहली शङ्का

संकर प्रिय मम द्रोही, सिवद्रोही ममदास ।
ते नर करहिं कल्पभरि, घोर नरकमहँ बास ॥

यहाँ शङ्का उठती है कि जो मनुष्य शिवजीका भक्त है, और रामचन्द्रजीसे द्रोह-भाव रखता है, (जैसे रावण)—तो वह कैसे घोर नरकमें वास कर सकता है ? पुनः जो रामचन्द्रजीका परमभक्त है, वह शिवजीसे द्रोहभाव ही क्यों न रखता हो, वह कदापि नरकगामी नहीं हो सकता । क्योंकि जो मनसा, वाचा, कर्मणा अपने इष्टमें सच्चा प्रेम करता है, वह मुक्त हो जाता है । यदि कोई भक्त नरकगामी होता है, तो कहना पड़ेगा कि अपने इष्टका वह सच्चा प्रेमी नहीं था और न इष्टकी कृपा ही उसके ऊपर हुई थी । श्रीरामचन्द्रजीका वचन है—'प्रानते अधिक भक्त प्रिय मोरे ।' और शङ्करजी औढरदानी प्रसिद्ध ही हैं, जरा-सी भक्तिसे त्रिलोकका राज्य सौंप दे सकते हैं, मुक्ति तो साधारण वस्तु है ।

समाधान

उपर्युक्त शङ्काको अच्छी तरहसे समझनेके लिये प्रसङ्गको पूरा-पूरा उद्धृत करना आवश्यक है । इससे पाठकोंको इसके भावको ठीक-ठीक जाननेमें सहायता मिल सकती है—

लिंग थापि बिधिवत करि पूजा । सिव समान प्रिय मोहिं न दूजा ॥
सिवद्रोही मम दास कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा ॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
संकर प्रिय मम द्रोही, सिवद्रोही ममदास ।
ते नर करहिं कल्पभरि, घोर नरकमहँ बास ॥
जे रामेश्वर दरसन करिहहिं । ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ॥
जो गंगाजल आनि चढ़ाइहिं । सो सायुज्य मुकुति नर पाइहिं ॥

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि । भगति मोरि तेहि संकर देइहि
मम कृत सेतु जो दरसन करिहहिं।सो बिनु श्रम भवसागर तरिहहिं
रामबचन सबके मन भाये । मुनिवर निज निज आश्रम आये ॥
गिरिजा रघुपतिकै यह रीती । संतत करहिं प्रणतपर प्रीती ॥
बाँधेउ सेतु नील नल नागर । रामकृपा जस भयउ उजागर ॥
बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई । भये उपल बोहित सम तेई ॥
महिमा यह न जलधिकै बरनी । पाहन गुन न कपिनकै करनी ॥

श्रीरघुबीर प्रतापतें, सिंधु तरे पाषान ।
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन ॥

उपर्युक्त शङ्कामें यह विचार प्रकट किया गया है कि 'जो मनुष्य शिवजीका भक्त है और रामजीसे द्रोह-भाव रखता है, अथवा जो रामचन्द्रजीका परमभक्त है और शङ्करजीसे द्वेषभाव रखता है, वह कदापि नरकगामी नहीं हो सकता ।' परन्तु यह बात सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रीमुखके वचनोंसे ही यह सिद्ध हो रहा है कि—

सिवद्रोही मम दास कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा ॥

यहाँ 'कहावा' शब्दद्वारा स्पष्ट अभिप्राय बोध हो रहा है कि शिवजीसे द्रोह करनेवाला मेरा कहनेमात्र-का भक्त है, वह मेरा यथार्थ दास नहीं है । ऐसा आदमी अपनेको झूठे ही रामदास कहता है । जैसे—

बंचक भगत कहाइ रामके । किंकर कंचन कोह कामके ॥

अतएव 'सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा ।' सारांश यह है कि शिवजीसे द्रोह करनेवाला आदमी स्वप्नमें भी मुझे प्राप्त न होगा, क्योंकि मेरी प्राप्ति मेरे भक्तोंको ही होती है, और—

संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥

अर्थात् जो शिवजीसे द्रोह करके मेरी भक्तिकी इच्छा करता है वह मूढ़ तुच्छ बुद्धिवाला उलटे नरक-गामी होता है । क्योंकि श्रीरामभक्तिके भण्डारी और दाता तो शिवजी ही हैं । अतः उनसे द्रोह करके श्रीराम-भक्तिको पाना भी असम्भव ही है । जैसे—

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी॥

तथा—

सिव पद कमल जिनहिं रति नाहीं । रामहिं ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥
बिनु छल बिश्वनाथ पद नेहू । रामभगतकर लच्छन एहू ॥

इसी सिद्धान्तका निष्कर्ष प्रस्तुत प्रसङ्गमें इस प्रकार वर्णित हुआ है—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

इसी प्रकार जो शिवजीका भक्त बननेकी इच्छा करता हुआ श्रीरामजीसे द्रोहभाव रक्खेगा, उसे अपने इष्टसे द्रोह करनेके कारण शिवजी स्वयं रुष्ट होकर नरक भेज देंगे । इसके प्रमाणमें उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजीका चरित्र देखना चाहिये । जब उन्हें श्री-गुरुदेवद्वारा शिक्षा मिलती है कि—

सिव सेवाकर फल सुत सोई । अबिरल भगति रामपद होई ॥
रामहिं भजहिं तात सिव धाता । नरपाँवर कर केतिक बाता ॥
जासु चरन अज सिव अनुरागी।तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥

—और इस शिक्षाके न माननेसे अवज्ञाके फल-स्वरूप स्वयं शिवजीने उन्हें अधोगतिका दण्ड दिया है । भुशुण्डिजीसे बढ़कर शिवजीका अनन्य भक्त दूसरा कौन होगा, परन्तु अपने इष्टका अनादर कोई सच्चा सेवक नहीं कर सकता, और रामभक्तशिरोमणि जिस शिवजीने श्रीसीतामाताका वेष धारण करनेके कारण सती-जैसी अपनी अनन्य प्रियाका त्याग कर दिया था—

सिव सम को रघुपति ब्रतधारी । बिनु अघ तजी सती अस नारी॥
प्रन करि रघुपति भगति दृढ़ाई। सिव सम को रामहिं प्रिय भाई॥
सिय वेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी ।

जिस शिवजीने सतीके तनिक चूकपर यह प्रण कर दिया कि—

जो अब करौं सती सन प्रीती । मिटै भगति पथ होइ अनीती ॥

वह शिवजी साधारण मनुष्यको रामद्रोही जान-कर—अपने इष्टके अपराधीको ('सो मम इष्टदेव

रघुबीरा' के अनुसार) अपना भक्त मानेंगे या उसे घोर नरकमें डालेंगे ? अतः रामका द्रोही होते हुए भी शिवभक्त होना असम्भव है । तात्पर्य यह है कि 'प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी' तथा 'सेवक स्वामि सखा सिय-पीके' अनुसार श्रीरामजी और श्रीशिवजीमें अन्योन्य अखण्ड प्रीतिका सम्बन्ध है, अतः जो मनुष्य इन दोनोंमें एकका द्रोही होगा, वह दूसरेका भी द्रोही हो जायगा । इसलिये उसे भक्त न कहकर अभक्त ही कहना अधिक सङ्गत होगा । और भक्त तो देव-द्रोह क्यों, संसारके किसी भी प्राणीसे द्रोह नहीं करता—

निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासन करहिं बिरोध ।

पुनः जहाँ अनन्य भक्तका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है कि—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर, रूपरासि भगवंत ॥

वहाँ अपने सेव्यके परम प्रियतमसे ही द्वेष करनेवाला नरकगामी न हो तो फिर उसका और कहाँ ठिकाना लग सकता है ? जब—

चौदह भुवन एक पति होई । भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई ॥

अर्थात् 'चौदहों भुवनोंका एक मालिक हो जानेपर भी जगत्के प्राणियोंसे द्वेष करनेसे पतन होता है ।' तब भगवान् राम और शङ्करसे द्रोह करनेपर यदि कल्पभर नरकमें वास करना पड़े तो इसमें अत्युक्ति क्या होगी ? नरकसे बचनेका उपाय तो श्रीरघुनाथजी तथा श्रीशिवजीकी भक्ति ही है, अतः जो मनुष्य भगवत् और भागवत दोनोंकी भक्तिसे विमुख हुआ है अथवा इनसे द्रोह किया है, उसे महानरक मिले, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । इसीलिये श्रीमुखसे भगवान्ने कहा है—

संकर प्रिय मम द्रोही, सिवद्रोही ममदास ।
ते नर करहिं कल्पभरि, घोर नरकमहँ बास ॥

अर्थात् जो अपनेको शिवजीका प्रिय दास मानकर मुझसे द्रोह मानता है, अथवा मेरा दास बनकर शिवजीसे द्रोह मानता है वह वस्तुतः न मेरा ही भक्त है और न शिवजीका ही; बल्कि वह हम दोनोंका द्रोही है । अतः इस द्रोहके प्रायश्चित्तस्वरूप उसे कल्पभर घोर नरकमें वास करना पड़ेगा ।

इस शङ्कामें उदाहरणस्वरूप रावणका नाम पेश किया गया है । परन्तु वह भी जबतक श्रीरामजीसे द्रोह बिना किये श्रीशिवजीकी तपस्या करता रहा तबतक भगवान् शिव अनुकूल होकर उसे सुख-सम्पत्ति प्रदान करते रहे । जैसा—

सादर सिवकहँ सीस चढ़ाये । एक एकके कोटिन पाये ॥
जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दस माथ ।

इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है । परन्तु जब उसने श्रीरामचन्द्रजीसे द्रोह आरम्भ किया, रामभक्तों, देवता, गौ और ब्राह्मणोंको दुःख देने लगा तब वही शिवजी उस रावणके विनाशमें तत्पर हुए । जब पृथिवीने दुःखित होकर देवताओंके साथ ब्रह्मलोकमें जाकर रावणके नाशके लिये पुकार मचायी तब श्रीशिवजीने उनके साथ होकर भगवान्की स्तुति करनेके लिये कहा । जैसे—

तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ । अवसर पाइ बचन इक कहेऊँ ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना । प्रेमतें प्रगट होहिं मैं जाना ॥
मोर बचन सबके मन माना । साधु साधु करि ब्रह्म बखाना ॥

तथा जब श्रीरामचन्द्रजी अवतार लेकर रावणका विध्वंस करने लगे तब श्रीशिवजी हर्षसे फूले न समाये और अपने उसी सेवक रामद्रोहीका नाश अपनी आँखों देखकर प्रसन्न हो उठे । जैसे—

हमहूँ उमा रहे तेहि संगा । देखत राम चरित रन रंगा ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके द्रोहीसे श्रीशिवजी भी रुष्ट हो जाते हैं । अब यदि यह शङ्का की जाय

कि ऐसे अपचारी रावणको नरक क्यों नहीं प्राप्त हुआ ? तो इसका कारण श्रीरामजीके हाथोंसे उसकी मृत्यु होना है । शिवजीकी भक्तिसे उसे मोक्ष नहीं मिला । केवल रावण ही नहीं, श्रीरामजीके हाथों जितने जीव मारे गये हैं, सभी मुक्त हो गये हैं। जैसे, 'कीन्हें मुकुत निसाचर झारी ॥' वालिने कौन-सी शिवभक्ति की थी जो, 'राम बालि निज धाम पठावा ।' मृगोंने शिवजीकी कौन-सी तपस्या की थी जो—

जे मृग राम बानके मारे । ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ॥

भला जो शिवजी रावणको 'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई' का हिंसक तथा श्रीरामजीका विरोधी मानकर उसके सत्यानाशमें तत्पर होते हैं वही उसे मुक्ति देनेकी चेष्टा करें, यह सर्वथा असम्भव है । बल्कि श्रीरामजी अपने द्रोहीको भी मुक्ति देते हैं यह बात स्वयं शिवजी कहते हैं—

उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर
देहिं परमगति यह जिय जानी। को कृपालु अस कहहु भवानी॥

अर्थात् 'हे पार्वति ! श्रीरामजीका कोमल चित्त करुणाकी खानि है, वह जब हृदयमें विचारते हैं कि निशाचर मुझे वैरभावहीसे सही, स्मरण तो करते हैं; तो उनको परमगति प्रदान करते हैं । हे भवानी ! ऐसा कृपालु स्वामी दूसरा और कौन हो सकता है ?' अतएव रावणके उदाहरणसे इस प्रसंगमें दोष नहीं आता, बल्कि श्रीमुखके वचनोंसे यही प्रमाणित होता है कि श्रीरामद्रोहीपर स्वप्नमें भी श्रीशिवजीकी कृपा नहीं होती है । हाँ शङ्का करनेवाले महाशयका यह विचार यथार्थ ही है कि 'जो मनसा, वाचा, कर्मणा अपने इष्टमें सच्चा प्रेम रखता है, वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होगा, नरकको नहीं। और यदि वह नरकगामी हुआ तो कहना होगा कि वह अपने इष्टका सच्चा भक्त नहीं था और न उसके इष्टकी ही उसपर कृपा थी ।'

परन्तु शङ्का करनेवाले महाशयकी यह बात कि 'त्रिलोकीका राज्य सौंप सकते हैं मुक्तिदान तो साधारण बात है' अर्थात् मुक्तिसे लोकराज्यको बढ़कर मानना निगमागमपुराणादि किसीसे सम्मत नहीं है ।

दूसरी शङ्का

मम कृत सेतु जो दरसन करिहहिं ।

इस चौपाईसे श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि मेरे बनाये हुए सेतुका जो दर्शन करेंगे········। यहाँ शङ्का यह होती है कि सेतु तो नल, नील, अङ्गद, हनुमानादिने बनाया था, श्रीरामचन्द्रजी तो सेतु बाँधते समय अलग थे, उन्होंने न कोई युक्ति बतलायी और न किसी प्रकार-की सहायता दी । फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि श्रीरामचन्द्रजीने सेतु बँधवाया ?

इसका समाधान यह है कि संसारमें सेतु, घाट, मन्दिर, तालाब आदि जितने कृत्य हैं सब उनके बनाये राजगीर और मजदूरोंके नहीं कहलाते हैं बल्कि उनके मालिकके ही नामसे विख्यात होते हैं । अतः इस शङ्काके समाधानमें अधिक विस्तार करना पाठकों-के समयको व्यर्थ नष्ट करना है । हाँ, शङ्का करनेवाले महाशयके सन्तोषके लिये श्रीमानसके ही कुछ पद प्रमाणमें यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

सुनतहिं बचन बिनीत अति, कह कृपालु मुसुकाइ ।
जेहि बिधि उतरै कपि कटक, तात सो कहहु उपाइ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने जब समुद्रसे कपि-सेनाके उतारनेका उपाय पूछा तो समुद्रने उत्तर दिया—

नाथ नील नल कपि दोउ भाई । लरिकाई ऋषि आसिष पाई ॥
तिन्ह के परस किये गिरि भारे । तरिहहिं जलधि प्रताप तिहारे॥
मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई । करिहौं बल अनुमान सहाई ॥
यहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुयश लोक तिहुँ गाइय
निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहिं यह मत भायऊ

समुद्रके इस विनयको सुनकर श्रीरामजीने अपने

मन्त्रियोंको बुलवाकर आज्ञा दी कि शीघ्र ही सेतु तैयार कराया जाय जिससे सेना पार उतरे—

सिंधु बचन सुनि राम, सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ ।
अब बिलंब केहि काम, करहु सेतु उतरइ कटक ॥

अतएव श्रीरामजीकी आज्ञासे जामवन्तने नल-नीलको बुलवा कर सेतु बाँधने तथा समस्त बन्दरोंको पर्वत लानेमें लगाया। इस प्रकार जो कार्य हुआ वह श्रीरामचन्द्रजीका काम न कहलाकर नल-नीलका कैसे कहला सकता है? इसके अनेक प्रमाण मानसमें प्राप्त हैं—

राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा ॥
जेहि बारीस बँधायउ हेला। उतरे कपिदल सहित सुबेला ॥

तीसरी शङ्का

श्रीरघुबीर प्रतापतें, सिंधु तरे पाषान ।
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन ॥

यहाँ यह शङ्का होती है कि समुद्रमें पाषाण तरते तो मुनिके शापसे थे, और नल-नीलके हाथों यह काम होता था फिर इसमें रामचन्द्रजीका क्या प्रताप था? इसे ऋषिका प्रताप यदि कहें तो यह बात ठीक भी हो सकती है। क्योंकि नल-नीलका तो इसमें कोई प्रभुत्व नहीं था फिर रामचन्द्रजीका प्रताप तो कैसे कहा जा सकता है?

इसका समाधान यह है कि इसमें श्रीरामचन्द्रजीका ही प्रताप प्रमुखरूपसे था। पहले समुद्रकी ही प्रार्थना देखिये—

तिन्हके परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तिहारे॥

यहाँ श्रीरामप्रतापका ही अवलम्ब माना गया है, साथ ही अपने लिये भी समुद्रने प्रभु-प्रभुताईका ही आश्रय लिया है—

मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहौं बल अनुमान सहाई ॥

श्रीहनुमान्‌जीकी उक्तिमें भी श्रीरामजीके प्रतापका ही उल्लेख पाया जाता है—

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी ॥

श्रीजामवन्त भी नल-नीलसे यही बात कह रहे हैं—

जामवंत बोले दोउ भाई। नल नीलहिं सब कथा सुनाई ॥
राम प्रताप सुमिरि मनमाँही। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं ॥

यही क्यों, सारा दल ही कार्य प्रारम्भ करते समय श्रीरघुवीरके प्रतापको ही स्मरण कर रहा है—

सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप समूहा ॥

अतएव यह अघटितघटना श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे ही घटित हुई है और इसी कारण यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि—

महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिनकै करनी ॥
श्रीरघुबीर प्रतापतें, सिंधु तरे पाषान ।
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन ॥

अतिरिक्त इसके—

तिन्हके परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तिहारे ॥

इस पदसे ऋषिके शापको कारण मानकर जो शङ्का की गयी है उसके साथ यह भी विचारणीय विषय है कि केवल पर्वतोंके तरनेसे ही तो सेतुका निर्माण होना सम्भव नहीं है, पर्वतोंका स्थिर होना भी तो आवश्यक है। परन्तु नल-नीलको पर्वतोंके स्थिर करनेका तो शाप नहीं मिला था? इसमें भी श्रीरामजीका गुप्त प्रताप निहित है। इस विषयमें यह एक कथा चली आती है कि जब नल-नीलके स्पर्श किये हुए पर्वत समुद्रमें तैरते हुए लहरोंसे यत्र-तत्र फैलने लगे तब इस बातकी चिन्ता हुई कि ये पहाड़ एक-दूसरे-से जुटकर कैसे स्थिर हो सकेंगे? दयासागर प्रभुने विचारा कि हमारे सेवकोंपर भारी चिन्ता आ पड़ी है।

वे मुस्कराते हुए जामवन्तके समीप आकर पूछने लगे कि 'भला नल-नीलके हाथोंमें ऐसी कौन-सी खूबी है जो इनके छुए पर्वत समुद्रपर तैरने लगते हैं ?' नल और नीलने इस प्रकार अपनी कथा सुनायी—'हे स्वामी ! बाल्यकालमें हमलोग जिस अरण्यमें रहते थे वहाँ एक बड़े ही तपोनिष्ठ ऋषि रहते थे। वह श्रीरामनामके अनन्य जापक थे, ऋषिकी हमारे ऊपर बड़ी कृपा थी। एक दिन हमलोगोंने उनकी शालग्रामकी मूर्ति लेकर आश्रमके पास ही जलाशयमें डुबो दिया। ऋषिको उसे ढूँढ़नेमें बड़ा समय लगा, मूर्ति मिलनेके बाद उन्होंने यह शाप दे दिया कि 'जाओ, आजसे तुम्हारे स्पर्श किये हुए पत्थर डूबेंगे ही नहीं।' परन्तु हे प्रभु ! यह सब आपकी ही प्रभुता है।' श्रीरामचन्द्रजीने हँसते हुए कहा कि 'लोग यों ही स्तुति-वचन बना लेते हैं, यदि मेरे हाथका भी एक पत्थर न डूबे तो मैं समझूँ कि इसमें मेरा ही प्रताप है।' ऐसा कहकर भगवान्‌ने एक पत्थरका टुकड़ा समुद्रमें फेंका और वह डूब गया। इसपर जामवन्तने कहा—'हे प्रभु ! आपने अपने हाथोंसे जिसे फेंक दिया उसे तो डूबना ही चाहिये। आपकी भुजाके आश्रयसे तो उद्धार होता है। उससे च्युत होनेवाला तो जरूर ही डूब जायगा।' श्रीरामचन्द्रजी मुस्कराते हुए लौट गये। इसपर जामवन्तने नल-नीलको बुलाकर कहा कि 'भाइयो ! पर्वतोंको जोड़कर स्थिर करनेका मसाला भी मिल गया। अब ऐसा उपाय करो कि एक पर्वतपर 'रा' लिखो और दूसरेपर 'म'—फिर प्रेमपूर्वक रामनामका उच्चारण कर दोनोंको मिला दो। यह दोनों अक्षर 'ब्रह्मजीव इव सहज सँघाती' हैं। दोनों पर्वतोंको अखण्डरूपसे जुटा देंगे।' अतः ऐसा ही किया गया, अटल सेतु बनकर तैयार हो गया। इस प्रकार सेतुबन्धमें रामप्रतापका ही सारा खेल है। इसी भावको लेकर बिनय-पत्रिकामें कहा है—

> **भरोसो जाहि दूसरो सो करो।**
> **मोको तो रामको नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो ॥**
> **स्वारथ औ परमारथ हू को नहि कुंजरो-नरो।**
> **सुनियत सेतु पयोधि पषानन करि कपि-कटक तरो ॥**

अतएव श्रीरघुवीरप्रतापसे ही 'पाषान सिन्धु तरे', इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। श्रीरामजीके प्रतापसे ही ऋषिमें यह सामर्थ्य प्राप्त थी कि उनके आशीर्वादसे नल-नीलके हाथोंमें यह विशेषता आयी। अन्तमें पर्वतोंके जुटाने और स्थिर करनेमें श्रीरघुवीरप्रतापहीसे कार्य सम्पन्न हुआ। समुद्रने भी श्रीरघुवीरप्रतापसे ही सम्मुख आकर सिन्धु बाँधनेकी सम्मति दी, बानर-भालु श्रीरामके ही प्रतापसे पर्वतोंको गेंदके समान उखाड़ लाये। सारांश यह है कि सेतुबन्धमें जो कुछ हुआ श्रीरघुवीरप्रतापहीसे हुआ। इसमें तनिक भी शङ्काका स्थान नहीं है कि—

> **श्रीरघुबीर प्रतापतें, सिंधु तरे पाषान।**

सियावर रामचन्द्रकी जय !

ज्ञानगुदड़ी

जिसको तू कहे अर्थ वह है अनर्थमूल भूलसे भी व्यर्थ ऐसे फंदमें न फँसना।
संग्रहमें रक्षणमें व्ययमें सदा ही यहाँ भीतर है रोना, मूढ बाहरसे हँसना ॥
यह पाया वह पाऊँ इतना बढ़ाऊँ और दुस्तर मनोरथनदीका कहीं तट ना।
चातक-से तोषहीन आशासे उपरिमुख अर्थियोंकी अमिट है दीन शब्द रटना ॥

श्रीरूपकलाजीका वचनामृत-सार

(श्रीराघवेन्द्र देव नारायण बी० ए० द्वारा सङ्कलित)

जय जय जय जानकि जानकिवर ।
क्षमासीवँ, समरथ, करुणाकर ॥
चन्द्रकला, गिरिजा, गिरा, हनुमत श्रीसियराम ।
चरण बंदि चाहौं सदा, राम-भक्ति निःकाम ॥

सर्वशक्तिमान्, परमकृपालु क्षमामन्दिर श्रीभगवतको सभी देशकालमें स्मरण करो और श्रीनाम जपो। सुरति श्रीभगवतपर रक्खे रहो और हाथोंसे काम किये जाओ । श्रीहरिसे विनय, कर्तव्य-परायणता, उद्योग और सद्भाव ये सिद्धिके लक्षण हैं। दम्भ बहुत बुरा है । ढाल बनो तो बनो पर तलवार न बनो । जिह्वासे सावधान रहो; अर्थात् कब, कहाँ, क्या, कितना, कैसा और कैसे बोलना और खाना चाहिये इससे सचेत रहो । अभिमान, आलस, वैर, फूट और डाहके निकट न जाओ । सत्यवादी, सत्य-व्यवहारी, यशस्वी, दृढ़प्रतिज्ञ, दयाशील, शुचि, निर्मल, धीर, विनीत और उपकारी होओ । बहुत सोच-समझकर कोई प्रतिज्ञा करो । उसके सोचसे क्या जो जा ही चुका । मन-चित्तको बुद्धिके आधीन रखो । विराग तथा शान्तिके सुखको जानो । अभ्यास और योगके बलको समझो । प्रेमकी प्रभुता तथा महिमाको विचारो । किसीके साथ ऐसा व्यवहार न करो कि जैसा तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे प्रति करे । कर्तव्यपालन करनेमें ठीक परिश्रम करनेसे न चूको । जो कार्य अभी-अभी कर सकते हो उसे दूसरे समयपर नहीं उठा रक्खो । विचारका सदा अभ्यास करो । प्रतिदिन रात्रिको बीते हुए तथा अगले दिनके कार्योंका मनन-चिन्तन करते हुए श्रीभगवतसे प्रार्थना करो । कुमार्गकी ओर झुकनेसे वा अनुचित वस्तुके लालचसे बहुत बचो । दुःखकी जड़ पाप है और विषयासक्तिका फल नास्तिकता है । अनात्मा, आत्मा, धर्मात्मा, महात्मा, परमात्माकी पहचान सविवेक करो । मृत्युको मत भूलो, वह अवश्य पहुँचती है, काल अचानक (अकस्मात्) आ पड़ता है । इन्द्रियोंके विषयोंको हितकर न मानो । समयकी महिमा मत भूलो । समझनेवाला अन्तःकरण ही है; और समझ लिये जानेके योग्य भी अन्तःकरण ही है । बढ़ते-बढ़ते चले चलो । श्रीभगवद्भक्तोंसे सादर सप्रेम मिलो ।

'तुलसी' इस संसारमें, सबसे मिलिये धाय ।
क्या जाने किस भेषमें, नारायण मिल जाय ॥

अन्तःकरणमें श्रीभगवत; श्रीभगवतमें मन-चित्त-बुद्धि । प्रेम ! प्रेम ! ! प्रेम ! ! !

जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रय सूल ।
सो कृपालु मोहिं तोहिंपर, रहैं सदा अनुकूल ॥

प्रियप्रेमी ! श्रीगुरुमन्त्रका जाप नित्य करो । श्रीरामचरितमानस तथा श्रीभक्तमालका थोड़ा पाठ भी जरूर करो ।

जय श्रीजानकि जानकिकंत । श्रीआचार्य्य, श्रीहनुमंत ॥
देह कहीं, सियपद महँ देही । मन तहँ जहँ सियपिय बैदेही ॥
जीह सुरति श्रीसिय पिय नाम । अष्टयाम श्रीसीताराम ॥

बिसाल यार चूँ ख़ाही, करीने नामश बाश ।

अर्थात् प्रीतमसे जो भेंट चाहता है तो उसके नामके निकट रह ।

बदीदार मर्दुम शुदन ऐब नीस्त ।
व लेकिन न चंदाके गोयंद बस ॥

अर्थात् किसीसे भेंट करना ऐब नहीं है किन्तु इतनी न होनी चाहिये कि ऊब जाय ।

वहेच चीज़ तोरा निस्त हाजत ए हाफ़िज़ ।
दोआये नीम शबो दर्द सुबह गाहत बस ॥
हर गंज सेआदतके खुदा दाद व हाफ़िज़ ।
अज़ यमन दोआये शबो दर्देसहरी बूद ॥

अर्थात् ऐ हाफ़िज़ ! तुझे किसी चीजकी जरूरत नहीं है सिवा आधीरातकी प्रार्थना और प्रभातका भजन । सम्पत्तिकी जो पूँजी हाफ़िज़को परमात्मासे मिली है वह आधीरातकी प्रार्थना एवं प्रभातके भजनका फल है ।

खुर्दन बराय ज़ीस्त ओ ज़िक कर्दन अस्त ।
तू मुस्क़िदके ज़ीस्तन अज़ वहर खुर्दन अस्त ॥

अर्थात् खाना जीने और भजनके लिये है । तू समझता है कि जिन्दगी खानेके लिये है ।

वाहेच ज़न दर खिलवत मनशीं, गर्चें तोरा ऊमादर बाशद व तू ऊ रा कुरान मी खान ।

अर्थात् किसी स्त्रीके साथ एकान्तमें न बैठ, यदि वह तेरी माँ भी हो और तू उसे कुरान क्यों न पढ़ाता हो ।

श्रीरामचरितमानस और भक्तमालका आदर और अभ्यास कीजिये और समय मिले तो बिनय-पत्रिकाका भी ।

राम राम रटु, रामराम जपु, राम राम रमु जीहा ।
राम नाम नव-नेह मेहको, मन हठि होहिं पपीहा ॥
सीताराम रटे अघ जाई । गूढ़ा तत्त्व सो प्रगट लखाई ॥
सीताराम सुज्ञान विरागा । सीताराम धर्मकृत जागा ॥
सीताराम सुकर्म बिचारो । सीताराम नाम उर धारो ॥
सीताराम सनेह सगाई । सीताराम रटो लय लाई ॥
सीताराम नाम व्रत नेमा । सीताराम परम गति छेमा ॥
सीताराम नाम संतोषा । सीताराम सुधारन कोषा ॥
सीताराम रटे सुख होई । सीताराम प्रकट नहिं गोई ॥
सीताराम नाम धन नीको । अमर सकल धन गाहक जीको ॥
सीताराम रसायन जानो । सीताराम नाम रति मानो ॥
सीताराम अजीवन मूरी । नाम रटै नाशै भय भूरी ॥
सीताराम रटै सो जीवै । सियाराम रटि पावत पीवै ॥
सीताराम सुअमृतधारा । हरैं सकल कलि कलुष विकारा ॥
सीताराम नाम प्रिय मीता । बिनु कारण हित परम पुनीता ॥
सीताराम रटै भय भाजै । सीताराम सुनत यह लाजै ॥
सीताराम नाम जनरंजन । सीताराम सकल दुखभंजन ॥
सीयराममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुगपानी ॥
रामकथा सुंदर करतारी । संसय-बिहँग उड़ावनिहारी ॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगतसिरोमनि भे प्रहलादू ॥
नाम प्रसाद संभु अबिनासी । साजु अमंगल मंगलरासी ॥
जो नहिं करै रामगुनगाना । जीह सो दादुर जीह समाना ॥
नारद जानेउ नाम प्रतापू । जग प्रिय हरि हरिहर प्रिय आपू ॥

विश्वास

(१)

अमरबेलि बिनु मूलके, प्रतिपालत है ताहि ।
'रहिमन' ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिए काहि ॥

(२)

रन बन ब्याधि बिपत्तिमैं, 'रहिमन' मरउ न रोइ ।
जो रच्छक जननी-जठर, सो हरि गए न सोइ ॥

(३)

काम न काहू आवही, मोल 'रहीम' न लेइ ।
बाजू टूटे बाजके, साहेब चारा देइ ॥

—रहीम

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[वर्ष ८ पृष्ठ १०१४ से आगे]

भगवान् श्रीरामचन्द्रने सेनापति सुग्रीवके नैतिक कथनका नीतिकी दलीलोंसे ही जिस समय खण्डन कर दिया तब वह—

सहलक्ष्मणः उत्थाय प्रणतः वाक्यमब्रवीत्।

'लक्ष्मणको साथ लेकर उठे और प्रणाम करके कहने लगे।'

श्रीरामचन्द्रमें असामान्य स्नेहके कारण अनिष्टकी शङ्कासे सुग्रीवने दो-दो बार विभीषणके स्वीकारका विरोध किया। धर्मकी, नीतिकी, स्नेहकी प्रायः सभी मर्यादाओंसे श्रीरामचन्द्रको विवश करना चाहा जिससे वे किसी तरह भी विभीषणको बैरंग लौटा दें। ऐसा न हो कि वे इसे अपने दलमें मिला लें और यह (हमलोगोंकी तो कोई चिन्ता नहीं परन्तु) स्वयं भगवान्का ही कहीं अनिष्ट कर बैठे। भगवान्ने भी दोनों बार इनका अच्छी रीतिसे समाधान कर दिया। स्नेहकी और धर्मकी दोनों रीतियोंसे सुग्रीवको अच्छी तरह हटा दिया। सेनापतिके पदपर होनेके कारण राजनीतिके अनुसार भी जो-जो बाधाएँ उन्होंने उपस्थित की थीं उनका भी राजनीतिसे ही आपने अच्छी तरह खण्डन कर दिया। किन्तु स्नेह नहीं मानता था। श्रीराममें जो उनकी असामान्य प्रीति थी उसके कारण पद-पदपर उन्हें अनिष्टका भय लगा रहता था। इसीलिये श्रीरामके कथनसे वे निरस्त न हो सके। अतः तीसरी बार खड़े होकर वे फिर विभीषणके संग्रहमें घोर विरोध उपस्थित करते हैं।

ठीक है। यह मान लिया जा सकता है कि शरणागत-वत्सल श्रीरामने विभीषणके स्वीकारमें जितनी बार अपना आग्रह प्रकाशित किया उतनी ही बार सुग्रीवने अति स्नेहके कारण विरोध उपस्थित किया। किन्तु यह समझमें नहीं आया कि वे अबके तीसरी बार विभीषणके विरोधमें अपनी वक्तृता उपस्थित करते हुए लक्ष्मणको साथ लेकर यकायक उठकर खड़े क्यों हो गये। क्या अपनी असम्मति यहाँतक दिखाना चाहते थे कि—'लीजिये मेरा और लक्ष्मणका तो इसी घड़ी प्रणाम है। हम तो अब चरण-सेवामें नहीं रह सकते।'

नहीं, ऐसा नहीं, इसका दूसरा तात्पर्य है जो शरणागतिमें अत्यन्त आवश्यक है। 'प्रणतः' के साथ महर्षिने एक विशेषण यहाँ और दिया है 'महाप्राज्ञः' अत्यन्त बुद्धिमान्। जो बुद्धिमान् होते हैं वे ऐसी 'हठकारिता' नहीं किया करते। यहाँ तो वे अपनी महाप्राज्ञताका परिचय दूसरे ही प्रकारसे दे रहे हैं। सुनिये—

सुग्रीवने देख लिया कि श्रीरामचन्द्रके आगे राजनीतिकी दलीलें एक भी नहीं चलतीं। वे एकके उत्तरमें इतनी युक्तियाँ उपस्थित करते हैं कि जिनका समाधान होना कठिन है। स्नेह और धर्मकी दुहाई भी काम नहीं आयी। श्रीरामचन्द्रने 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' इस एक ही पद्यमें, एक स्नेह और धर्म ही क्या, सभीको गौण मानते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि 'शरणागतभावसे चाहे कैसा भी दोषी मेरे पास आ जाय, मैं किसी प्रकार भी उसको नहीं छोड़ सकता। शरणागतको अभय देना मेरा 'व्रत' है।' कहिये, अब इसका क्या उत्तर दिया जाय? शरणागतिरूप एक ही गुणके कारण प्रपन्नके अनेकानेक प्रबल-से-प्रबल दोषोंतकको भगवान् नहीं देखते। फिर राजनीतिके द्वारा दिखाये हुए दोषोंकी क्या बात? वानरसेनाके स्वामी किष्किन्धाधिपति सुग्रीव और कोसलनरेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रमें विभीषणके स्वीकार विषयको लेकर परस्पर विनोदमय एक बड़ा भारी वाग्युद्ध चल रहा था। सुग्रीव अपनी विजयके लिये एक-से-एक बढ़कर युक्तिरूपी शस्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे। भगवान् भी उन शस्त्रोंका तत्काल ही प्रतीकार कर देते थे। सुग्रीव तत्क्षण ही फिर उससे बढ़कर शस्त्र काममें लाते थे। किन्तु इस बार सुग्रीवके जवाबमें भगवान्ने जो शस्त्र काममें लिया है उसका कोई जवाब ही नहीं। और सब शस्त्र-अस्त्रोंकी काट हो जाती है किन्तु जिस समय ब्रह्मास्त्र छोड़ा जाता है फिर उसका कोई प्रतीकार नहीं। मारुतिपर मेघनाद अपने सब शस्त्र और अस्त्र छोड़ता रहा, अतुलपराक्रम हनुमान् भी उनका तत्काल ही प्रतीकार करते रहे। किन्तु जब उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब हनुमान्ने देखा अब इसका

समाधान नहीं । इच्छासे हो या अनिच्छासे, अब तो इसके वशीभूत होनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं ।

पुत्रवधका अपराध करके भागते हुए अश्वत्थामाने अर्जुनपर अनेकानेक शस्त्रास्त्र छोड़े, अर्जुनने सबको काट डाला । किन्तु जिस समय ब्रह्मास्त्र छोड़ा, त्रिभुवन संतप्त हो उठा । अर्जुन घबरा गया । भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अश्वत्थामाने इस समय ब्रह्मास्त्र चलाया है । इसका दूसरा प्रतीकार है ही नहीं । हाँ, इसका यदि कोई सामना कर सकता है तो यही । अर्थात् ब्रह्मास्त्रका जवाब ब्रह्मास्त्र ही है । बस, अर्जुनको ब्रह्मास्त्र चलाना पड़ा ।

यहाँ भी यही बात है । परिषदप्रवर सुग्रीवने देखा कि विभीषणके मैं जितने-जितने दोष दिखाता हूँ 'शरणागति' के आगे भगवान् उन्हें एकको भी नहीं ठहरने देते । भगवान्-के इस दरबारमें 'शरणागति' का मुकाबिला करनेवाला कोई नहीं । स्वयं भगवान् जब श्रीमुखसे आज्ञा कर रहे हैं कि 'शरणागतको सम्मुख देखकर स्वयं मैं ही विह्वल हो जाता हूँ । बहुमानपूर्वक उसे छातीसे लगानेकी मेरी इच्छा हो उठती है । उसके दोषोंकी ओर दृष्टि ही किसकी जाती है ।' अब दूसरा उपाय ही क्या रहा ? शरणागतिका प्रतीकार यदि कोई है तो शरणागति ही । किन्तु इधर विभीषणकी शरणागतिपर स्वयं कोसलेन्द्र भगवान् श्रीराम-चन्द्र डटे हुए हैं । इसलिये शरणागतिके उत्तरमें यदि एक शरणागतिका आश्रय भी लिया जाय तो भी काम न चलेगा । समान बल होनेके कारण दोनों शरणागति शायद बराबर डट जायँ । इसलिये दूने गोले-बारूद बिना काम नहीं चलनेका । इसलिये अब तो एक शरणागतिके उत्तरमें दो शरणागति सम्मुख रक्खी जायँ, देखें भगवान् फिर इनका तिरस्कार कैसे करते हैं ? इसीलिये भगवान्के परमश्रेष्ठ, अनुगत, लघुभ्राता श्रीलक्ष्मणको साथ लेकर सुग्रीव उठ खड़े हुए और भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया कि-'हम दो सेवक भी आपकी शरण आये हैं । हमारी प्रार्थना भी सुनी जाय कि शत्रुपक्षीय विभीषणको आप कथमपि स्वीकार न करें ।' देखें भगवान् इसकी अवहेलना कैसे कर सकते हैं ? इसी आशयको लेकर महर्षिने कहा है-

महाप्राज्ञः सहलक्ष्मणः उत्थाय, प्रणतः वाक्यमब्रवीत् ।

'बुद्धिमान् सुग्रीव लक्ष्मणको साथ लेकर उठे और प्रणाम करके वाक्य बोले ।'

सुग्रीवने फिर भी यही कहा कि 'यह निशाचर अवश्य ही रावणका भेजा हुआ है । यदि इसका विश्वास किया जायगा तो अवश्य यह आपके साथ दगा करेगा । शायद आप अपने क्लेशोंकी परवा न भी करते हों, किन्तु आपकी भक्तवत्सलता जगत्प्रसिद्ध है । आप स्वयं चाहे दुःख पा लें परन्तु अपने आश्रितका दुःख आप कभी नहीं देख सकते । इसलिये आप चाहे अपने साथ विश्वासघात होनेकी अधिक परवा न भी करें तो भी हमलोगोंका तो कुछ अनुरोध आप रखेंगे ही । इसलिये कहते हैं—

'विश्वस्ते मयि वाऽनघ लक्ष्मणे वा महाबाहो' (प्रहर्तु-मागतः) 'विश्वासी मुझपर अथवा श्रीलक्ष्मणपर प्रहार करनेकी नीयतसे यह आया है ।' यह जगत्प्रसिद्ध क्रूरकर्मा रावणका भ्राता है, इसे कैद कर लेना चाहिये । यही इस समय उचित है । यह कहकर वाक्यकुशल सुग्रीव चुप हो गये ।

तीन बार हो चुका । श्रीराममें अलौकिक स्नेहके कारण अनिष्टकी शङ्कासे सुग्रीव विभीषणका स्वीकार कथमपि नहीं चाहते । इसलिये वह बार-बार विरोध करते हैं । इधर श्रीरामचन्द्रजी अपनी भक्तवत्सलतापर, अपने दीनोद्धरणव्रतपर डटे हुए हैं । वह भी सुग्रीवके कथनको कदापि स्वीकार करना नहीं चाहते । किन्तु तीसरी बार भी विभीषणके स्वीकारमें जब सुग्रीवने विरोध ही किया तब—

रामः तद्वाक्यं श्रुत्वा विमृश्य च शुभतरं वाक्यमुवाच ।

'श्रीराम उस वाक्यको सुनकर और कुछ सोच-विचारकर अत्यन्त शुभ वचन बोले ।'

सभी टीकाकारोंने विचारनेका यहाँ यही तात्पर्य निकाला है कि—'सुग्रीव जो बार-बार विभीषणके स्वीकारमें विरोध करते हैं उसका यही कारण है कि इनका मुझमें अत्यन्त प्रेम है । बस, प्रेमहीके कारण वह अस्थानमें भी अनिष्टकी शङ्का करके ऐसा हठ कर रहे हैं' यही श्री-रामचन्द्रने विचार किया । किन्तु मेरे विचारसे शरणागति-प्रसङ्गके अनुसार इसका दूसरा ही तात्पर्य मालूम होता है । सुग्रीवने राजनीतिके अनुसार, धर्मकी दृष्टिसे तथा अवसरको देखते हुए भी विभीषणके स्वीकारका दो बार विरोध किया । भगवान् रामचन्द्रने भी दोनों ही बार राजनीति और धार्मिक मर्यादासे भी विभीषणके स्वीकारका

समर्थन किया । सुग्रीवको अच्छी तरह समझा दिया कि यह हमारी कोई हानि नहीं कर सकता । जब यह शरणार्थी होकर आया है तब अवश्य इसपर कोई आपत्ति ही आयी है । आपत्तिग्रस्त होकर, 'तुम्हारा हूँ' कहकर, जो कोई मेरे पास आता है उसको अभय देना यह मेरा दृढ़व्रत है । अतएव इससे भय करनेका कोई कारण नहीं । यहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रने व्यङ्ग्यमर्यादासे सुग्रीवको सूचित कर दिया कि दीनोंके उद्धारके लिये, दुष्टोंसे सताये हुओंको अभय देनेके लिये सर्वशक्तिमान् मेरा अवतार भूमण्डलमें हुआ है । अतएव मुझे अभयदीक्षाव्रतसे हटना कदापि उचित नहीं है । ठीक ही है, जब सर्वशक्तिमान् भगवान्ने ही अवतार लिया है तब उन्हें भय उत्पन्न करनेवाला है ही कौन ? किन्तु दोनों ही बार भगवान्की इस अन्तर्हित शक्तिको सुग्रीव नहीं समझ सके । सप्ततालभेदनादि असामान्य कार्य देखकर भी भगवान्की मायामें विमुग्ध हो पड़े । उन्हें एक अनुपम वीरमात्र समझने लगे । इसीलिये—'निशाचर विभीषण प्राणश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रका कोई अनिष्ट न कर बैठे' इस शङ्कासे अति विह्वल होकर वे श्रीरामचन्द्रसे दैन्यपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि 'इसको किसी तरह भी अपने दलमें मत मिलाइये । यह निश्चित ही अनिष्ट करनेकी बुद्धिसे यहाँ आया है ।'

जब दो-दो बार हो चुका, व्यङ्ग्यमर्यादासे भगवान्ने सूचित भी कर दिया, तो भी भगवान्की उस अपरिमित शक्तिको सुग्रीव नहीं समझ सके । तब 'रामः विमृश्य', भगवान्ने सोचा कि अब साफ कहे बिना काम नहीं चलेगा । अपनी अपरिमेय शक्ति, अपना ऐश्वर्य, सूचित किये बिना सुग्रीवको भरोसा नहीं आवेगा । उसको मेरे सामर्थ्यपर अभी सन्देह है । चाहता तो नहीं था कि मैं अपना ईश्वरभाव प्रकट करूँ, परन्तु अब कहे बिना शरणागत विभीषणके स्वीकारमें व्यर्थ विलम्ब हो रहा है । यह सब बातें विवश होकर भगवान्को सोचनी पड़ीं इसीलिये महर्षिने कहा है कि—'विमृश्य'—'विचार करके ।'

गीताके भगवान्ने भी शरणागतिके अधिकारी अर्जुनको जिस समय अपना सर्वसामर्थ्य, अनन्तवीर्य, अपनी विभूतियाँ अपने मुखसे कहीं उस समय उसने मान तो लिया परन्तु कुछ सन्देहरेखा हृदयमें रही । भगवान्के विभूतियोगको सुनकर उसने कहा कि—'एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर' 'हे सर्वसमर्थ ! आपने अपने स्वरूपको जैसा बतलाया वह ऐसा ही है ।' अर्जुन मुखसे कह तो गये परन्तु भगवान्ने देखा कि इसके हृदयमें अभी कुछ 'किन्तु' बाकी है । आखिर अर्जुनका वह भाव इस प्रार्थनासे प्रकट हो ही गया कि—

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

'अर्थात् हे भगवन् ! मैं आपका वह सर्वशक्तियुक्त रूप देखना चाहता हूँ ।' अस्तु भगवान्को वहाँ विश्वरूप दिखाना पड़ा ।

भगवान्ने देखा कि कुछ वैसा ही अवसर यहाँ भी आया हुआ है । 'द्विर्बद्धं' ही काफ़ी होता है, किन्तु यहाँ तीन-तीन बार अच्छी तरह समझा देनेपर भी सुग्रीवको अभी मेरे सामर्थ्यके विषयमें सन्देह बना हुआ है । अब साफ़-साफ़ अपने मुखसे ही कहे बिना काम नहीं चलेगा । बस, यही विचार भगवान्को इस समय करना पड़ा, इसीलिये महर्षि यहाँ कहते हैं—'विमृश्य' ।

अपना दिव्य प्रभाव प्रकट करनेमें कुछ सोच-विचार करके आप बोले—'यह जातिसे राक्षस हो और उसपर भी प्रकृतिसे यह चाहे दुष्ट हो या अदुष्ट, किन्तु यह क्या मेरा कुछ भी अनिष्ट करनेका सामर्थ्य रखता है ? मैं पिशाच, दैत्य, यक्ष, एक यही राक्षस क्या पृथिवीभरके सब राक्षस मिलकर चले आवें तो भी एक अङ्गुलिके अग्रभागसे सबको नष्ट कर सकता हूँ ।'

अविकत्थन, दक्षिणनायकोंके मुकुटमणि मर्यादापुरुषोत्तम जो श्रीरामचन्द्र विनयमार्गका आदर्श स्थापित करते हुए सदा अपनेको अकिञ्चित्कर कहते आये हैं । कुठार लेकर मारनेवालेके आगे भी मस्तक नवाकर कहते हैं—

........................कर कुठार आगे यह सीसा ॥
जिहिं रिस जाइ करिय सोइ स्वामी। मोहि जानि आपन अनुगामी ॥

वही अपने मुखसे गर्विष्ठ वाणी कैसे कहते हैं ? इसका कारण यही है कि किसी तरह सुग्रीवादिको विश्वास हो, इसके लिये भगवान् अपना दिव्यभाव स्पष्ट अपने मुखसे कह देना चाहते हैं । तुम एक इस राक्षससे ही डर रहे हो, मैं राक्षस ही क्या दानव, पिशाच, यक्ष आदि सम्पूर्ण देवयोनियोंको केवल एक अङ्गुलिके इशारेसे ही मार सकता हूँ । तुम्हें यह गर्व होगा कि 'मेरी सहायताके बिना रामका

कोई कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि लङ्काविजय अकेले आपसे न हो सका तभी तो वानरसमूहका सेनापति बनाकर मुझे साथ लाये हैं।' यह अभिमान मत रखना। अपने आश्रित वानरसमूहके साथ तुम अलग बैठे-बैठे देखो, मैं अकेला इन सबको इशारेमात्रसे मार सकता हूँ। इसी व्यङ्ग्यको सूचित करनेके लिये यहाँ सम्बोधन दिया है—'हरिगणेश्वर!' हे वानरसेनाके स्वामी! तुम्हारी किसी तरहकी सहायताके बिना अकेला मैं ही यावन्मात्र दैत्य, राक्षसादिको मार सकता हूँ।

यहाँ स्पष्ट ही मुखसे कह दिया कि मैं देवकार्यके लिये भूमण्डलपर आया हूँ, अब राक्षस ही क्या दैत्यादि सभी विरुद्ध हो जायँ तो भी मुझे उनका नाश करना पड़ेगा। 'ठीक है, जब आपका यह अलौकिक सामर्थ्य है तब फिर हमलोगोंकी क्या जरूरत है, और वानरसैन्यका ही फिर क्या होगा?' यह शङ्का न हो, इसलिये आपने अपने वाक्यमें कहा है—'इच्छन्' 'यदि मैं चाहूँ तो।' यदि मैं चाहूँ तो सङ्कल्पमात्रसे नष्ट कर दूँ किन्तु मनुष्य और देवयोनिमात्रसे तुम अवध्य हो, यह वर रावणको दिया जा चुका है। इसलिये मैं अपने दिव्यभावको छिपाकर मनुष्यलीला करता हुआ ही रावणका दमन करना चाहता हूँ। इसीलिये मैं अपनी दिव्यशक्तिसे काम नहीं लेता। इसी आशयसे यहाँ 'हन्याम्' यह हेतुहेतुमद्भावमें 'लिङ्' कहा है। 'यदि मैं चाहता तो एक अङ्गुलिके अग्रसे मार देता, किन्तु यह नहीं चाहता।'

शरणागतरक्षणमें विलम्ब न हो इसलिये सुग्रीवादिके विश्वासके लिये श्रीरामचन्द्र पूर्वोक्त वाक्य कह तो गये किन्तु यह गर्वोद्धत मार्ग आपको हृदयसे सम्मत नहीं। आप तो अपने अधीनोंसे भी समानताका बर्ताव करनेवाले हैं। इसीलिये पूर्वोक्त वाक्यको मन्द करनेके लिये कहते हैं—शरणागतकी रक्षा करना केवल मेरा ही धर्म नहीं अपितु विश्वभर इसे मानता है। और तो क्या, पशु-पक्षी भी अपने शरणागतको आश्रय देते हैं। इसी आशयसे आप आगे कहते हैं—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥
स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्।
कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः॥

'यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि वृक्षरूप अपने घरमें आश्रयके लिये आये हुए अपकारक व्याधको भी कपोत सदृश पक्षीने केवल आश्रय ही नहीं दिया, अपने शरीरके मांसतकसे उसका आतिथ्य किया। व्याध केवल जातिमात्रसे ही अपकारकर्ता नहीं था, उसने कपोतकी प्रिय पत्नीतकको जालमें बाँध लिया था। किन्तु वह भी जिस समय उसके आश्रयमें शरणार्थी होकर आया, बड़ी भक्तिसे उसको ग्रहण किया था। फिर मेरे सदृश क्षत्रियवंशजात मनुष्यका क्या यह धर्म नहीं है?'

यहाँ 'कपोतेन' से दिखाया कि वह तिर्यग्योनि होनेसे धर्माधिकारशून्य था। वह यदि ऐसा न करता तो भी उसे कोई दोषी नहीं कहता किन्तु तो भी वह शरणार्थीपर इतना आतिथेय हुआ। भला फिर हम मनुष्योंके लिये तो कहना ही क्या है? 'कपोतेन' इस एकवचनसे सूचित करते हैं कि वह अकेला था तो भी आतिथ्यसे विमुख न हुआ। हम तो बहुत-से ही नहीं, असंख्य सेनाको साथ लेकर आये हैं। उसने भार्याहरणके कारण घोर अपराधीके साथ भी यह सलूक किया था, यहाँ तो स्वयं विभीषण हमारा अपकारी भी नहीं। इस श्लोकमें 'शरण' पर भी महर्षिकी कुछ ध्वनि है। आप कहते हैं कपोत तिर्यग्योनि पक्षी था। वह शरणागतधर्मका स्वाध्याय भी नहीं कर चुका था। न वह 'शरण' का वास्तविक अर्थ ही जानता था। अपने घरमें आश्रयके लिये यदि कोई आवे तो उसे अपनी तरह समझकर उसको आराम देना वह तो इतनामात्र समझता था। अर्थात् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इस दो शरण शब्दार्थोंमें केवल घरमात्रपर यदि उसे सङ्केताग्रह हो तो हो सकता है। वह भी परम्परासे, क्योंकि—

सोऽञ्जलिं शिरसा बद्ध्वा वाक्यमाह वनस्पतिम्।
शरणं हि गतोऽस्म्यद्य देवतामिह वासिनीम्॥

यों व्याधने वृक्षके प्रति ही आश्रयका वाक्य कहा था न कि कपोतके प्रति। यहाँ विभीषण तो बड़े ऊँचे स्वरसे पुकार चुका है कि—'राघवं शरणं गतः।' यहाँ स्पष्ट ही झलक रहा है कि वह मुझे रघुवंशी समझकर, मैं आश्रयदानमें समर्थ हूँ, यह दृढ़ विश्वास रखकर आया है। सो भी प्रत्यक्ष 'शरणागति' बुद्धिसे, क्योंकि 'राघवं शरणं गतः' में रक्षक अर्थ ही आपाततः अच्छा बैठता है। फिर कपोत

सदृश पक्षी तो यहाँतक उसकी अभ्यर्थना करता है कि उसके शीतनिवारणके लिये अग्नि लाकर भी उसको सुख देता है। और हम तो केवल शरणार्थीकी ही नहीं, उसके दूर-दूरतकके सम्बन्धी, साथी, सँगातीकी भी क्या अच्छी पूजा कर रहे हैं जो कहते हैं—

वध्यतामेष तीक्ष्णेन दण्डेन सचिवैः सह ॥

'कपोतने केवल सत्कार ही नहीं, 'स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः' अपने शरीरके मांसतकको हाजिर करके भोजनके लिये प्रार्थना की।' बाहरके कुछ आहार सामने रख दिये हों, अथवा अपना ही कुछ दूसरा सामान अर्पण किया हो, किंवा अपने शरीरका कुछ ही हिस्सा उसे भोजनके लिये दिया हो, सो नहीं। महर्षि कहते हैं—'स्वैश्च मांसैः' 'अपने सम्पूर्ण शरीरके मांसोंसे।' जिस शरीरपर अज्ञोंको तो 'आत्मा'-बुद्धितक है। भला, अज्ञ ही क्यों, विज्ञतक 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' 'यह शरीर ही धर्मसिद्धिका उपाय है' कहकर उसको इतना गौरव देते हैं, उस शरीरतकको अतिथिके लिये दे देना क्या शरभङ्ग ऋषिकी तरह बड़ी भारी तपस्या नहीं है?

दूसरे श्लोकमें 'सः' पदसे कहते हैं कि 'वह—कपोत' जो पक्षी है, जिसे ईश्वरकी कृपासे हमारी तरह धर्मानुष्ठान-योग्य जाति नहीं मिली है। 'तम्' पदसे कहते हैं कि 'उस—व्याधको' जो जाति और स्वभावसे दोनों तरह तिरस्करणीय था। बल्कि 'पक्षिणां कालसम्मितः' बेचारे पक्षियोंके लिये तो प्रत्यक्ष यमराज था। उसका भी उसने कितना आदर किया था? फिर वह तो यदृच्छया घूमता-फिरता हुआ, आसरा मिलनेकी आशासे इधर आ निकला था। यहाँ तो विभीषण लङ्कासे चलकर इसीके लिये दौड़ा आया है। फिर वह व्याध तो हृदयमें अनुताप भी नहीं लाया था, आनुकूल्यके वाक्य भी नहीं बोलता था, प्रत्युत बेचारे उसी कपोतकी भार्यातकका हरण करके उसको प्रत्यक्ष प्राणान्तक दुःखतक पहुँचाया था। विभीषणमें तो वह बात नहीं।

पाठक महोदय! जरा ध्यान दीजिये। भगवान् श्रीरामचन्द्र कितनी बड़ी गम्भीर बात कह रहे हैं। वह भार्याहर्ता व्याध और कपोतकी ही बात नहीं कहते, वह ध्वनिसे कह रहे हैं कि यदि सीताहरणका घोरापराधी रावणतक भी आवे तो भी 'शरणागति' धर्मकी तरफ देखते हुए हमें उसको भी आश्रय देना चाहिये। आश्रय ही नहीं, अपनी हानितक करके भी उसे सुखी करना चाहिये। कहिये, इस शरणागतवत्सलताकी भी कोई सीमा है? भगवान् श्रीरामचन्द्रका यह केवल हृदयगत विचारमात्र ही न था। वास्तवमें यदि अपने कर्तव्यपर पश्चात्ताप करके, अथवा श्रीरामचन्द्र सदृश पराक्रमीके आगे अब मेरे प्राणोंकी खैर नहीं, इस प्राणभयके कारण ही यदि रावण श्रीरामके पास आ जाता तो कोसलनरेन्द्र रघुवंशभूषण श्रीरामचन्द्र उसके सब अपराधोंको क्षमा करके अवश्यावश्य आश्रय देते, इसमें सन्देह नहीं। आगे चलकर स्वयं आज्ञा करेंगे ही—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

कहिये, त्रिलोकी ही नहीं, चतुर्दश भुवनोंमें भी ऐसी उदारताका कोई दूसरा दृष्टान्त मिलेगा?

यहाँ 'वानरश्रेष्ठ' यह सम्बोधन भी कुछ दूसरी ही बात ध्वनित करना चाहता है। साहित्यवाले चाहे इसे 'गूढव्यङ्ग्य' भले ही कह दें, परन्तु श्रीरामचन्द्रकी लोकातिशायिनी उदारताको समझते हुए महर्षि इसे गूढ नहीं मानते। वह इस सम्बोधनसे एक वानरकी श्रेष्ठताका दृष्टान्त ध्वनित करते हैं। कथा यों है—

'कोई वानर किसी वृक्षमें स्थान बनाकर रहता था। दैवात् वह एक दिन क्या देखता है कि एक व्याध सिंहसे डरकर उसी वृक्षके पास दौड़ा आ रहा है। पीछे-पीछे सिंह भी चला आ रहा है। दयालुहृदय वानरको बड़ी दया आयी कि मेरे देखते-देखते, मेरे घरके ही नीचे यह मारा जाय, यह मेरे लिये बड़ा अनुचित है। अतएव वानरने बहुत जल्द उसे अपने वृक्षपर बुला लिया और आराम-के साथ उसको आश्रय दे दिया। सिंह इस व्याधके अपकारों-से झल्लाया हुआ था। उसने व्याधका पीछा न छोड़ा। उसकी आशामें वह वृक्षके नीचे बैठ गया। मनमें झुँझलाता था कि वृक्षपर कैसे पहुँचूँ और इसे किस तरह खाऊँ? जब यह उतरेगा तभी सँभालूँगा इस बुद्धिसे वह उसीके नीचे बैठ गया। व्याधको वृक्षपर आश्रय देकर प्रसन्नचित्त उदार वानर तो सो गया किन्तु सिंहसे डरे हुए व्याधको नींद कहाँ? वानरके सो जानेपर सिंहने भेदनीति चलायी और वह व्याधसे बोला कि यदि तू इस सोते हुए बन्दरको

नीचे डाल दे तो मैं इसे खा लूँ। तेरा पीछा छोड़ दूँ। सत्य है—रात-दिन पापकर्म करनेवालोंमें दया कहाँ? व्याधने अपने बचनेके लोभमें आकर अपने शरणदाता, सोते हुए उस वानरको पेड़परसे ढकेल दिया। बन्दर नीचे पड़ते ही जग उठा। किन्तु सिंहने उसे नहीं छुआ। उसने कहा कि भाई! मेरा तेरे साथ कोई वैर नहीं। तू दयालु है, जिसने सब पशुओंको अकारण मारनेवाले इस जातिवैरीको भी शरणागत समझकर आश्रय दिया। किन्तु इसकी नीचता देख। यह अपने शरणदाताका भी सँगाती न हुआ। अब मैं तुझे छोड़ता हूँ। तू अपने जातिवैरी और प्रत्यक्ष दगा करनेवाले इस शत्रुको नीचे गिरा दे। मेरा वृक्षपर चढ़नेका वस नहीं। तू इस संकटमें पड़े हुए तेरे और मेरे ही क्या जीवमात्रके निःशस्त्र वैरीको ऊपर जाकर बेखटके नीचे गिरा दे।

'दयालु और उदारहृदय वानरसे यह क्रूरकर्म न बन सका। सिंह वानरके मनकी बात समझ गया। उसने झपटकर वानरको पकड़ लिया और कहा कि यदि तू ऊपर जाकर इसे गिरा दे तब तो छोड़ता हूँ, अन्यथा अभी तुझे मारे डालता हूँ। वानर दयालु तो था, किन्तु निर्बुद्धि थोड़े ही था। उसने सोचा कि यदि मैं अपने प्राण दे भी दूँ तो भी विशेष पुण्यका काम नहीं। मुझे मारकर सिंह फिर बेचारे व्याधके पीछे पड़ेगा, किन्तु यदि मैं जीवित रहूँगा तो मेरे आगे मेरे शरणागतको कोई सताये—यह नहीं हो सकता। अतएव किसी तरह अपने प्राण बचाने चाहिये। उसने कहा, अच्छी बात है, यदि इसके प्राणोंके साथ ही मेरे प्राणोंका बदला है तो मैं अभी इसको गिराता हूँ। यों कहकर वह वृक्षपर चढ़ गया। किन्तु शरणागतधर्मज्ञ उस वानरने उस व्याधसे कुछ न कहा। बल्कि बदला लेनेकी शङ्कासे डरे हुए उस किरातको धैर्य दिया कि मैं प्राण जानेपर भी तुम्हारा अनिष्ट नहीं करूँगा। तुम मेरे शरणागत हो।'

आहा! जब साधारण वानरतक अपने हृदयमें इस तरहका उदार भाव रखता है तब तुम तो सब वानरोंके सेनापति हो, सबमें श्रेष्ठ हो। तुम्हारी उदारताका क्या कहना है! भला जब तुम्हीं इतने ऊँचे विचार रखते हो तो फिर रघुवंशी मुझे ही शरणागतको त्याग करनेकी सलाह तुमसे दी जा सकेगी? जिन रघुवंशियोंने शरणागतरक्षाका झण्डा दुनियाभरमें फहरा रखा है। महाराज दशरथने कहा था कि—

षष्टिवर्षसहस्राणि लोकस्य चरता हितम्।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य छायायां जरितं मया॥

'साठ हजार वर्षपर्यन्त लोगोंका निरन्तर हित करते हुए इस निष्कलङ्क शुभ्र राजछत्रकी छायामें मुझे भी आज सफेदी आ गयी है—मैं बूढ़ा हो गया हूँ।' आह! उन्हीं दशरथका पुत्र मैं हूँ। 'रामो विग्रहवान् धर्मः' 'श्रीराम मूर्तिमान् धर्म हैं' यह दुनियाभरमें प्रसिद्ध हो रहा है।

मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः।

'वह रामचन्द्र लोकमर्यादाओंकी स्वयं रक्षा करते हैं तथा दूसरोंसे उनका पालन कराते हैं' यह सब लोग कहा करते हैं। अब यदि मैं ही शरणागतकी उपेक्षा करूँगा तो फिर लोग मुझे क्या कहेंगे? मैं स्वयं दूसरोंसे अनुरोध करनेवाला हूँ कि—

सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणां
काले काले पालनीयो भवद्भिः।

'यह धर्मकी पैज सब राजाओंके द्वारा समानतया रक्षणीय है।' मैं स्वयं शरणागतका त्याग करके भला इन अक्षरोंके बोलनेका अधिकारी रह जाऊँगा? ठीक है। आप कपोतके दृष्टान्तसे विभीषणका स्वीकार करेंगे यह तो समझमें आ गया किन्तु धर्मज्ञ और विवेकी होकर आप तिर्यग्योनि कपोतका अनुकरण करें यह कहाँतक ठीक है? कपोतने अज्ञानसे ही ऐसा आचरण किया होगा तो? इसमें शास्त्रकी सम्मति कहाँ है? ऐसी आशङ्का न हो, इसलिये कण्डु मुनिकी गाथा चतुःश्लोकीको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हुए आप कहते हैं—

'धर्मिष्ठ और सत्यवादी महर्षि कण्डुने कहा है कि—जो दीन होकर अपने पास शरणकी याचना करता है वह चाहे शत्रु ही क्यों न हो दयारक्षाके अनुरोधसे उसका अहित कभी न करे। वह चाहे पीड़ित हो, चाहे गर्विष्ठ हो, वैरी भी यदि शरण आवे तो अपने प्राणोंका भी त्याग करके उसकी रक्षा करनी चाहिये। जिसके पास शरणार्थी शरण जाता है और वह शरण्यभयसे, मोहसे किंवा कामसे यदि अपनी शक्तिभर उसकी रक्षा न करे तो उसको नारकीयोंसे भी अधिक पाप होता है। जिस शरण्यके देखते-देखते शरणागतका अनिष्ट होता है वह शरणागत उस शरण्यके सम्पूर्ण पुण्योंको क्षय करके वहाँसे जाता है। यों शरणागतके

त्यागमें महान् दोष है। यहाँ तो अपकीर्ति और बलवीर्यादिका नाश होता है तथा आगे नरककी प्राप्ति होती है। अतएव मैं कण्डुके वचनका पालन अवश्य करूँगा, जो केवल धर्मानुकूल ही नहीं, यहाँ यश और आगे स्वर्गको देनेवाला है।' (यु० का० सर्ग १८ श्लो० २७—३२)

अथवा इसमें शास्त्रसम्मति आदिके खोजनेकी जरूरत ही क्या है? आरम्भसे ही मेरे हृदयका यह सङ्कल्प हो गया है कि आश्रयके लिये जो मेरे पास आ जाता है उसको मैं सब सङ्कटोंसे निर्मुक्त कर देता हूँ। बस, इसी अपनी दयालुताकी दीक्षाको दुनियाभरमें घोषित करनेके लिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

शरणागतिसिद्धान्तका यह अन्तिम निर्णय है। विभीषणको शरणमें लेनेके लिये अनेक उपपत्तियाँ दी गयी हैं और दी जा सकती हैं किन्तु यह उपपत्ति सर्वोपरि है। इसका उत्तर नहीं। अथवा यों कहिये कि सम्पूर्ण शरणागतिका यही निचोड़ निकलता है। आर्त विभीषणने 'निवेदयत मां क्षिप्रम्' के द्वारा जो अपनी शरणागतिकी अर्जी बड़ी आशासे श्रीरामदरबारमें भेजी थी उसपर इसी श्लोकमें चरम विचार है। अर्थात् 'निवेदयत मां क्षिप्रम्' श्लोकसे शरणागतिका बयानदाया, फिर विभीषणकी शरणागतिपर अङ्गद, शरभ, जामवन्त प्रभृति जूरियोंकी बहस, इसके पीछे 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' इस श्लोकके द्वारा सच्चे न्यायालयके हाकिम श्रीरामने दलीलें देकर अपनी इच्छा प्रकट की है। इसके अनन्तर खूब बहस-मुबाहिसा होनेके बाद 'सकृदेव प्रपन्नाय' इस पद्यमें श्रीरामने शरणागतिपर अन्तिम फैसला दे दिया है। अतएव इस श्लोकका महत्त्व सहज ही सबकी समझमें आ सकता है। इस श्लोकको शरणागतिका सार समझकर विशेष लक्ष्य होना आवश्यक है। इस श्लोकका अर्थ प्रसङ्गानुसार यद्यपि पहले भी आ चुका है परन्तु प्रसङ्गसङ्गतिके लिये यहाँ फिरसे लिखकर विशेष विचार किया जायगा। (क्रमशः)

एक राजाकी दो रानियाँ

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

एक राजाके दो रानियाँ थीं। दोनों अपनी-अपनी मतिके अनुसार राजाकी सेवा-शुश्रूषा किया करती थीं। दोनों ऐसी सेवा करती थीं जिससे राजाका कल्याण हो। परन्तु दोनोंकी सेवाएँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी थीं। एककी सेवा संसार-मार्गकी थी, दूसरीकी सेवा परमार्थ-मार्गकी थी।

पहली नित्य राजाके लिये इस लोक तथा परलोकके सुख-साधनमें संलग्न रहती थी। कभी दानमें राजाकी रुचि कराती, कभी यज्ञमें रुचि कराती, कभी व्रत, तप इत्यादिमें रुचि कराती थी और इस प्रकार परलोक-साधनमें राजाका मन प्रवृत्त करती रहती थी। साथ ही इस लोकमें भी वह राजाको अनेक प्रकारके व्यंजन और षट्रस भोजन बना-बनाकर नित्य भोजन कराया करती। राजाके शरीर, वस्त्र, गृह इत्यादि सभीको स्वच्छ और पवित्र रखती थी। कभी अनेक प्रकारकी सुगन्धित वस्तुओंका उबटन बनाकर राजाके शरीरमें लगाती। कभी सुगन्धित पान, इलायची आदि देती। कभी इत्र, तेल, माला इत्यादिसे राजाको भली प्रकार सजाती। कभी खेल-तमाशोंमें राजाका मन लगाती। कभी परलोकमें सुख-प्राप्तिकी इच्छासे राजाको परोपकार करनेका आग्रह करती। कभी रसीले उपन्यास, जो हरिकथासे शून्य हैं, राजाको पढ़कर सुनाया करती। इस प्रकार अनेक उपायोंसे वह राजाके मनको प्रसन्न करती और उसे ईश्वर-भजनमें नहीं लगने देती थी। इस प्रकार इस रानीके सर्व प्रकारकी सेवा करनेपर भी राजाका मन शान्त नहीं होता था। क्योंकि

विषयासक्तिके कारण राजाको हर समय एक-न-एक चिन्ता सताती ही रहती थी। वह जितने भोग भोगता था, उतनी ही उसकी तृष्णा अधिकाधिक बढ़ती जाती थी। जैसे अग्निमें जितना ही घी डालो, वह उतनी ही अधिकाधिक प्रज्वलित होती है। राजा ज्यों-ज्यों भोग भोगता त्यों-ही-त्यों उसके पुण्य क्षीण होते जाते और उसके शरीरमें रोगोंकी उत्पत्ति होती जाती, जिससे वह कभी स्वस्थ नहीं रहता था। श्रुति-माताका यह वचन सत्य है कि भोग भोगनेसे पुण्य घटते हैं और दुःख भोगनेसे पाप कटते हैं। क्योंकि ईश्वरने यह मनुष्य-शरीर तप करनेके लिये ही दिया है, भोग भोगनेके लिये नहीं। भोग भोगनेके लिये तो और अनेक योनियाँ हैं। परन्तु रानीको इस श्रुति-वाक्यपर तनिक भी विश्वास नहीं था। वह तो भोग-को ही मुख्य मानती थी, इसलिये राजाको भोगोंमें ही फँसाये रखती थी। क्योंकि उसका नाम विलासिनी था, उसको हर समय विलासमें प्रवृत्त रहना ही अच्छा लगता था। वह राजाको हर समय विलास-सामग्रियों-में फँसाये रखती थी। यदि दूसरीके शुभगुण देखकर यह पहली रानी अपने गुणोंको त्याग देती तो इस लोकमें सत्कीर्ति और अन्तमें परमपदकी अधिकारिणी होती; परन्तु ऐसा करना उसके लिये असम्भव था।

दूसरी, जिसका नाम शान्ति था, हर समय राजा-को शान्त पदका उपदेश करती थी। वह भोगोंकी असारता बता-बताकर राजाके मनमें उन भोगोंके प्रति वैराग्य पैदा करती; दृष्ट-अदृष्ट अर्थात् इस लोक-में जो दीखनेवाले और परलोकमें सुने जानेवाले समस्त भोगोंकी अनित्यता, क्षणभंगुरता बताकर उनमें दोष दिखाती और इस प्रकार राजाके मनको भोगोंसे विरक्त करती। वह कहा करती कि हे स्वामिन्! अकृत परमात्मा कभी कर्मोंसे प्राप्त नहीं हो सकता और उस परमात्मदेवको प्राप्त किये बिना कभी तुम्हें शान्ति और सुख भी नहीं मिल सकता। इसलिये कुछ समय ईश्वर-भजन किया करो, बिना ईश्वर-भजन-के नितान्त भोग भोगनेसे कभी शान्ति नहीं प्राप्त होगी और शान्ति प्राप्त किये बिना कभी आपकी यह आधि-व्याधि नहीं छूट सकती! अपना अमूल्य सुरदुर्लभ मनुष्य-जीवन क्यों वृथा खो रहे हो? जिसने इस उत्तम पदार्थको प्राप्तकर इसकी असली कीमत न जानी, उससे अधिक मूर्ख और कौन होगा? श्रीमद्भागवतका वचन है कि मोक्षके द्वाररूप इस सुरदुर्लभ मनुष्य शरीरको प्राप्तकर जो भोगोंमें आसक्त होता है, वह पापी, आत्मासे द्रोह करनेवाला, निश्चय ही ठगा गया। इस कारण हे राजन्! आप भी आत्माको जानकर अपने जन्मको सार्थक कर लीजिये! यह मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता, अबकी बार जो यह मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, वह अनेक जन्मों-के सञ्चित पुण्यकर्मोंका फल है। यह सारा संसार असार है, ईश्वर-भजन ही सार है। श्रेष्ठ पुरुष असारको त्यागकर सारको ही ग्रहण करते हैं। हे स्वामिन्! आपको भी असारका त्याग और सारका ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सार ही सुखरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निष्कल, निर्जन, अव्यय, अविनाशी और सनातनदेव है। अज्ञानीजन दुःखमें सुख-बुद्धि कर उसके भोगनेमें आसक्त होते हैं और बार-बार दुःखमय जन्म-मरणको प्राप्त होते रहते हैं। परन्तु ज्ञानीजन तो यथार्थ आत्मस्वरूपी सुखमें सुख-बुद्धि करके आप सुखी होते हैं और अपने आचार-विचारसे औरोंको सुखी बनाते हैं। इस प्रकार यह शान्तारानी आप सुखी होकर शान्तिरसका रस लेती थी और राजाको उसी शान्तिरसको घोंट-घोंटकर पिलाती थी। राजा इस रानीकी सेवासे अति सन्तुष्ट और आनन्दित होता था। राजाका आनन्द दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जाता था। वास्तवमें वही सच्ची

सेवा है, और वही सेवा अपने प्रिय सम्बन्धियोंके प्रति सबको करनी चाहिये जिस सेवासे मनुष्यका आधि-व्याधियोंसे बेड़ा पार हो जाय। बहिनो ! वह सेवा नहीं है, जिससे विषयासक्ति बढ़कर सौगुनी चिन्ताएँ बढ़ें। इस बातका एक दृष्टान्त इस प्रकार है।

ऋषि याज्ञवल्क्यके दो भार्याएँ थीं—एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। कात्यायनी भोगासक्त थी और मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी। जब ऋषि याज्ञवल्क्य अपना घरद्वार छोड़कर वनको जाने लगे तब उन्होंने मैत्रेयीसे कहा—'हे मैत्रेयि ! यह जो धनधाम है, उसे मैं तुम दोनोंमें बराबर बाँटे देता हूँ, जिससे मेरे पीछे तुम दोनोंमें कलह न हो।' इस प्रकार ऋषिकी वाणी सुनकर कात्यायनी प्रसन्न हो गयी; परन्तु मैत्रेयी तो परमानन्दको चाहनेवाली थी, उसने पूछा 'देव ! क्या इस धनसे मैं परम सुखी हो जाऊँगी ?'

याज्ञवल्क्य—नहीं प्रिये ! तुम इससे परम सुखी तो नहीं हो सकती, हाँ संसारकी दृष्टिसे सुखी अवश्य हो जाओगी। जैसे राजा-महाराजाओंका जीवन सुखी होता है, वैसे ही तुम्हारा जीवन भी सुखी होगा। तुम धनसे इस लोक तथा परलोकमें सुख-भोगोंको अवश्य प्राप्त कर लोगी। जिस तरह धनके बिना निर्धनोंको अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, उस तरह तुमको कभी स्वप्नमें भी कष्ट नहीं उठाने पड़ेंगे। दास और दासियाँ हर समय सेवाके लिये तत्पर रहेंगी। उनके द्वारा तुम अनेक प्रकारके सुख भोगोगी। किसी भोग्य वस्तुके लिये कभी, किसी कालमें तुम्हें चिन्तातुर नहीं होना पड़ेगा, क्योंकि सब तरहकी इच्छित वस्तुएँ धनके द्वारा ही प्राप्तव्य हैं। उसको मैंने तुम्हारे लिये सञ्चय कर रखा है। तुम इस धनके सहारे पृथिवीपर सुखी जीवन व्यतीत कर अन्तमें स्वर्ग-सुख भोगोगी, क्योंकि धनके द्वारा यज्ञादि कर्म करके मनुष्य इस लोकमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और अन्तमें स्वर्गको जाता है। फिर वहाँ वह बहुत कालतक दिव्य भोगोंको भोगता है। अब तुमको मेरे वन जानेकी बात स्वीकार कर लेनी चाहिये और किसी प्रकार उसमें विघ्न नहीं डालना चाहिये।

याज्ञवल्क्यजीके इस वचनको सुनकर कात्यायनी तो सन्तुष्ट होकर कुछ न बोली, परन्तु मैत्रेयीको धनसे सन्तुष्टि न हुई और वह फिर इस प्रकार कहने लगी।

मैत्रेयी—हे प्रभो ! जब इस धनसे मैं परम सुखी ही नहीं होऊँगी, तब मैं इस धनको लेकर क्या करूँगी ? मुझे तो वह वस्तु दीजिये जिससे मैं परम सुखी बन सकूँ। मैं ऐसे धनको लेकर क्या करूँगी जिससे सम्पूर्ण दुःख ही दूर न हो। वही बारम्बार पीसना और वही बारम्बार खाना। जिस धनसे जन्म-मरणका यह दुःखद चक्र न छूटे, उस धनकी मुझे इच्छा नहीं। जिसे इस नश्वर धनकी चाह हो, उसे ही कृपाकर इसे दे दीजिये। मुझे तो परम सुख देनेवाला परम धन दीजिये।

इस प्रकार जब मैत्रेयी वह धन लेनेके लिये तैयार न हुई तब ऋषिने मैत्रेयीको मुमुक्षु जानकर, उसे एकान्तमें ले जाकर परमात्मतत्त्वका उपदेश दिया। उस उपदेशको प्राप्तकर मैत्रेयी परम सुखी हुई और अन्तमें परमगति अर्थात् मोक्षको प्राप्त हुई।

इन सबका सारांश इस प्रकार है—राजा है जीवात्मा और दोनों रानियाँ हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति। यही दोनों याज्ञवल्क्यकी पत्नियाँ भी हैं; प्रवृत्ति है कात्यायनी और निवृत्ति है मैत्रेयी। केवल याज्ञवल्क्य-की ही वा उस राजाकी ही ये दो नारियाँ हैं, ऐसा नहीं, प्रत्युत सब जीवोंकी दो-दो नारियाँ हैं। ये प्रवृत्ति और निवृत्ति नामकी पत्नियाँ बुद्धिकी वृत्तियाँ

हैं। प्रवृत्तिको कात्यायनी और निवृत्तिको मैत्रेयी कहते हैं। वेदमें इनके और भी बहुत-से नाम प्रसिद्ध हैं; जैसे, विद्या और अविद्या, परा और अपरा, विलासिनी और शान्ति इत्यादि। प्रवृत्ति संसार-मार्ग यानी जन्म-मरणके चक्करमें भटकानेवाली है और निवृत्ति संसार-मार्गसे छुड़ानेवाली है। ये दोनों पत्नियाँ जीवको अपनी-अपनी तरफ खींचती हैं। जो पुण्यहीन पामर जीव विलासिनीके कहनेके अनुसार चलता है और शान्तिका कहना नहीं मानता, यानी रातदिन संसार-की प्रवृत्तिमें रहता है, विषयोंसे मनको निवृत्त नहीं करना चाहता, वह मूढ़ कभी सुख नहीं पाता, वह बार-बार शूकर-कूकर योनियोंमें जन्म ले-लेकर मरता रहता है। क्योंकि यह प्रवृत्ति नारी भोगमयी, चटोरी, कामिनी, व्यभिचारिणी, विलासिनी और कर्कशा इत्यादि नामोंवाली है और यह अपने पतिको भी उसी मार्गपर चलाती है; कभी शोकमें, कभी भयमें, कभी लोभमें, कभी मोहमें पतिको बाँधे रखती है। इस कारण विलासिनीका पति कभी सुखशान्ति नहीं पाता; न वह विलासिनी ही कभी शान्ति पाती है क्योंकि वह दिनरात भोगोंके संग्रह और भोगमें ही संलग्न रहती है, पतिके रसका स्वाद लेना नहीं जानती। पतिसेवा तो वह करती है, परन्तु पतिमें सुख नहीं मानती। यह आप कूपमें गिरती है और अपने पतिको भी कूपमें डालती है। इसलिये चतुर मनुष्यको चाहिये कि इस प्रवृत्तिरूपी नारीके मुँह न लगे; सावधान रहे और अपने जीवनको नष्ट न करे।

जो चतुर मनुष्य निवृत्तिका स्वामी है, वह सदा आनन्द और शान्तिसे पूर्ण रहता है। वह सम्राट् पदपर स्थित होकर आनन्दके सागरमें गोते लगाता रहता है; उसे कभी शोक, मोह, भय इत्यादि नहीं सताते। वह शान्तिके साथ मिलकर अनुपम आनन्द-का रस लेता है। वह सब चिन्ताएँ छोड़कर जीते-जी परम आनन्द लाभ करता है और मृत्युके शीशपर पग धरकर संसारसागरसे पार हो जाता है। फिर वह ऐसे अनामय पदपर जा पहुँचता है जहाँ न जरा है न मृत्यु; न बाल्य है न यौवन; न शोक है न भय; न आधि है न व्याधि; न भूख है न प्यास; न मद है न मत्सर; न जाग्रत् है न स्वप्न और न सुषुप्ति; न हँसना है न रोना; न गाना है न बजाना; न ऊँचा है न नीचा; न शुक्ल है न पीत; केवल एक अद्वैत ब्रह्मसत्ता अपने आपमें विराजमान है। सबका सार यह है—

कुण्डलिया

लेते शरण प्रवृत्तिकी, डूबत हैं मँझधार।
ले जो शरण निवृत्तिकी, होता भवसे पार॥
होता भवसे पार, लौट नहिं जगमें आता।
जन्म-मरण भव काट, अंत अक्षय पद पाता॥
'जयदेवी' नर मूढ़, कर्ममें मन हैं देते।
पंडित तजि अभिमान, शरण भगवतकी लेते॥

झाँकी

चंद्रिकामैं मुकुट मुकुटमैं सुचंद्रिका है, चंद्रिका-मुकुट मिलि चंद्रिका अजोर की।
नगनमैं अंग-अंग नग-नग अंगनमैं, कवि 'पजनेस' लखै नजर करोरकी॥
तनु बिज्जु-दाम-मध्य बिज्जु तनु-मध्य, तनु, बिज्जु-दाम मिलि देह-दुति दुहुँ ओरकी।
तीन लोक झाँकी, ऐसी दूसरी न झाँकी जैसी, झाँकी हम झाँकी बाँकी जुगलकिसोरकी॥

—पजनेश

मृत्यु क्या है ?

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०)

संसारमें मनुष्य जितना मृत्युसे डरता है उतना किसी भी अन्य वस्तुसे नहीं। यह शरीर जिससे हमारा इतना गहरा ममत्व है—एक दिन भस्म हो जायगा—यह चलता-फिरता मकान ढहकर मिट्टीमें मिल जायगा। इस कल्पनासे ही हम काँप उठते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। मेरे अपने गाँवकी बात है—एक नीच जातिकी स्त्री थी। अस्सी वर्षके ऊपरकी होगी। उसका इस संसारमें कोई भी नहीं था। यह मृत्यु-शय्यापर कराह रही थी और अन्तिम साँस ले रही थी। मैं अपने एक मित्रके साथ उसे देखने गया। उसका कष्ट देखकर हमारा हृदय द्रवित हो गया; मैंने धीरेसे अपने मित्रसे कहा—अब तो भगवान् इसे उठा लें तभी अच्छा है, यह बेचारी बहुत दुःख भोग रही है। इतनेमें देखता क्या हूँ कि वह वृद्धा आँखें गुरेरकर मेरी ओर देख रही है, मानो निगल जायगी। मैं घबड़ा गया—यह सोचकर कि इस बेचारीके अन्तिम क्षण दुखी बनानेका कारण मैं हुआ। परन्तु मृत्यु तो द्वारपर आ चुकी थी। वह द्वार खटखटा चुकी थी, तुरत ही उस वृद्धाके मुखमें तुलसी-गङ्गाजल दिया गया और उसके कुछ ही क्षण अनन्तर 'भूमि-शय्या' देते-देते उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। घण्टे-दो-घण्टेके पश्चात् 'राम-नाम सत्य है, श्रीराम-नाम सत्य है' के करुण निनादके साथ लोग शवको लेकर गङ्गाजीकी ओर चले।

मृत्यु जीवनकी एक ध्रुव और निश्चित घटना है। 'आया है सो जायगा, राजा-रंक फकीर' एक ध्रुव सत्य है। जाना है अवश्य, 'जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः' भगवान्के वचन हैं। यह सब कुछ रह जायगा—केवल हम उठ जायँगे। अंग्रेजीमें मुहाविरा है As sure as death—मृत्युकी भाँति निश्चित। परन्तु मजाक तो यह है कि मौत रानी कब द्वार खटखटा देगी—इसका कुछ पता नहीं। हम आँख मूँदकर जीवनकी दौड़ दौड़ते जा रहे हैं कि मौतकी अगाध खाई आती है और हम धड़ामसे उसमें गिर जाते हैं, ऊपरवालोंको पता नहीं चलता कि जीवनका यह खिलाड़ी कहाँ छिप गया! बड़ी विचित्र है जीवन और मृत्युके बीचकी आँख-मिचौनी! गज़बका है यह चलता-फिरता अजायबघर!

मृत्यु टाली नहीं जा सकती। वह तो आकर बैठी है—और प्रतिपल जीवनको निगल जानेके लिये बाघिनकी तरह मुँह बाये खड़ी है। हम प्रतिक्षण मृत्युकी ओर द्रुतगतिसे चले जा रहे हैं। यों कहा जाय तो ठीक होगा कि हमारा एक पग मृत्युकी खाईमें ही है। अब गिरे, तब गिरे और उस समय ? उस समय यह महल-अटारी, सुख-भोग, राज-पाट, धन-दौलत! उफ़! इसकी तो तब चर्चा भी नहीं अच्छी लगती—मृत्युके बाद इनका अपने साथ क्या सम्बन्ध रह जाता है ? फिर ये अपने किस कामके ?

मृत्युके समयकी कल्पना कीजिये। चारों ओरसे अपने स्वजन घेरे हुए हैं। पत्नी सिरहाने बैठी रो रही है। लड़के पैताने खड़े हाय-हाय कर रहे हैं। अब अन्तिम साँस चल रही है। इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयी हैं। आँखें आधी खुलती हैं तो चारों ओर अन्धकार, हाहाकार और चीत्कार! जन्मभरके किये हुए पाप, अपराध, त्रुटियाँ और सन्ताप घेरे हुए हैं। कुछ कहते नहीं बनता, कुछ सुनते नहीं बनता! इस हाहाकारके बीच कोई अपना सच्चा साथी नहीं दीखता। ये सभी क्षणभरमें साथ छोड़ देनेवाले हैं—सामने भीषण अन्धकार है। उसमें साथ देनेवाला कोई 'अपना' नहीं है। क्या करें, कहाँ जायँ ? हाय, जिन्हें मैंने प्राणोंसे भी प्रिय समझकर छातीसे चिपका रक्खा था वे आज साथ छोड़ रहे हैं! प्रभो! दीनबन्धो!

उसी अन्तिम क्षणको लेकर संसारके समग्र दर्शन, धर्म, मत, सिद्धान्त, जप, तप, पूजा, पाठ, नियम, व्रत आदि हैं। वह अन्तिम क्षण—जिसमें हम संसारसे कूच कर रहे हैं प्रभुमय हो, मङ्गलमय हो, आनन्दमय हो, बस इसीके लिये जीवनभरके जप-तप, पूजा-पाठ हैं। उसीके लिये जीवनभर अभ्यास करना है। जिस प्रकारकी भावना जीवनभर हमारी रहेगी वैसी ही मृत्यु हमारी होगी। बहुधा देखा जाता है कि कुछ लोगोंको मरते समय मुखसे 'राम-नाम' निकलना कठिन हो जाता है। वे मोहसे इतना अधिक घिर जाते हैं कि कुछ सूझता ही नहीं। अभी कुछ ही दिन पूर्वकी घटना है। मेरे गाँवके एक सम्पन्न व्यक्ति जीवनभर सूदपर रुपया चलाते रहे। उनका दिनभरका काम था बहीके पन्ने खोलकर रुपयोंपर सूद बैठाना और उन रुपयोंकी बढ़ती हुई संख्यापर गद्गद

होना । रात भी उनकी इसी चिन्तामें बीतती थी । जीवनमें उनके तीन साथी थे—उनके आसामी, रुपया और उनकी प्यारी बही । कोई बाल-बच्चे नहीं थे । एक स्त्री थी, वह भी रात-दिन रुपयोंकी वृद्धिकी चिन्तामें सूखी जाती थी । हाँ, मेरा प्रयोजन तो यहाँ उनकी मृत्युकालकी घटनासे है ।

सन्ध्याका समय था । वे मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए थे । चारों ओरसे उनके परिजन घेरे खड़े थे । अन्तिम क्षण उनकी आँखें खुलती हैं—कभी किसीपर दृष्टि जाती है, कभी किसीपर । हुंडनोटोंका पुलिन्दा सिरहाने पड़ा है । किसीपर अँगूठोंके छाप नहीं लिये गये हैं, किसीपर टिकट नहीं साटा गया······बस, इसी हाय-हाय, चिन्ता-परेशानीमें उनके प्राण पयान कर गये । लोगोंने बड़ी चेष्टा की कि अन्तिम क्षण 'राम-नाम' उनके मुखसे निकल सके ! परन्तु उस समय तो जो उन्हें 'राम-नाम' कहनेको कहता उसे वे अपना शत्रु समझ रहे थे, यह सोचकर कि यह व्यक्ति हमारे रुपये-पैसेको डकार जाना चाहता है ! आखिर मर गये पर 'राम-नाम' नहीं निकला ।

मृत्युका मुकाबला करनेके लिये ही जीवन है । जीवन ऐसा रहा जाय कि मरते समय एक विचित्र प्रसन्नता, एक अपूर्व आनन्दका अनुभव हो । उस समय यह संसार, इसका लुभावना रूप न रहे, स्वजन न रहें, पुत्र-कलत्र भी न रहें, घर-द्वार न रहे, कोई न रहे, कुछ न रहे—केवल प्रभु-ही-प्रभु रहें; हरि-ही-हरि रहें ।

जब आवें आँखमें दम प्राणप्यारे । लगा हो ध्यान चरणोंमें तुम्हारे ॥
कदमकी छाँह हो जमुनाका तट हो । अधर मुरली हो माथेपै मुकुट हो
खड़े हों आप इक बाँकी अदासे । मुकुट झोकोंमें हो मौजे हवासे ॥
बराबरमें हों श्रीराधाकिशोरी । मधुर सुर बाँसरी बजती हो पूरी ॥
गिरे गरदन ढुलककर पीत पटपर । खुली रह जायें ये आखें मुकुटपर ॥
दुशालेकी एवजमें हो ब्रजकी धूल । पड़े उतरे हुए सिंगारके फूल ॥
मिले जलनेको लकड़ी ब्रजके बनकी । बने अक्सीर यों फुँककर बदनकी
गर्ज इस तरह हो अंजाम मेरा । तुम्हारा नाम हो और काम मेरा ॥
जुबाँ जबतक दहनमें हो न बेकार । पुकारा ही करै सिरकार सिरकार ॥
भरोसा है मुकुटधारी तुम्हारा । तुम्हारा ही है बनवारी तुम्हारा ॥
गर्ज हो जब कभी झगड़ा मेरा तै । कहें सब बोलो राधाकृष्णकी जै ॥

बस, उस समय, प्राणविसर्जनकी उस अन्तिम बेलामें कोई, कुछ न रहे, हमारे प्राणोंको प्रभुजीका शीतल, मधुर, पावन स्पर्श अनुभव होता रहे । उस स्पर्शकी शीतलतामें हमारे रोम-रोम पुलकित हो उठें—होंठोंपर एक हल्की-सी मुसकान हो और उसी मुसकानमें······!!

ऐसी मौत कौन नहीं मरना चाहेगा ? मरनेमें यदि इतना आनन्द हो तो उसे पानेके लिये भला कौन न लुभा जाय ? परन्तु है यह बहुत महँगा सौदा । जीवनके अन्तिम क्षण प्रभुके दर्शन और उनके मधुर स्पर्शको प्राणोंके भीतर पानेके लिये यह आवश्यक है कि जीवनभर प्रभुका ही स्मरण, चिन्तन, ध्यान, पूजन और कीर्त्तन हो । गीताजीमें भगवान्ने बहुत समझाकर विस्तारसे इसकी व्याख्या की है । भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है कि अन्तकालमें जो मुझे स्मरण करता हुआ प्राणविसर्जन करता है वह मुझमें ही आ मिलता है । कुछ लोग इस वचनसे यह लाभ उठा सकते थे कि चलो जबतक हाथ-पैर चलते हैं मौज कर लो, सुखोंको लूट लो—अन्तमें 'राम-नाम' का स्मरण कर लेंगे । परन्तु वैसा होना सम्भव नहीं है । जीवनभर जो विषयोंका सेवन करता रहेगा उसे अन्तिम क्षणमें विषय ही स्मरण रहेंगे और जीवनभर जो प्रभुका स्मरण करता रहेगा उसे अन्तिम क्षणमें प्रभु ही स्मरण आवेंगे । जीवनभर विषयोंका सेवन करनेवाला व्यक्ति यह आशा करे कि अन्तिम क्षण वह 'राम-नाम' ले सकेगा और प्रभुको स्मरण कर सकेगा—यह सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिये, नहीं तो भगवान्को—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

—क्यों कहना पड़ता ?

मृत्यु एक ही साथ बहुत ही भीषण और बहुत ही मधुर है । भीषण उन लोगोंके लिये है जो संसारकी ममता, मोह, आसक्तिमें उलझे पड़े हैं; मधुर उन लोगोंके लिये है जो रात-दिन अपना जीवन प्रभुमय व्यतीत करते हैं । प्रभुमय जीवनकी मृत्यु भी प्रभुमय होती है । मरते समय भक्त अपने जीवनका पुष्प हाथोंमें लेकर प्रभुके चरणोंमें चढ़ाकर विनीतभावसे कहता है—'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' वह उस क्षण प्रफुल्ल रहता है । उसे न कोई चिन्ता है, न भय; उसे न आसक्ति है, न शोक, न मोह, न ग्लानि ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

मृत्युको सन्तों और भक्तोंने एक अपूर्व कुतूहल-दृष्टिसे देखा है । मृत्युको लेकर एक ओर तो संसारसे वैराग्य

स्थापित हुआ दूसरी ओर इसे 'साजन'के देशका निमन्त्रण माना गया। मृत्युसे संसारकी अनित्यता और क्षणभङ्गुरता ही नहीं प्रमाणित हुई—जन्म-जन्मसे हम अपने 'प्राणधन' को खोजते आ रहे हैं—और हमारी खोज मृत्युको भी लाँघकर चलती रहेगी—यह भी प्रमाणित हुआ। कबीरने मृत्युको साजनके देशका निमन्त्रण माना है। प्रीतमकी बुलाहट है 'मिलन-मन्दिर' में। मृत्यु उस मिलन-मन्दिरका द्वार है, इसे पारकर 'शीश-महल' में साईंकी सेजपर पौढ़नेको मिलेगा। इस सम्बन्धमें कबीरका—

करले सिंगार चतुर अलबेली साजनके घर जाना होगा।

सहज ही स्मरण हो आता है। कबीरने तो 'अलबेली' को न्हाने-धोने, माँगमें सिन्दूर लगाकर नयी लाल साड़ी पहिननेकी सलाह दी है क्योंकि उनके विचारसे यह 'मिलन' परम मिलन होगा और पुनः वहाँसे लौटना न होगा।

न्हाले, धोले, सीस गुँथाले, फिर वहाँसे नहिं आना होगा॥

मृत्युके सम्बन्धमें जहाँ इतनी सुन्दर और मधुर भावना है वहाँ यों भी है—

हमकाँ ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ॥
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलट गईं दोउ नैन पुतरिया।
भीतरसे बाहर जब लावै,
छूटि गई सब महल अटरिया॥
चारि जने मिलि खाट उठाइनि,
रोवत लै चले डगर डगरिया।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो,
संग चली वह सूखी लकरिया॥
हमकाँ ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ॥

उपनिषदोंमें मृत्युको जीतनेकी विधि बहुत विस्तारसे बतलायी हुई है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियोंने जीवनमें ही मृत्युको पी लिया और मृत्युके 'उस पार' के देशको देखा था। उन्होंने आँखें बन्दकर अपनी आत्माकी ज्योतिमें इस जगत्‌के नाम और रूपका लोप कर दिया था। उनके लिये यह विश्व भी एक कविता थी, भगवान्‌का मधुर संगीत था। आँखें खोलकर जब वे संसारकी ओर देखते तो यह संसार जो हमलोगोंके लिये इतना विकराल प्रतीत होता है उनके लिये ब्रह्ममय था। ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अणु-अणुमें 'वह' ओत-प्रोत है। कोई स्थान नहीं जहाँ परमात्मा न हो। आँखें खोलकर जब वे 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' का साक्षात्कार करते और उस विराट्-ज्योतिमें अपनी आत्माकी ज्योतिको एक कर देते तो द्वैत नामको कोई वस्तु रह नहीं जाती। वे 'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' की दिव्य अनुभूतिमें निरन्तर जागते रहते। जिसने संसारके इन बनते-मिटते चित्रोंमें अविच्छिन्नरूपसे प्रभुका साक्षात्कार कर लिया उसके लिये मृत्यु कैसी?

मृत्युके सम्बन्धमें एक भारी भ्रम काम कर रहा है। हममेंसे प्रायः सभी यह समझते हैं कि मृत्यु जीवनकी इति है। जो वैसा सोचते-समझते हैं वे जीवनके वास्तविक अर्थसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जीवनकी गंगा तो प्रभुसे निकलकर प्रभुमें ही मिलेगी। मृत्यु जन्मका उलटा हो सकती है, जीवनका नहीं। सुख-दुःख, पुण्य-पाप, दिन-रात, आशा-निराशाकी जैसी जोड़ी है वैसी ही जन्म-मृत्युकी, न कि जीवन-मृत्युकी। जीवनका प्रवाह तो एक है, सनातन है, दिव्य है। वह कई योनियोंमेंसे होता हुआ, पूर्ण होनेके लिये व्याकुल होता हुआ चलता जा रहा है। इसकी गति तो तबतक रुक नहीं सकती जबतक स्वयं अनन्त न हो जाय। एक ही जीवन-क्रममें कई जन्मोंकी शृंखला लगी है। जो जनमता है सो मरता है अवश्य, परन्तु मृत्युको चीरकर भी तो जीवनका प्रवाह चलता रहता है। जीवन और जन्म दो चीज हैं।

ठीक इसी भावको एक आत्मदर्शी अंग्रेज कविने बहुत सुन्दर शब्दोंमें रखा है—

Birth is not the beginning of life,
Nor is death its ending,
Birth and death begin and end
Only a single chapter in life story.

इसका सरल भावार्थ यह है कि जन्म ही जीवनका आरम्भ नहीं है, न मृत्यु ही इसका अन्त है। जन्म और मृत्यु तो बस जीवनके एक अध्यायका अथ और इति है।

यह नन्हा-सा जीवन जो हम अपने इस जन्म और इस मृत्युके बीच देख रहे हैं हमारे अमर सनातन जीवनका एक अंश है। नदीकी धारा बहती है। बीचमें पुल आ जाता है

जिसकी एक हल्की-सी पतली छाया-रेखा नदीकी धारापर पड़ जाती है। परन्तु धारा तो उस क्षीण रेखाकी चिन्ता नहीं करती। वह तो अनवरतरूपसे बहती ही चली जाती है और तबतक बहती चली जायगी जबतक वह समुद्रमें अपना नाम-रूप गँवाकर एक न हो जाय। नदी तो समुद्रमें लय होकर ही शान्त होगी। बीचमें तो वह रुकनेको नहीं। इसी प्रकार यह जीवनकी धारा भी प्रभुके अनन्त प्रेममें ही जा मिटेगी। इसे जन्म और मृत्युके कितने द्वार लाँघकर छोटे-छोटे जीवनोंके कई समतलको चीरकर बहते रहना है। ऐसा समझ चुकनेपर फिर अमर जीवनके इन छोटे-छोटे अध्यायोंके अथ-इतिसे घबड़ानेकी कोई बात नहीं।

करना तो बस एक ही काम है—और वह यह है कि हमारे अमर अनन्त जीवनका यह छोटा-सा अध्याय जो हमारे सामनेसे चल रहा है किसी प्रकार दूषित और कलङ्कित न होने पावे। यह अध्याय जितना ही सुन्दर होगा उतना ही विकास अगले अध्यायमें निश्चित है। प्रेम ही प्रभुकी सच्ची प्रार्थना है। यावत् चर-अचरमें प्रभुका साक्षात्कार करते हुए समस्त वसुन्धराके लिये प्रेम रखना ही जीवनका सच्चा सदुपयोग है। जो कुछ हम देख रहे हैं, जो कुछ सुन रहे हैं—स्पर्श कर रहे हैं सभी प्रभुके माधुर्य और सौन्दर्यसे ओत-प्रोत हैं। प्रभुके अतिरिक्त कुछ है नहीं, इस प्रकार अखिल चराचरमें अपने 'हरि' का साक्षात्कार करते हुए हम प्रत्येक पल ऐसा ही आचरण करें जैसा हम अपने 'प्राणोंके प्राण' और जीवनके सर्वस्वके साथ कर सकते हैं।

He prayeth best who loveth best,
Both man, and bird and beast,
He prayeth well who loveth well,
All things both great and small

Coleridge.

यों तो बाहरसे संसार पाप, घृणा, द्वेष, कलह, वैर, संहार आदिसे जल रहा है। परन्तु पर्दा हटाकर 'जल्वए इश्क़' की एक झाँकी जिसने कर ली उसके लिये तो 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अनुभव सहज ही हो जायगा। जगत्‌के इस आवरणके भीतरका जो मधुर अभिनय है उसे देखनेके लिये कितने हैं जो आगे आकर प्राणोंकी भेंट चढ़ानेके लिये तैयार हैं ? एक बार भी, एक क्षणके लिये भी जिसने अपनी आत्माकी ज्योतिकी तद्रूपता विश्वात्माकी समग्र बिराट् ज्योतिमें स्थापित कर ली उसके लिये क्या जीवन और क्या मृत्यु ? चेतन और अचेतनकी समष्टिमें भी तो हमारी आत्मा ही विश्वरूपमें प्रतिभासित हो रही है—मेरा अहं ही सर्वत्र व्याप्त है फिर मृत्यु कैसी; आना कैसा और जाना कहाँ ?

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यह बात सच है कि अमर जीवनके इस समग्र रूपको ठीक-ठीक देख पाना बहुत कठिन है हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने इसे अवश्य देखा था। इस बनने-मिटनेवाली कायाको ललकारकर कबीरने कहा है—

प्राण कहे सुनु काया मेरी तुम हम मिलन न होय।
तुम सम मीत बहुत हम कीना संग न लीना कोय॥

रविबाबूने भी अपनी एक कवितामें इस अमर अनन्त जीवनका साक्षात्कार करते हुए लिखा है—'आज वही बात याद आ रही है, युग-युगान्तरसे स्खलित होकर चुपचाप रूपसे रूपमें, प्राणसे प्राणमें संक्रमित होता हुआ चला आ रहा हूँ। आधीरात हो या प्रातःकाल, जब जो कुछ हाथमें आया—सब कुछ लुटाता आया हूँ। दानसे दानको, गानसे गानको।' इस प्रकार मृत्यु जीवनको पूर्ण करती हुई आती है और नया जीवन दे जाती है।

इस सम्बन्धमें आत्मदर्शी अंग्रेज कवि ब्राउनिंग (Browning) की 'The best is yet to be' वाली कविता विश्व-साहित्यमें अमर है। उसमें कविने बड़े ही भावपूर्ण ज़ोरदार शब्दोंमें यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है कि प्रतिपल हमारा विकास होता जा रहा है। प्रतिक्षण हमारा जीवन सुन्दर-सुन्दरतर होता जा रहा है। हमारे जीवनका जो डिजाइन ईश्वरके हाथमें है उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। जो कुछ हम देख रहे हैं वह हमारे अमर जीवनकी अधूरी, अस्पष्ट और धुँधली छाया है। बुढ़ापा अभी निकलनेवाली कलीका उपक्रम है।

इसीलिये कविने हर्ष और उत्फुल्लताके साथ जीवनके प्रत्येक कष्ट और कठिनाईका स्वागत किया है। कष्टों और कठिनाइयोंसे तो जीवन चमक उठता है और उनके कारण हम कर्म-पथमें और भी उत्साह और उल्लाससे बढ़ते हैं—

Then welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough
And makes not sit, nor stand but go.

'सारे कष्टों और कठिनाइयोंको स्वागत ! इसने जीवनके समतलको उभड़-खाबड़ बना दिया है और इसीकी प्रेरणा न हमें बैठने देती है,न खड़े होने; इसके कारण हम सतत चलते ही रहते हैं।' जीवनकी अमर धाराको ठीक-ठीक हृदयमें उतारकर संसारकी ओर निहारनेपर इसके सभी शूल फूलके समान दीखेंगे।

परन्तु जो अमर जीवनकी अनन्त धाराकी कल्पना भी नहीं कर सकते उनके लिये ? वे भी मृत्युकी इस भीषणताको तो मिटा सकते हैं। भगवान्‌ने 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' कहा है। मृत्युरूपमें भी भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं। 'प्राणनाथ' चाहे जिस रूपमें आवें प्राणोंको प्रिय ही होगा। इसी भावको लेकर एक तुकबन्दी लिखी गयी थी—

आज है कूच, बिदाई आज।
आज बुलाहट है अपनेमें मुझे मिला लेनेको।
प्राणोंके धब्बे हिरदयके दाग मिटा देनेको॥
पाप और त्रुटियोंकी मेरी सुंदर अनत कमाई।
आओ चलें आज प्रियतमसे मिलनेकी बेला आई॥
वहाँ चिरमंगलमय साम्राज।
आज है कूच, बिदाई आज॥
जाता हूँ पियकी नगरी, हाँ मेरा आज प्रयाण।
चिरसुंदर अमरत्व जहाँ है, चिरसुंदर कल्याण॥
आज सभीकी आँख बचाकर जाने दो, जाने दो।
अंतिम बार प्रलयके गायन गाने दो, गाने दो॥
प्रलयमें सृष्टि छबीली आज।
आज है कूच, बिदाई आज॥

गोरखपुरके मौनीबाबा

(लेखक—म० श्रीबालकराम विनायकजी)

संवत् १८१२ में पश्चिमसे अथवा उत्तराखण्डसे श्रीअयोध्याजी होते हुए दो सिद्ध पुरुष गोरखपुरमें आये। बेतियाके अहातेमें दोनों महानुभाव ठहरे। उनमेंसे एक मौनी थे और दूसरे परमहंस। कुछ ही दिनोंके बाद परमहंसजी चले गये और बरहजमें पहुँचकर पुण्यसलिला श्रीसरयूतटपर भजन करने लगे।* परन्तु मौनीजी वहीं रह गये। उस समय उनकी अवस्था साठ-पैंसठ वर्षकी रही होगी। डीलडौल बहुत लम्बा था। मुखमण्डल ज्योतिर्मय था। केवल एक कौपीन धारण करते थे। मौनी थे ही, किसीसे कुछ बोलते नहीं थे। एक वृक्षके नीचे उनका मृगचर्म बिछा हुआ था, उसीपर वे ध्यानमग्न बैठे रहते। क्या खाते-पीते थे किसीको मालूम नहीं। बड़े प्रातःकाल कहींसे स्नान करके कमण्डलुमें जल लिये हुए बहुधा दिखायी देते थे। कब वे स्नानको गये, कहाँ गये, कोई नहीं जान सका। एक दिन बड़े आश्चर्यसे लोगोंने देखा कि पृथ्वीसे एक हाथ ऊँचा उनका आसन उठा हुआ है और वे अधरमें स्थित हैं। इस दशामें वे ग्यारह दिनोंतक रहे। दर्शन करनेवालोंकी सदा भीड़ लगी रहती थी। उन दर्शकोंमें नगरके सुप्रतिष्ठित व्यक्ति भी होते। मथुराप्रसाद खजानची, लाला ढुनमुनदास, किशुनजी, छोटे काजीपुरके भक्तजी, बैजूबाबू, शाह सब्जपोश, मियाँ साहब, बाबा गम्भीरनाथ, भैरवप्रसाद वकील, गोविन्दरामदास वकील आदि सभी गण्यमान्य व्यक्ति इस योगसिद्धिको देखकर चकित हो गये। पं० नकछेदराम (महामहोपाध्याय पं० उमादत्त) के पिता पं० हरिदत्तजी तो वहाँ नित्य जाते थे। जब

* परमहंस श्रीराघवदासजीके गुरु महाराज श्रीस्वामी अनन्तप्रभुजी परमहंस।

समाधि खुली तब भी उक्त पण्डितजी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने संस्कृत भाषामें एक ओजस्विनी कविता पढ़ी जो शिवसमाधिपरक स्तवनके रूपमें थी। उसे सुनकर मौनी महाराज बहुत प्रसन्न हुए। एक दृष्टिसे—कृपाभरी दृष्टिसे देखकर उन्हें कृतार्थ कर दिया। उसी वर्ष शास्त्रीजीकी धर्मपत्नीने एक ऐसा प्रतिभाशाली पुत्र प्रसव किया जो विख्यात विद्वान् और 'सनातनधर्मोद्धार' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थका कर्ता हुआ।

मौनीजी दर्शकोंकी भीड़से ऊब गये। उस अहातेमें स्थित एक खपरैल मकानमें घुस गये और पल्ले बन्द करके उसीमें रहने लगे। किसी समय भी किसीको दर्शन नहीं होते थे। श्रद्धालु जनताने उस भूमिको परिष्कृत किया। जहाँ मौनीबाबाने ग्यारह दिनोंकी समाधि ली थी। वहाँपर बैठनेसे आप-से-आप सबका चित्त शान्त एवं सावधान हो जाता था। लोगोंकी मनोकामनाएँ भी पूर्ण हुआ करती थीं। अधिकतर कचहरीके मुकद्दमेबाज़ लोग उस अहातेमें ठहरा करते थे। नगरके बाहर और कचहरीके समीप होनेसे वह स्थान उनके ठहरनेके लिये उपयुक्त भी था। स्वर्गीय पं० रामरेखा ओझा अपने मुक़द्दमातकी पैरवीके लिये बहुधा वहाँ ठहरा करते थे। तन्त्र-मन्त्र-विद्यासे उनका बड़ा प्रेम था और उन्होंने अपने जीवनका अधिकांश समय इसके अनुसन्धानमें बिताया था। परन्तु उनका कोई भी अनुष्ठान सफल नहीं होता था। उक्त स्थानके प्रभावसे प्रभावान्वित होकर उन्होंने वहाँ एक अनुष्ठान आरम्भ किया। वह बगलामुखी भवानीको प्रत्यक्ष करके यह वर प्राप्त करना चाहते थे कि जो कुछ उनके मुँहसे शाप अथवा आशीर्वादके रूपमें निकले सत्य हो। पहले भी वह कई बार इसके लिये असफल अनुष्ठान कर चुके थे। अबके उनका अनुष्ठान सफल हुआ। पहले उन्हें मौनीबाबाने दर्शन दिया अनन्तर बगलामुखी भवानीने। उन्हें वर भी प्राप्त हुआ। परन्तु उन्होंने उस वरका दुरुपयोग कभी नहीं किया। क्योंकि मौनीबाबाके उपदेशसे उन्होंने क्रोधको सदाके लिये त्याग दिया था। अस्तु, उन्हें किसीको शाप देनेकी नौबत नहीं आयी। हाँ, आशीर्वादसे उन्होंने बहुतोंका कल्याण किया।

उक्त ओझाजी कहते थे कि उनके ससुरालमें एक कन्या पैदा हुई थी जिसका बायाँ पैर फिरा हुआ था। इसी कारण उसका विवाह रुका हुआ था। उन्होंने एक दिन मौनीबाबासे इसकी चर्चा की। बाबाने आशीर्वाद दिया और उस कन्याका फिरा हुआ पैर आप-से-आप एक बारगी ठीक हो गया।

अघटित घटना घट गई, रेखा कर्म बिलान।
विधि कुअंककी कुटिलता, टारत संत सुजान॥

करीमखाँ वकीलके कुटुम्बमें किसी प्रसूताको मर्मस्पर्शिनी पीड़ा हुई। किसी भी उपचारसे दर्दमें कमी नहीं हुई, बेचैनी बढ़ती ही गयी और अन्तिम अवस्था आ पहुँची। सब लोग उसके जीवनसे निराश हो गये। उसी अवस्थामें मर्मान्तक वेदनासे पीड़ित होकर उस स्त्रीने कहा—'मौनीबाबा! खबर लो, मैं मरी जाती हूँ।' वह उसी समय अच्छी हो गयी।

डिस्ट्रिक्ट अस्पतालके हेड क्लार्क कालीचरण बाबूके पुत्र उमाचरण जब गोदमें पल रहे थे तब उस बच्चेके सिरमें एक फोड़ा हो गया। अस्पतालकी दवा, मरहमपट्टी, होशियार डाक्टरोंके ऑपरेशन सब व्यर्थ सिद्ध हुए। कालीचरण बाबू भक्त थे, नम्र स्वभावके थे और सन्तोंमें श्रद्धा रखते थे। एक दिन बच्चेको लेकर आश्रमपर गये। दोहाई दी। धरने पड़े। सन्ध्या समय एक विद्यार्थीने कहा—'बच्चेको घर ले जाओ, घाव अच्छा हो जायगा।' रास्तेहीमें फोड़ा आप-से-

आप फूटा और पिचकारीसे फेंके हुए जलकी तरह सब मवाद निकल गया। घाव दो-तीन दिनोंमें सूखकर अच्छा हो गया।

दुआमें तासीर हो तो ऐसी कि ज़ख्म बह जाय घाव पुर हो।
जो संग-रेज़ा भी हाथ आवै तो जेबमें जाते जाते दुर हो॥

सोनबरसाके पण्डित कमलेश्वरीप्रसाद त्रिपाठीके कोई सम्बन्धी किसी गुरुतर अभियोगमें फँस गये थे। मुकदमेकी रुयदादसे उनके छूटनेकी आशा नहीं थी। परन्तु मौनीबाबाकी कृपासे बेदाग छूट गये।

इस प्रकारके सैकड़ों चरित्र हैं, जिनसे 'परोपकाराय सतां विभूतयः' की सिद्धि होती है और जिनकी स्मृति अब भी बनी हुई है।

एक बार मझौलीकी रानी साहिबा दर्शनके लिये आयीं। परन्तु सम्पूर्ण कुटी खोज डालनेपर भी महात्माके दर्शन नहीं हुए। जब निराश होकर रानी चली गयीं, तब बाबा कुटीमें प्रकट होकर एक विद्यार्थीको संस्कृत पढ़ाने लगे। उनको लड़कोंसे बड़ा प्रेम था। उन्हींको दर्शन देते थे, पढ़ाते थे और ताजे फल भी देते थे। मिशन स्कूल (अब सेण्ट ऐण्ड्रूज़ कॉलेज) के लड़के दोपहरकी छुट्टीमें वहाँ झुण्ड-के-झुण्ड पहुँचते थे और उन्हें फल मिलता था।

काशीजीके स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजीने मौनीबाबाके पास निजशिष्यद्वारा 'श्रीचक्र' भेजा था। उसपरसे कुछ मातृकाएँ और अङ्क मिट गये थे। बीज भी लुप्त थे। स्वामीजीने उनके स्पष्टीकरणके हेतुसे भेजा था। मौनीबाबाने उस चक्रको पढ़कर बीज और अङ्क सहित मन्त्रको शुद्ध लिखवाकर भेज दिया जिसे पाकर उक्त स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए और कृतज्ञता प्रकट की।

भठवाके तिवारीजी (जिनको एक बार बाबाके दर्शन प्राप्त हो चुके थे) प्रयागजी मकर नहाने गये थे। अत्यन्त प्रातःकाल स्नान करते हुए उन्होंने मौनीबाबाको देखा। पहचानकर चरणस्पर्श करनेके लिये ज्यों ही बढ़े कि बाबा अदृश्य हो गये। तब उन्होंने जाना कि बाबा सिद्धिबलसे नित्य त्रिवेणीमें स्नान करते हैं। लौटनेपर उन्होंने यह वृत्तान्त गोरखपुरमें प्रसिद्ध किया।

अस्तु, मौनीबाबा एक असाधारण सिद्ध पुरुष थे और साथ-ही-साथ उच्च कोटिके विद्वान् भी। ये दोनों बातें एकत्र नहीं दिखायी देतीं। बहुत दिनोंतक सबको सुखी देखकर, अतुल उपकार करके सन् १८९३ ई० की २३ जुलाईको बाबा यकायक भौतिक शरीर त्यागकर परधामको पधार गये। उनकी अरथीके साथ हजारों आदमी थे, स्कूल और पाठशालाओंके छात्रोंकी संख्या भी पर्याप्त थी। राप्तीके किनारे फोटो लिया गया और अन्तिम दर्शनसे जनता कृतार्थ हुई।

अब भी बेतियाके अहातेमें मौनीबाबाकी कुटी वर्तमान है, जो प्रेमियोंकी श्रद्धा, वन्दना और आराधनाका केन्द्र है। इस निबन्धके लेखकके पास बाबाकी लिखवायी हुई दो पुस्तकें हैं। एकका नाम है, 'प्रसङ्ग-पारिजात'। यह पैशाची भाषामें है। मन्त्रस्वरूप और अनुष्ठेय है। उसका हिन्दी अनुवाद भी उन्हींका लिखाया हुआ है। दूसरी पुस्तकका नाम है 'मानस-तन्त्र'। इसमें श्रीरामचरितमानसके कतिपय चौपाइयोंके तान्त्रिक प्रयोग, लौकिक एवं पारमार्थिक कार्योंके लिये बतलाये गये हैं, जो सबके कामके हैं। परन्तु इन दोनों पुस्तकोंके प्रकाशनके सम्बन्धमें उनकी निषेध आज्ञा है।

काहूसों न रोष तोष काहूसों न राग द्वेष,
काहूसों न बैर भाव काहूसों न घात है।
काहूसों न बकबाद काहूसों नहीं बिषाद,
काहूसों न संग न तौ काहू पच्छपात है॥
काहूसों न दुष्ट बैन काहूसों न लेन देन
ब्रह्मको बिचार कछू और न सुहात है।
'सुंदर' कहत सोई ईसनको महाईस,
सोई गुरुदेव जाके दूसरी न बात है॥

शक्ति-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीगिरिजादत्तजी त्रिपाठी, व्याकरण-न्यायाचार्य)

शब्दार्थभाविभुवनं सृजतीन्दुरूपा
यावद्बिभर्ति पुनरर्कतनुः स्वशक्त्या ।
वह्न्यात्मिका हरति तत् सकलं युगान्ते
तां शारदां मनसि जातु न विस्मरामि ॥

सी सूक्ष्म अथवा अदृश्य वस्तुका ज्ञान मनुष्य अनुमान अथवा स्थूल वस्तुके द्वारा प्राप्त करता है । इसीको यों भी कहते हैं कि किसी स्थूल कार्यको देखकर उसके कारणकी खोज की जाती है । बात दोनों एक ही है पर कहनेके ढंगमें अन्तर है क्योंकि अनुमानका निर्माण भी प्रत्यक्षकी ही भित्तिपर होता है, और प्रत्यक्ष ज्ञान तो किसी स्थूल पदार्थहीका होता है ।

इस दृश्यमान संसारको देखकर इस कार्यके कर्ता, उसकी निर्माण-सामग्री आदिके जाननेके कौतूहलने विचारशील मनुष्योंको विचलित कर दिया है । वे इसकी खोजमें तन-मनसे निरत हुए और अगाध समुद्रमें गोता लगाकर कुछने तो मोती चुना और कुछको केवल सीपी ही हाथ लगी । सीपी पानेवाले तो वे सज्जन हैं जिन्होंने इसे जड़ माना, पर कुछ भाग्यशाली पुरुषोंने उसी सीपीके भीतर उज्ज्वल मोतीको पाया, अर्थात् उस जड़के पीछे उस चेतनताके दर्शन किये जिससे उस जड़में भी कार्य करनेकी शक्ति उत्पन्न हो गयी, और उस चेतनताको उन्होंने 'पराशक्ति' के नामसे पुकारा । उनका कहना है कि त्रिगुणात्मक संसारकी सृष्टि किसी शक्तिके द्वारा हुई, क्योंकि सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण सम अथवा विषम दोनों अवस्थाओंमें जड़ ही हैं और जड़से इस उभयात्मक जगत्की उत्पत्ति कठिन ही नहीं वरं असम्भव भी है । इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके अतिरिक्त एक दूसरे पुरुषकी अवस्था भी इसी प्रकार दयनीय है । क्योंकि वह यद्यपि चेतन है पर शक्तिहीन है, अर्थात् द्रष्टा-भोक्ता होते हुए भी वह कर्ता नहीं है । ऐसी स्थितिमें इन दोनोंके रहते हुए भी कोई ऐसा तत्त्व है जिससे यह कार्य होता है । उस पदार्थको, जो इन दोनोंको मिलाकर कार्य करता है, शक्ति कहते हैं ।

इसके अतिरिक्त सर्वशक्तिमान् एक परमेश्वरकी कल्पना कर लेनेपर भी इसे माने बिना पिण्ड नहीं छूटता । क्योंकि शक्तिमान् शब्दका अर्थ है 'शक्तिः अस्यास्तीति शक्तिमान्', अर्थात् जिसमें शक्ति हो वही शक्तिमान् कहा जा सकता है । इस व्युत्पत्तिके द्वारा भी शक्ति एक दूसरी और प्रधान चीज सिद्ध हो जाती है । अर्थात् ईश्वर नामक पदार्थ भी इस शक्तिकी ही सहायतासे कुछ कर-धर सकता है । तात्पर्य यह कि इस संसारका कर्ता न तो जड़ प्रकृति है न चेतन पुरुष, न इन दोनोंका सम्मेलन; अपितु इनके भीतर काष्ठगत अग्निकी नाईं अन्तर्निहित जो प्रधान सत्ता है वही है । इस शक्तिका ज्ञान हमें उस शून्यावस्थासे लेकर इस बृहत् प्रपञ्चके प्रत्येक कण-कणमें भी होता है । इस संसारका प्रत्येक परमाणु उस अदृश्य सत्ताका परिचय मूकभाषामें दे रहा है ।

विश्व-सृष्टिके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है लेकिन हम यहाँ उस मतका उल्लेख करते हैं जहाँ सबोंका पर्यवसान है । यह संसार प्राकृतिक कहा जाता है—अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न है । वह प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणात्मक है, उसीसे महदादिक्रमसे जगत् उत्पन्न होता है । उसकी व्यवस्था यह है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं पञ्चभूतानि ।

इस प्रक्रियामें सबोंका मतैक्य है । इस प्रकार विचार करनेपर हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि इस सृष्टिके आदिमें मूलप्रकृति निरन्तर काम करती है । अब देखना है कि संसारके पालन करनेमें किसका हाथ है । सांसारिक जीवोंके कल्याणार्थ जितनी चीजें इस विश्वमें दी गयी हैं उन सबमें प्रधानरूपसे जो तत्त्व सन्निहित है वही शक्ति है । हम उस शक्तिका दर्शन अनेक रूपमें करते हैं । पुष्पमें परागरूपसे, जलमें तरलतारूपसे, अग्निमें दाहकतारूपसे, आकाशमें व्यापकतारूपसे, काले मेघखण्डोंमें जीवन-प्रदायिनी शक्तिरूपसे, हरे-भरे वनविटपोंमें मोहकतारूपसे उस शक्तिका अनुभव हमें होता है । इस संसारके विनाशमें

भी किसी ऐसी ही शक्तिका हाथ है जिसे हमारी स्थूल-दृष्टियाँ नहीं देख सकतीं लेकिन ज्ञानदृष्टिसे उसका पता चलता है। क्या कारण है कि अकस्मात् किसी पदार्थका नाश हो जाता है? क्षणभर पहले जो चीज अपने पूर्वरूपमें विद्यमान थी एक क्षणके बाद वह क्या-से-क्या हो जाती है। इसी प्रकारके विषम कौतूहलोंको देखकर यह कहना पड़ता है कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो इन सब कामोंको कराती है। इसी अर्थकी पुष्टि योगवासिष्ठसे भी होती है। यथा—

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा।
यथैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा।
साकारस्य नरस्येच्छा तथा वै कल्पना पुरम्॥
सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा॥
ऊर्णनाभाद्यथा तन्तुर्जायते चेतनाज्जडः।
नित्यात्प्रबुद्धात्पुरुषाद्ब्रह्मणः प्रकृतिस्तथा॥

अर्थात् 'सर्वेश्वर ब्रह्म सदा सर्वशक्तिसम्पन्न है। जिस शक्तिके द्वारा वह प्रकाशमान होता है उसे उसी तरह प्रकाशित हुआ देखता है। जिस प्रकार साकार मनुष्यकी इच्छा काल्पनिक नगरका निर्माण करती है उसी प्रकार स्पन्दशक्तिविशिष्ट शिवकी इच्छा ही इस जगत्का निर्माण करती है। हे राम! वह अकृत्रिम परमेश्वरकी स्पन्दशक्ति शिवेच्छा, प्रकृति, जगन्माया नामोंसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार चेतन मकड़ीसे जड़ जालेकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार नित्यज्ञानरूप चेतन ब्रह्मसे जड़ प्रकृतिकी उत्पत्ति होती है।' जिस प्रकार वायु और उसकी गति, अग्नि तथा उसकी उष्णता एक ही हैं उसी प्रकार चिन्मात्र ब्रह्म तथा उसकी शक्ति एक ही हैं।

वेदान्तदर्शनमें शक्तिके भेद तथा स्वरूप इस प्रकार पाये जाते हैं। शक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) ज्ञानशक्ति (२) क्रियाशक्ति। ज्ञानशक्तिका यह स्वरूप है—

अस्ति, प्रकाशते इति व्यवहारकारणं ज्ञानशक्तिः।

अर्थात् 'ब्रह्मकी सत्ता है और वह प्रकाशमान है इस व्यवहारके कारणको ज्ञानशक्ति कहते हैं।' इस शक्तिमें वह सामर्थ्य निहित है जो ज्ञानको उत्पन्न करे। इसमें रजोगुण और तमोगुणसे सत्त्वगुण अभिभूत नहीं रहता और उसी सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है। इस बातकी पुष्टि गीता भी करती है। 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्।' क्रियाशक्ति उसे कहते हैं जो क्रियाको उत्पन्न करे। जब सत्त्वगुणसे रजोगुण और तमोगुण अभिभूत नहीं होते तब ये ही रजोगुण और तमोगुण क्रियाशक्ति कहे जाते हैं।

क्रियाशक्तिके भी दो भेद हैं—(१) आवरणशक्ति (२) विक्षेपशक्ति। आवरणशक्तिका स्वरूप यह है—

नास्ति, न प्रकाशते इति व्यवहारकारणम् आवरणशक्तिः।

अर्थात् 'ब्रह्म नहीं है और भासता नहीं है ये व्यवहार जिसके कारण होते हैं उसे आवरणशक्ति कहते हैं।' संसारी पुरुष इसी आवरणशक्तिसे प्रभावित होकर यह व्यवहार करता है कि कूटस्थ निर्विकार सच्चिदानन्द ब्रह्म नहीं है। इस प्रकारके व्यवहारोंका कारण यह है कि उस व्यवहर्ताके हृदयमें तमोगुणका प्राबल्य है और वह सत्त्वगुण अथवा रजोगुणसे दबा हुआ नहीं है। आवरणशक्तिके भी दो भेद हैं—(१) असत्त्वापादक (२) अभानापादक। जिस शक्तिके द्वारा वस्तुगत अभावकी प्रतीति होती है वह असत्त्वापादक आवरणशक्ति कही जाती है। और जो शक्ति वस्तुकी प्रकाशमानताको निषेध कराती है उसे अभानापादक आवरणशक्ति कहते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि एक शक्तिसे वस्तुके अस्तित्वका अज्ञान और दूसरीसे वस्तुके स्वरूपका अज्ञान बोधित होता है। विक्षेपशक्ति आकाशादि प्रपञ्चको उत्पन्न करती है। जब रजोगुण सत्त्वगुण तथा तमोगुणसे अभिभूत नहीं रहता तब वही रजोगुण विक्षेपशक्ति कहलाता है। श्रुतियोंमें यह वाक्य उपलब्ध होता है—

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्।

सारांश यह कि आवरणजनक शक्ति आवरणशक्ति और विक्षेपजनक शक्ति विक्षेपशक्ति कही जाती है।

इन्हीं दार्शनिक विचारोंकी पुष्टि पुराण तथा तन्त्र-ग्रन्थोंसे भी होती है। मार्कण्डेयपुराणमें यह वचन मिलता है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

अर्थात् 'यद्यपि वह शक्ति नित्य है तथापि देवताओंके कार्यके लिये आविर्भूत होनेके कारण उत्पन्न कही जाती

है ।' और तन्त्रशास्त्रोंमें शक्तिका स्वरूप तथा उससे विश्वकी उत्पत्ति अनेक प्रकारोंसे वर्णित है । राघवभट्टने प्रयोगसारमें लिखा है—

तस्माद्विनिर्गता नित्या सर्वगा विश्वसम्भवा ।

उस शिवसे वह नित्यशक्ति आविर्भूत हुई जो निखिल विश्वका कारण है । वायवीयतन्त्रमें यह वाक्य उपलब्ध होता है—

शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता ।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ।

अर्थात् 'जिस प्रकार तिलसे तैल पैदा होता है उसी प्रकार सृष्टिके आदिमें परा शक्तिसे संसार उत्पन्न हुआ है और उस शक्ति और शिवमें कोई भेद नहीं है ।' सृष्टिके सम्बन्धमें कुब्जिकातन्त्रमें लिखा है—

आसीद् विन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिसमुद्भवः ।
नादरूपा महेशानि ! चिद्रूपा परमा कला ॥
नादाच्चैव समुत्पन्ना अर्धविन्दुर्महेश्वरि ।
सार्द्धत्रितयविन्दुभ्यो भुजङ्गी कुलकुण्डली ॥
त्रिगुणा सगुणा देवि ब्रह्मरूपा सनातनी ।
चैतन्यरूपिणी देवी सर्वभूतप्रकाशिनी ॥
आनन्दरूपिणी देवी ब्रह्मानन्दप्रकाशिनी ।

इस प्रकार सबसे पहले सगुण शिवसे विन्दुकी उत्पत्ति बतायी गयी, उसी शक्तिके नाद और विन्दु अवस्था और रूप हैं जिनसे सृष्टि होती है। प्रयोगसारमें यह बात मिलती है—

नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी ।
शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥

विन्दुके तीन भेद शारदातिलकमें बताये गये हैं—शिवमय, शक्तिमय तथा उभयमय ।

विन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ।
विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ॥
समन्वयः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ।

अर्थात् 'विन्दु, नाद और बीज—ये तीन भेद हैं जिनमें विन्दु शिवरूप है, बीज शक्तिरूप है और नाद इन दोनोंका मिश्रण है । यही बात क्रियासारमें भी मिलती है । यथा—

विन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम् ।
तयोर्योगे भवेन्नादस्ताभ्यो जातास्त्रिशक्तयः ॥

शक्तित्रयका स्वरूप उसी जगह इस प्रकार वर्णित है—

रौद्री विन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरमाधिपाः ॥

कहनेका सारांश यह कि विन्दुरूप शिवसे तथा बीजरूप शक्तिसे नाद उत्पन्न हुआ और इसी परम्परासे तीन शक्तियाँ—ज्ञान, क्रिया तथा इच्छाशक्तियाँ उत्पन्न हुईं । वे ही ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्तियाँ अग्नि, चन्द्रमा तथा सूर्यरूपसे ख्यात हैं जिनके द्वारा निखिल क्रियाओंका सञ्चालन होता है । इन तीन शक्तियोंका विभाग भी बहुत समुचित ढङ्गसे किया गया है । विभाग इस प्रकार योगिनीतन्त्रमें वर्णित है—

इच्छा तु विष्णवे दत्ता क्रियाशक्तिस्तु ब्रह्मणे ।
मह्यं दत्ता ज्ञानशक्तिः सर्वशक्तिस्वरूपिणी ॥

अर्थात् 'विष्णुने इच्छाको अपनाया, ब्रह्माके हिस्से क्रियाशक्ति पड़ी और ज्ञानशक्ति शिवको दी गयी ।' विश्वकी निखिल विभूतियाँ इन्हीं शक्तियोंका परिणाम हैं जो विभिन्न परिस्थितियोंमें नानारूपसे दिखायी पड़ती हैं । जिस प्रकार एक सूर्यसे सहस्रों किरण-रश्मियाँ फूटती हैं, जिस प्रकार एक सुधाधरसे सुधाकी धारा अनेक प्रवाहोंमें प्रवाहित होती है, जिस प्रकार एक विद्युत्से अगणित तेजप्रवाह उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार अग्निसे अगणित स्फुलिङ्ग पैदा होती हैं और जिस प्रकार एक छोटी-सी मकड़ीके शरीरसे करोड़ों तन्तुओंका जाल निकलता है उसी प्रकार उस जगन्माया प्रकृतिसे चराचर अखिल सृष्टिकी रचना होती है । उसीके चलाये नियमोंसे इसका नियन्त्रण होता है । वही आदिशक्ति जब अपने ऊपरी आवरणको छोड़कर निजस्वरूपमें प्रकट होती है तो उसके दो स्वरूप भासित होते हैं—शिव और शक्ति । इस बातकी पुष्टि निर्वाणतन्त्र भी करता है—

सत्यलोके निराकारा महाज्योतिःस्वरूपिणी ।
मायावल्कलमुत्सृज्य द्विधा भिन्ना जगन्मयी ॥
द्विधा भिन्ना विभागेन जायते सृष्टिकल्पना ।
प्रथमे जायते पुत्रो ब्रह्मसंज्ञो हि पार्वति ॥

यहाँ एक विचारणीय विषय यह है कि पूर्वोक्त

तान्त्रिक श्लोकोंमें जो 'नाद' और 'विन्दु' पद आये हैं उनका क्या तात्पर्य है ? विन्दु वह है जो शक्तिप्रधान त्रिगुणात्मक प्रकृति सांख्योंके यहाँ प्रसिद्ध है। कहनेका भाव यह कि ब्रह्मके दो भेद हैं—(१) मायारहित निर्गुण और (२) मायाविशिष्ट सगुण । जो सिद्धान्त सगुण ब्रह्मको जगत्‌का उपादान कारण मानता है उसके मतमें विन्दु पदसे ब्रह्म लिया जाता है। और जिस सम्प्रदायमें प्रकृति ही जगत्‌का उपादान कारण है उस मतमें प्रकृति ही विन्दु पदसे ली जाती है। और उसी विन्दुपदवाच्य प्रकृतिसे नाद (शब्द) उत्पन्न हुआ, तदनन्तर सृष्टि ।

भगवान् विष्णु अनेक नामोंसे विख्यात महामायाकी भक्तिके लिये आदेश देते हैं—

त्वं भूतिः सन्ततिः कीर्तिः क्षान्तिर्द्यौः पृथिवी धृतिः ।
लज्जा पुष्टिरुषा या च काचिदन्या त्वमेव सा ॥
ये त्वामार्येति दुर्गेति वेदगर्भेऽम्बिकेति च ।
भद्रेति भद्रकालीति क्षेम्या क्षेमङ्करीति च ॥
प्रातश्चैवापराह्णे च स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्तयः ।
तेषां हि प्रार्थितं सर्वं मत्प्रसादाद् भविष्यति ॥

(विष्णुपुराण)

ऋषियोंके भगवतीके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर कूर्मावतार विष्णु देवीका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

या सा माहेश्वरी शक्तिर्ज्ञानरूपातिलालसा ।
व्योमसंज्ञा पराकाष्ठा सेयं हैमवती मता ॥
शिवा सर्वगतानन्ता गुणातीतातिनिष्कला ।
....
एका माहेश्वरी शक्तिरनेकोपाधियोगतः ।
परावरेण रूपेण क्रीडते.................
चतस्रः शक्तयो देव्याः स्वरूपत्वेन संस्थिताः ।
शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्चेति ताः स्मृताः ॥
चतुर्व्यूहस्ततो देवः प्रोच्यते परमेश्वरः ।

(कूर्मपुराण)

हिमवान्‌के प्रश्न करनेपर देवी अपने स्वरूपका वर्णन करती हैं—

मां विद्धि परमां शक्तिं महेश्वरसमाश्रयाम् ।
अनन्यामव्ययामेकां यां पश्यन्ति मुमुक्षवः ॥
अहं हि सर्वभावानामात्मा सर्वात्मना शिवा ।
शाश्वतैश्वर्यविज्ञानमूर्तिः सर्वप्रवर्तिका ॥
अनन्तानन्तमहिमा संसारार्णवतारिणी ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूपमैश्वरम् ॥

(कूर्मपुराण)

इस प्रकार दर्शन, तन्त्रशास्त्र तथा पुराणोंके देखनेसे यह निश्चित होता है कि वही पराशक्ति अनेक रूपोंसे इस संसारमें व्याप्त है। उसीकी महिमाका प्रत्यक्ष हम सभी जगह करते हैं और उसीकी सच्ची भक्तिसे मनुष्य संसार-सागरको आसानीसे पार कर सकता है।
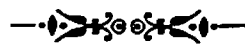
मातृ-आरती

(प्रेषक—श्रीकालीचरणजी विशारद)

आरति कीजै शैलसुताकी । आरति० ॥

जगदंबाकी आरति कीजै ।
मोद, स्नेह, सुख सुंदर लीजै ।
जिनके नाम लेत दृग भींजै ।
ऐसी वह माता वसुधाकी ॥
आरति कीजै शैलसुताकी ॥

पापबिनाशिनि, कलिमलहारिणि ।
दयामयी भवसागरतारिणि ।
शस्त्रधारिणी, शैलविहारिणि ।
बुद्धिराशि गणपतिमाताकी ॥
आरति कीजै शैलसुताकी ॥

सिंहवाहिनी, मातु भवानी ।
गौरव गान करें जगप्रानी ।
शिवके हृदयासनकी रानी ।
करें आरती मिल-जुल ताकी ॥
आरति कीजै शैलसुताकी ॥

भक्त-गाथा

गोदा-अम्बा
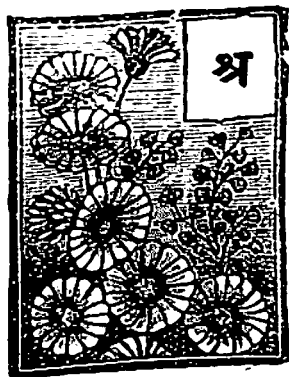
श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌को जो जैसे भजता है भगवान् भी उसको उसी भावसे भजते हैं। सीता और राधाके जो प्राणाधार पति थे, कौसल्या और यशोदाके जो लाड़ले लाल थे, सुग्रीव और अर्जुनके जो सखा थे, रावण और शिशुपालके जो शत्रु थे वे ही भगवान् इस कलिकालमें भी सूर, तुलसी, मीरा तथा नन्ददास आदि भक्तोंके सामने प्रत्यक्षरूपमें प्रकट हुए और उन्हें अपनी लीलाएँ दिखलायीं। भगवान् सर्वत्र और सर्वदा विभु—व्यापक तो हैं ही परन्तु जहाँ प्रेम है वहाँ वे भक्तके इच्छित स्वरूपमें साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। 'प्रेमतें प्रगट होहिं मैं जाना॥' हमारा यह दृढ़ विश्वास है और हम डंकेकी चोट यह कह सकते हैं कि आज भी हम अनन्य प्रेम, अखण्ड विश्वास और अविचल श्रद्धाद्वारा परमात्माको प्रकट साक्षात् रूपमें देख सकते हैं, उनसे रू-ब-रू दो-दो बातें कर सकते हैं और अपने जीवनको कृतकृत्य कर सकते हैं। आवश्यकता है दृढ़ विश्वास और अटल प्रेमकी। अस्तु।

आज हम अपने पाठकोंको एक ऐसी ही भक्तिमती देवीका दिव्य चरित सुनाते हैं जिसने प्रभुको पतिके रूपमें भजा और जिसे हरिने अपनी पत्नीके रूपमें अङ्गीकार कर लिया। प्राचीन कालमें दक्षिण-भारतमें कावेरीतटपर स्थित एक गाँवमें विष्णुचित्त नामक एक परम वैष्णव भक्त रहते थे। वे बड़े ही आस्तिक और धर्मिष्ठ पुरुष थे। अहर्निश वे भगवद्भजन, हरिकीर्तन और नामजपमें निरत रहते। उन्हें भगवान्‌के सिवा और कुछ सुहाता ही न था। बड़ा ही रम्य उनका एक तुलसीका बाग था। वे नित्य प्रातःकाल तुलसीके थालोंमें जल ढालते और तुलसीदलकी ही माला बनाकर भगवान्‌का श्रृंगार करते। एक समय प्रातःकाल जब वे घड़ेमें जल भरकर आलवालमें ढालने गये कि वहाँ उन्हें एक परम-मनोहर शिशुकन्या दिखलायी दी। भक्तोंका हृदय सहज स्नेहमय और दयापूर्ण होता है। उस छोटी लड़कीको देखकर उनका हृदय स्नेहसे भर आया और वे उसे उठाकर घर ले आये।

रातमें उन्हें स्वप्नमें भगवान्‌ने उस कन्याका सारा हाल बता दिया—'वाराहावतारमें मैंने पृथ्वीका उद्धार किया था तब पृथ्वीने मुझसे पूछा कि आपको किस प्रकारकी पूजा परम प्रिय है?' उस समय मैंने बतलाया था कि 'मुझे नामकीर्तन तथा पत्र-पुष्प-फल-तोयकी पूजा सर्वप्रिय है। मुझे प्राप्त करनेके लिये भक्त मेरे नाम और लीलाका कीर्तन करे और प्रेम-भक्तिके साथ मेरी पूजा-अर्चा करे। मेरी उसी बातको हृदयमें धारणकर पृथ्वी इस कन्याके रूपमें प्रकट हुई है और तुम्हारे घरमें बसना चाहती है यदि तुम इस कन्याकी सेवा करते रहोगे तो अवश्य ही परमपदको प्राप्त होगे।' ब्राह्मण-ब्राह्मणी इस कन्याको पाकर परम प्रसन्न हुए और यथासमय उसका जातकर्म कराया। उसका नाम गोदा रक्खा गया।

समय पाकर कन्या सयानी हुई। वह बड़े ही प्रेमसे पुष्पोंके हार गूँथती और भगवान्‌को चढ़ाती। सदा प्रेमरसमें सराबोर हुई हरिके नाम और लीलाओंका गान करती। कन्याकी बनायी हुई मालाको लेकर विष्णुचित्त ब्राह्मण श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें जाते और

अपने हाथों माला चढ़ा आते। एक बार गोदाने तुलसीकी बड़ी ही मनोहर माला बनायी। माला बहुत ही सुन्दर थी, उसने यह देखनेके लिये कि देखें गलेमें यह कैसी सजती है, अपने ही गलेमें उसे पहन लिया। तदनन्तर वह दर्पणमें अपना मुख देख ही रही थी कि विष्णुचित्त आ गये। गोदाकी मालाको उच्छिष्ट होते देख उन्होंने दूसरी माला बना ली और उसे श्रीरङ्गनाथजीको पहिना दिया। परन्तु भगवान् तो समर्पण और प्रेमके भूखे हैं। उन्हें तो गोदाकी उच्छिष्ट माला ही चाहिये थी। गोदा वही वनमाला पहिने हुए भगवान् श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें गयी और भगवान्के चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए उसने सर्वात्म-भावसे अपनेको समर्पण कर दिया। समर्पण जब सम्पूर्ण होता है तो 'देवता' को स्वीकार होता ही है। आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयको प्रभुके चरणोंमें चढ़ाते समय वह सर्वथा शून्य, सर्वथा निरावरण रहे! गोदाका मधुर और सम्पूर्ण समर्पण भला भगवान्को अङ्गीकार क्यों न हो?

हृदय जब हरिके चरणोंमें चढ़ा दिया जाता है तो फिर संसारकी कोई भी चर्चा नहीं सुहाती। भगवान्ने उद्धवसे कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'जिसने अपने चित्तको मुझमें ही लगा दिया है वह मुझको छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, सारी पृथ्वीका या पाताललोकका राज्य, योगकी सिद्धियाँ अथवा मोक्ष आदि किसीकी भी कामना नहीं करता।'

गोदा भी अहर्निश प्रभुके प्रेममें माती फिरती। एक दिन उसने अपने धर्मपितासे बड़े ही अनुनय-विनयके साथ दिव्य धर्मों तथा तीर्थस्थानोंके विषयमें पूछा। विष्णुचित्तका चित्त प्रभुके चरणोंका अनुरागी था ही। वे बहुत प्रेम और श्रद्धाभरे शब्दोंमें अपनी बेटीसे कहने लगे—'भगवान् तो सर्वत्र ही समरूपसे विराजमान हैं, उनका कभी कहीं भी अभाव नहीं परन्तु खास-खास स्थानोंमें वे खास रूपोंमें विराजते हैं, उन्हींमेंसे कुछ ये हैं। श्रीवैकुण्ठधाममें भगवान् वासुदेव निवास करते हैं। आमोदलोकमें सङ्कर्षण और बलराम रहते हैं। प्रमोदलोकमें प्रद्युम्न और अनिरुद्धका निवास है। श्वेतद्वीपमें क्षीरशायी भगवान् विष्णु निवास करते हैं। बदरीवनमें नर-नारायण रहते हैं। नीमसारमें भगवान् हरिका स्थान है। मुक्तिनाथमें भगवान् सालग्राम तथा साकेत—अयोध्यापुरीमें अपने भाइयोंके सहित मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रहते हैं। मथुरामें भगवान् यदुनाथका निवास है और वे अपने प्रपन्न भक्तोंके भवबन्धनको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। काशीपुरीमें स्वयं भगवान् विश्वनाथ विराजते हैं जो 'रामनाम' का तारक मंत्र देकर सभीको मोक्षका अधिकारी बना देते हैं। बरसाने-नन्दगाँवमें नन्द-नन्दन बसते हैं और वे ही दयामय प्रभु वृन्दावन-विहारी आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके नामसे वृन्दावनमें निवास करते हैं। कालीदहमें गोविन्दका निवास है और उन्हें ही गोवर्द्धनधारी गिरिधरलाल कहते हैं। हरिद्वारमें भगवान् यदुपति और प्रयागमें भगवान् वेणीमाधव हैं। गयामें गदाधर और गङ्गासागरमें कपिलमुनिका वास है। चित्रकूटमें जगज्जननी सीता और लक्ष्मणके साथ महाराज श्रीरामचन्द्रजी निवास करते हैं, पण्ढरपुरमें श्रीविट्ठलस्वामी हैं। और दक्षिणमें कावेरीके तटपर भगवान् श्रीरङ्गनाथका वास है।'

भगवान् श्रीरङ्गनाथका नाम सुनते ही गोदाको

रोमाञ्च हो आया और उसकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा छूट पड़ी। उसने विह्वल होकर अपने इष्टदेवके सम्बन्धमें अधिक जाननेकी इच्छा प्रकट की। तब विष्णुचित्त सुनाने लगे—'इक्ष्वाकुके यज्ञकी पूर्तिके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए। भगवान्का साक्षात्कार हो जानेपर इक्ष्वाकु कृतार्थ हो गये और ब्रह्माकी आज्ञासे वे सरयूके तटपर अयोध्यामें तपस्या करने लगे। तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माने इक्ष्वाकुसे वर माँगनेके लिये कहा। इक्ष्वाकुने यही वर माँगा कि 'भगवान् विष्णुका यहीं अवधमें अवतार हो और वे श्रीरङ्गनाथजीके रूपमें उनके कुलदेव रहें।' ब्रह्माने उन्हें मुँहमाँगा वरदान दे दिया।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब लङ्काको जीतकर अयोध्या आये तो उनके साथ विभीषण भी पधारे थे। वे जब लङ्का जाने लगे तो उन्होंने भगवान्से कहा कि आपका वियोग मेरे लिये सर्वथा असह्य है अतएव मुझे कोई ऐसी वस्तु दीजिये जिससे मेरे हृदयको धीरज हो। विभीषणके अटल प्रेमको देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें श्रीरङ्गनाथजीकी प्रतिमा दी। जब विभीषण कावेरीतटपर आये तो वे किसी दूसरे यज्ञ-अनुष्ठानमें संलग्न हो गये। फिर भगवान् श्रीरङ्गनाथजीने लङ्का जाना अस्वीकार कर दिया और विभीषणने वहीं भगवान्की मूर्ति स्थापित की। विभीषण भगवान्की पूजा-अर्चाके लिये नित्य लंकासे यहाँ आया करते थे।

भगवान् श्रीरङ्गनाथका वर्णन सुनकर गोदाकी उत्कण्ठा और भी तीव्र हो गयी। उसने पितासे भगवान्की प्राप्तिका साधन पूछा। अब गोदाके लिये एक क्षणका वियोग भी असह्य था—

गदगद बानी कंठमें, आँसू टपकैं नैन।
वह तो बिरहिन रामकी, तलफति है दिनरैन॥
वह बिरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै, हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीवका, ध्यान करै तो पीव!
जिव बिरहिन का पीव है, पिव बिरहिनका जीव॥

अब तो जिस प्रकार हरि मिलें वही बात गोदाको प्रिय थी। उसने मार्गशीर्षका व्रत किया। एक रातमें वह देखती है कि प्रभुजी स्वप्नमें उससे मिलने आये हैं। इस आनन्दका क्या कहना? वह उठी और भगवान्को अँकवारमें बाँधने चली ही थी कि वह छलिया खिसक गया····!! 'उसे' तो तरसानेमें ही आनन्द आता है।

गोदाकी विरहव्यथा बढ़ती ही गयी। उसके प्राण रातदिन जीवनधनमें अटके रहते थे। वह उसीका नाम जपती, उसीका कीर्तन करती और उसीकी धुनमें डूबी रहती। उसकी आँखोंमें, हृदयमें, प्राणमें, रोम-रोममें श्रीरङ्गनाथजी ही छाये हुए थे। वह रोती और दहाड़ मारकर छाती पीटती—'प्रियतम! स्वप्नमें आकर तुमने मिलनेका जो उपक्रम किया है उससे तो मेरे भीतरकी विरहाग्नि और भी धधक उठी है। यों तड़पानेमें तुम्हें कौन-सा रस मिलता है। हाय! एक क्षण भी तुम्हारे बिना रहा नहीं जाता। देव! मेरे जीवनधन! यदि मेरे प्राणोंकी इस आकुल तड़पसे तुम्हारा कठोर हृदय तनिक भी पसीजे तो अभी आकर मुझे अपने चरणोंमें स्वीकार कर लो! प्रभो! ओ मेरे प्राणाधार! सीताकी सुध लेनेके लिये तुमने समुद्रमें पुल बँधवाया और रावणको मारकर उसे अयोध्या लौटा लाये। शिशुपालका वध करके रुक्मिणीको अपनी शरणमें ले लिया। द्रौपदी, गज, गणिका और गोपियोंकी टेर सुन ली परन्तु मेरी ही बार इतना विलम्ब क्यों कर रहे हो? मैं जानती हूँ कि मैं अपराधिनी हूँ परन्तु जैसी भी हूँ तुम्हारी हूँ—

तुम्हीं मेरे प्राणवल्लभ, हृदयेश्वर, जीवनसर्वस्व और अवलम्ब हो ! तुम्हें छोड़कर किसकी शरणमें जाऊँ ? जिस प्रकार चकोर चन्द्रमाको और चातक घनश्याम-को चाहता है वैसे ही मेरा हृदय तुम्हें देखनेके लिये व्याकुल है—

देख्यो एक बार हूँ न नैन भरि तुम्हें, यातें
जौन-जौन लोक जैहें तहीं पछितायँगी ।
बिना प्रान-धारे भये दरस तुम्हारे हाय
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रह जायँगी ॥

× × ×

गोदाकी अवस्था बढ़ चली और अब उसके स्वयंवरका समय आया । विष्णुचित्त अपनी कन्याको लेकर कुरका नगर गये । विवाहकी सब तैयारी हो रही थी परन्तु गोदाके मनमें तो हरि बसे हुए थे और उसका हृदय प्रभुके लिये हाय-हाय कर रहा था । भगवान् भक्तवत्सल हैं । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—उनका व्रत है । इस समय तो गोदाकी अवस्था ठीक वही थी जैसी मीराकी अथवा गोपियों-की थी—

नाहिंन रह्यो हियमें ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और ॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात ।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ॥
कहत कथा अनेक ऊधो ! लोक लाज दिखात ।
कहा करौं तन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समात ॥
स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदुहास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥

स्वयंवरका मण्डप सजा हुआ था । भक्तकल्पतरु भगवान् श्रीरंगनाथजी स्वयं भक्तकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेके लिये पधारे और उनके साथ सभी देवता अपने वसन-भूषणोंसे सजकर आये । जयमाला लेकर गोदा सभामण्डपमें पधारी । गोदाका मन तो श्रीरंग-नाथके प्रेमरसमें छका हुआ था । उसके हृदयमें प्रभुजीकी मोहिनी मूर्ति बसी हुई थी । उसने जयमाल अपने प्राणाधारके गलेमें डाल दी । देवताओंने आनन्ददुन्दुभी बजायी और आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी । सुर, किन्नर, गन्धर्व आकाशमें मधुरस्वरसे गीत गाने लगे । सूर्य और चन्द्रमा चँवर डुलाने लगे और पवनदेव पंखा करने लगे । देवर्षि, महर्षि जय-जयकार करने लगे । ब्रह्मा वेद पढ़ने लगे । नगरकी शोभा कैसे कही जाय ? भगवान्ने विश्वकर्माको आज्ञा दी कि नये सिरेसे इस नगरको बसाया और सजाया जाय । बात-की-बातमें सब तैयार हो गया ।

स्वयंवरके बाद विवाहका मंगलकार्य बड़ी धूम-धामसे सम्पन्न हुआ । श्रीरंगनाथने गोदाका पाणि-ग्रहण किया और उमाके चारों ओर सात बार भाँवरी की । दोनोंकी आरती उतारी गयी । विवाह सम्पन्न हो चुकनेपर सभी देवता अपने-अपने वाहनोंपर सिधारे तथा भगवान् श्रीरंगनाथजी गोदाको लेकर अमरधामको पधार गये !

लोगोंको इस कथामें आश्चर्य या शंका करनेकी कोई गुञ्जाइश नहीं है । 'हौं भक्तनके भक्त हमारे' प्रभुकी प्रतिज्ञा है । सर्वात्मसमर्पण और अखण्ड प्रेमसे सब कुछ साध्य है । हम संसारी जीवोंके लिये जो असम्भव प्रतीत होता है वह भगवान् और उनके भक्तोंके लिये बहुत साधारण बात है क्योंकि—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

तन्त्र

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

प्रकृति और ब्रह्म भिन्न वस्तु नहीं है, ब्रह्मकी व्यक्तावस्था ही प्रकृति है

न्त्रकी प्रकृति जड़ नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। एक ब्रह्मके अतिरिक्त जब दूसरा पदार्थ विद्यमान ही नहीं है तब 'प्रकृति' कोई आगन्तुक शक्ति नहीं है। श्रुति कहती है—'नेह नानास्ति किञ्चन'—ब्रह्ममें नानात्व नहीं है। किन्तु 'यो देवो एको बहुधा शक्तियोगात्' इत्यादि। यह बहुशक्ति कहाँसे आती? यह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। उसकी अनन्त शक्ति उसमें सर्वदा विद्यमान रहती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

'जो असत् है वह अनात्मधर्म होनेके कारण सदा ही अविद्यमान है, और जो सत् आत्मा है उसकी अविद्यमानता कभी नहीं होती।' परन्तु ये शक्तियाँ उस प्रकारसे असत् पदार्थ नहीं हैं। श्रुति कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।

'इस ब्रह्मकी बहुतेरी श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं, यह बात सुनी जाती है।' वह सारी शक्तियाँ हैं—

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

इसलिये शक्ति उसमें नहीं है, अथवा शक्ति कोई पृथक् वस्तु है, यह बात ठीक नहीं है। उसे हम देख सकें चाहे न देख सकें, परन्तु उसकी अनेक शक्ति और क्रियाओंका निदर्शन हमें सर्वदा प्राप्त होता है। उसीकी शक्तिसे यह अखिल विश्व सदा परिव्याप्त रहता है।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥

(देवीभागवत)

'जगत्में नित्य या अनित्य जो कोई भी वस्तु जिस किसी स्थानमें है, उनके समुदायमें जो शक्ति है वह तुम्हीं हो, तब फिर तुम्हारा स्तवन करके तुम्हारी महिमाका कैसे वर्णन किया जायगा?

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानाञ्चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

'जो प्राणिमात्रमें क्षित्यादि पञ्चभूत, ज्ञानकर्मात्मिका एकादश इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री सूर्यादि देवताओंकी अधिष्ठात्री है, उस विश्वव्यापिका ब्राह्मी शक्तिरूपी देवीको नमस्कार! जो देवी कूटस्थ चैतन्यरूपमें इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होकर अवस्थित है, उसको नमस्कार!

इस शक्तिको अस्वीकार करके शक्तिमान्‌को स्वीकार करना अथवा शून्यको स्वीकार करना एक ही बात है। जगदादिरूपमें, जीवरूपमें तथा अत्यन्त सूक्ष्मभावमें उसकी शक्तिका प्रकाश तो नित्य विद्यमान है ही—परन्तु समय-समयपर जडातीत नित्या चिन्मयी शक्तिका प्रत्यक्ष प्रकाश होता है, जीव बड़े ही भाग्यसे उस शक्तिका दर्शन कर जीवनको धन्य कर सकता है।

नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥

'वह देवी नित्या अर्थात् उत्पत्तिनाशरहिता है; यह जगत् ही उसकी मूर्ति है, वही चिन्मयीरूपसे समस्त जगत्‌को व्याप्त किये हुए है। तथापि उसके अनेकों प्रकारके आविर्भावके विषयमें मुझसे सुनो।

भोगवासनाद्वारा चित्तके मलिन होनेके कारण इस स्थूल भूतादिके आड़में दीनजननी जगन्माताकी जो नित्य विद्यमान चिन्मयी सत्ता है, उसे हम देख नहीं पाते। प्रह्लादके समान जो समस्त ऐश्वर्य-मानादिकी उपेक्षा कर अन्य किसी भी पार्थिव आश्रयका अवलम्बन बिना लिये एकमात्र उनकी ओर देखते हुए हृदय विदीर्ण कर रो सकते हैं, प्रह्लादको जैसे उन्होंने स्तम्भ फाड़कर दर्शन

दिया था उसी प्रकार दीन आर्त्त भक्तकी वह रक्षा करती है, कभी उपेक्षा नहीं कर सकती। वह कहाँ है, कहाँ नहीं है—यह सारी बातें विवेचनीय नहीं हैं। यदि मर्मभेद करके उसे हम पुकार सकें, यदि शास्त्रादेशसम्मत साधनप्रणाली-का अवलम्बन कर अकपटभावसे हम परिश्रम कर सकें तो हमारी माँ, जो सर्वव्यापिनी है, सब जगहसे हमारी चित्तकी आकुलताको आकृष्ट कर इस धरणीकी धूलके प्रत्येक अणुसे अपनेको प्रकाशित कर सकती है। हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि जो सर्वत्र व्याप्त है उसे न देखकर न मालूम हम कितनी ही अविश्वासकी बातें करते हैं! विद्युत्-विकासके समान उसके अस्तित्वका हम समय-समयपर पता नहीं पाते हैं, ऐसी बात नहीं; परन्तु हमारा चित्त विषयोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, इसी कारण वह परिशुद्ध नहीं है। यदि किसी प्रकारसे यह जीवप्रकृति शुद्ध हो जाय तो मेघाडम्बरहीन अनन्त नीलाकाशमें जिस प्रकार चन्द्रमण्डल-की स्निग्ध कौमुदी छिटक पड़ती है, उसी प्रकार हमलोगों-के शुद्ध अचञ्चल चित्तमें जगजननीके नित्य चिन्मयी-रूपकी प्रतिच्छवि प्रतिबिम्बित हो सकती है।

वस्तुतः इतना बड़ा मनुष्यजीवन हम किसलिये नष्ट कर रहे हैं? हम एक बार भी तो प्राण भरकर उसे नहीं पुकारते। तुम हमारी सर्वस्व हो, तुम हमारी सर्वश्रेष्ठ निधि हो, ऐसा उसके लिये एक बार भी तो नहीं विचार करते—फिर हमारे नेत्रोंके सामने धूल-ही-धूल न दीखे तो और क्या दीखे? ऐसे नेत्रोंके सामने क्या जगन्माताका चिन्मयी भाव आ सकता है? परन्तु वास्तवमें यह धूल—माटी भी मिट्टी नहीं है, वह हमारी माँ है—

आधारभूता जगतस्त्वमेका
महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।

माँ! तुम्हीं तो महीरूपमें विराजमान हो, एकमात्र तुम्हीं तो जगत्की आधारभूता हो!

परन्तु शक्तिका इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन बड़े भाग्यसे ही जीव कर सकता है। हम जो सम्मोहित होकर शुद्ध चैतन्यको भूल गये हैं, इसीसे शोकार्त्त जीवोंका हाहाकार आज जगत्को विदीर्ण कर रहा है। चैतन्यमें लक्ष्य न होनेके कारण ही प्राण स्पन्दित होकर मनको सचञ्चल कर रहे हैं और मनका यह चाञ्चल्यविक्षेप आज समस्त जगत्-को नृत्यशीला बालिकाके समान बोध होता है। इस चित्स्वरूपमें लक्ष्य रख सकनेसे ही हम स्थिर होकर निविष्ट चित्तसे उस चिन्मयी माताको स्पर्श कर सकेंगे। इसीलिये आज सब काम छोड़कर हमको उसे प्रसन्न करनेके कार्यमें लगना चाहिये। उसके प्रसन्न होकर हमारे ऊपर कृपादृष्टि किये बिना मेरा मोहबन्धन नहीं छूटेगा—'त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः' तुम्हारे प्रसन्न होनेपर ही संसारमें मुक्तिपथ दिखलायी देता है।

निर्गुण ब्रह्मके सगुणरूपमें आनेपर ही उसकी कृपा समझमें आती है, उसकी प्रसन्नताका ज्ञान होता है। इसी-लिये शास्त्रोंमें गुणमयी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनाका आदेश है। यह मूर्ति किसीके द्वारा कल्पित नहीं है—'साधकानां हितार्थाय' ब्रह्म स्वयमेव अपनी रूपकल्पना करते हैं। यही अरूपका रूप है, 'रूप' होनेपर भी यह शुद्ध चिन्मात्र हैं। सगुणभावमें शक्ति सुप्रकट रहती है, निर्गुण अवस्थामें ब्रह्मशक्ति ब्रह्ममें तल्लीन रहती है, उसका स्फुरण नहीं होता। बहुतेरे शक्तिकी इस सुप्तावस्था निर्गुणभावको ही अधिक उच्चतर अवस्था बतलाते हैं। यही भाव सर्वोच्च भाव है या नहीं, इस विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते। परन्तु इस अवस्थामें जब शक्ति तल्लीन रहती है, तब सृष्ट्यादि कार्य नहीं होते हैं, अतः त्रिगुण या तज्जनित त्रिताप भी वहाँ अविद्यमान रहते हैं। यह अवस्था नित्य त्रितापसन्तप्त व्यक्तिके लिये अत्यन्त लोभनीय होगी, इसमें तो सन्देह ही क्या है? परन्तु उसका प्रत्यक्ष भाव भी कम लोभनीय नहीं है। परमब्रह्म तो अवाङ्मनसगोचर है, परन्तु उसकी चिच्छक्ति भी सर्वदा प्रकाशिता नहीं है। यह शक्ति जब भाग्यवश प्रकाशित होती है, तब जीवजगत् मुग्ध हो जाता है। हाथ जोड़कर, नतमस्तक हो देव-दानव, ऋषि-मुनि उसकी महिमा प्रकट करते हुए दिव्य स्तुतिसे स्तवन करते हैं। भारतवर्षमें इस प्रकार-के प्रकाशके दृष्टान्त इस घोर कलिकालमें भी अनेकों स्थलों-पर मिलते हैं। इसकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें नानाविध उपदेश और साधनाएँ वर्णित हैं। यह अप्रकट शक्ति समय-समयपर प्रकटित होती है, इसका उल्लेख शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंमें हम देखते हैं। मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत चण्डीमें लिखा है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

वह जब देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये आविर्भूत

होती है, तब नित्या होनेपर भी वह जगत्‌में 'उत्पन्न हुई' कहलाती है। वस्तुतः जब ब्रह्म ही उत्पत्तिविनाशरहित है, तब उसकी स्वकीया शक्तिकी ही नये रूपमें किस प्रकार उत्पत्ति हो सकती है ? परन्तु जब वह अव्यक्तरूपा रहती है, तब निराकारा रहती है, और भक्तके भक्तिस्रोतमें प्रदीप्त हो उठनेपर अथवा साधकके साधनफलदातृरूप-में प्रकाशित होनेपर उसका दिव्य रूप देखनेमें आता है।

इस परम तत्त्वके उपदेष्टा भी असाधारण मनस्वी हैं। श्रुति कहती है—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

विवेकहीन साधारण पुरुष यदि इस परम तत्त्वका उपदेश करे तो उससे यह परमार्थज्ञान परिस्फुट नहीं होता, क्योंकि इसका अनेकों प्रकारसे चिन्तन होता है।

बाह्य युक्तितर्कद्वारा भगवत्-अस्तित्वका निरूपण करने जाना केवल अनर्गल वाग्विलासमात्र है, उससे कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार 'न' कहा जाता है, उसी प्रकार 'हाँ' भी कहा जाता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

जो उसे अपना जीवनसर्वस्व समझकर सब छोड़कर एकमात्र उसे ही वरण कर लेता है, वही उसे पाता है। शास्त्र आदेश करते हैं—'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि।' श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योगादि अभ्यासोंके द्वारा उसे अवगत करो।

इस श्रद्धा-भक्तिद्वारा ब्रह्मकी शक्ति ही अवगत होती है। ब्रह्म निर्गुण है, उसकी केवल सत्तारूपता ही बोधका विषय है। परन्तु जब वह प्रकृतिको ग्रहण करता है अर्थात् उसके भीतर जो इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति है वह जब किसी इच्छावश नहीं, स्वतः ही स्फुट-नोन्मुख होती है तभी मानो ब्रह्म प्रकृतिको ग्रहण करता है। किन्तु वह शक्ति उसके अपने भीतर ही वर्तमान रहती है, कहीं अन्यत्रसे उसे लाना नहीं पड़ता।

प्रकृतिके साथ ब्रह्मका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् प्रकृतिके बिना ब्रह्म नहीं रहता तथा ब्रह्मके बिना प्रकृति भी नहीं रह सकती। प्रकृतिका आश्रय ब्रह्म है और ब्रह्मकी अघटनघटनापटीयसी शक्ति ही प्रकृति है। तिलमें तेलकी तरह प्रकृति ब्रह्ममें सदा अनुलिप्त, अभेद्य सम्बन्धमें जड़ित रहती है। यह प्रकृति जब उसमें तल्लीन रहती तब ब्रह्म निर्गुण कहलाता है। तब वह केवल चिन्मात्र, मनबुद्धिसे अतीत, समाधिबोधगम्य मात्र होता है। जब उसमें प्रकृति जाग उठती है तब वह केवल बोधमात्र या शून्यमात्र नहीं रहता, तब वह जडातीत होते हुए भी जडके मध्यमें आकर प्रकाशित होता है। इस प्रकट भावको ही भगवत्कृपा या अनुग्रह कहा जाता है। उस समय मानो चैतन्य और कर्त्तृत्व दोनों उसमें एक साथ दृष्ट होते हैं। इसीलिये कहीं-कहीं निर्गुण ब्रह्मको (पुरुषको) केवल चैतन्य-मात्र कहा गया है और उसमें कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वको अस्वीकार किया गया है परन्तु पुरुष प्रकृतियुक्त होनेपर ही सगुण ब्रह्मके नामसे कीर्तित होता है, उस समय उसमें चैतन्य और कर्त्तृत्व दोनों वर्तमान रहते हैं। किन्तु इस अवस्थाका अभाव होनेपर फिर उसका ईश्वरत्व नहीं रह जाता। ईश्वरत्वके स्थायी भावमें प्रकृति-पुरुषयुक्त भाव ही अनादि हैं, यही तन्त्र स्वीकार करते हैं। इस अवस्थाकी कभी किसी कालमें विच्युति नहीं होती। परन्तु निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें जो भाव रहता है उसे निर्गुण भाव कहनेपर भी उस समय उसमें ईशित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है, अवश्य ही वह तल्लीनरूपमें रहता है।

तुरीय ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म है, मूलप्रकृति उसमें स्वतः विद्यमान रहनेपर भी तुरीयावस्थामें प्रकृति उसमें तल्लीन रहती है—कृष्णमें राधा अपने आपको विलीन कर देती है—उसका तब कोई कार्य नहीं रह जाता। फिर निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म जब मायाको अङ्गीकार कर सगुण ब्रह्म या महेश्वर बनता है, तभी उसमें सृष्टिकी इच्छाका उदय होता है। तब—

स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।

उसी ईक्षणसे प्रकृतिमें प्राणका स्पन्दन होता है और उस स्पन्दनसे सृष्टिके मूल पञ्चतत्त्व उत्पन्न होते हैं—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशा-द्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।'

(तैत्तिरीय०)

यह प्रकृति ही मानो ब्रह्मका अधिष्ठान है। यह हमारा शरीर जिस प्रकार हमारे आत्माका अधिष्ठान है, इस

देहके बिना आत्मा रहता ही नहीं, यह बात नहीं है, परन्तु उस समय उसका प्रकाश नहीं रहता, जिस प्रकार इस प्रकाशका क्षेत्र देह है उसी प्रकार प्रकृति ही ब्रह्मका अधिष्ठान या लीलाभूमि है। तुरीय ब्रह्मके साथ इस मूल प्रकृतिका साक्षात् सम्बन्ध है। यह जिस प्रकार चेतन स्वभाववाला है वैसे ही प्रकृति भी चेतन स्वभाववाली है। यह उससे कोई पृथक् सत्ता नहीं है। यही उसकी—'मम योनिर्महद्ब्रह्म'—यही उसकी जीवभूता, प्राणरूपा परमा प्रकृति है, यह उसके साथ नित्ययुक्ता, अच्छेद्यभावसे मिलती है।

प्रकृतिके ब्रह्ममें लीन होनेका अर्थ यह है कि उस समय ब्रह्मकी लीलाशक्ति ब्रह्ममें संकुचित हो जाती है, अर्थात् तब उसकी प्रकाशशक्ति या लीला रह नहीं जाती। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके द्वारा ही तो विश्वका खेल होता है, गुणत्रयके न रहनेपर फिर विश्वका खेल ही कहाँ होगा ? मूलप्रकृति इस गुणत्रयकी जननी अर्थात् गुणत्रयका निद्रास्थान है। गुणक्षोभ होनेपर अर्थात् ब्रह्मकी सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर उसकी प्रकृतिमें चाञ्चल्य समुत्थित होता है, इस चाञ्चल्यसे ही त्रिगुणोंकी उत्पत्ति होती है। तब तामसिक अंशसे महेश्वर और महाकाली, राजसिक अंशसे ब्रह्मा और महासरस्वती, तथा सात्त्विक अंशसे विष्णु और महालक्ष्मी प्रकट होते हैं।

ब्रह्मके साथ इनका पारस्परिक सम्बन्ध है। उपनिषदोंके साथ इनका क्रम मिलाकर देखिये।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

चक्षु, कर्ण आदि स्थूल इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप आदि श्रेष्ठ अर्थात् सूक्ष्म हैं, इन्द्रियविषयसे विषयको ग्रहण करनेवाली शक्ति मन श्रेष्ठ अर्थात् सूक्ष्म है, मनसे निश्चयात्मिका वृत्ति या विचारशक्ति—बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महान् आत्मा अर्थात् समष्टि जीवात्मा या हिरण्यगर्भ श्रेष्ठ है, हिरण्यगर्भसे अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, प्रकृतिसे परब्रह्म या पुरुष श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। वही काष्ठा या अन्तिम सीमा है और वही श्रेष्ठ गति है, क्योंकि वहाँसे फिर पुनरावृत्ति नहीं होती।

इससे समझा जा सकता है कि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मक सूक्ष्म भूतादि वा तन्मात्रा जो जगत्के साक्षात् प्रकाशक हैं, स्थूल जगदादि जाग्रत्भावसे श्रेष्ठ हैं, उनसे सङ्कल्पात्मक मन (सृष्टिकी उन्मुखता या चाञ्चल्य, स्वप्नावस्था या सूक्ष्मशरीर) सूक्ष्म है; पुनः इस अवस्थासे सूक्ष्म सङ्कल्पका कारणभूत बीजरूप कारणशरीर या सुषुप्तावस्था श्रेष्ठ है। उससे भी सूक्ष्म समष्टि जीवात्मा या हिरण्यगर्भ है, एवं हिरण्यगर्भसे सूक्ष्म उसका कारण अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, तथा प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ आत्मा है। प्रलयकालमें प्रकृति ब्रह्ममें लीन हो जाती है, परन्तु उससे जीवको मुक्ति नहीं मिल जाती। प्रकृतिके उत्थानके साथ जीवको पुनः जगत्में आना पड़ता है। परन्तु ब्रह्म अन्तिम सीमा या अवधि है, वहाँ जो पहुँच जाता है, उसकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती।

(क्रमशः)

दया-भिक्षा

उमापति शंकर दया करो।
राग-द्वेषकी परम कृपासों, भटकत दिन सिगरो।
भ्रमजंजाल मोह तृष्णाको, छूटत नहिं झगरो॥
अगम अपार धार भव-सरि महँ, व्याकुल जीव परो।
'सूरज' प्रभु-अनुराग-शक्ति दे, बाधा विघ्न हरो॥

सूर्यनारायण मिश्र 'सूरज'

सूर-साहित्यमें भ्रमर-गीत

(लेखक—श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न)

अपने अलौकिक प्रेमका अमृत पिलाकर, रासके दिव्य रससे गोपियोंके हृदयको पागल बनाकर, अपनी बाल-सुलभ निर्दोष केलि-क्रीड़ाओंसे उनको अनुप्राणित कर नटनागर मथुरा चले गये। विरहकी मारी गोपियाँ अपने हृदयधनको न पाकर अस्त-व्यस्त स्थितिमें वन-वन मारी फिरती हैं, उन्हें कहीं कुछ सुहाता नहीं। मधुवन, यमुना, करीलकुञ्ज, वंशीवट मानो काट खा रहे हैं। जो कुछ सामने आता है श्यामकी स्मृति लिये। झल्ला उठता है गोपियोंका विह्वल हृदय। वे पूछती हैं—अरे मधुवन ! तुम्हें लज्जा नहीं लगती कि अब भी, जब श्यामसुन्दरके विरहानलमें समस्त व्रज झुलस रहा है, तुम हरेभरे बने हो ?

मधुबन तुम कस रहत हरे ?
बिरह-बियोग स्याम सुंदरके ठाढ़े क्यों न जरे ?

श्यामकी प्यारी गौओंने चरना छोड़ दिया है। तोता और मैना चुपचाप मुँह लटकाये उदास बैठे हैं। चारों ओर विरहानल धाँय-धाँय जल रहा और उसमें समस्त व्रज झुलस रहा है। आँसुओंका समुद्र उमड़ पड़ा है तथा आहोंकी उत्तप्त भीषण आँधी चल रही है। इसी क्षुब्ध स्थितिमें जब समस्त व्रजवासी विरहसे व्याकुल हो रहे हैं, गोपियोंके प्राण अब-तब हो रहे हैं—उद्धवजी ब्रह्मज्ञान, अद्वैतवाद और योगकी गठरी लादे गोपियोंको समझाने-बुझाने पहुँचते हैं। प्रेमानल और भी प्रबल हो उठता है और उसमें सब कुछ जलकर केवल सर्वत्र एक श्याम ही रह जाते हैं। इसी विरह-जन्य प्रेमकी कातरताको भक्तप्रवर सूरदासजीने भ्रमर-गीतमें अङ्कित किया है। भ्रमर-गीत सूरदासके काव्यका एक अति सुन्दर अंश है, यह उद्धव-गोपी-संवाद है। मथुरा पहुँचकर श्रीकृष्ण समझ गये कि उनका अब गोकुल लौटना असम्भव है, पर यह भी जानते थे कि व्रजमें माता यशोदा और गोपियाँ उनके लिये कैसी कातर हो रही हैं। उन्हें सान्त्वना देनेके उद्देश्यसे उन्होंने अपने भक्त प्रिय-सुहृद् उद्धवको व्रज भेजा। श्रीकृष्णने उद्धवजीसे यह कह दिया कि तुम व्रजमें पहुँचकर गोपियोंसे कहो कि अब तुम्हें श्रीकृष्णका दर्शन मिलना सम्भव नहीं। अतएव तुमलोग अबसे योगमार्गका अवलम्बन कर निर्गुणरूपमें और निष्कामभावसे उनकी (भगवान्‌की) उपासना करो। यह उपदेश गोपियोंको हृदयग्राही न हुआ। वे श्रीकृष्णको साक्षात् देखना चाहती थीं। निर्गुण उपासनाकी बात सुनकर उन्होंने उसे हँसीमें उड़ा दिया। उद्धवके साथ गोपियोंकी बातचीत अति सरस है। मेरे विचारमें भ्रमर-गीत ही सूरदासकी सबसे मधुर रचना है। गोपियोंकी युक्तियाँ अति मनोहर हैं।

जिस समय उद्धव व्रजमें उपस्थित होकर गोपियोंको उपदेश दे रहे थे, उस समय एक भ्रमर मथुराकी ओरसे उड़कर श्रीराधाके चरणकमलपर आ बैठा। उद्धवकी उक्तियोंके उत्तरमें गोपियोंको जो कुछ कहनेको था उन्होंने वह प्रायः उस भ्रमरको सम्बोधन कर कहा था। उद्धव श्रीकृष्णके सखा थे, और उनकी आकृति तथा वर्ण श्रीकृष्णकी आकृति तथा वर्णके सदृश थे। उनके वसनभूषणमें भी श्रीकृष्णका सादृश्य था। इस कारण गोपियोंने उनके साथ बहुत हास-परिहास किया था। इस भ्रमर-गीतमें सूरदासने अपनी धीर विनोदप्रियताका परिचय दिया है। तदतिरिक्त उन्होंने हास्यरसका आश्रय लेकर

गोपियोंके मुखसे अद्वैतवादका खण्डन कराया है। गोपियोंने परिहासमें श्रीकृष्णको भी नहीं छोड़ा। गोपियोंकी उक्तियाँ भ्रमरको सम्बोधन कर कही गयी थीं, इस हेतु इन पदोंका नाम है 'भ्रमर-गीत'।

उद्धवका व्रजमें आगमन होते ही गोपियोंने उनसे कहा—

कहौ कहाँते आये हौ।
जानति हौं अनुमान मनौं तुम, गोकुलनाथ पठाये हौ।
वैसेइ बरन बसन पुनि वैसेइ, तनभूसन सजि लाये हौ॥
सरबसु लै तब संग सिधारे, अब का पर पहिराये हौ।
सुनहु मधुप एकै मन सबको, सो तो वहाँ लै छाये हौ॥
अब यह कौन सयानप व्रजपर, का कारन उठि धाये हौ।
'सूर' जहाँलौं स्याम गात हैं, जानि भले करि पाये हौ॥

'कहो, कहाँसे आये हो। अनुमानसे जान पड़ता है कि यदुनाथने तुमको भेजा है। वही रंग, वही वसन, देह भी उसी प्रकार भूषणोंसे सज्जित कर लाये हो। तुम हमारा सर्वस्व लेकर चले गये, अब किसपर तुमने लक्ष्य किया है? हे मधुप! सुनो, हम सबका एकमात्र मन है, उसे तो तुमने मथुरा ले जाकर छिपा रक्खा है। अब यह कैसी तुम्हारी चतुराई है? अब व्रजकी सुध क्यों की? जितने काले रंगके मनुष्य हमारे देखनेमें आये हैं, उनका अच्छा ही परिचय मिला है?'

ऊपरके पदका शेषांश श्रीकृष्णको लक्ष्य करके कहा गया है। गोपियोंने कृष्णवर्ण मनुष्योंके रंगके सम्बन्धमें नाना स्थलमें हँसी उड़ायी है। यथा—

बिलग जनि मानहु ऊधो प्यारे।
वह मथुरा काजरकी कोठरि, जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छबि उपजत, कमल नैन मनिआरे॥
मानहुँ नील माठतें काढ़े, जमुना लेत पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी, 'सूर' स्याम गुन न्यारे॥

'कुछ बुरा न मानना, सखा ऊधो! क्या तुम्हारी मथुरा काजलकी कोठरी ही है कि जो कोई वहाँसे आता है वही काला है? तुम काले हो, अक्रूर काले और यह मधुप भ्रमर काला है। उनमें अधिक शोभा उत्पन्न करते हैं सुहावने कमलनयन (श्रीकृष्ण)। मानो नील रंगसे भरे हुए मटकेसे निकालकर उन्हें यमुनामें धो लिया गया है। इसी हेतु कदाचित् यमुनाजी भी कृष्ण-सलिला हो गयी हों? कालेका गुण ही विलक्षण है।'

कारो नाम रूप पुनि कारो, कारे अँग सखा सब गात।
जो पै भले होत कहुँ कारो, तो कत बदलि सुता लै जात॥

'श्रीकृष्णका नाम काला, रूप काला, उनके सखाओंके सब अंग काले। यदि काला रंग अच्छा ही होता तो वसुदेवजी श्रीकृष्णके साथ यशोदाकी कन्याको क्यों बदलकर ले जाते?'

घरी पहर सबको बिलमावत, जेते आवत कारे।

'जितने काले (मथुरासे) आते हैं, वे घड़ी-पहर, मीठी-मीठी बातें करके सबको बिलमा लेते हैं और अन्तमें धोखा देकर भाग जाते हैं।'

ज्यों कोइल सुत काग जियावत, भाव भगति भोजनहिं खवाय।
कुहुकुहाय आये वसंत ऋतु, अंत मिले कुल अपने जाय॥

'जैसे कौए कोकिलके बच्चोंको पालते हैं। बड़े ही यत्न और ममतासे उनका पालन-पोषण करते हैं, परन्तु जब वसन्त ऋतु आती है तब वे कुहु-ध्वनि करते हुए अपनी जातिमें जाकर मिल जाते हैं।

ऊधो! ऐसो काम न कीजै।
एक रंग कारे तुम दोउ, धोय सेत क्यों कीजै॥

'ऊधो! कदापि ऐसा काम न करो। तुम दोनों रंगमें समान हो, उसे धोकर धौला क्योंकर करोगे?'

व्रजमें पहुँचकर उद्धव गोपियोंसे कहने लगे—

गोपी सुनहु हरि-संदेस।
मातपितुके बंदि छोरे, वासुदेव कुमार।
राज्य दीन्हों उग्रसेनहिं, चमर निज कर ढार॥

कह्यो तुमको ब्रह्म ध्यावौ, छाँड़ि विषै विकार।
'सूर' पाती दई लिख मोहिं, पढ़ो गोपकुमारि॥

'हे गोपीगण! हरिका समाचार सुनो। श्रीकृष्णने, जो वसुदेवके पुत्र हैं, अपने पिता-माताको बन्धनसे मुक्त किया है, और मातामह उग्रसेनको (फिरसे) राज्य देकर स्वयं उनपर चँवर डुला रहे हैं। उन्होंने तुमसे कहा है कि संसारका मोह त्यागकर ब्रह्मका ध्यान करो। उन्होंने पत्र लिखकर मेरे हाथ दिया है। हे गोपकुमारीगण! तुम सब उसे पढ़ देखो।'

सुनहु गोपी हरिको संदेस।
करि समाधि अंतर्गति ध्यावहु, यह उनको उपदेस॥
वै अबिगति अबिनासी पूरन, सब घट रहे समाइ।
निगुन ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाइ॥
सगुन रूप तजि निर्गुन ध्यावौ, इक चित इक मन लाइ।
यह उपाव करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ॥
दुसह सँदेश सुनत माधोको, गोपीजन बिलखानी।
'सूर' बिरहकी कौन चलावै, बूड़त मन बिनु पानी॥

'गोपियो! तुम हरिका सँदेशा सुनो। तुम समाधिके द्वारा हृदयमें उनका ध्यान करो, यही उनका उपदेश है। वह अविज्ञात, अविनाशी और घट-घटमें विद्यमान हैं। वेद-पुराणोंमें कहा गया है कि निर्गुण-का ज्ञान हुए बिना मुक्ति नहीं होती। अतएव सगुण-का ज्ञान त्यागकर एकचित्त तथा एकमन हो रज तथा तमोगुणरहित ब्रह्मकी उपासना करो। इस उपायसे तुम्हें विरहसे छुटकारा मिलेगा और तब ब्रह्म प्राप्त होगा। माधवकी यह दुसह वार्ता सुनकर गोपियाँ विलाप करने लगीं। अब विरह-भार-विशिष्ट मन-नौकाको कौन चलावेगा? दर्शन-वारिके बिना मन-नौका तो सूखी नदीके गर्भमें ही डूबी जा रही है।'

एक गोपीने कहा, 'हे उद्धव! हमारा मन उन्हींका अनुरागी है, हमें क्यों भुलानेकी चेष्टा करते हो? श्रीकृष्ण यदि निर्गुण ही हैं, तो—

किन वै गवन कियो सकटनि चढ़ि, सुफलक-सुतके संग।
किन वै रजक लुटाइ विविध पट, पहिरे अपने अंग॥
किन हति चाप निदरि गज मारयो, किन वै मल मथि जाने।
उग्रसेन वसुदेव देवकी, किन वै निगड़ हठि भाने॥
तू का की है करत प्रशंसा, कौनै घोस पठायो।
किन मातुल हति लयो जगत-जस, कौन मधुपुरी छायो॥
माथे मोर मुकुट बन गुंजा, मुख मुरली धुनि बाजै।
'सूरजदास' जसोदानंदन, गोकुल कहँ न बिराजै॥

'शकटमें चढ़कर अक्रूरके साथ जो मथुरा गये थे, वह कौन हैं? धोबीको लूटकर जिन्होंने अपने अङ्गोंपर नाना प्रकारके वस्त्र पहने थे, वह कौन हैं? जिन्होंने धनुर्भङ्ग किया था और गजको पराजित कर मारा था, वह कौन हैं? जिन्होंने मल्लोंका प्राणवध किया था, वह कौन हैं? जिन्होंने वीरत्व प्रदर्शन कर उग्रसेन, वसुदेव तथा देवकीके पैरकी बेड़ियाँ तोड़ी थीं, वह कौन हैं? तुम किसकी प्रशंसा कर रहे हो? किसने तुमको व्रजमें भेजा है? किसने मामाको मारकर जगत्में यश पाया है? किसने मथुराकी रक्षा की थी। किसके मस्तकपर मयूर-पुच्छका मुकुट है और गलेमें घुँघुचीकी माला है? किसके मुखसे मुरलीकी ध्वनि बजती है? क्या यशोदानन्दन कभी गोकुलमें नहीं रहे थे?'

श्रीकृष्णको ब्रह्म बतानेवाले उद्धवके मुँहको बन्द कर देनेवाले ये करारे उत्तर भी कैसे लाजवाब हैं? अजी! यदि कृष्ण निर्गुण और निर्विकल्प हैं तो क्या ये बातें जो उनके सम्बन्धमें हमने स्वयं देखी-सुनी हैं—झूठी हैं? क्या जिस रूपमें हमने श्रीकृष्णको देखा है, प्यार किया है—वह सब भूल-भुलैया था?

गोपियोंने कहा—

जोग गौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो, ऐसोई फिर जैहै॥

जापै लै आये हो मधुकर, ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़िकै कटुक निंबोरी, को आपन मुँह खैहै॥
मूरीके पातनके कोयना, को मुकुताहल दैहै।
'सूरदास' प्रभु गुनहिं छाँड़िकै, को निरगुन निरबैहै॥

'योगका धोखा व्रजमें न बिकेगा। उद्धव! तुम्हारा यह सौदा बस बिना बिके ही लौट जायगा। हे मधुकर! जिनके लिये यह लाये हो, उनके हृदयमें इसके लिये स्थान नहीं। दाख छोड़कर कौन स्वेच्छासे निबौली खायेगा? मूलीके पत्तोंके कोयनोंके बदलेमें कौन मुक्ता-फल देगा? सगुणको छोड़कर कौन निर्गुणके द्वारा अपना निर्वाह करेगा?'

राखो यह सब जोग अट-पटो, ऊधो पाइ परौं।
कहँ रसरीति कहाँ तनु सोधन, सुनि-सुनि लाज मरौं॥
चंदन छाँड़ि बिभूति बतावत, यह दुख क्यों न जरौं।
नासा कर गहि जोग सिखावत, बेसरि कहाँ धरौं॥
सगुन सरूप रहत उर अन्तर, निरगुन कहा करौं।
निसिदिन रसना रटत स्याम गुन, का करि जोग मरौं॥
मुद्रा न्यास अंग-अँग भूसन, पतिव्रतते न टरौं।
'सूरदास' यो ही ब्रत मेरे, हरि मिलि नहिं बिछुरौं॥

'उद्धव! हम तुम्हारे पैरों पड़ती हैं, योगकी यह सब उटपटांग बातें छोड़ दो। कहाँ मधुररसका कार्यक्रम और कहाँ देहशुद्धिका विधान—यह सुनकर हम लज्जासे मरी जाती हैं। चन्दन छोड़कर देहपर भस्म लगानेको कहते हो, इस दुःखसे क्यों न जल मरें? हाथसे नाक पकड़कर योग करनेको कहते हो तो बेसर कहाँ रक्खें? हृदयके अन्तर सगुण तथा सरूप रहते निर्गुणसे क्या करना है? जब हमारी जीभ दिन-रात श्यामके गुणोंकी व्याख्या कर रही है तब निर्गुण ब्रह्मका ध्यान कर क्यों मरें? हमारे प्रत्येक अङ्ग-पर आभूषण हैं; मुद्रा तथा न्यासके लिये उन्हें उतारना पड़ेगा; हम पातिव्रतसे विच्युत न हो सकेंगी। यही हमारी प्रतिज्ञा है; जब हरिको हमने (साकाररूपमें) पाया है, तब उनके (नयनाभिराम) रूपको हृदयसे हटा न सकेंगी।'

उलटी रीति तिहारी ऊधो, सुनै सु ऐसी को है।
अलप बयस अबला अहीरि सठ, तिनहिं जोग कत सोहै॥
बूचिहि खुभी आँधरिहि काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुँड़ली पटिया पारि सँवारै, कोढ़ी अंगहिं केसरि॥
बहिरीसों पति मता करै तौ, तैसोइ उत्तर पावै।
सो गति होइ सबै ताकी जो, ग्वारिनि जोग सिखावै॥
सिखई कहत स्यामकी बतियाँ, तुमको नाहीं दोसु।
राज काज तुमतें न सरैगो, अपनी काया पोसु॥
जेते भूलि सबै मारगमैं, इहाँ आनि कहा कहते।
भली भई सुधि रही 'सूर' तौ, मोह-धार महँ बहते॥

'हे उद्धव! तुम्हारी बतायी रीति उलटी है। उसके अनुसार कौन चल सकती है? हे बहकानेवाले! जो तरुण अवस्थाकी सुकुमारी ग्वालिन है उसके लिये भला कैसे योग शोभा दे सकता है? जो कनकटी है वह कर्णफूल पहनेगी, जो अन्धी है वह काजल लगायेगी, जो नकटी है वह बेसर पहरेगी, जो मुँड़ली है वह माँग निकालकर केस सँवारेगी और जो कोढ़िन है वह अंगोंपर कुङ्कुम लेप करेगी—यह किस प्रकारसे सम्भव हो सकता है? यदि बहिरीके साथ उसका पति प्रेम-सम्भाषण करने लगे तो उसे उत्तर भी वैसा ही मिलता है। जो ग्वालिनको योग सिखाना चाहता है, उसकी भी दशा वैसी ही होती है। तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुमने श्यामके पास जैसा सीखा है वैसा ही कहते हो। परन्तु तुमसे यह राज-काज नहीं चलनेका, तुम किसी दूसरे उपायसे अपनी कायाका पोषण करो। तुम रास्तेमें सब भूल गये हो, तुम यहाँ आकर कुछ-का-कुछ कहते हो। अच्छा हुआ कि अभीतक तुम्हें होश है, नहीं तो तुम मोहकी धारामें बह जाते।'

हमरी गति पति कमलनैन लौं, जोग सिखै ते राँडे।
कहौ मधुप ! कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँडे॥
काकी भूख गयी बयारि भखि, बिना दूध घृत माँड़े।
कहु षटपद ! कैसे खैयतु है, हाथिनके सँग गाँड़े॥
जाकी कहूँ थाह नहिं पैये, अगम अपार अगाधै।
गिरिधरलाल छबीले मुखपर, इतै बाँध को बाँधै॥

'हमारी गति तथा हमारे पति तो कमलनयन हैं। योग सीखना तो राँड़ (विधवा) का काम है। (हमारे प्राणपति अजर-अमर हैं, हम कभी विधवा होनेकी ही नहीं।) हे मधुकर! तुम्हीं बताओ, एक म्यानमें दो तलवारें कैसे समा सकती हैं? दूध, घी, रोटी खाये बिना, केवल वायु-भक्षणसे किसकी भूख मिटी है? बताओ हाथीके साथ गैंडा कैसे खा सकता है? जिसकी सीमा ही नहीं मिलती—जो अज्ञेय, अपार तथा अथाह हैं—उन गिरिधरलालके सुन्दर मुखको इतने बन्धनोंके भीतर कौन आबद्ध करना चाहता है?'

हमको हरिकी कथा सुनाउ।
अपनी ज्ञान कथाको ऊधो, मथुरा ही लै जाउ॥
नागरि नारि भली समुझैंगी, तेरो बचन बनाउ।
पा लागौं ऐसी इन बातनि, उनहीं जाइ रिझाउ॥
सुनि पिय सखा स्यामसुंदरके, जो पै जिय सतिभाउ।
तो बारक आतुर इन नैननि, वह मुख आनि दिखाउ॥
जो कोउ कोटि जतन करै मधुकर, बिरहिन और सुभाउ।
तौ सुन 'सूर' मीनको जल बिनु, नाहिंन और उपाउ॥

'हमसे तो हरिकी बातें कहो। हे भ्रमर! यह अपना ज्ञानविषयक व्याख्यान मथुराको ले जाओ। वहाँकी नारियाँ तुम्हारी सजावटी बातें समझ सकेंगी। तुम्हारी इन सब बातोंको दण्डवत् करती हूँ, उन्हींको जाकर इनसे सन्तुष्ट करो। हे श्यामसुन्दरके प्रिय सखा! सुनो, यदि उनके साथ तुम्हारा इतना ही प्रेम है, तो हमारे इन आतुर नयनोंको वह मुख लाकर दिखाओ। हे मधुकर! यदि कोई मनुष्य करोड़ों चेष्टा करे, तो भी विरहिणियोंके स्वभावका परिवर्तन नहीं कर सकता। जलके बिना मछली एक पल भी जी सकती है? ठीक उसी प्रकार गोपियोंके लिये भी अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके बिना एक क्षणका जीवन दूभर है, असह्य है।'

नैननि नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेस दीजै, जहाँ निर्गुन ज्ञान॥
पानि पल्लव रेख गनि गनि, अवधि बिबिध बिधान।
इतै पर कहि कटुक बचननि, हते जैसे प्रान॥
चंद्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबिपर, निरखि दीजत दान॥
भ्रकुटि कोटि कोदंड रुचि, अवलोकननि संधान।
कोटि वारिज वक्र नैन, कटाच्छ कोटिक बान॥
मनि कंठहार, उदार, उर, अतिसै बन्यो निर्मान।
संख चक्र गदा धरे कर, पदुम सुधा निधान॥
स्याम तनु पट पीतकी छबि, करै कौन बखान।
मनहुँ निरतत नील घनमें, तड़ित देती मान॥
रास-रसिक गुपाल मिलि मधु, अधर करती पान।
सूर ऐसे स्याम बिनु को, यहाँ रच्छक आन॥

'हमारे लोचन सदा नन्दनन्दनका ध्यान करते रहते हैं। जहाँके लोग निर्गुणका रहस्य समझ सकते हों, तुम्हारा यह उपदेश वहीं ले जाओ। श्यामने अपनी उँगलियोंकी रेखाओंसे गिन-गिनकर अपने लौटनेका समय नाना प्रकारसे निर्दिष्ट कर दिया था। उस समय तो वह लौटे ही नहीं, तिसपर कठिन सन्देशा भेजकर मानो हमारा प्राणवध कर रहे हैं। श्यामके मुखपर कोटि-कोटि चन्द्रोंकी दीप्ति है और उनके भूषणोंमें कोटि-कोटि सूर्योंकी चमक है। उनकी शोभापर कोटि मन्मथ निछावर किये जा सकते हैं।

भ्रुकुटिमें कोटि इन्द्रधनुषकी सुन्दरता है । आँखकी चितवनी मानो शरनिक्षेप कर रही है । कोटि पद्मोंके सौन्दर्ययुक्त नयनोंके बङ्किम कटाक्ष मानो कोटि बाण हैं । उनके प्रशस्त वक्षःस्थलपर मणिमय कण्ठहार अनुपम शोभा देता है। करोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते हुए वह सुधाकी निधि प्रतीत होते हैं । श्याम शरीरपर पीतवर्णके वस्त्रोंकी शोभाका वर्णन कौन कर सकता है ? मानो नीलमेघपर लयके साथ बिजली नृत्य कर रही है—मानो वह रास-रसिक गोपालसे मिलकर अधर-सुधा पान कर रही है । ऐसे श्यामके बिना यहाँ हमारा दूसरा कौन रक्षक हो सकता है ?'

ऊधो तुम ब्रजकी दसा बिचारो ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी, जोग कथा विस्तारो ॥
जा कारण तुम पठये माधौ, सो सोचो जिय माहीं ।
कितोक बीच बिरह परमारथ, जानत हौ किधौं नाहीं ॥
तुम परबीन चतुर कहियत हौ, संतन निकट रहत हौ ।
जल बूड़त अवलंब फेनको, फिरि फिरि कहा गहत हौ ॥
वह मुसुकानि मनोहर चितवन, कैसे उरते टारौं ।
जोग जुगति अरु मुकुति परमनिधि, वा मुरली पर वारौं ॥
जिहि उर कमल नैन जु बसत हैं, तिहिं निरगुन क्यों आवै ।
सूरदास सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरो भावै ॥

'उद्धव ! तुम पहले व्रजकी दशापर तो विचार करो, पीछे अपनी इस सिद्धि और योगकी बातोंकी व्याख्या करना । जिस उद्देश्यसे माधवने तुम्हें यहाँ भेजा है उसके सम्बन्धमें तुम एक बार अपने मनमें विचार कर देखो । तुम प्रवीण तथा चतुर कहे जाते हो और साधुओंकी संगति करते हो । अतएव विरह और परमार्थमें कितना अन्तर है, क्या तुम नहीं जानते ? जलमें डूबते हुए बार-बार फेनका सहारा क्यों लेते हो। (अब हमें नन्दनन्दनके मुखके ध्यानसे ही सन्तुष्ट रहना पड़ेगा) । तुम बार-बार हमें किसका आश्रय लेनेको कहते हो ? कैसे हम श्यामकी मधुर मुसकान तथा मनोहर कटाक्षको हृदयसे हटावें । योग, युक्ति तथा श्रेष्ठ रत्नस्वरूप मुक्तिको हम श्यामकी मुरलीपर निछावर करती हैं ? जिस हृदयमें कमलनयनका वास है, उसमें निर्गुणका आना कैसे सम्भव है ? जिस भजनके द्वारा अन्य किसी वस्तुमें अनुराग उत्पन्न होता हो, उसे हम यमुनामें बहा देती हैं ।'

काहेको रोकत मारग सूधो ।
सुनहु मधुप निरगुन कंटकमय, राजपंथ क्यों रोंधो ?
कै तुम सिखै पठाये कुबिजा, कही स्यामघनजी धौं ।
वेद पुरान स्मृति सब ढूँढ़ौ, जुवतिन जोग कहूँ धौं ॥
ताको कहा परेखो कीजै, जानत छाँछ न दूधौ ।
सूर मूर गयो अक्रूर लै, ब्याज निबेरत ऊधौ ॥

'सुनो मधुप ! सरल पथ क्यों बन्द करते हो ? कण्टकमय निर्गुणके द्वारा, सगुणका प्रशस्त निष्कण्टक राजपथ क्यों रोकते हो ? क्या तुमको कुब्जाने सिखा भेजा है, वा श्यामघनने ? वेद, पुराण तथा स्मृति-शास्त्र सब खोज देखो, कहीं युवतियोंके लिये भी योग-मार्गकी व्यवस्था है ? जो मट्ठा तथा दूधका भेद नहीं जानता उसे विश्वास करनेसे क्या होगा ? मूलधन तो ले गया अक्रूर, अब सूद उगाहनेको आये हैं उद्धव । परन्तु यहाँ तो दूसरेके लिये जगह ही नहीं रही'—

नाहिंन रह्यो मनमहँ ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसे, आनिये उर और ॥
चलत चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात ।
हृदयतें वह स्याम मूरति, छिन न इत उत जात ॥
कहत कथा अनेक ऊधो, लोक लाज दिखात ।
कहा करौं तन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समात ॥
स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास ॥

'हमारे मनमें स्थान ही नहीं है । नन्दनन्दन रहते

हम दूसरेको हृदयमें कैसे स्थान दें ? रास्तेमें चलते हुए, दिनमें जागते हुए और रातको सोते हुए स्वप्नमें हम उन्हींको देखती हैं। एक क्षणके लिये भी हमारे हृदयसे श्याममूर्ति इधर-उधर नहीं होती। लोकलाज दिखाकर ऊधो ! तुम बहुत-सी बातें कहते हो। पर क्या करें, हमारा देह प्रेमसे पूर्ण है—घटके भीतर समुद्र नहीं समा सकता। देह जिनका श्याम वर्ण है, मुख जिनका पद्मके सदृश, हास्य जिनका मृदु तथा चाल जिनकी ललित है—उनके ऐसे रूपके लिये ही हमारे नयन प्याससे मर रहे हैं।'

सुनिहै कथा कौन निरगुनकी, रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृनकी ओट दुरावत॥

'तुम निर्गुणके विषयमें जो सब बनावटी बातें कहते हो, कौन उन्हें सुनेगा ? सगुण रूप सुमेरुके समान सामने ही प्रकट हो रहा है, उसे तुम तृणकी ओटमें छिपा रखना चाहते हो ?' [अर्थात् भगवान्की सगुण सत्ता चारों ओर लोकलोचनके सामने उद्भासित है, तुम उस ज्वलन्त सत्ताका अस्वीकार कर व्यर्थ एक अनिर्दिष्ट तथा अबोध पक्षका अवलम्बनकर वाग्जाल विस्तार कर रहे हो। यही गोपियोंकी सार युक्ति है।]

योग है जीवात्मा और परमात्माका संयोग। केवल समाधिकी अवस्थामें ही यह संयोग सम्भव है। समाधि है चित्त-वृत्तिका निरोध, अर्थात् विषयसे मनको हटाकर ऐसी अवस्थामें लाना कि वह सम्पूर्णतया बाह्य-ज्ञानशून्य हो जाय। चित्त-वृत्ति-निरोधकी अवस्था प्राप्त करनेके लिये कुछ क्रियाओंकी आवश्यकता है, जिनमें प्रारम्भिक हैं देह-शुद्धि, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, धारणा इत्यादि। गुण तीन हैं—सत्त्व, रज और तम। जिनमें ये गुण नहीं हैं, वही निर्गुण है। निर्गुण परमात्मा विश्वब्रह्माण्डमें तथा सब जीवोंमें व्याप्त हैं। जो मनुष्य निर्गुण परमात्माके उपासक हैं, वे ज्ञानमार्गावलम्बी कहे जाते हैं। जो याग-यज्ञादिके द्वारा भगवान्की उपासना करते हैं, वे कर्ममार्गावलम्बी हैं। पर कुछ मनुष्य प्रेमके द्वारा भगवान्को पाना चाहते हैं। वे भक्तिमार्गावलम्बी हैं। भक्तिमार्गावलम्बी कहते हैं कि सृष्टिके लिये परमात्माको सत्त्व, रज, तम गुणोंका अवलम्बन करना पड़ता है, अर्थात् वह सगुण हो जाते हैं, और अपने आपको दो भागोंमें विभक्त कर लेते हैं—पुरुष तथा प्रकृति। प्रकृति और पुरुष नाना प्रकारसे मिलित होकर इस विश्वमें प्रकट होते हैं—कभी सत्त्वगुण प्रबल होता है, कभी रजोगुण, कभी तमोगुण, कभी सत्त्व तथा रज दोनों, कभी रज तथा तम दोनों इत्यादि। जीवात्मा प्रकृतिके अन्तर्गत है। जीवात्मा और परमात्माके मिलनकी विभिन्न अवस्थाओंका वैष्णवगण श्रीकृष्ण और गोपियोंके विहारके नामसे वर्णन करते हैं।

जीव परमात्मासे विच्छिन्न हो गया है। उसे फिर परमात्मासे मिलनेकी आकांक्षा है। ज्ञानमार्गी लोग सम्पूर्ण मिलन चाहते हैं, जिसे वे मुक्ति कहते हैं। भक्तिमार्गावलम्बीगण अर्थात् वैष्णवगण, मुक्तिके पक्षपाती नहीं हैं। वे भगवान्को साकार मानते हैं और निर्गुण ब्रह्म उनको खटकता है। वे परमात्मामें लीन होना नहीं चाहते। अर्थात् अनन्त कालतक भगवान्के धाममें रहते हुए श्रीकृष्ण भगवान्के दर्शन तथा उनकी सेवा करनेके अभिलाषी हैं। यही है वैष्णवोंका मोक्ष।

सब कोई अन्तमें भगवान्से मिलना चाहते हैं। किन्तु मिलन होना सहज नहीं—जन्म-जन्मान्तरव्यापी साधना आवश्यक है। तबतक जीव विरह-व्यथा अनुभव करता रहता है। अस्तु।

उद्धवजी व्रजमें पहुँचकर गोपियोंसे कहने लगे कि तुम साकार भगवान् (श्रीकृष्ण) की उपासना

छोड़ ज्ञानमार्गका अवलम्बनकर समाधिके द्वारा निर्गुण ब्रह्मका ध्यानकर मुक्ति पानेकी चेष्टा करो, क्योंकि ब्रह्मके निर्गुणत्वके ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती।* गोपियोंने इसके उत्तरमें कहा कि सगुण भावसे भी श्रीभगवान् प्राप्त हो सकते हैं। हम भी योग करती हैं—साकार कृष्ण—

हम तो ध्यान धरैं निसि बासर, औरहि नवै न सीस।
हियमें बसत निरंतर हमरे त्रिभुवनपति जगदीस॥

ऊधो, जोग तबहिंतें जान्यो।
जा दिनतें सुफलक-सुतके सँग रथ ब्रजनाथ पलान्यो॥
ता दिनतें सब छोह मोह गयो, सुत-पति हेतु भुलान्यो।
तजि माया संसार तर्क जिय, ब्रज बनिता ब्रत ठान्यो॥
नैन मूँदि मुख मौन रही धरि, तनु तप तेज सुखान्यो।
नँदनंदन मुरली मुखपर धरि, उहै ध्यान उर आन्यो॥
सोइ रूप जोगी जेहि भूले, जो तुम जोग बखान्यो।
ब्रह्माहू पचि मुए ध्यान करि अंत उनहिं पहिचान्यो॥
कहौ सुयोग कहा लै कीजै, निरगुन ही नहिं जान्यो।
'सूर' उहै निज रूप स्यामको, है मनमाँह समान्यो॥

'योग क्या है, यह बात तभीसे हमारी जानी हुई है जबसे ब्रजनाथ श्रीकृष्णने अक्रूरके साथ जानेके लिये रथ सजाया था। उस दिनसे हमारी सब स्नेह-ममता दूर हो गयी है—हम पति-पुत्रका प्रेम भूल गयी हैं। तभीसे ब्रजकी नारियोंने मनसे संसारकी चिन्ता हटाकर एकनिष्ठतासे मानो संन्यास ले लिया है। (योगमार्गकी प्रणालीके सदृश प्रणाली अपने-आप अनुष्ठित हो रही है।) आँखोंको बन्द करते तथा मुखमें मौन धारण करते हुए हमारी देहको विरहकी आगने सुखा डाला है। हम मुरली-वदन नन्दनन्दनके रूपको हृदयसे ध्यान कर रही हैं—वही रूप जिसे भूलकर योगिगण उस योगमें निमग्न हैं जिसकी प्रशंसा तुम कर रहे हो। किन्तु ब्रह्मा भी निर्गुणका ध्यान करते-करते हार गये थे, तब उन्हें साकार ब्रह्मके दर्शन मिले थे। जब हम निर्गुणका स्वरूप ही नहीं जानतीं तो कहो किसका अवलम्बनकर योग किया जाय। हमारा अन्तस्तल तो श्यामकी रूपमाधुरीसे भरा है।'

तब उद्धवजीकी आँखें खुलीं, वे बोले—

अब अति चकितवंत मन मेरो।
आयो हौं निरगुन उपदेसन, भयो सगुनको चेरो॥
मैं कछु ज्ञान कह्यौ गीताको, तुमहिं न परसो नेरो।
अति अज्ञान जानि कै अपनो, दूत भयो उनकेरो॥
निज जन जानि इहाँ हरि पठयो, दीनों बोझ घनेरो।
'सूर' मधुप फिरि चले मधुपुरी, बोरि जोगको बेरो॥

'अब मेरा मन अतिशय विस्मित है। मैं यहाँ आया था निर्गुणका उपदेश देनेके लिये, किन्तु अब स्वयं हो गया सगुण-उपासक। मैंने तुम्हारे सामने कुछ गीताके* ज्ञानकी व्याख्या की है जो तुम्हें अच्छा नहीं लगा। मैं अपने-आपको अज्ञानी जानते हुए भी श्रीकृष्णका दूत बनकर आया था, और श्रीकृष्णने भी अपना भक्त जानकर मुझे यहाँ भेजा था, पर मेरे सिरपर बड़ा

---

* पूरन ब्रह्म ध्यावो, त्रिगुन मिथ्या भेष॥
मैं कहौं सो सत्य मानहु, त्रिगुन डारौ नास।
पंच त्रय गुन सकल देही, जगत ऐसो भास॥
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं, यह विषय संसार।
रूप रेख न नाम कुल गुन, बरन और न सार॥
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
'सूर' सुख दुख नाहिं जाके, भजो ताको जाइ॥

* यहाँ सूरदासजीने कदाचित् भ्रम किया है। गीताका उपदेश भगवान्‌ने परिणत जीवनमें अर्जुनको दिया था। हाँ, यह हो सकता है कि गीतोक्त ज्ञानका कुछ उपदेश भगवान्‌ने पहले ही उद्धवको दिया हो। उद्धवजी पहले स्वयं अद्वैतमार्गी ज्ञानी थे।

भारी बोझ लाद दिया था। अब मैं योगका बेड़ा डुबाकर मथुरा लौटता हूँ।'

गोपियोंको योगमार्गमें ले जाकर निर्गुणकी उपासना-में प्रवृत्त करना असम्भव देखकर उद्धवजी मथुरा लौट गये। पहले ईश्वरकी निर्गुण सत्ता तथा अद्वैतवादमें उनका अटल विश्वास था और अपने पाण्डित्यपर भी अभिमान था। उनका गर्व खर्व करनेके अभिप्रायसे श्रीकृष्णने उन्हें व्रजमें भेजा था। गोपियोंकी भक्तिका परिचय पाकर उनका भी मन विचलित हो गया, और वह ज्ञानमार्गसे भक्तिमार्गके श्रेष्ठत्वका अनुभव करने लगे। वह मथुरा लौटे और श्रीकृष्णके पास जाकर उन्होंने निवेदन किया—

कहाँलौ कहिये ब्रजकी बात।
सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगन, जैसे दिवस बिहात॥
गोपी-ग्वाल गाय-गोसुत सब, मलिन बदन कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर हिमाहत, अंबुजगन बिनु पात॥
जो कोउ आवत देखि दूरतें, सब पूछति कुसलात।
चलन न देति प्रेम आतुर उर, कर चरनन लपटात॥
पिक चातक बन बसन न पावै, बायस बलिहिं न खात।
'सूरज' स्याम सँदेसनके डर, पथिक न वा मग जात॥

'व्रजकी दशाका वर्णन कहाँतक किया जाय? सुनो श्याम! तुम्हारे बिना वहाँके लोग कैसे समय काट रहे हैं। गोप, गोपी, गाय, बछड़े सभीका मुख म्लान है और देह बलशून्य। वे अत्यन्त कातर हैं, जैसे शिशिरमें बर्फके मारे कमलकी पँखुड़ियाँ। यदि गोपियाँ किसीको दूरसे आते देखती हैं, तो (वह मथुरासे आ रहा है इस अनुमानसे हृदयकी व्याकुलताके कारण) उसे रोकती हैं और उसके चरणोंसे लिपट जाती हैं। कोयल तथा पपीहा भी शान्तिसे वनमें बैठने नहीं पाते, न कौआ अपना खाद्य बलि खाता है। गोपियाँ मथुराका समाचार पूछेंगी, इस डरसे बटोहियों-ने उस रास्तेसे जाना छोड़ दिया है।'

माधवजू, मैं उत अति सचु पायो।
अपनो जानि सँदेस ब्याज करि, ब्रजजन मिलन पठायो॥
छमा करौ तो करौं बीनती, जो उत लखि हौं आयो।
श्रीमुख ज्ञान-पंथ जो उचरयो, तिनपै कछु न सुहायो॥
सकल निगम सिद्धांत जनमकर, उन मोहिं सहज सुनायो।
नहिं स्रुति सेष महेस प्रजापति, जो रस गोपिन गायो॥
कटुक कथा लागी मोहिं अपनी, उहि रससिंधु समायो।
उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषाहि बुझायो॥
तुम्हरी अकथ कथा तुम जानो, हमजन नाहिं बसायो।
'सूर' स्याम सुंदर यह सुनि-सुनि, नैनन नीर बहायो॥

'हे माधव! मैंने वहाँ (व्रजमें) बहुत सुख पाया। तुमने मुझे अपना मित्र समझकर समाचार लेनेके लिये व्रजके लोगोंके पास भेजा था। यदि क्षमा करो तो मैं वहाँ जाकर जो कुछ देख आया हूँ, निवेदन करूँ। श्रीमुखसे ज्ञानमार्गकी जो बातें बतायी गयी थीं, वह उन्हें तिलमात्र भी अच्छी नहीं लगीं। सारा जीवन वेद-चर्चा कर मैं जिस सिद्धान्तपर पहुँचा था, उसके बारेमें उन्होंने सहजहीमें खरी-खोटी सुनायी। इतना ही नहीं, जिस रसकी उन्होंने व्याख्या की, न तो वह वेदमें है, न शेष, महेश तथा ब्रह्माको उसका पता चलता है। मेरी अपनी बातें ही मुझे बुरी लगीं—वे उनके रस-सिन्धुमें डूब गयीं। मैंने तुमको वहाँ दूसरे प्रकारसे देखा, मैं अपनी सब प्यास वहाँसे बुझा आया हूँ। तुम्हारी अविज्ञेय बातोंको तुम्हीं समझते हो, हम-जैसे लोगोंकी उनकी धारणा करनेकी शक्ति नहीं है। यह सुनकर श्यामसुन्दरके नेत्रोंसे वारि-धारा बहने लगी।'

श्रीकृष्णके मनमें व्रजकी स्मृति जागरूक होकर उन्हें मर्म-पीड़ा देने लगी। व्यथित हृदयसे वह बोले—

ऊधो, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
बृंदावन गोकुल तन आवत, सघन तृनकी छाहीं॥

प्रातसमय माता जसुमति, अरु नंद देखि सुख पावत ।
माखन रोटी दह्यो सजायो, अति हित साथ खवावत ॥
गोपी ग्वालबाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात ।
'सूरदास' धनि धनि ब्रजवासी, जिनसों हँसत ब्रजनाथ ॥

'उद्धव ! मुझसे व्रज भूला नहीं जाता । वृन्दावनसे गोकुलकी ओर आनेमें क्या ही सघन तृणकी छाया है ! प्रातःकालमें उठकर माता यशोमति तथा पिता नन्दको देखकर क्या ही सुख मिलता था ! माता मक्खन, रोटी और सजाव दही लाकर स्नेहके साथ खिलाती थीं । गोपियों तथा गोपबालकोंके साथ खेलनेमें सारा दिन हँसते हुए कट जाता था । सूरदास कहते हैं, धन्य हैं व्रजवासीगण जिनसे मिलकर व्रजनाथ हँसते थे ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तशिरोमणि सूरदासजीने 'भ्रमर-गीत' में प्रेमपरक साकार-उपासनाकी श्रेष्ठता एक बहुत ही विशदरूपमें तथा अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंगसे निर्धारित की है । सूरदासके समय ज्ञानमार्गियोंके कुछ सम्प्रदाय भक्तिका तीव्र विरोध करते हुए 'अहं ब्रह्मास्मि' का प्रचार कर रहे थे । बहुतोंने यह देखकर कि भले ही बिना कुछ किये-दिये ब्रह्म हाथ लग रहा है, धड़ल्लेके साथ राम और कृष्णका ही नहीं अपितु समस्त कर्मकाण्ड तथा भक्तिका खण्डन प्रारम्भ कर दिया था । समाजमें पाखण्डका प्रचार बढ़ा, साथ ही जो-न-सो अनधिकारी पुरुष भी आँख मूँदकर आसन मारे ब्रह्म-चिन्तनका दिखावा ध्यान करने लगा । बाह्य समाधि ही साधनाकी पहली सीढ़ी समझी जाने लगी और लोकधर्मसे पिण्ड छुड़ाकर 'विरक्त' बनना ही परम पुरुषार्थ समझा जाने लगा । ज्ञानके इन दिखौवे उपासकोंको ही लक्ष्यकर गोस्वामी तुलसीदासजीने डाँटा था—

हम लखि, हमहिं, हमार लखि, हम हमारके बीच ।
'तुलसी' अलखहिं का लखै, रामनाम जपु नीच ॥

सूरदासजीने इतने कड़े शब्दोंमें तो इन ज्ञानवादियोंका खण्डन नहीं किया परन्तु बड़े ही नम्र शब्दोंमें उन्हें विस्तारके साथ समझा दिया कि साधनाके क्षेत्रमें मनको कहीं टिकानेकी आवश्यकता है और यह मन शील, शक्ति और सौन्दर्यके परम निधान भगवान् श्रीकृष्णमें ही भलीभाँति जम सकता है । इससे दो बातें होंगी—एक तो मन संसारके विषयोंसे हटता जायगा और दूसरे भगवान्‌के चरणोंमें रमते-रमते अभ्यासद्वारा सर्वत्र श्रीकृष्ण-ही-कृष्ण दीखने लगेंगे । योगका चरम उद्देश्य भी यही है । सर्वत्र सर्वदा ब्रह्मकी अनन्यताका अनुभव करनेकी आवश्यकता है । 'भ्रमर-गीत' भक्तिकी सर्वोत्कृष्टता तथा विरहमें प्रेमातिरेकद्वारा भक्ति-विह्वलताके चित्रणमें विश्व-साहित्यमें अनुपम अनमोल ग्रन्थ है ।

मौतका सन्देश

संत सदा उपदेश बतावत केस सबै सिर श्वेत भये हैं ।
तू ममता अजहूँ नहिं छाँड़त मौतहु आय सँदेश दये हैं ॥
आजु कि काल चलै उठि मूरख तेरेहि देखत केते गये हैं ।
'सुंदर' क्यूँ नहिं राम सँभारत या जगमें कहु कौन रहे हैं ?

—सुन्दरदासजी

छप गयी # गीता-डायरी सन् १९३५ की छप गयी

मूल्य साधारण जिल्द ।), कपड़ेकी जिल्द ।-)

पिछले कई वर्षोंमें डायरीके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकालने पड़े और इसपर भी अन्तमें कई सज्जनोंको निराश होना पड़ा, यही इसकी उपयोगिताका सबसे बड़ा प्रमाण है। इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपमें त्योहार भी छापे जाते हैं। गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है। आरम्भके ३२ पेजोंमें अति उपयोगी विषय रहते हैं, जिनमें इस बार कुछ परिवर्तन किया गया है। अन्तमें याददाश्तके सादे पन्ने हैं। सबके लिये एक उपयोगी सुन्दर डायरी है। अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी जीसे प्रशंसा की है। केवल १५००० छापी गयी हैं, जिन्हें आवश्यकता हो, आर्डर देनेकी शीघ्रता करें।

कल्याणके ग्राहकोंको सुविधा

६ सजिल्द डायरियोंके दाम १।।।-), पैकिंग)।।, डाकखर्च ।।≈) कुल रु० २।।-)।। होते हैं, जिनके बदले २=) लिये जायँगे। ७ अजिल्द डायरियोंके दाम १।।।), पैं० -), डाकखर्च ।।≈) कुल रु० २।।) होते हैं, जिनके बदले २-) लिये जायँगे। यह रियायत मनीआर्डरसे पेशगी रुपये भेजनेवालोंके साथ ही होगी। रियायती मूल्यमें वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ।।-) और एक सजिल्दके लिये ।।=) तथा दो अजिल्दके लिये ।।।=) और दो सजिल्दके लिये १-) भेजना चाहिये। बिना रजिस्ट्री पैकेट खो जानेका डर है। १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

विशेष सूचना—मँगवानेसे पहले अपने बुकसेलरोंसे पूछिये। थोक मँगानेवाले बुकसेलर हमारी पुस्तकें प्रायः पुस्तकपर छपे हुए दामोंसे बेचा करते हैं। इसमें आपको और भी सुभीता होगा। भारी डाकखर्चकी बचत होगी, जो ऊपरी सुविधासे भी अधिक लाभ होगा, क्योंकि हमारी पुस्तकोंका मूल्य कम और वजन अधिक होता है। इससे उनपर डाकखर्च अधिक पड़ता है।

बुकसेलरोंको सूचना

अजिल्द-सजिल्द कम-से-कम २५० डायरियाँ एक साथ लेनेवालोंका नाम, पता डायरीपर बिना किसी खर्चके छाप दिया जायगा। इससे उनको बेचनेमें मदद मिलेगी। कमीशन तो मिलेगा ही। बुकसेलर लोग कृपाकर शीघ्रता करें।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी) के ग्राहक बनाइये

'कल्याण'का अंग्रेजी संस्करण गत जनवरी माससे 'कल्याण-कल्पतरु' के नामसे निकलता है। इसके अब-तकके सभी अङ्कोंकी और खास करके उसके विशेषाङ्क 'God Number' की देशी-विदेशी सभी विद्वानोंने मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की है और हृदयसे उसकी उन्नति चाही है। इसका वार्षिक चन्दा विशेषाङ्कसहित केवल ४।।) है।

कल्याणके प्रेमी पाठकोंसे अनुरोध है कि वे चेष्टा करके 'कल्याण-कल्पतरु' के ग्राहक बढ़ावें और अंग्रेजी-भाषा जाननेवाले लोगोंमें सदाचार और भगवत्-प्रेमके प्रचारमें सहायक बनें। तीन ग्राहक बना देनेवाले सज्जनों-को प्रति ग्राहक ।।) आठ आना अर्थात् कुल १।।) कमीशन दिया जायगा।

मैनेजर 'कल्याण' गोरखपुर

श्रीशक्ति-अंक

बहुत दिनोंसे—महीनोंसे—तैयारी करते-करते 'श्रीशक्ति-अंक'की छपाईका काम प्रारम्भ किया गया। पिछले सब वर्षोंसे यह विशेषांक बड़ा होने तथा तिरंगे चित्रोंकी संख्यामें तो बहुत अधिक वृद्धि हो जानेके कारण काम बहुत बढ़ गया जो प्रेसकी कई अन्य अड़चनोंके कारण समयपर पूरा होनेकी बात तो दूर रही विशेषांक प्रकाशित हो जानेके एक महीने बादतक भी चलता रहा। कारण, कई चित्र एक बार थोड़े-थोड़े छाप दिये थे जो पीछे भी थोड़े-थोड़े ही जल्दी-जल्दी छापकर देने पड़ते रहे। इसके सिवा और भी कई अड़चनें आती रहीं और 'शक्ति-अंक' तैयार होकर ग्राहकोंकी सेवामें जल्दी पहुँचनेमें बाधा पड़ती रही।

क्षमा-प्रार्थना

पुराने और खास करके नये सम्मान्य ग्राहकोंने वार्षिक मूल्य पहलेसे भेज दिया था, वे एवं अन्य प्रेमी पाठकगण बड़ी उत्सुकतासे इसकी राह देखते रहे। कितने ही देरीके लिये प्रेमभरे उलहने भी देते रहे और उनका ऐसा करना उचित ही था पर हमें अपनी असमर्थताको देखकर उनसे नम्रतापूर्वक क्षमा ही चाहनी पड़ती थी एवं पड़ रही है। अभीतक भी सब प्रेमियोंकी सेवामें हम 'श्रीशक्ति-अंक' नहीं पहुँचा सके। यह अंक जितने छपे हैं शायद जल्दी समाप्त हो जायँ। आगे दुबारा छपने-न-छपनेकी बात भी कही नहीं जा सकती। अतः—

ग्राहक बननेवाले जल्दी करें

परमात्माकी कृपासे धार्मिक-साहित्यके और हिन्दीके लिये प्रचारका अच्छा अवसर मिला है। आपने कल्याणको अपनाया है यह हमारे लिये प्रसन्नताकी बात है।

दो-दो नये ग्राहक बना दें

अबतक जिन प्रेमी सज्जनोंने 'कल्याण'के ग्राहक बढ़ाकर कल्याणकी सेवा की है उनके हम कृतज्ञ हैं। उनकी सेवामें 'कल्याण' भी नवीन रूप और बढ़े हुए आकारमें उपस्थित होता रहा है। अर्थात् आपका ग्राहक बनानेका उद्योग एक प्रकार आपके लिये ही होता है। आपको और आपके मित्रोंको अच्छी सामग्री मिलती है। धार्मिक विचारोंका तो प्रचार होता ही है। जो सज्जन थोड़ा-सा प्रयत्न करके दो-दो, एक-एक नये ग्राहक बनायेंगे उनकी विशेष कृपा होगी।

निवेदक—

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण २७५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. U.P. (India)

॥ श्रीहरिः ॥

क्षमा-प्रार्थना

आश्विन और कार्तिकके अंक जानेमें देरी

वी० पी० के रुपये देरसे आनेके कारण आश्विनका अंक समयपर छपा हुआ रहनेपर भी भेजा नहीं जा सका, इसीसे कार्तिकके अंकमें भी देर हो गयी। पाठकगण इस अनिवार्य देरीके लिये कृपा करके क्षमा करें।

—मैनेजर

कल्याण कार्तिक सं० १९९१ की

विषय-सूची

देखिये, इन बारह महीनोंमें कौन-कौन-सी पुस्तकें नयी निकली हैं—

श्रीश्रीविष्णुपुराण

मूल और हिन्दी-अनुवादसहित

(अनुवादक—श्रीमुनिलालजी)

सुन्दर ८ चित्र, साइज २२×२९, ८ पेजी कागज चिकना, पृष्ठ-संख्या ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २॥), बढ़िया कपड़ेकी जिल्द २॥।) मात्र । छपाई बहुत सुन्दर और साफ, ढङ्ग हमारे यहाँकी श्रीअध्यात्मरामायणवाला अर्थात् एक तरफ मूल श्लोक और उनके सामने हिन्दी-अनुवाद । पढ़नेमें बड़ी सुगमता, टाइप सुन्दर और बड़े ।

यह ग्रन्थ महामुनि वेदव्यासजी लिखित अष्टादश पुराणोंमेंसे है । इसमें सविस्तार श्रीविष्णुभगवान्की लीलाओंका वर्णन है । सृष्टिका उत्पत्तिक्रम, देवता-दैत्योंका युद्ध, समुद्रमन्थन, ध्रुवचरित्र, प्रह्लादचरित्र इत्यादिके साथ ही भूगोलविद्या, सूर्य, नक्षत्र एवं राशियोंकी व्यवस्था, कालचक्र, ज्योतिश्चक्र, शिशुमारचक्र इत्यादि विषयोंका भी प्रसङ्गानुसार बड़ा ही अनूठा और विशद वर्णन है । एक प्रति अवश्य मँगाकर लाभ उठाइये ।

सचित्र, संक्षिप्त भक्तचरितमालाके नये-नये पुष्प

(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा सम्पादित)

आदर्श भक्त

सात चित्र, पृष्ठ-सं० ११२, मू० केवल ।-)

राजा शिवि, राजा रन्तिदेव, राजा अम्बरीष, भीष्मपितामह, पाण्डव अर्जुन, विप्र सुदामा और चक्रिक भीलकी अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर सात कथाएँ, लड़के-लड़की, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य—खूब प्रचार करने-योग्य पुस्तक है ।

भक्त-चन्द्रिका

रंगीन ७ चित्र, पृष्ठ-संख्या ९६, मूल्य ।-)

इसमें सखूबाई, श्रीज्योतिपन्त, भक्त विट्ठलदासजी, दीनबन्धु दास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर भक्तिभावपूर्ण कथाएँ हैं । ये कथाएँ बहुत ही हृदयग्राही और सबके पढ़ने योग्य हैं ।

भक्त-सप्तरत्न

सात रंगीन चित्र, पृष्ठ १०६, मूल्य ।-)

इसमें श्रीदामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और यवन भक्त सालबेगकी आनन्ददायक गाथाएँ हैं । इनके मधुर और पवित्र प्रेमरसको पानकर अपने तन, मन और वचनको प्रफुल्लित करनेकी कृपा करें । बहुत ही लाभदायक पुस्तक है । भगवान्की भक्ति करके छोटे भी बड़े, नीचे भी ऊँचे, माननीय और पूजनीय किस प्रकार बन जाते हैं यह इस पुस्तकमें पढ़िये ।

भक्त-कुसुम

तिरंगे सुन्दर ६ चित्र, पृष्ठ ९१, मू० ।-)

भक्त जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, भक्त दक्षिणी तुलसीदास और हरिनारायणदासजीकी सुन्दर-सुन्दर प्रेमपूर्ण वार्ताओंका यह संग्रह पढ़कर सबको आनन्द होगा । भगवान्की भक्तिका कितना प्रभाव है, भगवान् भक्तकी मनचाही बात किस प्रकार पूर्णकर उनको सुख पहुँचाते हैं यह पढ़कर सुखी होइये ।

प्रेमी भक्त

एण्टिक कागज, पृष्ठ १०३, चित्र रंगीन ३, दोरंगा १, सादा ३, सुन्दर टाइटल, अच्छी छपाई, मूल्य ।-) पाँच आनामात्र ।

इसमें भक्त बिल्वमंगल, भक्त जयदेव, श्रीरूप-सनातन, भक्त यवन हरिदास, भक्त रघुनाथदासकी आदर्श प्रेम और आनन्दभरी कथाएँ हैं । अनेक सुन्दर-सुन्दर चित्रोंसे पुस्तककी शोभा और भी बढ़ गयी है । यह पुस्तक सबके पढ़ने योग्य और मनन करने योग्य है ।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ

इसमें साध्वी रानी एलिज़ाबेथ, साध्वी कैथेरिन, साध्वी गेयों और साध्वी लुइसाकी जीवनियाँ हैं। पृष्ठ-सं० ९२, तीन चित्र, मूल्य ।)

व्रजकी झाँकी

(ले०—गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी)

चित्र-संख्या ५०, कागज चिकना आइवेरी, कुल पृष्ठ ९०, मूल्य ।) मात्र।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि श्रीव्रजके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानोंका इसमें वर्णन है। एक ही सालमें दूसरा संस्करण छापना पड़ा यही इसकी विशेषताका बड़ा प्रमाण है।

श्रीबदरी-केदारकी झाँकी

(लेखक--श्रीमहावीरप्रसादजी मालवीय वैद्य "वीर")

इसमें हरिद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, व्यासघाट, देवप्रयाग, श्रीनगर, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, त्रियुगीनारायण, गौरीकुण्ड, केदारनाथ, ऊखीमठ, तुङ्गनाथ, गरुडगंगा, जोशीमठ, विष्णुप्रयाग, बदरीनाथ, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, आदिबदरी, यमुनोत्री, गङ्गोत्री इत्यादि उत्तराखण्डके तीर्थोंका सानुभव वर्णन है।

यात्रामें होनेवाली कठिनाइयाँ, यात्रामें आवश्यक वस्तुएँ, चट्टियोंकी संक्षिप्त सूची, प्राचीन स्थानोंका ऐतिहासिक वर्णन, प्रधान-प्रधान स्थानोंका अन्तर इत्यादि सामग्रियोंसे पुस्तक यात्रियोंके लिये बहुत उपयोगी हो गयी है।

१ रंगीन, ४ सादे चित्र, उत्तराखण्डका नकशा, पृष्ठ-संख्या ११२, मूल्य ।) मात्र।

श्रीवेणामाधवदासविरचित

मूल गोसाईं-चरित

(गोस्वामी तुलसीदासजीका जीवन-चरित)

श्रीगोसाईंजी महाराजके सम्बन्धमें कुछ भी लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है। हिन्दी-संसारमें ऐसा कौन होगा जो उनसे अपरिचित हो। यह जीवन-चरित पद्यमें उन्हींके शिष्य श्रीवेणीमाधवदासजीद्वारा विरचित है और बहुत प्रामाणिक माना जाता है।

३६ पृष्ठ, श्रीगोसाईंजीका चित्र, मूल्य केवल -)। सवा आना।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ३)

(सचित्र)

पृष्ठ ३८४, चित्र ११ सम्पूर्ण रंगीन, मू० १) सजिल्द १।) छपाई सुन्दर, कागज एण्टिक।

त्याग, वैराग्य और प्रेमके समुद्र श्रीचैतन्यदेवकी जीवनी भक्तोंको आनन्द देनेवाली है। गौरहरिकी संन्यास-दीक्षा, पुरी-गमन, श्रीजगन्नाथजीके दर्शन, आचार्य सार्वभौमसे भेंट, दक्षिणयात्रा, कुष्ठी-उद्धार, दक्षिणके तीर्थोंका भ्रमण, तीर्थरामको प्रेमदान, वेश्या-उद्धार, डाकूका उद्धार, नीलाचलमें पुनरागमन, भक्तोंका अपूर्व सम्मिलन, रथ-यात्रा, महाराज प्रतापरुद्रको प्रेमदान, अमोघ-उद्धार, नित्यानन्दका नाम-वितरण आदि मनोहारी लीलाएँ इस खण्डमें वर्णित हैं। पढ़कर आनन्द लाभ कीजिये।

चौथा खण्ड प्रायः छप गया है। हिन्दीमें श्रीमहाप्रभुकी इतनी बड़ी जीवनी अभीतक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुई। महाप्रभुकी लोकपावनी अपूर्व लीलाओंका अधिक क्या परिचय दिया जाय? एक बार पढ़नेसे ही पता लगेगा।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

भजन-संग्रह पाँचवाँ भाग

(पत्र-पुष्प)

श्रीविष्णुभगवान् और श्रीकृष्णभगवान्‌के २ रंगीन चित्र, पृष्ठ १६०, चिकना कागज, मू० =) मात्र

यह श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके समय-समयपर बनाये भजन एवं कविताओंका संग्रह है। भावमय धार्मिक भजन आदिके द्वारा वृत्तियाँ सरलतासे भगवत्-चरणोंमें लगती हैं। यह सभीके पढ़ने योग्य है।

The Immanence of God.

By

Pandit Madan Mohan Malaviya,

Price 2 annas,

The above is a small tract of 48 pages printed on thick paper, contains beautiful ideas on the greatness and all-pervasiveness of God, presented in a simple lucid and homely style which is so characteristic of the revered author. The booklet is a masterly exposition of the Hindu conception of God, based on the Vedas, the Smṛtis and the Purānas and deals with the subject in all its bearings fully yet succinctly. It breathes throughout a spirit of unique tolerance and broadmindedness which is as notable feature of Sanātana Dharma and distinguished it from all the other religion of the world and has a stamp of the author's own personality imprinted on it. The book should reach the hands of all who are interested in the broadcasting of theistic ideas and the glorification of God.

गीता-डायरी सन् १९३५ की

केवल १५००० छपी है। लेनेवाले सज्जन जल्दी मँगवा लें। समाप्त हो जानेपर फिर छपेगी या नहीं यह अभी कहा नहीं जा सकता। इस डायरीमें एक पन्थ दो काज होते हैं। मू० ।) स० ।-)

कल्याणके ग्राहकोंको विशेष सुविधा दी जाती है।

(विवरण 'आश्विन' के टाइटलके तीसरे पेजमें देखिये)

कल्याण-भावना

(कविता)

(ले०—श्रीताराचन्द्रजी पाँड्या)

इस नन्हीं-सी कवितामय पुस्तकका मूल्य)। है। भक्ति-भावपूर्ण पठनीय कविता है।

बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

Subscribe

The Illustrated Monthly

The Kalyana-Kalpataru.

(English Edition of the 'Kalyan')

Editor—C. L. Goswami, M. A., Sastri.

Controlling Editor–Sjt. Hanumanprasad Poddar.

Annual subscription including Special issue the God-Number Rs 4/8, single copy God-Number Rs 2/8. Ordinary Number as. 5.

As -/8/- per subscriber will be paid to convassers securing at least three subscribers at a time.

The Manager,
The Kalyana-Kalpataru,
Gorakhpur.

मत्स्यावतार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रसिद्धान् सिद्धान् वा शिशुतरुणवृद्धानपि जनानुदारान् वा दाराननवरतमाराधनपरान् ।
चिदानन्दात्मेयं भुवनजननी संविदमला हरन्ती हृच्छल्यान्नयति किल कल्याणपदवीम् ॥

वर्ष ९ | गोरखपुर, कार्तिक १९९१, नवम्बर १९३४ | संख्या ४ पूर्ण संख्या १००

निर्गुण ज्योतिका सगुण दर्शन

पूरन-सरद-ससि उदित प्रकासमान,
कैसी छबि छाई देखौ बिमल जुन्हाई है ।
अवनि अकास गिरिकानन औ जलथल
ब्यापक भई सो जिय लागत सुहाई है ॥
मुकता, कपूर-चूर, पारद, रजत आदि
उपमा ए उज्ज्वल पै नागर न भाई है ।
बृंदावन-चंद्र चारु सगुन बिलोकिबेकौं
निरगुन ज्योति मानौं कुंजनमें आई है ॥

—नागरीदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्रश्न—महापुरुष या महात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिनके अन्दर दैवीसम्पत्ति और भगवत्प्रेम पूर्णरूपसे हो, जिनकी दृष्टि बिना ही अवलम्बके स्थिर हो, जिनके प्राण बिना प्राणायामके ही स्थिर हों और जिनका मन बिना अवलम्बके स्थिर हो।

प्र०—महापुरुषकी पहिचान कैसे होती है ?

उ०—महापुरुषोंकी पहिचान और भगवत्‌की पहिचान एक ही है। काम-क्रोधादियुक्त मनुष्य तो महापुरुष हो नहीं सकता, वैसा ईश्वर ही है। भगवान्‌की पूर्ण पहिचान होनेसे ही महापुरुषोंकी पहिचान होती है।

प्र०—उनके पहिचाननेका सरल उपाय क्या है ?

उ०—मान, क्रोध और धनका त्याग ही मैंने मुख्य समझा है, इनका त्याग होनेसे कामादि विकार स्वतः नष्ट हो जायँगे। एक विरक्त महापुरुष होते हैं, दूसरे गृहस्थ महापुरुष होते हैं। गृहस्थ महापुरुष अन्यायोपार्जित धनके त्यागी होते हैं और विरक्त धनके सर्वथा त्यागी होते हैं। मान और क्रोधका त्याग दोनोंमें ही होता है।

प्र०—भक्तोंमें काम-क्रोध रहते हैं या नहीं ?

उ०—लेशमात्र भी काम-क्रोध नहीं रहते। उनमें काम-क्रोधका अत्यन्ताभाव होता है पर दूसरे पुरुषोंको उनमें आभास दीख सकता है। उनमें काम-क्रोध क्यों नहीं होते ? इसीलिये नहीं होते कि वे सम्पूर्ण विश्वको भगवान्‌की लीला तथा भगवद्रूप देखते हैं। अथवा अपना आत्मरूप देखते हैं। दोनों प्रकारसे ही उनमें काम-क्रोधादि नहीं होते—

उमा जे राम-चरन-रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं बिरोध॥

प्र०—महापुरुषके समीप रहनेमात्रसे ही कल्याण हो जाता है या कुछ करना भी पड़ता है ?

उ०—जो महापुरुषोंके समीप रहेगा वह तो सभी साधन करेगा, उसमें क्या बाकी रहेगा ? क्योंकि उनके समीप रहनेवालेसे पापकर्म तो स्वतः ही छूट जायँगे, और निरन्तर सत्संगकी बातें सुननेसे उससे साधन भी कुछ-न-कुछ बनेंगे ही। महापुरुषोंका सत्संग एक प्रकारसे भजन ही है। जिस वासना (कामना) को लेकर उनके समीप रहेगा, उसीकी उसे प्राप्ति होगी। यदि वह महापुरुषमें सचमुच प्रेम करता है तो और कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल उनमें जो प्रेम है वह प्रेम ही सब कुछ करा लेगा।

प्र०—महापुरुषमें अपनी शक्तिके अनुसार विश्वास होनेपर भी उनके सङ्गसे जैसा लाभ होना चाहिये वैसा क्यों नहीं होता ?

उ०—श्रद्धाकी कमीके कारण लाभ नहीं होता।

प्र०—श्रद्धा कैसे हो ?

उ०—निष्काम कर्म और भजन करनेसे महापुरुष और परमात्मामें श्रद्धा होगी।

× × ×

प्र०—समयको किस प्रकार बिताना चाहिये ?

उ०—सबके लिये एक मत नहीं है, जो गुरुके पास रहनेवाले भक्त हैं उनको गुरुकी सेवामें अधिक समय लगाकर भजनमें कम समय लगाना चाहिये। और जो गुरुके समीप नहीं रहते उन्हें भजनमें अधिक समय लगाना चाहिये। यदि गुरु सेवा न कराते हों तो भजनमें ही अधिक समय लगाना चाहिये। गुरु गृहस्थ हों तो उनकी सेवा करनेकी जरूरत रहती है, यदि वे भी सेवा स्वीकृत न करें तो भजनमें ही अधिक

समय लगावे। विरक्त संन्यासीको धन नहीं देना चाहिये। धन देनेसे पाप लगता है। सबको अधिक समय भजनमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

× × ×

प्र०—भगवान् तो हमें दीखते नहीं इसलिये उनकी शरण कैसे हों ?

उ०—विराट्स्वरूप भगवान् तो हमें दीखते ही हैं, शक्ति, शान्ति और सौन्दर्य यह भगवान्का ही स्वरूप है।

× × ×

प्र०—सबका सर्वोच्च ध्येय क्या होना चाहिये ?

उ०—'परमानन्दकी प्राप्ति और दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति' ही सबका ध्येय होना चाहिये। उनके साधन हैं—

१—निष्कामभावसे परोपकार—प्राणिमात्रकी सेवा।

२—भगवद्विग्रह और भगवद्भक्तोंकी सेवा।

३—भगवन्नाम-जप और ध्यान।

प्र०—नाम-जप, नाम-स्मरण और कीर्तनमें कौन श्रेष्ठ है ?

उ०—एकान्त देशमें मालाद्वारा जप होता है, मानसिक जप या चिन्तनको स्मरण कहते हैं, समुदायमें उच्च स्वरसे जो किया जाता है उसे सङ्कीर्तन कहते हैं, अकेला उच्च स्वरसे नामोच्चारण करे उसे कीर्तन कहते हैं।

प्र०—वाणीद्वारा होनेवाले, उपांशु, और मानसिक जपमें कौन-सा श्रेष्ठ है ?

उ०—साधारण जनताके लिये संकीर्तन लाभप्रद है, जो संयत चित्तवाले हैं उनके लिये जप लाभप्रद है। प्रारम्भमें उच्चारण करके जप करना श्रेष्ठ है फिर उपांशु और उसके बाद मानसिक जप श्रेष्ठ है। जैसे-जैसे मन समाहित होता जाय वैसे-वैसे मानसिक जप श्रेष्ठ लगने लगेगा।

प्रेम या भयके बिना वैराग्य नहीं है, भय इससे हो कि यह सब वस्तु भगवान्की है इसको मेरे काममें नहीं लगाना चाहिये—इसे अपना समझकर भोग करना पाप है। और जब भगवान्की तरफ मन लग जायगा तब विषयोंमें और विषयी लोगोंमें तुम्हारा मन नहीं लगेगा। भगवान्में प्रेम न होनेसे ही अन्य पदार्थोंमें मन जाता है। जबतक बड़प्पनका अभिमान रहेगा, तबतक प्रेम या वैराग्य नहीं हो सकता। क्रोध न करनेकी प्रतिज्ञा करनेसे क्रोधका त्याग हो सकेगा, यदि किसी दिन क्रोध आ जाय तो उस दिन उपवास करो।

× × ×

प्र०—तत्त्वज्ञान या भगवत्प्राप्तिके लिये क्या साधन करना चाहिये ?

उ०—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, नशा, जूआ, झूठ, गाली, चुगली, असम्बन्ध प्रलाप, दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन, परधन लेनेका संकल्प, देहमें आत्मबुद्धि—इन सबका त्याग करना और दैवीसम्पत्तिका ग्रहण करना ये भगवत्प्राप्तिके साधारण उपाय हैं और ये दो असाधारण साधन हैं—

१—त्यागकी भावना और २—भगवत्स्मरण। स्मरणका अर्थ है जप। जपके लिये मैंने तीन मन्त्र चुने हैं—

१- **हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।**
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

२- **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।**

३- **ॐ नमः शिवाय।**

जो जितना अधिक जप करेगा उसको उतनी ही अधिक शीघ्र सिद्धि होगी। सोलह नामके महामन्त्रकी कम-से-कम सोलह माला, द्वादशाक्षर मन्त्रकी कम-से-

कम बारह माला और ॐ नमः शिवायकी कम-से-कम पचास माला नित्यप्रति फेरनी चाहिये । अधिक जितनी कर सके उत्तम है । जिस व्यक्तिको जिस मन्त्रमें प्रीति हो उसे उस एक ही मन्त्रका जप करना चाहिये । त्यागकी भावनाके लिये परद्रव्यका त्याग, पुरुषार्थसे यथावश्यक द्रव्योपार्जन, विषयोंमें आसक्तिका त्याग, यथालाभसन्तुष्ट, व्याजका व्याज न लगावे ।

इन नियमोंके पालन किये बिना तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती और इससे भी शीघ्र प्राप्तिका उपाय है सद्गुरुकी प्राप्ति । सद्गुरु मिल जानेसे उसे शीघ्र-से-शीघ्र सिद्धि हो जाती है । सद्गुरु जो नियम बतलावें उन्हींका पालन करे ।

× × ×

प्र०—साकार भगवान्के दर्शनके लिये क्या साधन करना चाहिये ?

उ०—मेरे विश्वासके अनुसार गाढ़ ध्यान हुए बिना भगवद्दर्शन नहीं हो सकता ।

प्र०—ध्यान होनेके लिये क्या उपाय है ?

उ०—भूत और भविष्यके चिन्तनको छोड़कर एकान्त स्थानमें भगवत्स्वरूपका चिन्तन एकासनसे कम-से-कम दो घण्टा बैठकर नित्यप्रति नियमित रूपसे करे । भगवत्स्वरूपकी क्षण-क्षण स्मृति होती है उसे तो स्मरण कहते हैं और वह स्मृति अधिक देर ठहरनेको ही ध्यान कहते हैं । जैसे-जैसे भगवान्में आसक्ति होती जायगी वैसे-वैसे वृत्ति ठहरती जायगी । जपका नियम पहले बताया गया है उसी प्रकार करे । जप करते हुए ध्यान किया जाता है उसमें जप मुख्य है । और ध्यानकालमें केवल स्वरूपका ही चिन्तन करे । जहाँ जप और चिन्तन दोनों होगा वहाँ जप मुख्य रहेगा और चिन्तन गौण रहेगा । जिससे चिन्तन न हो सके उसे जप या स्तोत्रपाठ करना चाहिये । स्तोत्रपाठसे जप अधिक लाभप्रद है ।

× × ×

प्र०—गोपिकाओंकी भाँति भगवान्में अनन्य प्रेम होनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—एक इष्टदेवके सिवा कोई इष्ट न रहे ऐसी अनन्यता होनी चाहिये । अनन्य प्रेम-प्राप्तिके लिये प्रथम तो मूर्तिकी बाह्य सेवा-पूजा करे वल्लभकुलवालोंकी भाँति । उसके बाद मानसिक पूजा-सेवा करनी चाहिये, क्योंकि केवल बाह्य पूजासे प्रेमप्राप्ति नहीं हो सकती । बाह्य पूजासे मानसिक पूजा श्रेष्ठ है—और जप ऊपर लिखे अनुसार करना चाहिये । केवल बाह्य जपमें लगे रहनेसे ध्यान तथा आनन्द नहीं होता जिससे बहुत कालमें लाभ होता है इसलिये जपके साथ ध्यान, मानसिक पूजा और दैवीसम्पत्तिके गुणोंको धारण करना और अवगुणोंको छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है ।

× × ×

प्र०—श्रीशुकदेवजीकी भाँति तीव्र वैराग्य होनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—निष्काम भगवत्प्रेम या ध्यान ही तीव्र वैराग्यका साधन है । बिना प्रेमके जो बाह्य त्याग करते हैं वह मूल्यवान् नहीं है, उसमें धोखा हो सकता है ।

× × ×

प्र०—विधवा स्त्रीको भगवत्प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—भगवान्को सर्वस्व समझकर उनमें प्रेम करना और शास्त्रोक्त वैधव्यधर्मका पालन करते हुए जीवन-निर्वाह करना यह विधवा स्त्रीका धर्म है । स्त्रियोंके लिये

सेव्य-सेवक-भाव ही उत्तम है । यह सबके लिये उत्तम है किन्तु स्त्रियोंके लिये तो इसके सिवा कोई भी भाव उपयोगी नहीं है । और भावोंमें पतनकी सम्भावना है । इस भावमें भय रहता है इसलिये इसमें पतनकी सम्भावना नहीं है । यह स्वामी-सेवक-भाव ही सबके लिये सर्वोत्तम है ।

भगवान्‌के लिये काम कैसे किया जाय ?

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्र०—प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌का काम समझकर भगवान्‌को याद रखते हुए किसीसे भी रागद्वेष न करके अपने कर्त्तव्यका पालन किस प्रकार किया जा सकता है ?

उ०—सब कुछ परमेश्वरका ही है, परमेश्वर ही खेल कर रहे हैं, परमेश्वर बाजीगर हैं, मैं उनका झमूरा हूँ, यों समझकर सब कुछ ईश्वरकी लीला समझते हुए, परमेश्वरकी आज्ञानुसार आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, परमेश्वरकी सेवाके लिये उन्हींकी प्रेरणा तथा शक्तिसे प्रेरित होकर कार्य करता रहे । यह समझकर बार-बार गद्गद होता रहे कि अहा ! मुझपर परमेश्वरकी कितनी अपार दया है कि मुझ-जैसे तुच्छको साथ लेकर भगवान् अपनी लीला कर रहे हैं । भगवान्‌के प्रेम, दया, प्रभाव, स्वरूप और तत्त्वपर बारम्बार विचार करता हुआ मुग्ध होता रहे ।

(प्रेम) भगवान्‌के समान कोई प्रेमी नहीं है, वे प्रेमका इतना महत्त्व जानते हैं कि असंख्य ब्रह्माण्डके महेश्वर होते हुए भी अपनेको प्रेमीके हाथ बेच डालते हैं ।

(दया) मैं कैसा नीच हूँ, कैसा निकृष्ट और महापामर हूँ, परन्तु उस परम प्रभुकी मुझपर कितनी अपार दया है कि वे मुझको साथ लेकर लीला कर रहे हैं । प्रभुने सब पाप-तापोंसे बचाकर मुझे ऐसा बना लिया है ।

(प्रभाव) प्रभुके प्रभावका कौन वर्णन कर सकता है, वे चाहें तो करोड़ों ब्रह्माण्डोंको एक पलमें उत्पन्न कर सकते हैं ।

(स्वरूप) सारे संसारका सौन्दर्य मेरे प्रभुके एक रोमके समान भी नहीं है । वे आनन्दमूर्ति हैं । उनका दर्शन परम सुखमय है । वे चेतनमय महाप्रभु हैं । जैसे तारोंमें बिजली अनेक प्रकारसे कार्य कर रही है, वैसे ही प्रभुकी शक्ति सब कुछ कर रही है । वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं । वही विज्ञानानन्दघन प्रभु श्रीराम-कृष्णके रूपमें अवतार लेते हैं ।

(रहस्य) उनका रहस्य कौन जान सकता है ? वे सबमें समाये हैं परन्तु कोई उन्हें नहीं पकड़ पाता । भेदका नाम ही रहस्य है । भगवान् श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए, उस रूपमें बहुत लोगोंने उन्हें भगवान् नहीं समझा । कोई ग्वालबालक समझता था तो कोई वसुदेव-पुत्र । जो महात्मा पुरुष उनको भगवान्‌के रूपमें जान गये, उन्हींपर उनका रहस्य प्रकट हुआ । प्रभुके

रहस्यको जान लेनेपर चिन्ता, दुःख और शोकका तो कहीं नाम-निशान ही नहीं रहता । प्रभु सब जगह विराजमान है, इस रहस्यको जानना चाहिये । अर्जुन भगवान्‌के रहस्यको कुछ जानते थे और उनसे रथ हँकवाते थे परन्तु वे भी भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर भय और हर्षके मिश्रित भावोंमें डूब गये । तब भगवान्‌ने कहा 'भय मत कर !' जबतक अर्जुनको भय हुआ तबतक उन्होंने भगवान्‌के पूरे रहस्यको नहीं समझा । पहचानना तो वस्तुतः यथार्थमें प्रह्लादका था । जो भगवान् नृसिंहदेवको विकराल रूपमें देखकर भी बेधड़क उनके पास चले गये । प्रह्लादको किञ्चित् भी भय नहीं हुआ । इसी प्रकार परमात्माके रहस्यको जाननेवाला सर्वदा सर्वत्र निर्भय हो जाता है ।

प्र०—जीवमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह प्रभुके रहस्यको जान सके । जब प्रभु जनाते हैं तभी जान सकता है । प्रह्लादको प्रभुने जनाया तभी तो वे भगवान्‌को जान सके । वे हमलोगोंको अपना रहस्य किस उपायसे जना सकते हैं ?

उ०—इसके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये । वे कृपा करके जना सकते हैं । परन्तु यह नियम है कि पात्र होनेसे प्रभु अपनेको जना देते हैं । भगवान्‌की दयापर दृढ़ विश्वास करना चाहिये । भक्तशिरोमणि भरतजीने भी कहा था—

जो करनी समुझैं प्रभु मोरी । नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन-अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे मन भरोस दृढ़ सोई । मिलिहैं राम सकुन सुभ होई ॥

ऐसा दृढ़ भरोसा रखनेवालेकी प्रभु सम्हाल करते हैं । अतएव प्रभुसे सच्चे दिलसे ऐसी कातर-प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ ! मैं अति नीच हूँ, किसी प्रकार भी पात्र नहीं हूँ । गोपियोंकी भाँति जिसमें प्रेमका बल है, उसके हाथ तो आप स्वयं ही बिक जाते हैं । हे प्रभो ! मेरे पास प्रेमका बल होता तो फिर रोने और प्रार्थना करनेकी क्या जरूरत थी । मैं जब अपने अवगुणोंकी तथा बलकी ओर देखता हूँ तो मनमें कायरता और निराशा छा जाती है परन्तु हे नाथ ! आपकी दया तो अपार है, आप दयासिन्धु हैं, पतित-पावन हैं, मुझे वह बल दीजिये जिससे मैं आपके रहस्यको जान जाऊँ ।'

कामको प्रभुका काम समझना चाहिये । हम लीलामयके साथ काम कर रहे हैं । इससे प्रभुकी इच्छाके अनुसार ही चलना चाहिये । यदि आसक्ति या स्वभावदोषके कारण उनकी आज्ञाका कहीं उल्लंघन हो जाय तो पुनः वैसा न होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये ।

अपनी समझसे कोई अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये । हमलोग किसीकी भलाईके लिये कोई कार्य कर रहे हैं और कदाचित् उससे उसकी कोई हानि हो जाय तो इसके लिये शोक करनेकी जरूरत नहीं है । कोई भी काम दैव-इच्छासे हो जाय उसमें चिन्ता या पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये । हमको अपने कृत्यकी भूलके लिये ही पश्चात्ताप करना उचित है ।

हमको सूचना मिली कि यहाँ बहुत जल्दी बाढ़ आनेवाली है, हट जाना चाहिये । इस बातको जानकर भी हम नहीं हटे और हमारा सब कुछ बह गया तो हमें पश्चात्ताप करना चाहिये । क्योंकि भगवान्‌ने हमको सचेत कर दिया था और हमने उसको माननेमें अवहेलना की । परन्तु यदि अचानक बाढ़ आकर

सब डूब जाय तो चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ हमारी भूल नहीं हुई है ।

एक जगह बाढ़ आयी, बीज बह गये । हमलोगोंने बोनेके लिये किसानोंको बीज दिये, फिर बाढ़ आयी, और वे बीज भी बह गये । इसपर हमलोगोंको न तो शोक करना चाहिये और न यह विचार करना चाहिये कि बीज तो बह ही रहा है, व्यर्थ देकर क्यों नष्ट करें । हमलोगोंको तो स्वामीकी यही आज्ञा है कि बीज जहाँतक बने, उन्हें देते रहो । अतः हमको तो प्रभुकी आज्ञानुसार ही करना चाहिये । उसमें कोई कसर नहीं रखनी चाहिये । प्रभु अपनी इच्छानुसार करें । सेवकको तो प्रभुका काम करके हर्षित होना चाहिये और मुस्तैदीसे अपने कर्त्तव्यपथपर डटे रहना चाहिये ।

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं । इसमें अपना क्या वश है । कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है परन्तु नाराज नहीं होता । वह समझता है कि मेरी पाँच बातोंमेंसे तीन तो इसने मान लीं । दोके लिये फिर चेष्टा करेंगे । वैद्य बारम्बार चेष्टा करता है, जिससे वह कुपथ्य न करे । परन्तु चेष्टा करनेपर भी उसका हित न हो तो वैद्यको उकतानेकी जरूरत नहीं है । न क्रोध ही करनेकी आवश्यकता है । फलको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ देना चाहिये । और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनकी इच्छानुसार लगे रहना चाहिये ।

कल्याण

याद रक्खो, एक दिन मृत्यु अवश्य होगी और कब होगी, इसका तुम्हें कुछ भी पता नहीं, अभी होश-हवास-दुरुस्त बैठे हो, शायद अगली ही मिनट तुम्हारी मृत्युका काल हो । उस समय तुम्हारे सारे काम ज्यों-के-त्यों धरे रह जायँगे । अभी कामसे तुम्हें पलभरको फुरसत नहीं मिलती, उस समय आप ही सदाके लिये फुरसत मिल जायगी । अभी शरीरके आरामके लिये तुम बड़े सुन्दर महलोंमें मुलायम गद्दोंपर सोते-बैठते हो, उस समय निर्जन वनमें, सियार, कुत्ते और गीधोंसे घिरे हुए डरावने मरघटमें खुली जमीनपर तुम्हारा यह सोने-सा शरीर जलकर खाक हो जायगा । सारे अरमान मन-के-मनमें रह जायँगे, सारी शेखी चूर हो जायगी, सारी हेकड़ी काफूर हो जायगी, तुम्हारी मदभरी, गर्वभरी और रीसभरी आँखें सदाके लिये मुँद जायँगी ।

× × ×

कैसे निश्चिन्त-से होकर भोगोंमें भटक रहे हो? चेतो, शीघ्र चेतो, फिर पछतानेसे कुछ भी नहीं होगा; इस शरीरसे छूटकर जब तुम परलोकमें जाओगे और वहाँ तुम्हारे यहाँके कमाये हुए कर्मोंका भीषण फल सामने आवेगा, तब काँप उठोगे । यहाँके मौजमजोंमें जिस सुखका अनुभव करते हो, वहाँ उस एक-एक मौजके बदलेमें जो भयानक दण्ड मिलेगा, उसे सुनकर मूर्च्छित होने लगोगे । परन्तु बाध्य होकर मौजका बदला भोगना ही पड़ेगा । इससे अभी चेत जाओ । शरीर, मन, वचनसे किसी जीवका अहित न करो, किसीके जीको मत दुखाओ, सबका भला चाहो, भला करो; अपना अहित करके भी दूसरोंका हित करो, निश्चय रक्खो, तुम्हारा अहित कभी नहीं होगा । धोखेसे अभी तुम्हें दीखनेवाला अपना अहित परम हितके रूपमें परिणत हो जायगा । सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी अहैतुकी सेवा करो; परम

कृपालु परमात्माका मन, वाणी और शरीरसे भजन करो; मनसे उनका ध्यान करो, वाणीसे उनका गुण-गान करो और शरीरसे—सर्वत्र सबमें उन्हें विराजित देखकर सबकी आदर, प्रेम और उछाहके साथ सेवा करो !

× × ×

विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाते रहो, विषयोंको विष समझो और भगवान्‌को दिव्य अमृत ! भगवान्‌के लिये भगवत्-पूजाके भावसे विषयोंका ग्रहण करना दूषित नहीं है परन्तु कभी भोगबुद्धिसे विषयोंको न चाहो, न भोगो, न उनमें प्रीति करो; श्रीभगवान्‌को प्राप्त करनेकी जितनी साधनाएँ हैं, सबमें वैराग्य और भजन प्रधान है। जिसके हृदयमें वैराग्य है, वह बड़े-से-बड़ा त्याग सहज ही कर सकता है। त्यागसे सारे सद्‌गुण आप ही आ जाते हैं। परन्तु वैराग्यके साथ भजनकी आवश्यकता है। संसारके भोगोंसे हटाये हुए मनको साथ-ही-साथ भगवान्‌में लगानेका भी प्रयत्न करना चाहिये !

× × ×

धन, स्त्री और मान इन तीनोंका मोह छोड़नेकी चेष्टा करो, धनका महत्त्व हृदयसे निकाल दो, दान और सत्कार्यके लिये भी धन-संग्रहकी चेष्टा मत करो। न सत्कार्यकी प्रवृत्तिके लिये ही किसी धनवान्‌से धन माँगकर धनको महत्त्व प्रदान करो। अपने लोभरहित न्यायोपार्जित धनसे यथायोग्य सत्कार्य करो, उस माता लक्ष्मीको भगवान्‌की गृहिणी समझकर भगवान्‌के चरणोंमें भेंट कर दो, तुम तो माँका दिया हुआ प्रसादमात्र ग्रहण करो। माँ लक्ष्मीको कभी भोग्या मत समझो। तुम किसी सत्कार्यमें लगे हो तो जहाँतक हो—बिना माँगे मिल जाय, उसी धनसे सत्कार्य करो। धनमें तुच्छ-बुद्धि करो और उसकी आवश्यकता-को यथासाध्य घटाते रहो। जिससे तुम्हें किसीसे कभी कुछ भी माँगना न पड़े।

× × ×

स्त्रीजातिका अपमान न करो, स्त्रीजातिसे कभी घृणा न करो, परन्तु उसे भोग्यवस्तु समझकर उसका अमर्यादित संग भी न करो। तुम कहोगे, हम भोग्य वस्तु नहीं समझते, देवी समझते हैं। बहुत अच्छी बात है। परन्तु मन बड़ा दुष्ट है। बड़े-बड़े तपस्वी और संयमी पुरुष संगसे विचलित हो जाते हैं। अतएव झूठे अभिमानको छोड़ दो। अपनी कमजोरियों-पर खयाल करके स्त्रियोंसे अलग रहो। धनसे स्त्रीका त्याग कठिन है और स्त्रीकी अपेक्षा मानका। स्त्रीका त्याग केवल अलग रहनेमें ही नहीं है। भोग्यबुद्धिसे स्त्रीका चिन्तन, दर्शन—उसके चित्रका दर्शन भी विकार उत्पन्न करनेवाला होता है। भोग्यबुद्धि अन्दर छिपी रहती है। मनको बहुत टटोलकर देखो—अपना दोष पहचाननेकी इच्छासे गहरी अन्तर्दृष्टि करो, तुम्हें पता लगेगा, स्त्रीके रूपपर, उसके वेशभूषापर, उसके शब्दोंपर, उसके हावभावपर तुम्हारे मनमें आसक्ति है। इसी प्रकार स्त्रियोंको भी पुरुषोंसे बचना चाहिये। गुरुभावसे भी एकान्तमें परपुरुषसे कभी नहीं मिलना चाहिये। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। साधन करते-करते संयमसे निकल भागती हैं। फिर स्वच्छन्द छोड़नेपर तो कहना ही क्या है ?

× × ×

मान-बड़ाई बड़ी मीठी छुरी है। विषभरा सोनेका घड़ा है। इससे खूब सावधानीसे बचो। बहुत बार मनुष्य मानका त्याग भी मानके लिये ही करता है। अपमानको भी मानकी कामनासे सिर चढ़ाता है। सावधान ! मनके धोखेमें मत आओ। सच्चे अमानी बनो ! मनुष्य धन और स्त्रीको छोड़ देता है परन्तु

मानका त्याग—और उसमें भी शारीरिक मानकी अपेक्षा—मौखिक बड़ाईका त्याग होना बड़ा कठिन है। कीर्तिकी कामनामें बहुत बड़े-बड़े सत्कार्य बड़े सस्ते बेच देने पड़ते हैं। कीर्तिका लोभ न करो—भगवान्का लोभ करो। यह निश्चय रक्खो—यदि तुम्हारा जीवन पवित्र है, तुम्हारे आचरण सर्वथा निर्दोष हैं, तुम्हारे मन-मन्दिरमें भगवान्का निवास है और तुम सदा तन-मन-वचनसे सर्वव्यापी सर्वाधार सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर भगवान्का प्रेमपूर्वक अहैतुक भजन करते हो तो चाहे संसारमें तुम्हें कोई न जाने, चाहे घरके लोग भी तुम्हारा मान न करें और चाहे विषयोंके तराजूपर तौलनेवाले विषयी पुरुष तुम्हें दरिद्र और अकिञ्चन समझकर, तुम्हारा अपमान ही करें—तुम्हारा इसमें कुछ भी नुकसान नहीं है, तुम सबसे ऊँचे धाम और सबसे बड़े नित्य और अमिश्रित आत्यन्तिक सुखको सदाके लिये प्राप्त हो जाओगे। इसके विपरीत, यदि तुम्हारे पास बहुत धन है, तुम बड़े परिवारवाले हो, राजा-महाराजा या हाकिम हो, बड़े गुरु या उपदेशक हो, तमाम दुनियाँमें तुम्हारा नाम जगमगा रहा है, परन्तु हृदय अपवित्र है, राग-द्वेषके वशमें हुए विषयसेवनमें लगे हुए हो, भगवान्को स्मरण करनेके लिये समय ही नहीं मिलता, तो क्या हुआ, तुम्हारा यहाँका यह मान-सम्मान सर्वथा निरर्थक और परलोकमें दुःखका हेतु है। याद रक्खो, तुम्हारी जिन्दगी बेकार ही नहीं है, तुम घोर नरकोंकी यात्राकी तैयारी कर रहे हो। अतएव मान छोड़कर दूसरोंको मान दो और सच्चे विनयी होकर भगवान्का भजन करो।

× × ×

जीवन बहुत थोड़ा है, यदि तुम्हारा यह विश्वास हो गया है, (और नहीं हुआ है तो महात्मा और सन्तोंकी वाणी और उनकी जीवनी अध्ययन करके करना चाहिये) कि भगवत्-प्राप्ति ही इस मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है तो आजसे—अभीसे ही उसकी प्राप्तिके लिये प्रणबद्ध होकर दृढ़ताके साथ लग जाना चाहिये। संसारका कोई भी प्रलोभन तुम्हारे मार्गमें बाधा न दे सके, ऐसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये सर्वशक्तिमान् परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये। याद रक्खो—तुम उसी सर्वशक्तिमान्के सनातन अंश हो, तुममें वह शक्ति है, उसे भूले हुए हो, भगवत्-कृपासे—प्रार्थनाके बलसे तुम उस शक्तिको जान जाओगे, और जानते ही तुम उस शक्तिवाले बन जाओगे। उस शक्तिकी जागृतिकी पहली कसौटी है, विषयोंपर अनास्था और सर्वशक्तिमान् परमात्मापर अटल विश्वास। इस स्थितिको प्राप्त होनेपर तुम्हें कोई भी प्रलोभन नहीं रोक सकेगा। तुम विश्वविजयी होकर विश्वात्माको प्राप्त करोगे।

'शिव'

स्वागत

मानस तलपर खेल रही है जिसकी सुन्दर छाया।
है प्रतिबिम्बित रोम-रोममें जिसकी अनुपम माया॥
रूपराशिमें जिसकी रहता मन विभोर अलिदल-सा।
हृदय सिहर उठता प्रिय सुधिमें जिसकी चञ्चल जल-सा॥
स्वागत है उस इष्टदेवका चन्द्रज्योति-सा आना।
अभिलाषाओंके नर्तनमें नटवर-सा मिल जाना॥

—सत्याचरण 'सत्य' विशारद, एम० ए०, बी० टी०

उपनिषद्-गाथा

(१)

अश्वपति और उद्दालकादिका संवाद

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्विका पुत्र बुडिल ये पाँचों महाशाल अर्थात् जिनकी शालामें असंख्य विद्यार्थी पढ़ते थे ऐसी महान् शालाओंवाले महान् श्रोत्रिय यानी वेदका पठन-पाठन करनेवाले थे। एक दिन ये एकत्र होकर 'वास्तवमें आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है' इस विषयपर विचार करने लगे। परन्तु जब किसी निर्णयपर नहीं पहुँचे तब किसी दूसरे ब्रह्मवेत्ता विद्वान्के पास जाकर उनसे पूछनेका निश्चयकर आपसमें कहने लगे कि 'वर्तमान समयमें अरुणके पुत्र उद्दालक आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि सबकी राय हो तो हमको उनके पास चलना चाहिये।' सबकी राय हो गयी और वे उद्दालकके पास गये।

उद्दालकने उनको दूरसे देखते ही उनके आनेका प्रयोजन जान लिया और वे विचार करने लगे 'ये महाशाल और महान् श्रोत्रिय आते ही मुझसे पूछेंगे और मैं इनके प्रश्नोंका पूर्ण समाधान कर नहीं सकूँगा। इससे उत्तम यही है कि मैं इन्हें किसी दूसरेका नाम बतला दूँ।' ऐसा विचारकर उद्दालकने उनसे कहा—'हे भगवन्! मैं जानता हूँ आप मुझसे आत्माके विषयमें कुछ पूछने पधारे हैं परन्तु इस समय केकयके पुत्र प्रसिद्ध राजा अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि आप सबकी अनुमति हो तो हम सब उनके पास चलें।' सर्वसम्मतिसे सब राजा अश्वपतिके पास गये।

अश्वपतिने उन छओं ऋषियों—अतिथियोंका अपने सेवकोंद्वारा यथायोग्य अलग-अलग भलीभाँति पूजन-सत्कार करवाया और दूसरे दिन प्रातःकाल राजा सोकर उठते ही उनके पास गये और बहुत-सा धन सामने रखकर विनयभावसे उसे ग्रहण करनेकी प्रार्थना करने लगे। परन्तु वे तो धनकी इच्छासे वहाँ नहीं गये थे, इससे उन्होंने धनका स्पर्श भी नहीं किया और चुपचाप बैठे रहे। राजाने सोचा, शायद ये मुझे अधर्मी या दुराचारी समझते हैं, इसीलिये मेरा धन (दूषित समझकर) नहीं लेते। यह विचारकर राजा कहने लगे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

"हे मुनियो! मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, (क्योंकि किसीके पास किसी वस्तुका अभाव नहीं है कारण) मेरे देशमें ऐसा कोई धनी नहीं है जो कंजूस हो यानी यथायोग्य दान न करता हो। न मेरे देशमें कोई शराब पीता है, न कोई ऐसा द्विज है जो अग्निहोत्र न करता हो, न कोई ऐसा ही व्यक्ति है जो विद्वान् न हो; और न कोई व्यभिचारी पुरुष ही मेरे देशमें है, जब पुरुष ही व्यभिचारी नहीं है तो स्त्री तो व्यभिचारिणी होगी ही कहाँसे? * अतएव मेरा धन शुद्ध है, फिर आप इसे क्यों नहीं लेते।" मुनियोंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब राजाने सोचा, शायद धन थोड़ा समझकर मुनि न लेते हों, अतएव वे फिर कहने लगे—

'हे भगवन्! मैं एक यज्ञका आरम्भ कर रहा हूँ,

* राजाओंको इस आदर्शपर विचार करना चाहिये और इसीके अनुसार अपने राज्यके एक-एक पैसेको शुद्ध बनाना चाहिये।

उस यज्ञमें मैं एक-एक ऋत्विग्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको दूँगा । आप मेरे यहाँ ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये ।'

राजाकी यह बात सुनकर उन्होंने कहा—'हे राजन्! मनुष्य जिस प्रयोजनसे जिसके पास जाता है, उसका वही प्रयोजन पूरा करना चाहिये । हमलोग आपके पास आत्मरूप वैश्वानरका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आये हैं, क्योंकि इस समय आप ही उसको भलीभाँति जानते हैं इसलिये आप हमें वही समझाइये । हमें धन नहीं चाहिये ।' *

राजाने उनसे कहा—'हे मुनियो ! कल प्रातःकाल मैं इसका उत्तर आपको दूँगा ।' ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अभिमानका त्याग करना परम आवश्यक है, केवल मुँहसे माँगनेपर ज्ञान नहीं मिलता । वह अधिकारीको ही मिलता है । राजाके उत्तरसे मुनि इस बातको समझ गये और दूसरे दिन अभिमान त्यागकर सेवावृत्तिका परिचय देनेवाले समिधको हाथोंमें लेकर दुपहरसे पहले ही विनयके साथ शिष्यभावसे राजाके पास पहुँचे और जाते ही उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे । राजाने उनके चरणोंमें प्रणाम नहीं करने दिया, क्योंकि वे ब्राह्मण थे और सद्गुरु मान, बड़ाई, पूजाकी इच्छा नहीं रखते । और राजाने उन्हें गुरुरूपसे नहीं, किन्तु दाताके रूपसे वैश्वानररूप ब्रह्मविद्याका उपदेश किया !

श्वेतकेतुको ज्ञानप्राप्ति

(२)

'तत्त्वमसि' का उपदेश

अरुणके पुत्र आरुणि उद्दालकके श्वेतकेतु नामक एक पुत्र था । वह बारह वर्षकी अवस्थातक केवल खेलकूदमें ही रहा । पिता सोचते रहे कि यह स्वयं ही विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करे तो उत्तम है परन्तु उसने वैसी इच्छा नहीं की, तब पितासे नहीं रह गया । उन्होंने एक दिन उसे अपने पास बुलाकर कहा—'हे वत्स श्वेतकेतो ! तू जा और सुयोग्य गुरुके समीप ब्रह्मचारी होकर रह । हे सौम्य ! अपने वंशमें कोई भी ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जिसने वेदोंका त्याग किया हो और जो ब्राह्मणके गुण और आचारोंसे रहित होकर केवल नामधारी ब्राह्मण बनकर रहा हो । ऐसा करना योग्य नहीं है । सारांश, तुझे वेदोंका अध्ययन करके ब्रह्मको प्राप्त करना ही चाहिये ।'

पिता आरुणिका मीठा उलाहना सुनकर श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके घर गया और पूरे चौबीस वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमें रहकर व्याकरणादि छः अङ्गोंसहित चारों वेदोंका पूर्ण अध्ययन करनेके पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर घर लौटा । उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'मैं वेदका पूर्ण ज्ञाता हूँ, मेरे समान पण्डित और कोई नहीं है । मैं सर्वोपरि विद्वान् और बुद्धिमान् हूँ ।' इस प्रकारके विचारोंसे उसके मनमें गर्व उत्पन्न हो गया, और वह उद्धत और विनयरहित होकर बिना ही प्रणाम किये पिताके सामने आकर बैठ गया । आरुणि ऋषि उसका नम्रतारहित औद्धत्यपूर्ण आचरण देखकर इस बातको जान गये कि इसको वेदके अध्ययनसे बड़ा गर्व हो गया है, तो भी आरुणि ऋषिने उस अविनयी पुत्रपर क्रोध नहीं किया और वे बोले—'हे श्वेतकेतो ! तू ऐसा क्या पढ़ आया है कि जिससे अपनेको सबसे बड़ा पण्डित समझता है और इतना अभिमानमें भर गया है । विद्याका स्वरूप तो विनयसे ही खिलता है । अभिमानी पुरुषके हृदयसे तो सारे गुण दूर चले जाते हैं और समस्त दोष अपने-आप उसमें आ जाते हैं । तूने अपने गुरुसे

* इसी प्रकार जिज्ञासु साधकको किसी भी प्रलोभनमें न फँसकर अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहना चाहिये ।

यह सीखा हो तो बता, कि ऐसी कौन-सी वस्तु है कि जिस एकके सुननेसे बिना सुनी हुई सब वस्तुएँ सुनी जाती हैं, जिस एकके विचारेसे सब बिना विचार की हुई वस्तुओंका विचार हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे नहीं जानी हुई सब वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है ?'

आरुणिके ऐसे वचन सुनते ही श्वेतकेतुका गर्व गल गया, उसने सोचा कि 'मैं तो ऐसी किसी वस्तुको नहीं जानता । मेरा अभिमान मिथ्या है ।' वह नम्र होकर विनयके साथ पिताके चरणोंपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन् ! जिस वस्तुके श्रवण, विचार और ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका श्रवण, विचार और ज्ञान हो जाता है, उस वस्तुको मैं नहीं जानता। आप उस वस्तुका उपदेश कीजिये ।'

आरुणिने कहा—'हे सौम्य ! जैसे कारणरूप मिट्टीके पिण्डका ज्ञान होनेसे मिट्टीके कार्यरूप घट, शराव आदि समस्त वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि घट आदि कार्यरूप वस्तुएँ सत्य नहीं है केवल वाणीका विकार है, सत्य तो केवल मिट्टी ही है । हे सौम्य ! जैसे कारणरूप सोनेके पिण्डका ज्ञान होनेसे सोनेके कड़े, कुण्डलादि सब कार्योंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि ये कड़े, कुण्डलादि सत्य नहीं है, केवल वाणीका विकार है, सत्य तो केवल सोना ही है । और जैसे नख काटनेकी नहरनी आदिमें रहे हुए लोहेका ज्ञान हो जानेसे लोहेके कार्य खड्ग, परशु आदिका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि वास्तवमें ये सब सत्य नहीं है, एक लोहा ही सत्य है, बस इसी तरह वह ज्ञान होता है ।'

पिता आरुणिके यह वचन सुनकर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! निश्चय ही मेरे विद्वान् गुरु इस वस्तुको नहीं जानते हैं, क्योंकि यदि वे जानते होते तो मुझे बतलाये बिना कभी नहीं रहते । अतएव हे भगवन् ! अब आप ही मुझको उस वस्तुका उपदेश दीजिये जिस एकके जाननेसे सब वस्तुएँ जानी जाती हैं ।' आरुणिने कहा, अच्छा सावधान होकर सुन—

'हे प्रियदर्शन ! यह नाम, रूप और क्रियास्वरूप दृश्यमान जगत् उत्पन्न होनेसे पहले केवल एक अद्वितीय, सत् ही था । उस सत् ब्रह्मने संकल्प किया कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ' ऐसा संकल्प करके उसने पहले तेज उत्पन्न किया, फिर उससे जल उत्पन्न किया और तदनन्तर उससे अन्न उत्पन्न किया । इन्हीं तीन तत्त्वोंसे सब पदार्थ उत्पन्न हुए । जगत्में जितनी वस्तुएँ हैं, सब तेज, जल और अन्न इन तीनोंके मिश्रणसे ही बनी हैं । जहाँ प्रकाश या गरमी है वहाँ तेज तत्त्वकी प्रधानता है जहाँ द्रव या प्रवाही-भाव है वहाँ जलकी प्रधानता है और जहाँ कठोरता है वहाँ अन्न या पृथ्वीकी प्रधानता है । अग्निमें जो लाल, श्वेत और कृष्ण वर्ण है उसमें ललाई तेजकी, सफेदी जलकी और श्यामता पृथ्वीकी है । यही बात सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमें है । यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमेंसे तेज, जल और पृथ्वीको निकाल लिया जाय तो अग्निमें अग्निपन, सूर्यमें सूर्यपन, चन्द्रमामें चन्द्रपन और विद्युत्में विद्युत्पन कुछ भी नहीं रह जायगा । इसी प्रकार सभी वस्तुओंमें समझना चाहिये । खाये हुए अन्नके भी तीन रूप हो जाते हैं । स्थूल भाग विष्ठा बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मन-रूप हो जाता है । इसी तरह जलके स्थूल भागसे मूत्र बनता है, मध्यम भागसे रक्त बनता है और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है । इसी प्रकार तैल, घृत आदि तैजस पदार्थोंके स्थूल भागसे हड्डी बनती है,

मध्यम भाग मज्जारूप हो जाता है और सूक्ष्म भाग वाणीरूप होता है। अतएव मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजमय है अर्थात् मन अन्नसे बनता है, प्राण जलसे बनता है और वाणी तेजसे बनती है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी! मुझको यह विषय और साफ करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—हे सौम्य! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्य-कारण परम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है, जैसे सर्पमें रज्जु कल्पित है, इसी प्रकार जगत् इस 'सत्'में कल्पित है। हे श्वेतकेतो! वह 'सत्' वस्तु तू ही है। 'तत्त्वमसि'

हे सौम्य! जैसे शहदकी मक्खी अनेक प्रकारके वृक्षोंके रसको एकत्र करके उसको एकरस करके शहदके रूपमें परिणत करती है, शहदरूपको प्राप्त रस जैसे यह नहीं जानता कि मैं आमके पेड़का रस हूँ या मैं कटहरके वृक्षका रस हूँ, इसी प्रकार सुषुप्ति कालमें जीव 'सत्' वस्तुके साथ एकीभावको प्राप्त होकर यह नहीं जानते कि हम सत्में मिल गये हैं। सुषुप्तिसे जागकर पुनः वे अपने-अपने पहलेके बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतङ्ग और मच्छरके शरीरको प्राप्त हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है यही आत्मा है, यह सत् है और हे श्वेतकेतो! वह तू ही है। 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझको फिर समझाइये।' आरुणि बोले—'हे सौम्य! जैसे समुद्रके जलसे ही बादलोंके द्वारा पुष्ट हुई गंगा आदि नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही मिलकर अपने नामरूपको त्याग देती हैं, यह नहीं जानतीं कि 'मैं गंगा हूँ, मैं नर्मदा हूँ' और सर्वथा समुद्रभावको प्राप्त हो जाती हैं। और फिर मेघके द्वारा वृष्टिरूपसे समुद्रसे बाहर निकल आती हैं किन्तु यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रसे निकली हैं। इसी प्रकार ये जीव भी 'सत्' मेंसे निकलकर सत्में ही लीन होते हैं और पुनः उसीसे निकलते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि हम 'सत्' से आये हैं। और यहाँ वही बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग या मच्छर जो-जो पहले होते हैं वे हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व सबका आत्मा है, यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! यह सत् तू ही है—तत्त्वमसि!'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिरसे समझाइये।' उद्दालक आरुणिने 'तथास्तु' कहकर समझाना शुरू किया—

हे सौम्य! बड़े भारी वृक्षकी जड़पर कोई चोट करे तो वह एक ही चोटमें सूख नहीं जाता, वह जीता है और उस छेदमेंसे रस झरता है। वृक्षके बीचमें छेद करनेपर भी वह सूखता नहीं, छेदमेंसे रस झरता है, इसी प्रकार अग्रभागपर चोट करनेसे भी वह जीता है और उसमेंसे रस टपकता है। जबतक उसमें जीवात्मा व्याप्त रहता है तबतक वह मूलके द्वारा जल ग्रहण करता हुआ आनन्दसे रहता है। जब इस वृक्षकी शाखाओंमें एक शाखासे जीव निकल जाता है तब वह सूख जाती है, दूसरीसे निकलनेपर दूसरी, और तीसरीसे निकलनेपर तीसरी सूख जाती है। और जब सारे वृक्षको जीव त्याग देता है तब वह सब-का-

सब सूख जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी जब जीवसे रहित होता है तभी मृत्युको प्राप्त होता है। जीव कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता, यह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है। यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! 'वह सत् तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक बड़का फल तोड़कर ला ! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख इसमें क्या है ?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन् ! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि बोले, 'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख उसमें क्या है ?' 'श्वेतकेतुने बीजको फोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सौम्य ! तू इस बट-बीजके सूक्ष्म भावको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् बटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म बट-बीज बड़े भारी बटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। हे सौम्य ! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! वह 'सत्' तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझको पुनः दूसरे दृष्टान्तसे समझाइये।' उद्दालकने एक नमककी डली श्वेतकेतुके हाथमें देकर कहा—'वत्स ! इस डलीको अभी जलके भरे लोटेमें डाल दे और फिर कल सबेरे उस लोटेको लेकर मेरे पास आना।' श्वेतकेतुने ऐसा ही किया। दूसरे दिन प्रातःकाल जब श्वेतकेतु जलका लोटा लेकर पिताके पास गया, तब उन्होंने कहा—'हे सौम्य ! रातको जो नमककी डली लोटेमें डाली, उसको जलमेंसे ढूँढ़कर निकाल तो दे, मैं उसे देखूँ।' श्वेतकेतुने देखा, पर नमककी डली उसे नहीं मिली, क्योंकि वह तो जलमें गलकर जलरूप हो गयी थी। तब आरुणिने कहा—'अच्छा, इसमेंसे इस तरफसे थोड़ा-सा जल चखकर बता तो कैसा है ?' श्वेतकेतुने आचमन करके कहा—'पिताजी ! जल खारा है।' आरुणि बोले—'अच्छा, अब बीचमेंसे लेकर चखकर बता।' श्वेतकेतुने चखकर कहा—'पिताजी ! यह भी खारा है।' आरुणिने कहा—'अच्छा ! अब दूसरी ओरसे जरा-सा पीकर बता कैसा स्वाद है ?' श्वेतकेतुने पीकर कहा—'पिताजी ! इधरसे भी स्वाद खारा ही है।' अन्तमें पिताने कहा—'अब सब ओरसे पीकर, फिर जलको फेंक दे और मेरे पास चला आ।' श्वेतकेतुने वैसा ही किया और आकर पितासे कहा—'पिताजी ! मैंने जो नमक जलमें डाला था, यद्यपि मैं अपनी आँखोंसे उसको नहीं देख पाता परन्तु जीभके द्वारा मुझको उसका पता लग गया है, कि उसकी स्थिति उस जलमें सदा और सर्वत्र है।' पिताने कहा—'हे सौम्य ! जैसे तू यहाँ उस प्रसिद्ध 'सत्' नमकको नेत्रोंसे नहीं देख सका तो भी वह विद्यमान है इसी प्रकार यह सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है। वह सत् है और वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! मुझे फिर उपदेश कीजिये।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन ! जैसे आँखोंपर पट्टी बाँधकर किसी मनुष्यको बहुत दूरके गान्धार देशसे लाकर किसी जङ्गलमें निर्जन प्रदेशमें छोड़ दे और वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, चारों दिशाओंकी ओर देख-देखकर सहायताके लिये पुकार करके कहे कि 'मुझको आँखोंपर पट्टी बाँधकर किसीने यहाँ लाकर छोड़ दिया है' और जैसे उसकी करुण पुकारको सुनकर कोई दयालु पुरुष दयावश उसकी

आँखोंकी पट्टी खोल दे और उससे कह दे कि 'गान्धार देश इस दिशामें है, तू इस रास्तेसे चला जा, वहाँ पहुँच जायगा।' और वह बुद्धिमान् अधिकारी पुरुष एक गाँवसे दूसरे गाँव पूछपरछ करता हुआ आखिर अपने गान्धार देशको पहुँच जाता है। इसी प्रकार—अज्ञानकी पट्टी बाँधे हुए काम, क्रोध, लोभादि चोरोंके द्वारा संसाररूपी भयङ्कर वनमें छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके दयापरवश हो बतलाये हुए मार्गसे चलकर अविद्याके फन्देसे छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्माको प्राप्त हो जाता है। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है, सो आत्मा है। वह सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वह सत् आत्मा तू ही है। 'तत्त्वमसि'

इस प्रकार पिता उद्दालक आरुणिके उपदेशसे श्वेतकेतु आत्माके अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होकर कृतार्थ हो गया।

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)

सत्पुरुषोंके लक्षण

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

अब मैं उन पुरुषोंके लक्षण बतलाता हूँ जिनका संग करनेसे पुनर्जन्मका भय नहीं रहता अर्थात् जीव मुक्त हो जाता है। "वे पुरुष मांसाहार नहीं करते, प्रिय और अप्रियको समान मानते हैं, शिष्ट पुरुषोंका आचार उन्हें प्रिय लगता है, इन्द्रियाँ सदाके लिये उनके वशमें हो गयी हैं, वे सुख-दुःखको समान समझते हैं, सत्यके परायण रहते हैं, दान देनेवाले होते हैं, किसीका प्रतिग्रह नहीं लेते, दयालु होते हैं, पितर, देवता और अतिथियोंका सत्कार करते हैं, सबका भला करनेकी चेष्टा करते हैं, परोपकारी, वीर और धर्मका पालन करनेवाले होते हैं, प्राणिमात्रका हित करते हैं, काम पड़नेपर सर्वस्व दे डालते हैं, उन्हें अपने मार्गसे कोई भी नहीं डिगा सकता, उनका व्यवहार धर्ममय होता है, वे प्राचीन सत्पुरुषोंके किये हुए आचरणोंका खण्डन नहीं करते, किसीको त्रास नहीं देते, चञ्चलबुद्धि नहीं होते, भयानक नहीं होते, सन्मार्गपर स्थित रहते हैं, उनमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा होती है, वे काम, क्रोध, ममता और अहंकारसे रहित होते हैं, मर्यादामें स्थिर रहते हैं, वे धन या कीर्तिके लिये धर्मका पालन नहीं करते, बल्कि स्नान-भोजनादि शारीरिक क्रियाओंके समान धर्मपालन उनका स्वाभाविक कार्य होता है, उनमें भय, क्रोध, चपलता और शोक नहीं होता, वे धर्मपालनका ढोंग नहीं करते, न कोई उनका कार्य गुप्त होता है। उनमें लोभ, मोह नहीं होता, वे सत्यवादी और सरल होते हैं, वे न लाभमें हर्षित होते हैं और न हानिमें व्यथित। सदा सत्त्वगुणमें स्थित और समदर्शी होते हैं, उन्हें लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय और जीवन-मृत्यु समान होते हैं, वे दृढ़ पराक्रमी, श्रेयकामी और सत्त्वमार्गपर स्थित होते हैं।" ऐसे सत्पुरुषोंकी प्रेम और श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिये और यदि कुछ सन्देह हो तो इन्हींसे पूछना चाहिये।

(महाभारत शान्तिपर्व)

श्रीरामाष्टक

(१)

रघुनंदन कौशल चंद हरे, जय राम हरे सुखधाम हरे ।
जगदीश सच्चिदानंद हरे, जय राम हरे सुखधाम हरे ॥
अविनाशी, आनँदकंद हरे, लीलामय-ललित ललाम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

(२)

दुःखभंजन, आरतपाल हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ।
जनरंजन, दीनदयाल हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥
करुणाकर, सहज-कृपाल हरे, गुण आगर गुण-गण-ग्राम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

(३)

जगनायक, जगदाधार, प्रभो, जगत्रायक, जगदातार प्रभो ।
प्रियदर्शी, प्रेमागार प्रभो, कोमल, करुणा-भंडार प्रभो ॥
सुख मंजुल मंगलकार प्रभो, जय सुंदर-श्याम-निकाम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

(४)

वह प्रेम मुझे दो प्रेमनिधे, जो बुद्धि, ज्ञान-गरिमा हर ले ।
अविचल श्रद्धासे, भक्तीसे, सरवस्व तुम्हें अरपण करके ॥
केवल तुमसे लौ लगी रहे, गुण-गान करूँ, निष्काम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

(५)

वह हृदय मुझे दो हृदयेश्वर, तृणवत संसार तजे नश्वर ।
चरणोंमें तुम्हारे रत होकर, भज ले मन सुखद,सरस,सुंदर ॥
जनमन-मोहन पावन अघहर, मद-मत्सर-मोचन नाम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

(६)

वह आँख मुझे दो जगतपते, जो 'सियाराममय' जगत लखे ।
प्रत्येक वस्तु जड, चेतनमें, वह रूप माधुरी दर्शन दे ॥
हर स्वाससे पुण्य नाम निकले, हर रोम-रोमसे राम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

(७)

चरणोंका रामके स्मरण करूँ, चरणोंमें रामके रमण करूँ ।
चरणोंका रामके मनन करूँ, चरणोंकी रामके शरण गहूँ ॥
मन, वच, कायासे भजन करूँ, जय रविकुल-भूषण राम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

(८)

नैनोंमें रमो आभा बनकर, हिय आन बसो प्रतिमा बनकर ।
जिह्वापै रहो विद्या बनकर, इस दिलमें रहो इच्छा बनकर ॥
छा जाओ अटल श्रद्धा बनकर, 'बेकल' के प्राणाराम हरे ।
जय राम हरे, जय राम हरे, जय राम हरे, सुखधाम हरे ॥

श्रीरामपदाम्बुजानुरागी 'बेकल'

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

गार्गी–हे ब्राह्मणो ! आप सब मेरा वचन सुनिये, मुनि याज्ञवल्क्यजीसे मैं दो प्रश्न करती हूँ, यदि ये मेरे दोनों प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो आप सब ब्राह्मणोंमेंसे कोई भी इनको जीत न सकेंगे। इसलिये आप सब ब्राह्मण मुझे प्रश्न करनेकी आज्ञा दीजिये।

डोरूशङ्कर–हे देवि ! ब्राह्मणोंकी आज्ञा बिना ही गार्गीने प्रश्न क्यों नहीं किया ?

देवी–हे वत्स ! ब्राह्मणोंसे गार्गीने जो आज्ञा ली, उसका कारण यह था, कदाचित् कोई ब्राह्मण अपने मनमें प्रश्न आरम्भ करना चाहते हों और बीचमें मुझ स्त्रीके प्रश्नको सुनकर वह क्रोधित होकर मुझे शाप दे डालें, इसलिये ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर मैं प्रश्न करूँ, ऐसा विचारकर बुद्धिमती गार्गी ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेने लगी। जब ब्राह्मणोंने प्रश्न करनेकी आज्ञा दे दी, तब गार्गी इस प्रकार कहने लगी—

गार्गी–हे याज्ञवल्क्य ! इस लोकमें जैसे आप प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार मैं गार्गी भी प्रसिद्ध हूँ, जैसे आप अधिक बुद्धिमान् हैं इसी प्रकार मैं गार्गी भी अधिक बुद्धिवाली हूँ। क्योंकि नीतिशास्त्रमें पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीमें बुद्धि, अविवेक, धैर्य, काम तथा क्रोध ये पाँच गुण अधिक कहे हैं। सब स्त्रियोंमें सरस्वतीके समान मैं तीक्ष्ण बुद्धिवाली हूँ।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! तेरी ऐसी कैसी बुद्धि है कि जिस बुद्धिके कारण तू अपनेको सबसे अधिक बुद्धिवाली मानती है ?

गार्गी–हे याज्ञवल्क्य ! सब जगत्में आत्मबुद्धि ही मेरी अधिकताका कारण है, इसलिये मैं सब जगत्को पुरुषभावसे रहित मानती हूँ। एक अपनेको ही पुरुष मानती हूँ, क्योंकि जगत्में जितने स्त्री, पुरुष, नपुंसक हैं, उन सबको मैं आत्मरूपसे देखती हूँ, इससे सिद्ध होता है कि जिसको सर्वव्यापकरूप आत्माका ज्ञान है, वही पुरुष है। जिसको व्यापकरूप अद्वितीय आत्माका ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी जीव नपुंसक है अथवा स्त्रीरूप है।

अज्ञानीमें नपुंसकपना

हे याज्ञवल्क्य ! शक्तिहीनको लोकमें नपुंसक कहते हैं, इस प्रकारके नपुंसकका लक्षण अज्ञानी जीवमें ही घटता है क्योंकि अज्ञानी जीव अत्यन्त समीप तथा हृदयाकाशमें स्थित आनन्दस्वरूप आत्माके जाननेको समर्थ नहीं होता इसलिये अज्ञानी जीव नपुंसक है।

अज्ञानी जीवोंमें स्त्रीपना

हे याज्ञवल्क्य ! उच्च स्तनोंवाली मैं गार्गी स्त्री नहीं हूँ किन्तु जिस पुरुषको आनन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी पुरुष ही स्त्री है क्योंकि जैसे लोकप्रसिद्ध स्त्रीके अपनेसे भिन्न पति होता है और वह सर्वदा पतिके अधीन रहती है, कभी स्वतन्त्र नहीं होती, इसी प्रकार अज्ञानी जीवको भी अपनेसे भिन्न पति है, अज्ञानी जीवरूप स्त्री सर्वदा अपने पतिके अधीन रहता है, इसलिये अज्ञानी जीव स्त्री है। हे याज्ञवल्क्य ! स्त्रियोंमें भी अज्ञानी जीव वाराङ्गना स्त्रीके समान है क्योंकि जैसे वाराङ्गना स्त्रीके अनेक पति होते हैं,

इसी प्रकार अज्ञानी जीवरूप स्त्रीको भी काम,क्रोध, लोभ तथा मोहादि अनेक पति भोगते हैं, इसलिये सब अज्ञानी जीव वाराङ्गनाके समान हैं। और मुझमें काम-क्रोधादि नहीं हैं, इसलिये मैं ही पुरुष हूँ। जैसे लोकप्रसिद्ध स्त्री पुरुषके सम्बन्धसे गर्भ धारण करती है, इसी प्रकार अज्ञानी जीव भी कालरूप पुरुषके सम्बन्धसे सातवीं धातु वीर्य-रूप गर्भको धारण करता है, इसलिये अज्ञानी जीव स्त्री है।

गार्गीमें कामादिका अभाव

हे याज्ञवल्क्य ! मैं गार्गी पूर्ण यौवनावस्थामें हूँ और समस्त युवा पुरुषोंके मध्यमें स्थित हूँ तो भी मैं किंचित् भी कामादि विकारोंको प्राप्त नहीं होती। हे याज्ञवल्क्य ! जैसे एकान्त देशमें स्त्री नग्न होती है, इसी प्रकार इस सभाके मध्यमें मैं नग्न खड़ी हूँ, ये सब ब्राह्मण कामादि विकारके भयवाले हैं, इसलिये वे मेरी तरफ नहीं देखते। और मेरा देहाभिमान निवृत्त हो गया है, इसलिये सब ब्राह्मणोंको मैं नेत्रोंसे देखती हूँ, हाथोंसे स्पर्श करती हूँ, तो भी मुझमें किंचित् कामादि विकार नहीं है, इसलिये मैं स्त्री नहीं हूँ, अज्ञानी जीव ही स्त्री है।

याज्ञवल्क्य–हे गार्गि ! यद्यपि शास्त्रदृष्टिसे तुझमें स्त्रीपना नहीं है किन्तु लौकिकदृष्टिसे तो तुझमें स्त्रीपना है ही।

गार्गी–हे याज्ञवल्क्य ! लौकिकदृष्टिसे भी स्त्री शब्दका अर्थ जिसमें घटता हो, वही स्त्री है। मुझमें स्त्री शब्दका अर्थ नहीं घटता, इसलिये मैं स्त्री नहीं हो सकती। व्याकरणकी रीतिसे स्त्री शब्दका अर्थ इस प्रकार है—बुद्धिमान् उस प्राणीको स्त्री कहते हैं जिस प्राणीमें 'मैं वधूरूप हूँ, यौवना-वस्थासे युक्त हूँ, सुन्दर स्तनवाली हूँ, इस लोकमें मेरे समान कोई सुन्दर स्त्री नहीं है, यह मेरा पति है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पुत्री है, यह धन और अन्न मेरे घरमें है, मैं वाँझ हूँ, मैं अनेक कुटुम्बवाली हूँ' इत्यादि अहं-मम अभिमानसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके शब्दसमूह जिस अज्ञानी जीवमें रहते हैं, वह अज्ञानी जीव ही इस लोकमें स्त्री है। जो प्राणी आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञानसे पूर्ण है, उस प्राणीको श्रुति पुरुषरूप कहती है। आत्मज्ञानयुक्त प्राणी शरीरसे स्त्री हो, पुरुष हो अथवा नपुंसक हो, इससे ज्ञानमें किंचित् भी हानि नहीं पहुँचती। आत्मज्ञानवाला सर्वथा पुरुष है। जैसे एक नट अपनी मायासे स्त्रीको मोहनेवाले सुन्दर पुरुषका रूप धारण करता है, तथा क्षणमात्रमें वही नट पुरुषके धैर्यको नाश करनेवाली सुन्दर स्त्रीका रूप धारण कर लेता है और इसके बाद दूसरे ही क्षणमें नपुंसक रूप धारण करता है। किन्तु इन स्त्री आदि कल्पित रूपोंसे नटका अपना पूर्वस्वरूप अन्यथाभावको प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा अपनी मायासे कभी पुरुषशरीर, कभी स्त्रीशरीर और कभी नपुंसक-शरीर धारण करता है किन्तु इस कल्पित शरीर-रूप उपाधिसे आत्माके वास्तविक एकपनेकी निवृत्ति नहीं होती। जैसे एक ही पुरुष निद्राके दोषसे स्वप्नमें पुरुष, स्त्री, हाथी, घोड़ा इत्यादि अनेक रूपोंको प्राप्त होता है किन्तु इन कल्पित रूपों-से स्वप्नद्रष्टा पुरुषका वास्तविक स्वरूप निवृत्त नहीं होता, इसी प्रकार एक ही परमात्मा अपनी मायासे स्त्री, पुरुष, नपुंसक, हाथी, घोड़ा इत्यादि अनेक रूप धारण करता है। किन्तु इन रूपोंसे आत्माका वास्तविक स्वरूप निवृत्त नहीं होता। इसलिये हे याज्ञवल्क्य ! आत्मज्ञानरूपी पुरुषभावसे तथा सर्वज्ञतासे मैं गार्गी वाक्रूपी धनुषमें प्रश्नरूपी दो बाण धारण करके आपको मारने आयी हूँ, इसलिये यदि वादरूपी युद्धमें आपका सामर्थ्य हो तो धैर्य धारण करके मेरे साथ युद्धमें प्रवृत्त होइये। यदि आपमें वादरूपी युद्ध करनेका

सामर्थ्य न हो, तो मेरे सामने नम्रताभाव धारण कीजिये । इन दोनों बातोंमेंसे जो आपको अच्छी लगे, वही कीजिये ! जैसे काशिराज दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन अकेला ही धनुष-बाण लेकर इन्द्रके साथ युद्ध करनेके लिये स्वर्गमें गया था और जैसे जनक सुवर्ण, मणि तथा लोहमय तीक्ष्ण बाण हाथमें लेकर शत्रुओंको पीड़ा देनेके लिये युद्धमें शत्रुओंके सामने खड़ा रहा, इसी प्रकार धैर्य धारण करके मैं गार्गी प्रश्नरूपी बाणोंसे आपको मारनेके लिये आयी हूँ, इसलिये इन प्रश्नोंका उत्तर यदि आप जानते हों तो मुझसे कहिये ।

जब इस प्रकारके वचन गार्गीने याज्ञवल्क्यसे कहे तो याज्ञवल्क्य कहने लगे—

याज्ञवल्क्य–हे गार्गि ! तुझे जो प्रश्न करने हों, निःशंक होकर कर ! इस प्रकार मुनिके वचन सुनकर गार्गी कहने लगी—

गार्गी–हे याज्ञवल्क्य ! जिस सूत्रात्माका स्वरूप शास्त्रवेत्ताओंने ब्रह्माण्डसे ऊपर अर्थात् कपालके ऊपर स्थित कहा है, जिस सूत्रात्माका स्वरूप ब्रह्माण्डके नीचे अर्थात् कपालके नीचेके भागमें स्थित कहा है, जिस सूत्रात्माका स्वरूप दो ब्रह्माण्डरूपी कपालोंके मध्यभागमें कहा है और जिस सूत्रात्माका स्वरूप शास्त्रवेत्ताओंने भूत, भविष्य तथा वर्तमानस्वरूपसे सर्वप्रपञ्चरूप कहा है वह सूत्रात्मा किसमें ओतप्रोत है ?

डोरूशङ्कर–हे देवि ! यह प्रश्न तो पहले गार्गीने किया था और मुनिने इस प्रश्नका उत्तर भी दिया था, अब वही प्रश्न गार्गीने फिर क्यों किया ?

देवी–हे वत्स ! पूर्वमें अनुमानरूपी तर्कको ग्रहण करके गार्गीने यह प्रश्न किया था और अब शास्त्रकी रीति ग्रहण करके गार्गीने प्रश्न किया है । इस प्रकारकी विलक्षणता जनानेके लिये पूर्वोत्तर प्रश्नोंमें शब्दोंका भेद गार्गीने रक्खा है ।

जब इस प्रकारका प्रश्न गार्गीने किया तो मुनि कहने लगे—

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! सूत्रात्मारूप कार्यका जो स्वरूप कहा है, वह सूत्रात्मारूप कार्य आवरण-विक्षेप शक्तिवाले अव्याकृतरूप आकाशमें ओत-प्रोत है ।

इस प्रकारका उत्तर जब याज्ञवल्क्यने दिया तो गार्गी उनको नमस्कार करके कहने लगी—

गार्गी–हे मुने ! प्रथम प्रश्नका उत्तर तो आपने मुझसे कहा, अब मैं दूसरा प्रश्न करती हूँ, आप सावधान होकर इस प्रश्नका उत्तर दीजिये ।

जब गार्गीने इस प्रकार कहा तो याज्ञवल्क्य कहने लगे—

याज्ञवल्क्य–हे गार्गि ! तू निःशंक होकर प्रश्न कर!

मुनिके इस वचनको सुनकर प्रथम प्रश्नमें जिस सूत्रात्माका आधार पूछा था, वही प्रश्न गार्गी फिर पूछने लगी । मुनिने भी प्रथम प्रश्नके उत्तरमें सूत्रात्माके अव्याकृतरूप आकाशको जो आधार कहा था, वही आधार दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कहा ।

डोरूशङ्कर–हे देवि ! प्रथम प्रश्नको दूसरी बार पूछनेमें गार्गीका क्या अभिप्राय था ?

देवी–हे वत्स ! जिस अभिप्रायको लेकर गार्गीने प्रथम प्रश्न दूसरी बार किया, उस अभिप्रायको तू सुन, जैसे घर केवल स्तम्भके आधारपर नहीं रहता किन्तु स्तम्भ तथा भीतके आधारपर रहता है, इसी प्रकार सूत्रात्मारूप कार्य भी अव्याकृत आकाशमें तथा अन्य किसी कारणमें रहता होगा । इस प्रकारके अभिप्रायको लेकर गार्गी प्रथम प्रश्नको दूसरी बार पूछने लगी—

डोरूशङ्कर–हे देवि ! तब मुनिने प्रथम प्रश्नका उत्तर ही दूसरी बार क्यों कहा ?

देवी–हे वत्स ! जिस अभिप्रायसे मुनिने प्रथम प्रश्नका उत्तर ही दूसरी बार कहा, वह अभिप्राय

यह है कि सूत्रात्मारूप कार्य अव्याकृत आकाशके सिवा किसी अन्यके आश्रय नहीं रहता। जैसे मेघ केवल भूताकाशके आश्रित होकर ही रहते हैं, इसी प्रकार सूत्रात्मारूप कार्य भी केवल अव्याकृतरूप आकाशके आश्रय ही रहता है। इस अभिप्रायसे मुनिने प्रथम उत्तर ही फिर कहा, यह उत्तर सुनकर गार्गी पूछने लगी—

गार्गी–हे मुने ! अव्याकृतरूप आकाश किसमें ओतप्रोत होकर रहता है ?

देवी–हे वत्स ! यह प्रश्न करनेमें गार्गीका यह अभिप्राय है कि अव्याकृतरूप आकाशका अधिष्ठान आत्मा मन तथा वाणीका अविषयरूप है इसलिये यदि आत्माके स्वरूपको मुनि न कहेंगे, तो अप्रतिभारूप निग्रहस्थानको प्राप्त होंगे। यदि मुनि मन तथा वाणीके अविषयरूप आत्माको कहेंगे, तो विप्रतिपत्तिरूप विग्रहस्थानको प्राप्त होंगे। दोनों प्रकारसे मुनिका पराजय होगा। कथन करनेयोग्य अर्थके अज्ञानको अप्रतिभा कहते हैं और विरुद्ध कथनको विप्रतिपत्ति कहते हैं और पराजयके कारणको निग्रहस्थान कहते हैं। इस प्रकारका जब गार्गीने प्रश्न किया तो मुनि कहने लगे—

याज्ञवल्क्य–हे गार्गि ! सब लोगोंकी बुद्धिके साक्षी तथा नित्य अपरोक्ष आत्मारूप अक्षरमें अव्याकृत आकाश ओतप्रोत होकर रहता है। यहाँ अव्याकृत आकाश शब्दसे मूलाज्ञानका ग्रहण है। यह मूलाज्ञान जीव तथा ईश्वरके आश्रित होकर नहीं रहता, किन्तु जीव तथा ईश्वरविभागसे रहित शुद्ध चैतन्यके आश्रित होकर रहता है। यह शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा सर्वत्र व्यापक है तथा उत्पत्ति-नाशसे रहित है। इसलिये शुद्ध आत्मा अक्षररूप है। आत्मारूप अक्षरके आश्रित अव्याकृत आकाश रहता है।

अक्षरात्माका स्वरूप

हे गार्गि ! घट बिल्वफलकी अपेक्षासे स्थूल होता है और पर्वतकी अपेक्षासे सूक्ष्म होता है। इस प्रकार जितने स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ हैं, उन सबसे अक्षरात्मा विलक्षण है। और तृणके समान जितने छोटे पदार्थ हैं और तालवृक्षके समान जितने बड़े पदार्थ हैं, उन सब ह्रस्व-दीर्घ पदार्थोंसे अक्षरात्मा विलक्षण है। अग्निके समान जितने रक्त वर्णवाले पदार्थ हैं और जलके समान जितने द्रव पदार्थ हैं, उनसे भी अक्षरात्मा विलक्षण है। और भूमिकी छायासदृश जितने कृष्ण वर्णवाले पदार्थ हैं, उनसे भी अक्षरात्मा विलक्षण है। तमालवृक्षके समान श्याम तथा अन्धकारके समान नेत्रके विरोध करनेवाले जितने पदार्थ हैं, उनसे भी अक्षरात्मा विलक्षण है। यह अक्षरात्मा गतिसे रहित है, इसलिये गतिमान् वायुसे विलक्षण है। यह अक्षरात्मा छिद्रसे रहित है, इसलिये छिद्रवाले आकाशसे विलक्षण है। यह अक्षरात्मा अमूर्त तथा असंग है, इसलिये मूर्त-संगवान् पदार्थोंसे भी विलक्षण है। यह अक्षरात्मा मधुर आदि रसोंसे रहित है, इसलिये मधुर रसवाले जलसे भी विलक्षण है। यह अक्षरात्मा गन्धसे रहित है, इसलिये गन्धवाली पृथिवीसे भी विलक्षण है। इस अक्षरात्माका स्वरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं। इस अक्षरात्माका स्वरूप मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये चारों अन्तःकरण नहीं है। और इस अक्षरात्माका स्वरूप प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पाँच प्राण भी नहीं है। मोक्षपर्यन्त स्थितिवाला तथा दोनों लोकोंमें गमन करनेवाला सूक्ष्मशरीर भी अक्षरात्माका स्वरूप नहीं है। अद्वितीय आत्माका भेद करनेवाला अविद्यारूप कारणशरीर भी अक्षरात्माका स्वरूप नहीं है। यदि यह अक्षरात्मा केवल अन्दर ही हो, तो बाहरके पदार्थोंको कौन

प्रकाश करेगा? और यदि अक्षरात्मा केवल बाहर ही हो, तो अन्दरके पदार्थोंको कौन प्रकाश करेगा? आत्माके सिवा सब पदार्थ जडरूप हैं। इसलिये उनमें प्रकाश सम्भव नहीं है। यह अक्षरात्मा अपने प्रकाशरूपसे अन्दर तथा बाहर सब पदार्थोंको प्रकाशता है। इसलिये सबका साक्षी अक्षरात्मा अन्तर तथा बाह्यपनसे रहित है, यह अक्षरात्मा निर्विकारी तथा संगसे रहित है, इसलिये भोक्तापन और भोग्यपनसे रहित है, जैसे आकाशमें मेघोंका समूह तथा अन्धकार प्रतीत होता है और जैसे रज्जुमें सर्प-दण्डादि प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार इस अक्षरात्मामें यह सब जगत् प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे मेघादिसे आकाशका भेद नहीं होता और जैसे कल्पित सर्पादिसे रज्जुका भेद नहीं होता, इसी प्रकार कल्पित प्रपञ्चसे अधिष्ठानरूप अक्षरात्माका भेद नहीं होता। इसलिये अक्षरात्मा सब भेदोंसे रहित है। इस प्रकार सब उपाधियोंसे रहित अक्षरात्माका स्वरूप है। जिसने अक्षरात्माके स्वरूपका निश्चय नहीं किया है, उसको माया-विशिष्ट अन्तर्यामीको जतलानेवाले लिङ्ग देखने चाहिये। जो वस्तु अप्रत्यक्ष पदार्थको जतलावे उसको लिङ्ग कहते हैं। जैसे कि पर्वतमें अप्रत्यक्ष अग्निको धूमरूप लिङ्ग जतलाता है, जैसे चाकर नियमसे राजाकी आज्ञानुसार बर्तते हैं, इसी प्रकार ये सूर्य, चन्द्र आदि भी नियमसे जगत्के व्यवहारको चलाते हैं। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मा सूर्य-चन्द्र आदिका अधिपति है जिसकी आज्ञासे सूर्य-चन्द्र आदि नियमानुसार बर्तते हैं। इसलिये सूर्य-चन्द्र आदिकी नियमपूर्वक प्रवृत्ति अन्तर्यामीका सूचन करती है। जो-जो पदार्थ गुरुत्वधर्मवाला होता है, उसका बिना आधारके नीचे पतन होता है। जैसे गुरुत्वधर्मवाले वस्त्रादि पुरुषरूप आधार बिना नीचे गिर जाते हैं, इसी प्रकार सब भूतप्राणियोंके भारको धारण करनेवाली पृथिवी तथा स्वर्ग ये दोनों गुरुत्वधर्मवाले हैं किन्तु उनका पतन नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मा पृथिवी तथा स्वर्गको धारण करनेवाला है। इसलिये गुरुत्वधर्मवाली पृथिवी तथा स्वर्गकी स्थिति भी परमात्माको जतलानेवाला लिङ्ग है। जैसे राजासे प्रेरणा किया हुआ कर्मचारी नियमयुक्त कार्य करता है, इसी प्रकार निमेषसे लेकर संवत्सरपर्यन्त जितने मुहूर्त, प्रहर, दिवस, पक्ष, मास तथा ऋतुरूप काल है, वह नियमसे सब प्राणियोंका हित तथा अहित करता रहता है और सब पदार्थोंके आयुष्यकी गणना करता है, इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मा कालको प्रेरणा करनेवाला है। इसलिये नियमपूर्वक कालकी प्रवृत्ति भी परमात्माकी सूचना देनेका लिङ्ग है। हिमालयपर्वतमेंसे निकली हुई अनेक गंगा आदि नदियोंका प्रवाह जिस-जिस दिशामें होता है, उस-उस दिशामें चलता ही रहता है, कदापि उसका अन्यथाभाव नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मा गंगा आदि नदियोंको नियमसे चलाता है, इसलिये गंगा आदि नदियोंका प्रवाह अन्तर्यामी परमात्माका सूचन करनेवाला लिङ्ग है। शास्त्रकी रीतिके अनुसार दान करनेवाले धर्मात्माकी प्रामाणिक शिष्ट पुरुष स्तुति करते हैं और इस धर्मात्माको शिष्ट पुरुष आश्रय देते हैं। जो पुरुष प्रमादसे द्यूतादि व्यसनमें द्रव्य खर्च करता है, उस प्रमादी पुरुषकी प्रामाणिक शिष्ट पुरुष उपेक्षा तथा निन्दा करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कोई कर्मके फलका देनेवाला सर्वज्ञ परमात्मा है। उसके भयसे प्रामाणिक पुरुष धर्मात्माको आश्रय देते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। यदि सर्वज्ञ परमात्मा अंगीकार न किया जाय, तो जैसे प्रमादी पुरुषकी

प्रामाणिक शिष्ट पुरुष उपेक्षा करते हैं तथा निन्दा करते हैं, इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुषकी प्रामाणिक पुरुष उपेक्षा और निन्दा करें। इसलिये प्रामाणिक शिष्ट पुरुषोंका व्यवहार भी सर्वज्ञ परमात्माके जतलानेमें लिङ्गरूप है। यज्ञकर्ता पुरुषको देवता आश्रय देते हैं और श्राद्धादिकर्ता पुरुषको पितर आश्रय देते हैं, इसलिये सब कार्योंमें समर्थ देवोंका तथा पितरोंका जीवन मनुष्यके अधीन है। यह भी सर्वज्ञ परमात्माके जतलानेमें लिंगरूप है। इसलिये जिस अक्षर परमात्माके आश्रित अव्याकृत आकाश मैंने पूर्व कहा था, उस अक्षरात्माकी आज्ञामें सब जगत् बर्तता है। इस अक्षरात्माको न जानकर जो पुरुष, यज्ञ, दान, तप, होम इत्यादि अनेक कर्म दीर्घकालतक करता है, उस अज्ञानी जीवको यज्ञादि कर्म नाशवान् फलकी प्राप्ति करते हैं। भाव यह है कि जिस परमात्माने यह नियम किया है कि मेरे स्वरूपके ज्ञान विना समस्त यज्ञादि कर्म नाशवान् फल उत्पन्न करें और मेरे ज्ञानसे अखण्ड फलकी प्राप्ति हो, उस परमात्मामें असंभावना करनी योग्य नहीं है। जैसे कृमिवाले श्वानको देखकर सब लोग शोक करते हैं, इसी प्रकार अधिकारी मनुष्य-शरीरको पाकर अक्षरात्माको जाने विना जो पुरुष मर जाता है, वह कृपण है और सब लोगोंके शोकका विषयरूप है। जो पुरुष अक्षरात्माको जानकर शरीरका त्याग करता है, वही इस लोकमें कृतकृत्य है और वह पुरुष ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है।

डोरूशङ्कर—हे देवि! गार्गीको याज्ञवल्क्यने जिस प्रकार अक्षरात्माके ज्ञानका उपदेश किया, इसी प्रकार अक्षरात्माके ज्ञानके साधनोंका उपदेश क्यों नहीं किया?

देवी—हे वत्स! गुरुमुखसे वेदान्त शास्त्रका श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीन अक्षरात्माके ज्ञानके साधन हैं। ये श्रवणादि साधन पूर्वमें कहोल ब्राह्मणसे मुनि कह चुके थे और गार्गीने भी साधनोंका श्रवण किया था। इसलिये मुनिने फिर गार्गीसे श्रवणादि साधन नहीं कहे। अथवा जैसे अन्धी वृद्धकुमारीसे जब इन्द्रने फल माँगनेको कहा तो उस वृद्धकुमारीने प्रथमसे ही यह वरदान माँगा कि मेरा लड़का सुवर्णके पात्रमें दूध पिये और मैं देखूँ। इस प्रकारके वचनसे उस अन्धी वृद्धकुमारीने पति, पुत्र, धन, नेत्र इत्यादि सभी पदार्थ माँग लिये। इसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्काररूप फलके कहनेसे मुनिने श्रवणादि सर्व साधनोंका निरूपण कर दिया।

डोरूशङ्कर—हे देवि! मायाविशिष्ट अन्तर्यामीका स्वरूप मुनिने पूर्वमें उद्दालकसे कहा था और गार्गी भी सुन चुकी थी, अब पूछे विना ही मुनिने गार्गीसे अन्तर्यामीका स्वरूप फिर क्यों कहा?

देवी—हे वत्स! जिस अभिप्रायसे मुनिने अन्तर्यामीका स्वरूप फिर वर्णन किया, उस अभिप्रायको सुन। उद्दालक ब्राह्मणके दूसरे प्रश्नके विचारमें जिस अन्तर्यामीके स्वरूपका वर्णन किया, वह अन्तर्यामी अक्षरात्मासे भिन्न नहीं है किन्तु वह अन्तर्यामी अक्षरात्मारूप है। भाव यह है कि शुद्ध आत्माको अक्षर कहते हैं। यह शुद्ध आत्मा ही जब मायारूप उपाधिको अंगीकार करके जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय, नियमन तथा प्रवेश आदि कार्य करता है, तब उस अक्षरात्माको अन्तर्यामी कहते हैं, इसलिये अक्षरात्मासे अन्तर्यामी भिन्न नहीं है। यह अर्थबोधन करनेके लिये मुनिने अन्तर्यामीके स्वरूपका फिर निरूपण किया है।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि! यह अक्षरात्मा नेत्रादि सर्व दृश्यप्रपञ्चका साक्षीरूप है इसलिये अक्षरात्माको नेत्रादि दृश्यप्रपञ्च जान नहीं सकता। जैसे मृत्तिकासे घट भिन्न नहीं होता, इसी प्रकार द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञातारूप जीवात्मा

अक्षरात्मासे भिन्न नहीं है किन्तु यह जीव अक्षरात्मारूप है इसलिये स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चरूप विक्षेपका कारण तथा आत्माका आच्छादन करनेवाला अव्याकृत आकाश आत्मामें रहता है।

याज्ञवल्क्यरूपी मेघसे उत्पन्न हुए वाक्यरूप अमृत श्रद्धावान् पुरुषके कानोंके तापको हरण करनेवाले हैं, इसलिये अत्यन्त दुर्लभ हैं। ऐसे अमृतरूपी वचनोंको सुनकर गार्गी अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुई। कृपायुक्त होकर वह गार्गी सब ब्राह्मणोंसे कहने लगी—

गार्गी—हे ब्राह्मणो! आप सब ब्राह्मणोंकी सभामें मैं गार्गी पक्षपातसे रहित होकर एक वचन कहती हूँ, उसको आप सावधान होकर सुनिये। इस लोकमें यद्यपि मैंने अनेक प्रकारके पुरुष देखे हैं, तो भी याज्ञवल्क्यके समान मैंने कोई पुरुष नहीं देखा।

(क्रमशः)

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

[गतांकसे आगे]

यह भक्ति फलरूपा है

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।२५।

२५—वह (भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है।

कर्म, ज्ञान और योग तीनों ही भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, परन्तु भक्ति इन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ है। उनमें वर्ण, आश्रम, अधिकार आदिका विचार है, साथ ही गिरनेका भय भी है, परन्तु सच्ची भक्तिमें भगवान्‌की पूरी सहायता रहनेके कारण कोई भी भय नहीं है। तथा इसमें स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र आदि सभीका अधिकार है। गोसाईं तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जे अस भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु स्रम करहीं॥
ते जड कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड करनी॥

उमा जोग जप दान तप, नाना ब्रत मख नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निष्केवल प्रेम॥
पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन।
यह बिचारि मुनि पुनि-पुनि, करत राम-गुन-गान॥

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। २०-२१)

जिस प्रकार मेरी दृढ़भक्ति मुझे वश करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते। सन्तोंका प्रिय आत्मारूप मैं केवल भक्तिके द्वारा वशमें हो सकता हूँ, मेरी भक्ति चाण्डाल आदिको भी पवित्रहृदय बनानेमें समर्थ है।

इसी प्रकार श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(६ । ४६-४७, ११ । ५३-५४)

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है, सकाम कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतसे सर्वश्रेष्ठ—युक्ततम है। जैसा तुमने मुझको देखा है, ऐसा वेद, तप, दान, यज्ञ आदिसे मैं नहीं देखनेमें आता। हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा ही इस प्रकार मेरा देखा जाना, मुझे तत्त्वसे जानना और मुझमें प्रवेश पाना सम्भव है।

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

२६—क्योंकि (भक्ति) फलरूपा है।

वस्तुतः यह भक्ति फलरूपा है। साधन नहीं है। जो भक्ति ज्ञानका साधन मानी जाती है, वह गौणी भक्ति साधारण उपासना है, प्रेमरूपा भक्ति नहीं है। प्रेमरूपा भक्ति तो समस्त साधनोंका फल है।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत नाना। संजम नेम ग्यान बिग्याना॥
भूतदया गुरु-द्विज-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी॥

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्य-प्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

२७—ईश्वरको भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।

कर्म, ज्ञान और योगके साधकोंको अपने बलका और साधनका अभिमान हो सकता है। भगवान्का तो नाम ही दर्पहारी है। यद्यपि वस्तुतः भगवान्का न किसीमें द्वेष है, न राग है। उनके लिये सभी समान हैं। वे सभीका उद्धार करते हैं। हाँ, उद्धारके साधन भिन्न-भिन्न हैं। अभिमानीका उद्धार उसे दण्ड देकर करते हैं और दीन सेवकका उसे प्रेमसे गले लगाकर। इसीसे भगवान्के क्रोधको भी वरके तुल्य बतलाया गया है। अभिमानीके प्रति भगवान् द्वेषीकी-सी लीला करते हैं और दीनके साथ प्रेमीकी-सी। इसीसे उनके नाम दीनबन्धु, अशरण-शरण और 'कङ्गालके धन' हैं। यथार्थमें तो अभिमानीके प्रति भी उनके हृदयमें प्रेम ही होता है, इसीलिये तो वे उसका अभिमान नष्ट करते हैं।

सुनहु रामकर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहि काऊ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥
तेहिते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवकपर ममता अति रूरी॥

इतना होनेपर भी दण्डमें द्वेष दीखता ही है, परन्तु दीन अमानी गरीबको तो आप हृदयसे लगा लेते हैं। उसका छोटे-से-छोटा काम करनेमें भी नहीं सकुचाते। भक्तजन तो स्वाभाविक ही अपनेको किंकर समझते हैं, वे कहते हैं—

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा।
पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम॥

हे प्रभो! मुझ समस्त साधनोंसे हीन, मायाके सर्वथा पराधीन हुए पापोंसे लदे हुए दीनकी तो केवल तुम ही गति हो।

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे॥

यह दीनता उस अभावकी स्थितिका नाम नहीं है जिसमें मनुष्य धन, मान, वैभव आदिके अभावसे ग्रस्त होकर उनकी प्राप्तिके लिये व्याकुल रहा करता है। यह दीनता तो उस निरभिमानिता और अहङ्कार-शून्यताका नाम है जो बड़े-से-बड़े वैभवशाली सम्राट्को भी भगवत्कृपासे प्राप्त हो सकती है। इस दीनताका अर्थ

है अभिमान और कर्तृत्व-अहंकारका नाश हो जाना। यह समझना कि मैं और मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सो सब भगवान् है और सब भगवान्का है, सब कुछ उन्हींकी शक्ति और प्रेरणासे होता है, करने-करानेवाले वे ही हैं।

परन्तु भगवान्की प्यारी यह सच्ची दीनता सहज ही नहीं प्राप्त होती। अभिमानका सारा भूत उतरे बिना दीनता नहीं आती। वर्ण, जाति, धन, मान, विद्या, साधन, स्वास्थ्य आदिका अभिमान, और कर्तापनका अहंकार मनुष्यमें ऐसी दीनता उत्पन्न नहीं होने देता; ऊपरसे मनुष्य दम्भपूर्वक दीन बनता है, भगवान्के सामने अपनेको दीन कहता है, रोनेका स्वाँग भरता है, परन्तु उसकी दीनताकी परीक्षा तो तभी होती है, जब बड़े-से-बड़े सांसारिक पदार्थों और साधनोंकी प्राप्तिमें भी स्वाभाविक दीनता ज्यों-की-त्यों बनी रहे। जो सब लोगोंके सामने अपनेसे हीन स्थितिके दूसरे मनुष्योंद्वारा दीन और पापी कहा जाना केवल सह ही नहीं लेता, वरं उसे सत्य समझकर प्रसन्न होता है और प्रभु-प्राप्तिके लिये सदैव जिसका चित्त खिन्न रहा करता है, ऐसे ही खिन्न-दीन भगवान्को प्यारे होते हैं। सच्ची भक्तिमें अपने पुरुषार्थ या साधनका अभिमान आ ही नहीं सकता, इसीलिये भक्ति श्रेष्ठ है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

२८—उसका (भक्तिका) साधन ज्ञान ही है, किसीका (आचार्यका) यह मत है।

यद्यपि भक्तिमें इस ज्ञानकी तो परम आवश्यकता है कि मैं जिसकी भक्ति करता हूँ वे ही सबके स्वामी, सबके आधार, सबके महेश्वर, जगत्के उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाले, मायाके पति, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वात्मा, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, सगुण, साकार भगवान् हैं, उनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं, क्योंकि इतना ज्ञान भी यदि न होगा तो श्रद्धा नहीं होगी, श्रद्धा बिना प्रीति नहीं होगी और प्रीति बिना भक्ति दृढ़ नहीं होगी।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जलकी चिकनाई॥

परन्तु इसमें अद्वैत ज्ञानके साधनकी आवश्यकता नहीं होती। केवल श्रद्धा और भावसे ही परमात्माकी भक्ति प्राप्त हो जाती है। गृध्रराज, गजेन्द्र, ध्रुव, शबरी आदिने केवल भगवान्की ऐसी ही भक्तिसे भगवान्को प्राप्त किया था।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

२९—दूसरे (आचार्यों) का मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं।

ऐसा भी होता है। गौणी भक्तिसे भगवान्के तत्त्वका ज्ञान होता है और तत्त्वके जाननेसे भगवान्में अत्यन्त प्रेम उत्पन्न होता है। परन्तु केवल भक्तिके प्रेमीजन इस मतकी परवा नहीं करते। क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि जब प्रेमस्वरूपा निर्मल भक्तिका पूर्ण उदय होता है तब किसीका ज्ञान अलग रह ही नहीं जाता। प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों एक हो जाते हैं। फिर किसका ज्ञान किसको होगा?

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥३०॥

३०—ब्रह्मकुमारोंके (सनत्कुमारादि और नारदके) मतसे भक्ति स्वयं फलरूपा है।

अतएव यह भक्ति ही साधन है और भक्ति ही साध्य है। मूल भी वही और फल भी वही। भक्तगण भक्तिके लिये ही भक्ति करते हैं। क्योंकि भक्ति स्वयं फलरूपा है। वह न किसी साधनसे मिलती है और न कोई उससे श्रेष्ठ वस्तु है जिसकी प्राप्तिका वह साधन हो।

सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान-बिग्याना॥

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ३१

३१–राजगृह और भोजनादिमें ऐसा ही देखा जाता है।

यह पूर्वकथित भक्तिकी फलरूपताको समझनेके लिये उदाहरण है।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

३२–न उससे राजाकी प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी।

केवल राजमहलका वर्णन सुनने और जान लेनेसे काम नहीं चलता। राजा धर्मात्मा है, शक्तिशाली है, प्रजाहितैषी है, रूपगुणसम्पन्न है, यह बात भी जान ली, परन्तु इससे क्या हुआ, इस जाननेमात्रसे राजा प्रसन्न थोड़े ही हो गया। इसी प्रकार जान लिया कि हलुआ मीठा होता है, घी और शक्करसे बनता है, बड़ा स्वादिष्ट है, परन्तु इससे भूख तो नहीं मिटती। इसी प्रकार केवल शब्दज्ञानसे न तो भगवान्‌की प्रसन्नता होती है और न हमें शान्ति ही मिलती है। यद्यपि भगवान्‌के लिये सभी समान हैं, तथापि उनकी प्रसन्नता तो भक्तिसे ही मिलती है। वे स्वयं कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

मैं सब भूतोंमें सम हूँ, न कोई मेरा द्वेष्य है और न प्रिय है, परन्तु जो मुझको भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

३३–अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालेको भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये।

भक्तिसे भवबन्धन तो अनायास कट ही जाता है, साक्षात् भगवान् उसके प्रेमास्पद बनकर उसके साथ दिव्य लीला करते हैं।

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥

अन्यान्य बड़े-बड़े साधनोंसे भी सहजमें न मिलनेवाली अति दुर्लभ मुक्ति बिना ही माँगे बलात्कारसे आती है, परन्तु वह भक्त तो—

मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥

मुक्तिकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। ऐसी सुलभ और सर्वोपरि स्थितिरूप भक्तिको छोड़कर दूसरे साधनको कोई क्यों करे? श्रद्धालु और बुद्धिमान् पुरुषोंको केवल भक्ति ही करनी चाहिये।

(क्रमशः)

हृदयकी प्यास

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०)

सौ-सौ जन्मोंसे तुम्हें देखता आ रहा हूँ परन्तु भर आँख देख न पाया। हृदयके मन्दिरमें तुम्हारी मनोहर मङ्गलमूर्ति विराज रही है परन्तु मैं अभागा अपने ही हृदयका द्वार खोलकर मिलन-मन्दिरमें प्रवेश न कर सका। तुम रू-बरू सामने खड़े हो पर मेरी आँखें नहीं उठतीं। कैसे कहूँ बड़ी विचित्र दशा, है, देखे बिना रहा भी नहीं जाता और देखते बनता भी नहीं।

मेरी यह प्यास मेरे जन्म-जन्मान्तरकी चिर-संगिनी है। जीवन और मृत्युको चीरती हुई मेरी यह प्यारी मीठी प्यास अनादि कालसे मेरे साथ चली आ रही है। इस प्यासके ही कारण मेरा यह जीवन और यह जगत् है। जिस प्रकार दूधमें घी और मधुमें मिठास है उसी प्रकार यह प्यास मेरे रोम-रोममें, अणु-अणुमें, प्राण-प्राणमें व्याप्त है। मेरा रोम-रोम तुम्हारी माधुरीमें आकण्ठ डूबनेके लिये व्याकुल है। साँसोंमें भी इसी प्यासकी विह्वलता धड़क रही है। कहाँ जाऊँ, कैसे करूँ ?

कैसी विचित्र पहेली है कि सब कुछ जानूँ पर अपने हृदयवल्लभको न जानूँ, सब कुछ देखूँ पर अपने प्राणनाथको न देख सकूँ। कितना ढाढ़स बाँधकर आता हूँ—परन्तु तुम्हारे ऊपर दृष्टि पड़ी नहीं कि निगोड़ी आँखें झुक जाती हैं और घूँघट सरक आता है—मनकी मनमें ही रह जाती है। कई बार आँखोंको सिखलाता हूँ, चिताता हूँ············परन्तु ये बेचारी स्वयं विवश हैं—इनका क्या दोष ? और अपने अपराधकी सजा भी तो इन्हींको अकेले भोगनी पड़ती है। सामने आ जानेपर तो ये हार खा जाती हैं और चूक जाती हैं—परन्तु बादमें जो बेचैनी, जो छटपटी होती है उसे देखकर तो इनपर दया ही आयेगी।

इस हृदयका मर्म तुम भी खूब जानते हो। प्राणोंकी बेचैनी उसकानेमें तुम्हें भी एक आनन्द आता है। सामने रहते हुए भी पर्देनशीं हो और पर्देके भीतर होते हुए भी सामने हो। देखते हुए भी तुम्हें नहीं देख पाता और नहीं देख पानेपर भी देख रहा हूँ। तुम न हाँ हो न ना हो। हाँ भी हो और ना भी हो। अपने आलिङ्गनके मधुपाशमें बाँधकर भी मैं तुम्हें छू तक नहीं पाया—और मेरी भावना-सीमासे परे होकर भी तुम मेरे आलिङ्गनमें बँधे हुए हो। अच्छी आँख-मिचौनी खेली !

इस लुक-छिपमें तुम्हारा पता कोई भी न दे सका। कलियोंसे जाकर मैंने पूछा—प्रिये ! तुम्हारी साधना बहुत कोमल और मधुमय है—तुम बता दोगी साँवरेका पता ?

कली बोली—अभी मैं साधनाकी बात क्या जानूँ ? अभी तो मैं स्वयं अपने हृदयके बन्द कपाटको खोल न सकी। अभी तो मेरी आँखोंपरकी पलकें गिरी हुई हैं—मैं चाहती हुई भी इन पलकोंको उठाकर अपने प्राणवल्लभको देख न पायी ! देखो इन कठोर डंठलोंसे मैं प्यारेको देखनेके लिये ही बाहर कढ़ आयी और संसारके सम्मुख मैंने अपना घूँघट खोला। पर वह निठुर न मिला, न मिला। हृदयकी इस कसमसाहटमें जब मैं तड़प उठती हूँ तो मेरी ये पंखुड़ियाँ अपना रोम-रोम फैलाकर प्राणप्यारेकी आशामें खिल उठती हैं। मेरी उस चिटखमें कितनी विवशता होती है—कैसे कहूँ। फूल तो मेरी व्यथाका

विकासमात्र है । मेरा यह लघुजीवन और इसकी यह अनन्त अतृप्त लालसा ! अन्तिम कालतक भी मैं 'उन' का पथ देखा करती हूँ और जब हवाके कठोर झोंकेमें मेरी एक-एक पंखुड़ी पृथिवीपर गिरने लगती है तो मैं हृदयका मधु-कोष और सुगन्धकी धरोहर पवनको सौंपकर अन्तिम समय कहती हूँ—लो मेरा यह सर्वस्व—जब 'वे' मिलें तो उनके पाद-पद्मोंमें चढ़ा देना !

मैंने वायुसे पूछा—तुम्हारी साधना परम व्यापक और अनन्त है । तुम संसारकी एक छोरसे दूसरी छोरतक चक्कर काटती हो और अपनी साधनामें आकाश-पाताल एक किये हुई हो—तुम बता सकोगी मेरे प्राणवल्लभका पता ?

वायुकी विवशता बोल उठी—देखो तुम्हारी ही भाँति सारी दुनियाँ मेरे सम्बन्धमें भ्रममें है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैंने प्यारेकी खोजमें संसारका कोना-कोना छान डाला पर············!! समुद्रके कोमल-कोमल ठण्डे-ठण्डे कण लेकर, पुष्पोंसे गन्ध लेकर मैं विकल रात-दिन खोज रही हूँ—और जब उषा अपना रोरीभरा थाल लेकर आरती करनेके लिये लाल रेशमी साड़ी पहनकर तथा माँगमें सिन्दूर भरकर आकाशसे धरातलपर उतरने लगती है उस समय मैं उसके चरणोंमें सिहर-सिहरकर धीरे-धीरे उन्मद मन्थरगतिसे बहती हूँ और उसके आँचलको हिला-डुला देती हूँ—इस आशामें कि समर्पणके इस स्वर्गीय समारोहमें मैं भी अपने प्राणोंकी भेंट अपने हृदयेश्वर-को चढ़ा सकूँ ! परन्तु उषा अपने नाथको आते देख सकुची-ठिठकी अदृश्यका घूँघट काढ़ लेती है और पर्देके भीतर चली जाती है—मैं पगली अपनी धुनमें फिर आकाश-पाताल छानती फिरती हूँ । मेरा सिहर-सिहर बहना देखकर संसार ठगा जाता है और यह अनुमान कर लेता है कि यह मिलनकी ही सिहरन है और उसी मधुर मङ्गल मिलनकी ही यह साँय-साँय है परन्तु उसे क्या पता कि मेरे हृदयके भीतर कैसी भट्टी धधक रही है जो मुझे एक पलके लिये भी चैन नहीं लेने देती ।

तो फिर उषासे चल पूछूँ ! प्रभातका समय था—मैं समुद्रके तटपर खड़ा था । देखा मैंने आरती-का थाल सजाये, लाल कुंकुमकी बेंदी सिर दिये, लाल रेशमी साड़ी पहने, अधरोंमें मधु और आँखोंमें उन्मादभरी उषा धीरे-धीरे अरुणके आलिङ्गनके लिये आगे बढ़ी । उसने अपना घूँघट धीरेसे सरकाया और आँखोंको ऊपर उठा ही रही थी········कि मैंने कहा—प्रिये ! मुझे भी इस समर्पण-समारोहमें सम्मिलित कर लो ! आज मैं भी अपना हृदय अपने 'देवता' के चरणोंमें चढ़ा दूँ !

उषाके कोमल अधरोंपर मुसकुराहट खिल उठी ! कुछ सकुचायी-सी वह बोली—आह ! मेरी इस अतृप्त लालसाको तुम देख पाते ! संसार मेरे रूप-माधुर्यकी स्निग्धता तथा आँखोंके उन्मद अनुराग और अधरोंकी मधु मुसकानको देखकर यह समझ लेता है कि मेरा यह स्निग्ध कोमल समर्पण अवश्य सच्चा होगा और मैं अवश्य अपने 'प्राण' को देख सकी होगी—परन्तु मेरी पूजाकी थाली ज्यों-की-त्यों धरी रह जाती है—मैं उसमेंसे कुंकुम उठाकर ज्यों ही अपने हरिके मस्तकपर लगा देना चाहती हूँ कि········!! मेरा यह रूप-सम्भार व्यर्थ गया ! मैं अभागिन अपने जीवनके सर्वस्वको सामने होते हुए भी देख नहीं पाती ! मेरे रूपमें जो कुछ तुम देख रहे हो वह है 'उस' से पहली भेंटकी स्मृति ! आँखोंमें राग और अधरोंमें मुसकान बनाये मैं अनन्त कालतक इसी वधूरूपमें 'उसे' खोजती रहूँगी—यही मेरा व्रत है । हृदयकी

बेचैनी जो शान्ति नहीं लेने देगी ! मेरे भीतरकी ज्वाला और उत्कट प्यासको तुम जान पाते !!

समुद्र मानो समाधिमें मग्न था। मैंने सोचा—इस अनन्त सागरके अथाह हृदयमें हरिकी झाँकी अवश्य उतरी होगी। इसने अपना विशाल हृदय अनावृत करके फैला दिया है—इसमें प्रभुजीकी रूप-आभा अवश्य छिटकी होगी। रात-दिन असंख्य नदियाँ आकर अपना सर्वस्व इसके चरणोंमें उँड़ेलकर इसके तलवोंको गुदगुदाती हैं परन्तु यह निःस्पृह साधक अपने देवताके ध्यानमें इतना निमग्न है कि इसे पता ही नहीं कि कहाँ क्या हो रहा है। किसी प्रकारकी भी ऐहिक प्राप्तिमें यह अपने हृदयको आन्दोलित नहीं होने देता। इसका ध्यान कितना अटल और अखण्ड है। इसकी साधना कितनी अगाध और अगम्य है। अपने प्राणनाथकी रूप-माधुरी पीनेमें यह इतना व्यस्त है कि अपनी साधनाकी अनन्यतामें संसारसे आँखें मूँद ली हैं।

मैंने उसकी समाधि भङ्ग करते हुए पूछा—मुझे भी 'प्राणप्यारे' के ध्यानमें डूबना सिखला दोगे ?

समुद्रके विषादमय वचन थे—कैसी समाधि और कैसा डूबना ? मैंने तो उसे ही देखनेके लिये अपना हृदय खोलकर उसके चरणोंमें बिछा दिया है। प्रातःकाल अरुणांशुकवसना उषा आती है, आरतीका थाल सजाये, रूप-लावण्यसे भरी हुई—और मेरे हृदयपर एक क्षणके लिये अपनी श्री छिटकाकर चल देती है। मैं उससे पूछता ही रह जाता हूँ और पता नहीं वह कहाँ सकुचाती हुई छिप जाती है। रजनी तारोंका गजरा पहने हुए प्राणनाथकी खोजमें—अभिसार करती है—और मेरे हृदयपरसे होती हुई चली जाती है। मैं उससे 'प्राणनाथ'के देशका पता पूछता ही रह जाता हूँ पर कौन किसकी सुनता है। सूर्य उगता है, मेरे हृदयपर तपता है और सन्ध्या होते समय जब अस्ताचलको जाने लगता है तो मैं पूछता हूँ—'मुझे भी प्रभुके चरण-प्रान्तमें लिये चलो।' सूर्य जाते-जाते कह जाता है—'मेरी खोज भी जारी है।' मैं गङ्गा-यमुनासे पूछता हूँ कि जिस देशसे आयी हो—जहाँसे निकली हो उसका कुछ हाल बतलाओ। वह सकुचायी हुई आकर मेरी गोदमें लय हो जाती हैं और कुछ पता नहीं बतलातीं।

और अपनी व्यथा ? अपनी व्यथा मैं क्या कहूँ और कैसे कहूँ ? मेरे भीतरका बड़वानल—प्रभुको पानेकी मेरी उत्कट लालसा अहर्निश—प्रतिपल मेरे हृदयमें आन्दोलन खड़ा किये रहती है। बाहर-बाहरसे मेरा रूप जितना ही गम्भीर और समाधिस्थ मालूम होता है, भीतरमें उतनी ही बड़ी बेचैनी है। जिससे पूछता हूँ वही यह कहता है कि मेरी खोज अभी जारी है। अथाह जलको रखते हुए भी मेरे भीतरकी ज्वाला—मेरे हृदयकी प्यास न बुझी, न बुझी ! कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ? किसे अपनी व्यथा सुनाऊँ ? कैसे अपने हृदयकी प्यास बुझाऊँ ?

समुद्रके ये वचन सुनकर मैं सहम गया। तो क्या खोजना ही खोजना है ? इस पथमें खोजनेहीका नाम प्राप्ति है ? खोजो और फिर खोजो—खोजते जाओ—जन्म-जन्मान्तरमें खोजका यह मधुर प्रवाह न रुके। और इस पथका सम्बल है हृदयकी यह मीठी-मीठी प्यारी-प्यारी प्यास !

प्रभु ! मेरे दयामय प्रभु ! यह प्यास, यह तड़प बनी रहे, हृदयकी यह मधुर वेदना बनी रहे, प्राणोंकी यह अमर विकलता बनी रहे; और कभी-कभी मेरे नाथ ! प्यासकी इस अमर ज्वालामें अपने रूपका

आलोक फेंककर, मेरी विकलतामें अपने वरद करोंकी छाया डालकर इसे उसकाते रहना, इसे प्रज्वलित किये रहना। यह इतनी धधके कि बस यही यह रह जाय और इसमें समस्त विश्व भस्म हो जाय। प्यासकी इस महावह्निमें ही मेरा सर्वस्व मेरे 'सर्वस्व' के चरणोंमें श्रीकृष्णार्पण हो जाय!

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[गतांकसे आगे]

सकृदेव० इस श्लोकके पदोंका अन्वय अनेक प्रकारसे होता है अतएव अर्थमें भी बहुत कुछ भेद हो सकता है। किन्तु सामान्यतया इसका अन्वय और अर्थ रामायण-शिरोमणि टीकाने यह किया है कि—'सकृत्—एक बार भी 'तवास्मीति याचते' मैं तुम्हारा हूँ यह कहते हुए 'प्रपन्नाय' शरणागतके लिये मैं 'सर्वभूतेभ्यः अभयं ददामि' भय-कारणीभूत सर्वप्राणियोंसे अभय दे देता हूँ, 'एतत् मम व्रतम्' यह मेरा निर्हेतुक संकल्प अथवा स्वभाव है।'

यहाँ पहले 'ददामि' इस वर्तमानार्थक 'लट्' के तटको ही देखकर विचारकी गाड़ी अटक जाती है। भगवान् यहाँ अपने व्रत या संकल्पको समझा रहे हैं। व्रत और संकल्प पहलेसे निश्चित किया जाता है। उस समय अभयदानका याचक सम्मुख नहीं रहता। ऐसी हालतमें या तो वहाँ भविष्यत् अर्थका 'लट्' प्रयोग करके 'अभय दान दूँगा' यह बोलना होता है, अथवा 'दद्याम्' यह 'लिङ्' उचित होता है। फिर यह 'ददामि' क्यों? ठीक है। 'ददामि' इस दानकालिक वर्तमानतासे आप सूचित करते हैं कि अभयदान देना मेरा नित्य सत् स्वाभाविक धर्म है जो सदा वर्तमान रहता है। इसीलिये 'एतन्मम व्रतम्' अर्थात् नित्यपरिगृहीत और नित्य ही मुझमें रहनेवाला यह मेरा धर्म हो गया है। शास्त्रीय झपट्टेसे बचाकर खुलासा अर्थ समझिये कि भगवान्‌का अभयदान दो प्रकारका है—एक तात्कालिक (वर्तमानकालिक), दूसरा आत्यन्तिक। वर्तमान-कालिक अभयदान वह होता है कि किसी डरसे भागकर शरणार्थी भगवान्‌के पास आता है, भगवान् उस वर्तमान भयसे उसे अभय दे देते हैं। और संसारमें आने-जानेके भयसे बचा देना आत्यन्तिक अभयदान है। भगवान् अपने शरणागतके लिये इन दोनों तरहके अभयदानकी प्रतिज्ञा करते हैं। विभीषणको भगवान् तात्कालिक अभयदान तो यह देते हैं कि उसे रावणके भयसे बचा लेते हैं, और आत्यन्तिक यह देते हैं कि फिर दुनियाके यावन्मात्र भय ही उसके पास न फटकने पावें ऐसा 'अपवर्ग' उसे दे देते हैं। इसी आशय-से सदा वर्तमानताकी सूचना करते हुए आपने यहाँ कहा है कि—'अभयं ददामि।'

कितने ही साम्प्रदायिक इस तरहकी 'शरणागति' में ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारके अभयदान एक साथ देना नहीं मानते। वह अर्थ करते हैं कि—'प्रपन्नाय आत्यन्तिक-मभयं ददामि, तवास्मीति याचते च तात्कालिकमभयं ददामि।' उनकी उपपत्ति है कि यहाँ दो अर्थोंका समुच्चय करनेवाला 'च' कहनेसे यह दो कोटि अलग-अलग सिद्ध होती हैं। 'मैं तुम्हारा हूँ यह कहनेवाले 'प्रपन्नाय' शरणा-गतको मैं अभय दे देता हूँ' यदि यही अर्थ होता तो फिर बीचमें 'च' की डाट देनेकी क्या ज़रूरत थी? अतएव स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् 'प्रपन्नाय' और 'तवा-स्मीति याचते' में दो कोटि पृथक्-पृथक् मानते हुए इन दोनोंका समुच्चय करनेके लिये बीचमें 'च' (संयोजक अव्यय) डालते हैं।

अब उनके मतानुसार 'प्रपन्न' का अर्थ समझना बाकी रहा। 'पद्' धातुका गति अर्थ है। गत्यर्थक धातुओंको ज्ञानार्थक भी माना गया है। अतः 'पत्ति' का प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान अर्थ हुआ। फिर 'पत्ति' के साथ यहाँ 'प्र' और जोड़ा गया है। 'प्र' का अर्थ होता है 'प्रकर्ष'। प्रतिपत्तिमें प्रकर्ष है उसकी निरन्तरता। अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे जो भक्त अपनी आत्मामें ही भगवान्‌का अध्यास कर लेता है ऐसी 'प्रपत्ति' करनेवाले ब्रह्मज्ञानीके लिये भगवान् आत्यन्तिक अभय देते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है कि 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'

अर्थात् भक्त जिस तरह भगवान्‌में अभेदकी भावना करता है उस तरह भगवान् भी उसको अपनेसे अभिन्न समझते हैं। उनके मतसे यही 'प्रपन्न' का यहाँ अर्थ है और वही भगवान्‌के आत्यन्तिक अभयदानका पात्र है।

दूसरी कोटि है 'तवास्मीति च याचते।' जिस भक्तका अभी औपाधिक ज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, 'मैं सेवक हूँ आप मेरे सेव्य हैं', 'मैं शिष्य हूँ आप गुरु हैं', 'मैं रक्षा करनेका पात्र हूँ आप रक्षक हैं' इस तरहकी उपासना करता हुआ जो भगवान्‌का आश्रय लेता है उसे भगवान् तात्कालिक अभय अर्थात् जिससे उसे डर हुआ है उससे अभय दे देते हैं। तात्पर्य यहाँ यह है कि उस अधिकारीकी 'मैं और दूसरा' यह द्वैतभावना नष्ट नहीं हुई है। 'द्वितीयाद्धि भयं भवति' इस न्यायसे भय दूसरेसे ही होता है। और भगवान्‌को शरणागतिके कारण रक्षा करना आवश्यक हुआ। अतः—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'जो भक्त मेरा जिस भावनासे आश्रय लेते हैं मैं उसी तरह उनसे पेश आता हूँ', इस कथनके अनुसार यहाँ भक्त 'मैं और दूसरा' यह अध्यास रखता हुआ अभयके लिये भगवान्‌का आश्रय करता है अतएव भगवान् भी 'सर्वभूतेभ्यः' द्वितीयत्वेन अध्यस्त सब प्राणिमात्रसे उसे भय न हो यह अभयदान दे देते हैं।

ठीक है। प्रमाणोंका जाल डालकर बालकी खाल यहाँ जरूर खींची गयी है किन्तु जिस प्रकरणमें यह कहा गया है उसके अर्थसे बहुत खींचातानी करनेपर भी यह पद्य नहीं जुड़ेगा। आखिर खींचातानीमें बेचारे बालकी खाल ठहरने ही कहाँ लगी थी। साफ़ बात तो यह है कि भगवान् विभीषणकी शरणागतिके प्रसङ्गमें 'संकल्प' वाक्य आज्ञा करते हैं। अब आप ही देख लीजिये प्रधान प्रसङ्ग शरणागतिका है या ब्रह्मज्ञानीको मुक्ति देनेका? फिर शरणागतिरूप सरस हरिभजनके समय 'तत्त्वमसि' का 'कपास'[१] ओटना' कैसे जुड़ सकेगा? अतएव इस पद्यके अर्थको फिरसे सँभालना होगा।

आइये, पहले प्रसङ्गकी संगति मिला लीजिये। 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' के अनुसार किसी बातको दो बार दृढ़ कर देना ही काफ़ी होता है किन्तु जब तीन-तीन बार सुग्रीवने विभीषणको आश्रय देनेका घोर विरोध किया तब तीसरी बार अनिच्छा होनेपर भी भगवान् श्रीरामने अपना दिव्य प्रभाव प्रकट किया और सुग्रीवको विश्वास दिलाया कि विभीषण और रावण तो क्या यावन्मात्र दिव्य योनितक मेरे अनिष्ट करनेकी शक्ति नहीं रखते। अतः भयके कारण तो इसका त्याग करना ठीक नहीं। दूसरे—शरण आयेकी रक्षा करना यह धर्म सदासे चला आया है। पशु-पक्षीतक इस आवश्यक कर्तव्यके कायल हैं। इसमें आर्ष वचन प्रमाणमें भी दिये। सब कुछ कहकर अन्तमें शरणागतकी रक्षाके विषयमें अपने चरम निश्चयरूपसे भगवान् कहते हैं— 'सकृदेव प्रपन्नाय०'।

इसे और भी विशद करके कहना अच्छा होगा। शरणागतकी रक्षाको भगवान् धर्म ही नहीं परम धर्म बतलाते हैं किन्तु इसमें प्रमाण दिये बिना प्रधान प्रतिवादी वानरश्रेष्ठ केवल सुग्रीव ही नहीं, नरश्रेष्ठ और भी कई शास्त्रार्थी जीव माननेको तैयार नहीं। धर्मप्रमाणोंको महर्षि याज्ञवल्क्य गिनाते हैं—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

'श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार, अपने आत्माके लिये हितकारक और सच्चे संकल्पसे उत्पन्न हुआ आत्ममनोरथ—यह पाँच धर्मके मूल हैं।' भगवान् श्रीरामचन्द्र शरणागतरक्षारूप इस परम धर्ममें इन पाँचों प्रमाणोंको उपस्थित कर रहे हैं। 'तस्मादपि वध्यं प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति' इत्यादि श्रुति-प्रमाण दिये। फिर—

ऋषेः कण्वस्य पुत्रेण कण्डुना परमर्षिणा।
शृणु गाथा पुरा गीता·················॥

—इत्यादि आर्ष गाथारूप स्मृतिप्रमाण दिया। शरणागत-रक्षा सदासे चली आयी, कपोतादि तक उसका पालन करते हैं, यों पारम्परिक शिष्टाचार दिखलाया। 'क्रूरस्वभाव भाईसे सताये हुए विभीषणको यदि आश्रय दिया जायगा तो उपकृत हुआ वह हमारी सहायता ही करेगा, अनिष्ट नहीं।' यों स्वप्रियत्व साधन किया। इस प्रकार शरणागतरक्षामें चार प्रमाण तो अबतक दिये जा चुके हैं। अब पाँचवाँ प्रमाण रहा 'सम्यक्संकल्पजः कामः।' उसीके लिये 'सकृदेव प्रपन्नाय' इस श्लोकसे भगवान् अपना सार्वदिक सत्यसंकल्प प्रमाणत्वेन उपस्थित कर रहे हैं। अर्थात् मेरे सच्चे अन्तःकरणका

१ 'आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास।'

सदासे यह दृढ़ संकल्प रहता आया है कि प्रपन्न (शरणागत) को यावन्मात्र भयकारणोंसे अभयदान दूँ। मैं इसको अपना एक आवश्यक व्रत समझता हूँ। अब कहिये—पाँचों प्रमाणोंने मिलकर जब पूरा 'पञ्च-फैसला' कर दिया तब शरणागतरक्षाको धर्म ही नहीं, परम धर्म माननेमें आपत्ति किस तरह हो सकती है ? अस्तु, यह तो हुई प्रसङ्गसङ्गति। अब अर्थपर आइये—

आपको यदि 'तवास्मीति' से 'तत्त्वमसि' का ही तत्त्व निकालना है तो पद्यका अर्थ यों करना होगा। सुनिये—यहाँ 'प्रपन्नाय'से उपाय कथन है और 'तवास्मीति याचते' से फलविशेषकी प्रार्थना है। अर्थ यह हुआ कि प्रपन्न होकर यानी भजनादि उपाय करता हुआ जो 'तवास्मि' अर्थात् मैं आपका ही एक अंश हूँ, यों तच्छेषवृत्तिलक्षण-रूप सायुज्यादि फल माँगता है। भगवान् कहते हैं उसको मैं'सर्वभूतेभ्यो भयहेतुतया शङ्कितेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः''जिन-जिनसे भयकी शंका हो सकती है उन-उन सब प्राणियोंसे, 'अभयं ददामि' अभय दे देता हूँ। अभयका अर्थ है भयका आत्यन्तिक अभाव, अर्थात् मोक्ष। 'अथ सोऽभयं-गतो भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' 'जो ब्रह्मानन्दका आस्वादन कर लेता है उसे फिर किसीसे भी भय नहीं रहता' इत्यादि स्थलोंमें भयाभावसे स्पष्ट ही मोक्षका अर्थ है। क्योंकि जिस अभयको ब्रह्मविद्याके अनन्तर मिलनेवाला फल बताया जा रहा है वह 'मोक्ष' के सिवा और क्या हो सकता है ?

सच पूछिये तो यह अर्थ भी शरणागतिप्रसङ्गसे कुछ दूर हट जाता है। अतएव प्रसङ्गानुगत अर्थ करना उचित होगा—'सकृदेव'का अर्थ है केवल एक बार ही। 'प्रपन्नाय' का अर्थ करते हुए पूर्वोक्तपक्षमें जिस तरह 'पद्' धातुका ज्ञान अर्थ माना गया है उसी तरह यहाँ भी वही अर्थ है। अतएव प्रकृष्ट ज्ञानसे प्रयोजन हुआ 'मानसी' प्रपत्ति, और 'तव अस्मि इति याचते' से, मैं तुम्हारा हूँ इस याचनासे 'याचिकी' प्रपत्ति दिखलायी है। खुलासा अर्थ यह हुआ कि जो एक बार भी 'मानसी' शरणागति अर्थात् मनके द्वारा ही भगवान्का आश्रय लेता है अथवा 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर 'याचिकी' प्रपत्ति अङ्गीकार करता है उन दोनोंको ही मैं सर्वप्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।

स्वतन्त्र दो कोटि न मानकर शरणागतिमें ही दो कोटि मानी गयी हैं। अर्थात् एक मानसी प्रपत्ति और दूसरी वाचिकी। 'प्रपन्नाय' अर्थात् मानस प्रपत्ति स्वीकार करनेवालेको 'च' (और) 'तवास्मीति याचते' मैं तुम्हारा हूँ कहकर वाचिक प्रपत्ति स्वीकार करनेवाले दोनोंको ही मैं अभय देता हूँ। इस प्रकार अर्थ करनेसे 'च' के लिये जो पञ्चायत खड़ी हुई थी वह भी शान्त हो जाती है। भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारकी 'प्रपत्ति' स्वीकार करता है उसे मैं सब प्रकारके भयोंसे छुड़ा देता हूँ।

गजेन्द्रका बल जिस समय जलमें न चल सका और प्रबल ग्राह उसे अतल जलमें खींचे ले जाने लगा उस समय आत्मरक्षाका उसको कोई उपाय न दीखा। तिल-मात्र सूँड़ बाहर रह गयी थी, अतएव वह मन-ही-मन भगवान्के शरणागत होता है कि हे भगवन् ! अब आप ही सहायक हैं। शरणागतवत्सल भगवान् शीघ्रताके कारण गरुड़को भी पीछे छोड़कर तत्काल वहाँ पधारते हैं और गजेन्द्रका उद्धार करते हैं।

कितने ही यहाँ यह शंका कर सकते हैं कि यहाँ केवल मानस प्रपत्ति ही नहीं, वाचिक प्रपत्ति और भगवान्की सेवामें उपायन निवेदन करना भी तो वर्णित है। स्पष्ट ही तो कहा है—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते।

—सूँड़से एक कमल ऊँचा करके वह बड़े कष्टसे बोला—'हे जगत्के स्वामी नारायण ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।' किन्तु भगवान् तो—

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि।

—जिस समय उसने मनमें ही भगवान्का स्मरण किया था उसी समय वैकुण्ठसे रवाना हो गये थे। तभी तो इतनी शीघ्रतासे पहुँच सके। अस्तु यदि यह शुद्ध मानस प्रपत्ति नहीं मानी जाती हो तो और लीजिये।

कालियने भगवान्को साधारण मनुष्यमात्र समझकर उनसे गर्व किया, उनकी आज्ञानुसार वह श्रीयमुनाको छोड़कर बाहर न गया। बस, तत्काल ही भगवान्ने उसके फणोंपर चढ़कर वह ठोकर दी कि अक्ल ठिकाने आ

गयी। प्रकाशमें वह नाच था, किन्तु कालियके लिये प्रलय-ताण्डवसे कम न था। श्रीशुक कहते हैं–वह यावन्मात्र ताण्डवोंसे विचित्र ताण्डव था, जिसकी कि एक-एक ठोकरमें कालियसदृश क्रूरकर्माको भी काल सम्मुख दिखायी देने लगा, वह नाच क्या सामान्य था? प्रसिद्ध है गँवारकी अकल सिरमें होती है। जैसे ही मस्तककी मरम्मत हुई कि घबरा उठा—

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन्नृप भग्नगात्रः।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥

भगवान्के उस विचित्र ताण्डवसे उसके फणोंकी एक-एक नस ढीली और चूरमूर हो गयी। मुखसे रक्त बहने लगा। फण ही नहीं उसका प्रत्येक अङ्ग टूटा जा रहा था। उस समय वह चराचरनायक उन्हीं भगवान् नारायणकी शरण गया। किस प्रकार? 'मनसा जगाम–मनके द्वारा।' ठोकरपर ठोकरोंके कारण मुखसे 'चूँ' करनेका अवकाश न था फिर प्रणामादिकी तो कथा ही क्या है? अतएव 'मनसा अरणं (शरणम्) जगाम' स्पष्ट ही तो मानस शरणागति है। फल भी उसका प्रत्यक्ष देख लीजिये। भगवान्ने तत्काल उसे अभय दे दिया। आपने कहा कि–'तुम जिसके डरसे रमणक द्वीप छोड़कर यहाँ छिपे हो उस गरुड़से अब तुमको भय नहीं। तुमपर मेरे चरणोंकी छाप पड़ चुकी, अब तुमको वह नहीं खा सकता।'

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात्स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पदलाञ्छितम्॥

यहाँ भी कदाचित् शंकाका अवसर मिल सकता है कि कालियने आगे चलकर वाचिक स्तुति भी तो की थी। नागपत्नियोंकी स्तुति तो प्रत्यक्ष है ही, तो और लीजिये—

जिस समय भगवान् राम-कृष्ण गोचारणके लिये वनमें पधारे और गोपोंने आपसे क्षुधाकी शिकायत की कि हमें भूख सता रही है उस समय श्रीरामने आज्ञा की कि समीपमें ही ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं; वहाँ यज्ञवाटमें जाकर मेरे आनेकी सूचना करो, वह अवश्य तुमको यथोचित भोजन देंगे। परन्तु कर्माभिमानी उन ब्राह्मणोंने गोपोंकी प्रार्थनापर कान न दिया। इधर गोप तो 'दण्डवत्पतिता भुवि' भूमिमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके अन्नके लिये प्रार्थना कर रहे हैं उधर वे 'बालिशा वृद्धमानिनः' मूर्ख होनेपर भी अपनेको बहुत बड़ा माननेवालोंने जब 'हाँ' 'ना' का कुछ जवाब न दिया—

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप।

—तब निराश होकर वे लौट आये। श्रीकृष्णने गोपोंको दुबारा फिर भेजा कि जाओ अबके ब्राह्मणपत्नियोंके पास जाओ, और मेरा नाम लेकर भोजनके लिये कहो। स्त्रियोंने जैसे ही भगवान्का आगमन सुना कि विविध प्रकारकी भोज्यसामग्री पात्रोंमें लेकर 'प्रियम् अभिसस्रुः' अपने प्राणप्रिय भगवान्के अभिमुख चलीं। क्योंकि 'नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः' सदा भगवान्के दर्शनकी उन्हें प्रबल उत्कण्ठा लगी रहती थी। उनके जानेके समयकी श्रीशुकदेवजीने उपमा दी है—'समुद्रमिव निम्नगाः' नदियाँ जिस तरह समुद्रके अभिमुख जाती हैं। समुद्रकी तरफ नदियोंका जाना स्वाभाविक है और वह रोका भी नहीं जा सकता। क्योंकि 'निम्नगाः' ढलावकी तरफ जाते हुए जलप्रवाहको रोकनेकी किसकी ताकत है? उनको उनके पति-भ्रातादि सम्बन्धियोंने रोका भी था किन्तु 'भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः', बहुत समयसे गुणानुवाद सुनते रहनेके कारण उनका अन्तःकरण उनके पास न रहकर भगवान्में बस चुका था। अतएव वे भगवान्की शरणमें गयीं और बोलीं—आपके शरण आनेमें बाधक हुए ऐसे समस्त बान्धवोंको 'अतिलङ्घ्य' उल्लंघन करके आपके चरणोंसे प्रसादी की हुई तुलसीमालाको अपने केशपाशोंमें धारण करनेके लिये 'तव पादमूलं प्राप्ताः' आपके चरणोंकी शरण हम आयी हैं। यों प्रत्यक्षरूपसे शरणागत होती हैं।

किन्तु उनमेंसे किसी स्त्रीको उसके पतिने मकानमें बन्द कर दिया और भगवान्के पास जानेसे रोक दिया। वह भगवान्के गुण सुन-सुनकर, उनकी अलौकिक रूप-माधुरीका हृदयमें ध्यान कर-करके उनमें पहलेहीसे एकान्त अनुरक्त हो चुकी थी। इस समय प्रत्यक्ष शरण जानेसे जैसे ही वह रोकी गयी, वैसे ही उसने अपने हृदयमें स्थित भगवान्की मानसिक शरणागति स्वीकार की। अपने अन्तःकरणमें ही भगवान्को आत्मनिवेदन कर दिया कि 'हे भगवन्! मैं इस भौतिक शरीरद्वारा आपकी शरण आनेमें असमर्थ हूँ। किन्तु अब आपके सिवा मेरी कोई

गति नहीं । मैं आपके शरण हूँ ।' बस, भगवान्‌ने उसकी 'मानस प्रपत्ति' स्वीकार करके उसे अपनी शरणमें ले लिया और सदाके लिये अभय दे दिया—

हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥

एक ही नहीं मानस प्रपत्तिके ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भगवान्‌ने अपने शरणागतको अभय दिया है ।

वाचिक शरणागति तो स्थान-स्थानपर देखी जाती है । प्रायः प्रत्येक भक्तने ही भगवान्‌की स्तुति करके शरण याचना की है । किन्तु उन सबमें कुछ-कुछ मनका भी सम्बन्ध है परन्तु वाणीमात्र सुनकर जिसको भगवान्‌ने शरणमें लिया हो उनमें सर्वतः प्रधान अजामिल है । शरणागति कैसी, केवल अपना नाममात्र सुनकर भगवान्‌ने उसे अभय दे दिया है । वह घोर पापी था । 'नष्ट सदाचारः' दुनियामें अच्छे आचरण जो कुछ भी हो सकते हैं उसके यहाँ सब आकर नष्ट हो चुके थे । वृद्ध माता-पिता, और साध्वी स्त्रीको उसने परित्याग कर दिया था । शूद्राको स्त्री बनाकर नीच कर्तव्योंसे वह अपनी आयु बिताता था । सो भी थोड़ी-बहुत नहीं, अपने जीवनके अट्ठासी वर्ष खो चुका था । पुत्र-कलत्रादिमें ऐसा लीन था कि रात्रि-दिन उनकी ही भावना करते बीतता था । इस ढलते दिनमें जैसे ही उसकी आँखें मिचने लगीं, नरकोंमें ले जानेके लिये यमदूतोंने उसे पकड़ा । उनकी भयङ्कर आकृति देखकर वह एकदम घबरा गया । और तो कुछ न बना वह अपने उस बालक पुत्रको पुकार उठा— 'नारायण' । बस, शरणागति पीछे होगी, अपना नाममात्र सुनकर ही भगवान्‌ने उसको समस्त भयोंसे छुड़ा दिया । भगवान्‌के पार्षद प्रत्यक्ष वहाँ आते हैं और उसको यमपाशसे छुड़ाकर सर्वदाके लिये अभय दे देते हैं । इसी लिये भगवान् श्रीरामचन्द्र यहाँ आज्ञा करते हैं कि जो मन अथवा वचनके द्वारा एक बार भी मेरे अभिमुख हो जाता है उसे सर्वथा मैं अभय कर देता हूँ ।

वाह वा ! यह तो बड़े सुभीतेका अर्थ बतलाया पण्डितजी ! यज्ञ-यागादिके बड़े लम्बे-चौड़े झगड़ोंसे बचा दिया । रात-दिनके अग्निहोत्रसे शरीर काला पड़ जाता है परन्तु तो भी जरा-सा कर्मवैगुण्य होते ही सब किया-कराया चौपट हो जाता है । इतने दिनका परिश्रम बरबाद होकर फिर वही पहला दिन सामने आ जाता है । यही क्यों, तीर्थ, व्रत, नियम, उपवास आदिमें क्या कम परिश्रम है ? एक दिनके उपवासमें ही लोगोंको दिनमें तारामण्डल दीखने लगता है । फिर महीनों 'अब्भक्षो वायुभक्षः' रहना क्या सहज है ? पुण्याहवाचनके समय 'अवनिकृतजानुमण्डलः' भूमिमें घुटना टेककर थोड़ी-सी देर कर्मकाण्डका छोटा-सा नियम पालन करना पड़ता है । सो भी मस्तकपर कलश चढ़ाते हैं, प्रणाम करते हैं उतनी-सी देर । इतनी ही देरमें लोगोंको बाँयटे-से आने लगते हैं, फिर भला जो ध्यान-आसनादिकी अनेक मुद्राएँ निरन्तर साधन किया करते हैं उनके काठिन्यको तो सोचिये । यह हुआ कर्ममार्गका विचार । अब आइये ज्ञानमार्गमें । दुनियाके यावन्मात्र पदार्थोंसे निर्वेद- (विरक्ति) होकर 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' जहाँ वाणी और मन-तककी पहुँच नहीं, बेचारे चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तो कथा ही क्या, उस ब्रह्मकी भावनामें लीन हो जाना क्या यों ही है ? लोग आजन्म 'तत्त्वमसि' की एकवाक्यता करते रहे हैं परन्तु परिणाममें जाकर सब निस्तत्त्व रह गया है । यों तो मुखसे 'सोऽहम्' का चाहे पुरश्चरण ही करते रहें परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममय हो जाना क्या सबके भाग्यमें है ? ब्रह्मरूप हो जानेकी बात तो जाने दीजिये, परन्तु देह और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं इसको सच्ची तरहसे अमलमें लाना ही कहिये कितनोंसे बन पड़ता है ? परन्तु आपने तो बड़ा सीधा रास्ता निकाल दिया । या तो मनमें भगवान्‌का ध्यान कर लिया या मुखसे कह दिया कि मैं तुम्हारा हूँ । बस, सारे झंझटोंसे बच जायँगे । हम लाख भी दोष करें, भगवान् फिर उधर दृष्टि ही न देंगे । हमको निर्भय कर देंगे ।

ठीक है । आपने यज्ञ-यागादि, तपस्या, ब्रह्मज्ञान आदि सबसे भगवान्‌की शरणागतिको सरल समझ लिया, और सन्तोष भी कर लिया, यह बहुत अच्छा हुआ । परन्तु जरा मार्मिक विचार कीजिये तो आपको मालूम हो जायगा कि यह उन सबकी अपेक्षा कठिन है या सरल । शरणागति तो आगेकी बात है, भगवान्‌के अभिमुख हो जाना ही विरलोंके भाग्यमें होता है । जो प्रकृतिसे ही दैवजीव हैं और जिनपर भगवान्‌का अनुग्रह होता है वही दुनियामें रहते हुए भी उसे पीठ देकर भगवान्‌के अभिमुख होते हैं । भक्त बनायेसे नहीं बनता । 'ठोक-पीटकर वैद्यराज' चाहे बन जाय पर भगवदनुगृहीत भक्त हो जाना हाथकी बात नहीं । भगवान्‌की इच्छा और कृपाकी बात है । प्राक्तन अच्छे

संस्कारके बिना लाख सिखानेपर भी भगवान्‌की ओर आदमी सहजमें मुड़ नहीं सकता। भक्त उद्धवको बाल्यावस्थामें कौन तालीम देने बैठा था कि तुम भक्त बनो। परन्तु उनका मानसिक प्रवाह आरम्भसे ही भगवान्‌के अभिमुख था। और बालक रास्तेमें नाना तरहके खेल खेलते, परन्तु वह खेल भी भगवान्‌के ही करते। माँ कहती—'बेटा! बहुत देर हो गयी, अब कलेवा कर लो।' खेलमें मस्त हुए वह कहते—'वाह! तुम देखती नहीं, अभी ठाकुरजीको नहलाया है। शृङ्गार करके फिर कलेवा करूँगा।' अहा! धन्य है वह भाग्यवान् बालक, और वन्दनीय है उसकी जननी माता, जिसका पुत्र भगवान्‌की क्रीडामें अपने आपको भी भूल जाता है। बालक भगवान्‌की सेवाके खेलमें ऐसा लीन है कि दूसरी तरफ न उसकी दृष्टि है न चित्त। जब वह अपनेको ही भूला हुआ है तब कलेवा कैसा?

इसे आप भक्तिके गौरवके लिये बनायी हुई बात न समझें, बालकका स्वभाव ही है कि वह जिसमें लीन होता है फिर सबको भूल जाता है। रोते हुए, और तो क्या, शरीरमें जिसके कुछ वेदना हो ऐसे भी बालकको आप खिलौना देकर उसमें कैसा लीन कर देते हैं? बस, उद्धव भी अपने खेलमें एकदम तन्मय हैं। शृंगार कर लेनेके बाद फिर आगेकी सेवा शुरू हो जाती है, कलेवा भूल जाते हैं। घरके काम-काजमें लगी हुई बेचारी माता आकर देखती है—कलेवा पड़ा-पड़ा सूख रहा है। पुत्र-स्नेहसे विह्वल होनेके कारण उसकी आँखसे आँसू बहने लगता है, वह गद्गद होकर कहती है—'बेटा! दुपहर होता आया, अभीतक तैंने कुछ नहीं खाया। और बालक तो दो-दो, तीन-तीन बार खा-पी चुके।'

जो जन्मसे ही इस तरह भगवान्‌की तरफ लौ लगाये उत्पन्न होते हैं उन्हींको भगवान्‌की शरणागतिबुद्धि होती है। यह बात बिल्कुल, सोलहों आने सत्य है कि शरणागत हो जानेपर भगवान् उसके सब अपराध क्षमा कर देते हैं और उसको अभय (मोक्ष) दे देते हैं। किन्तु दुनियासे मुँह मुड़ जाना और भगवान्‌की तरफ मुख हो जाना यही तो कठिन है। यह क्यों, सब जानते हैं और नाना तरहकी समालोचनाएँ भी किया करते हैं कि कलियुगमें नाम-जपसे ही मुक्ति हो जाती है, परन्तु आप ही देख लीजिये, नामजपपर पूर्ण विश्वास करके इस सहज नुसखेसे कितने आदमी फायदा उठाते हैं? हमारे शरीरमें घोर रोग रहता है, उसके कारण हम बड़ी-बड़ी तकलीफें उठाते हैं, परन्तु छोटा-सा उपाय हमसे नहीं हो पाता। पड़ोसीकी बतायी हुई साधारण-सी दवा लाकर न घोटी जाती है और न पीयी ही जाती है। रोगमें छटपटाते रहते हैं। बतलानेवालेने कहा है कि कौड़ियोंकी दवा है और हम भी जानते हैं कि बड़ी सीधी-सी बात है परन्तु फिर भी न हमसे दवा होती है, न रोग जाता है। बात यह है जब भगवत्कृपा होगी, तभी हमसे सीधे-से-सीधे उपाय भी बन आयँगे अन्यथा हम विचार ही करते रह जायँगे और समय निकल जायगा।

जन्मदरिद्रका दृष्टान्त सुना ही होगा—एक मनुष्य बड़ा दरिद्र था उसके कारण बहुत दुःख पाता था। घर और वंशका वह अच्छा था, परन्तु भीतर जो उसकी नाजुक दशा थी उसको वही जानता था। उसके उस दारुण दुःखको देखकर एक परमदयालु सिद्ध दयार्द्र हो पड़े। चुपचाप उसे बुलाकर अपनी झोलीसे पत्थरका एक टुकड़ा देकर कहा कि ले, इस पत्थरको ले जा, लोहेके लगा देना। वह सोना हो जायगा। तू इस उपायसे अपनी दरिद्रताका दुःख मिटा ले। किन्तु चार महीनेके बाद मैं जब लौटूँगा तो यह पत्थर लेता जाऊँगा।

यह घरमें आये और बड़े प्रसन्न हो रहे थे कि अब अपनी दरिद्रतासे छुटकारा पा गये! एक दिनमें ढेर-के-ढेर लोहेके इसे छुआ देंगे। बस, फिर क्या है जन्मभरके लिये छुट्टी हो गयी। आप प्रतिदिन लोहेका भाव पूछते रहे। अभी महँगा है, क्या जल्दी है, चार महीने पड़े हैं। एक दिनमें तो सोनेसे घर भरा जाता है। बस, रोज भाव पूछते-पूछते ही चार महीने बीत गये। यह सोच रहे थे कि आज चार महीने हुए हैं। क्या साधूजी अंग्रेजी टाइम थोड़े ही साधते हैं। दो-चार दिनमें आयेंगे तबतक लोहा लाकर दरिद्रताको दूर भगाये देते हैं। संयोगकी बात है ठीक चौथा महीना समाप्त होते ही उसी दिन साधु आये और उन्होंने कहा कि कहाँ है वह पत्थर? अब यह क्या कहते। घरमें सब कुछ ढूँढ-ढाँढनेपर भी उस समय छोटी-छोटी दो लोहेकी कीलें ही मिलीं जिन्हें उन्होंने पत्थरसे लगा पाया। बाकी फिर वैसे-के-वैसे ही।

आप देखिये, कितना सरल उपाय था। बस, लोहेपर छुआ देना ही तो था। कीमिया करनेके लिये, इ

बनानेके लिये कितनी फूँका-फाँकी करनी पड़ती है, परन्तु इसमें तो हाथ हिला देने भरकी देर थी। किन्तु वह भी उस जन्मके भाग्यवान्से हुआ। सरल-से-सरल उपाय भी हुआ तो क्या गर्ज, उसका बन आना तो शर्त है। नामी हकीमकी अक्सीर दवा दामनकी दामनमें बँधी रह जाती है और हमारा दम निकल जाता है।

बस, यही खेल यहाँ होता है। हम भक्तिग्रन्थ खूब पढ़ लेते हैं। शास्त्रज्ञान खूब हो जाता है। हजारों बार हमारी आँखोंके नीचे होकर यह लेख निकल जाता है कि भगवान्की शरणागति हो जानेपर मनुष्यको कोई भय नहीं रहता, परन्तु इस शरणागतिके अभिमुख आजतक नहीं होते। तीर्थस्थानोंमें देखा है पास ही सिद्धपीठ देव-मन्दिर है परन्तु वहाँ नहीं जाया जाता। और हजार काम दूर-दूरके हमसे बन आते हैं परन्तु देवदर्शनके लिये नित्य विचार ही करते रहते हैं नहीं जा पाते।

असल बात यह है कि हम चाहे अपने मनमें चाहा करें, क्या होगा? जब भगवान् चाहेंगे तभी हम दुनियासे मुड़ेंगे और भगवान्के अभिमुख हो सकेंगे। और भगवान् भी तभी चाहते हैं जब हमारा दृढ़ अनुराग और सच्ची भावना देख लेते हैं, हमें उसका पात्र समझ लेते हैं। आप ही देख लीजिये कि जिस समय हम भगवान्की तरफ मुड़े और भगवान्ने हमें अङ्गीकार कर लिया, फिर क्या हमें कुछ अप्राप्य रह जायगा? एक पुरुषार्थ क्या, चतुर्वर्ग हमारे पीछे-पीछे चलेंगे। भगवान् हमारे वशीभूत हो जाते हैं। तब इतना बड़ा उच्च अधिकार देनेके लिये भगवान् क्या कुछ नहीं सोचें-समझेंगे? (क्रमशः)

विश्वेश-शरण

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

एक दिन कोकिला और श्यामा दोनों सवेरे तीन बजे उठकर प्रकृतिसे पर परमेश्वरका ध्यान करने लगीं, चार बजेसे पीछे श्यामाका ध्यान उचट गया, उसने बहुतेरा चाहा परन्तु फिर ध्यान न लगा। कोकिलाका भी ऐसा ही हुआ। तब श्यामा कोकिलासे कहने लगी—

श्यामा—बहिन! ध्यान तो इस समय लगता नहीं है और अभी रात्रि शेष है, यदि तू कहे तो मैं तुझसे एक प्रश्न करूँ?

कोकिला—कर बहिन, प्रश्न कर! मैं जानती हूँ कि तेरा प्रश्न संसार-सम्बन्धी तो होगा नहीं, ईश्वर-सम्बन्धी ही होगा। बोल, तेरा क्या प्रश्न है?

श्यामा—हे बहिन! संसार-समुद्रसे पार होनेका सुगम उपाय कौन-सा है? यह मैं तेरे मुखसे सुनना चाहती हूँ।

कोकिला—हे बहिन! संसार-समुद्रसे तरनेका सर्वोत्तम सुगम उपाय विश्वेशकी शरण है। जो बहिन-भाई विश्वेशकी शरण लेते हैं, वे निश्चय ही संसार-समुद्रसे सहज ही पार हो जाते हैं। विश्वेशकी शरणमें कठिनाई कुछ भी नहीं है और फल अक्षय है। न पैसा-धेला खर्च करना पड़ता है, न दूसरेकी सहायता लेनी पड़ती है, न आसन लगाना पड़ता है, न प्राणायाम करना पड़ता है, न प्रत्याहार, धारणा, ध्यान करना पड़ता है और न समाधि ही करनी पड़ती है। मनको रोकनेकी भी आवश्यकता नहीं है, ईश्वर-शरण होते ही ये सब बातें स्वयं सिद्ध हो जाती हैं।

श्यामा—बहिन! ईश्वर-शरण किसको कहते हैं?

कोकिला—कर्म और कर्मफलमें आसक्ति छोड़कर ईश्वरका प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर स्मरण करते हुए समस्त क्रियाएँ केवल ईश्वरके प्रेमके लिये करना,

इसीका नाम विश्वेश-शरण है। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—'हे अर्जुन ! जो कुछ तू करता है, जो कुछ तू खाता है, जो कुछ तू होम करता है, जो कुछ तप करता है, यह सब मेरे अर्पण कर। यानी जो कुछ तू लौकिक, वैदिक क्रियाएँ करता है वह सब सिर्फ मेरी प्रीतिके लिये कर। ऐसा करनेसे तू सब कर्मोंके शुभ-अशुभ, सुख-दुःखरूप फलसे छूट जायगा और अभ्यासयोगसे युक्त मनवाला होकर मुझको ही प्राप्त होगा।' एक बार भाष्यकार भगवान् शङ्कर और उनके किसी शिष्यमें निम्नलिखित संवाद हुआ।

शिष्य–हे कल्याणमूर्ते ! मैं अपार संसारमें डूब रहा हूँ, उसमें क्या शरण है ? यानी मैं किसकी शरण लेकर संसार-समुद्रसे पार हो सकता हूँ। इस संसार-समुद्रमें अनादि कालका कर्मरूप जल भरा है; काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अनेक भयानक जन्तु हैं, जो रात-दिन जीवको काटते रहते हैं, पाप-पुण्यरूप लहरें उठ रही हैं, सुख और दुःख इन लहरोंके थपेड़े हैं। ये थपेड़े जीवको हर समय लगते रहते हैं। जैसे समुद्रका आजतक किसीने पार नहीं पाया, ऐसे ही यह संसार-समुद्र भी अपार है।

शङ्का–समुद्रके पार तो जहाज जाते ही हैं। फिर यह कैसे कहा जाता है कि समुद्रका पार नहीं है।

उत्तर–समुद्रके पार न तो आजतक कोई गया, न किसीने पार पाया। जहाज केवल एक टापूसे दूसरे टापूमें जाते हैं, और जा सकते हैं। इसलिये समुद्रका पार नहीं है। इसी प्रकार संसार-समुद्रका भी पार नहीं है।

शिष्य–इससे पार होनेका उपाय बताइये ?

गुरु–हे सौम्य ! संसार-समुद्रसे पार जानेके लिये विश्वेश परमात्माके चरण-कमलकी शरण ही उत्तम जहाज है। उस विश्वेशके चरण-कमलोंका अवलम्बन लेकर ही मनुष्य संसार-समुद्रसे पार हो सकता है। अब मैं तुझे विश्वेश शब्दका अर्थ समझाता हूँ, विश्व और ईश दो शब्दोंसे मिलकर बना हुआ यौगिक शब्द 'विश्वेश' है। इसके तीन अर्थ होते हैं— एक तो जो विश्वका ईश्वर है, वह विश्वेश्वर। दूसरा, जिस ईश्वरका विश्व है, वह विश्वेश्वर और तीसरा, जो विश्व है और ईश भी है, वह विश्वेश्वर।

शिष्य–श्रीमहाराज ! विश्वेशके प्रथम दो अर्थोंको तो मैं समझ गया, तीसरे अर्थको नहीं समझा। 'जो विश्व भी है और ईश भी है, वह विश्वेश है।' यह बात मेरी समझमें नहीं आयी; क्योंकि विश्व तो सबको प्रत्यक्ष दिखायी देता है, परन्तु विश्वेश तो दिखायी नहीं देता। नियममें रखनेवालेका नाम ईश्वर है, जो विश्वको नियममें रक्खे, वह ईश्वर—विश्वेश्वर है, यानी ईश्वर नियामक और विश्व नियम्य है। नियामक नियम्यसे भिन्न होता है। फिर नियामक ईश्वर और नियम्य विश्व एक कैसे हैं ?

गुरु–हे प्रियदर्शन ! जो सबमें प्रवेश कर जाय अथवा जिसमें सब प्रवेश कर जायँ, उसका नाम विश्व है। इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्मका नाम विश्व है। क्योंकि ब्रह्म सब जगत्‌में व्यापक है और ब्रह्मसे सब जगत् व्याप्त है। इसलिये ब्रह्म और विश्व पर्याय हैं— एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

विष्णुसहस्रनाममें व्यासजीने भगवान्‌का पहला नाम विश्व ही कहा है। विष्णुसहस्रनामके भाष्यमें मैंने विश्वेश शब्दका अर्थ विस्तारसे कहा है। विश्व और ब्रह्मकी एकता है, इसलिये 'जो विश्व है वही ईश्वर है', यह कथन युक्त ही है। नियामक और नियम्य अत्यन्त भिन्न हों, ऐसा नियम नहीं है। बल्कि

अत्यन्त भिन्न दो पदार्थोंका नियामक और नियम्य भाव ही नहीं हो सकता। राजा अपने राज्यका ही नियामक होता है, अन्यका नहीं। पिता अपने ही पुत्रका नियामक होता है, दूसरेके पुत्रका नहीं। पृथिवी पृथिवीके बने हुए घटकी नियामक होती है, सुवर्ण सुवर्णके बने हुए आभूषणोंका नियामक होता है। अन्यका नहीं। यह वृत्तान्त तो व्यवहारका है। ईश्वर तो अपने स्वरूपसे कभी न बदलकर अज्ञानियों-को विश्वरूपसे दिखायी देता है। ईश्वर अधिष्ठान है। और ईश्वरके अज्ञानसे जगत् अध्यस्त है। अध्यस्तकी सत्ता अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती। इस कारणसे भी विश्व और ईश्वर एक ही हैं। 'अन्तर्यामी ब्राह्मण'में ईश्वरका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है कि जो पृथिवीके भीतर रहता है, पृथिवीमें रहकर पृथिवीको नियममें रखता है, पृथिवी जिसका शरीर है, पृथिवी जिसको नहीं जानती और जो पृथिवीको जानता है, वह सबका अन्तर्यामी आत्मा अमृत है। जो जलके भीतर रहता है, जलके भीतर रहकर जलको नियममें रखता है, जल जिसका शरीर है, जल जिसको नहीं जानता और जो जलको जानता है, वह सबका अन्तर्यामी आत्मा अमृत है। इस प्रकार आरम्भ करके अन्तमें कहा है कि जो सबके भीतर रहता है, सबके भीतर रहकर जो सबको नियममें रखता है, सब जिसका शरीर है, सब जिसको नहीं जानता और जो सबको जानता है वह अन्तर्यामी आत्मा अमृत है।' हे शिष्य ! ऐसे विश्वेशके चरण-कमलोंकी जो शरण लेते हैं अर्थात् शरीर, वाणी और मन तीनोंसे सब कर्म केवल विश्वेशकी प्रीतिके लिये करते हैं, वे अपार संसार-समुद्रसे पार होकर विश्वेशको ही प्राप्त हो जाते हैं।

श्यामा–हे बहिन ! इस गुरु-शिष्यके संवादसे मेरी समझमें विश्वेशका स्वरूप आ गया, और मैं यह भी समझ गयी कि सब प्रकारसे आसक्तिरहित होकर सदा-सर्वदा प्रीतिसे ईश्वरका स्मरण करते हुए कायिक, वाचिक और मानसिक, लौकिक, वैदिक सब क्रियाएँ ईश्वरकी प्रीतिके लिये करना और अपना किसी प्रकार-का स्वार्थ न रखना इसीका नाम विश्वेश-शरण है। हे बहिन ! विश्वेश-शरण लेनेवाले किसी भक्तकी कथा तेरे मुखसे मैं सुनना चाहती हूँ।

कोकिला–हे बहिन ! प्राचीन कालमें अम्बरीष नामके एक राजा परम भक्त हो गये हैं। इनकी कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है, उसीको मैं संक्षेपमें तुझे सुनाती हूँ। यह राजा महान् भक्त होनेके साथ ही परम ज्ञानी और योगी भी थे। राज-पाटका सब काम ईश्वर-प्रीतिके लिये किया करते थे। न किसीसे राग करते थे, न द्वेष; शत्रु-मित्रको समान समझते थे। भगवान्का सगुण और निर्गुण स्वरूप हस्तामलकके समान इनको प्रत्यक्ष था। गीतामें श्रीभगवान्के वचन हैं, कि 'अनन्य चित्तसे जो भक्त मेरी भक्ति करते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।' इस वचनके अनुसार भगवान्ने इनकी अनन्य शरणागतिसे प्रसन्न होकर इनकी रक्षाके लिये अपने सुदर्शन-चक्रको नियुक्त कर रक्खा था, जो कि रातमें, दिनमें, जंगलमें, बस्तीमें, जलमें, थलमें सर्वत्र सर्वदा इनके साथ रहकर इनकी रक्षा किया करता था, कभी इनसे पृथक् नहीं होता था।

एक बार द्वादशीके दिन दुर्वासा ऋषि मथुरामें राजाके पास आये। राजाने उनका यथायोग्य आदर-सत्कार किया और भोजन करनेके लिये कहा। ऋषि राजाका निमन्त्रण स्वीकार कर यमुनाजीपर स्नान करने चले गये। दैवयोगसे उस दिन द्वादशी थोड़ी थी, राजा चिन्तामें पड़े, कि यदि व्रतका पारायण न करूँ तो शास्त्राज्ञाका भङ्ग होता है। और यदि

पारायण कर लूँ तो निमन्त्रित ब्राह्मणको भोजन करानेसे पहले भोजन करनेका दोष लगता है। धर्म-संकटमें पड़े हुए राजाने ब्राह्मणोंसे सम्मति ली, तब ब्राह्मणोंने कहा कि जल पी लेना चाहिये, जल पीनेमें कोई दोष नहीं है। जल पी लेना भोजन और अभोजन दोनों ही है। ऐसा करनेसे व्रतका पारायण भी समयपर हो जायगा, और भोजन करनेका दोष भी नहीं लगेगा। राजाने ब्राह्मणोंकी इस सम्मतिसे जल-पान करके एकादशी-व्रतका द्वादशीमें पारायण कर लिया।

जब दुर्वासा ऋषि स्नान करके लौटे, और उन्होंने यह सुना कि राजाने जल पी लिया है तो उनके क्रोधका पारा बहुत ही चढ़ गया। आगबबूला होकर वह कहने लगे, कि यह राजा बड़ा अभिमानी है। भगवान्‌का भक्त बनता है और ब्राह्मणोंका अपमान करता है। मुझे निमन्त्रण दे दिया और मेरे आनेसे पहले ही इसने भोजन कर लिया। आज मैं इसे ऐसा दण्ड दूँगा, कि फिर यह कभी ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करेगा।

ऐसा कहकर दुर्वासाजीने क्रोधसे अपनी जटाका एक केश उखाड़कर पृथिवीपर दे मारा, उससे एक कृत्या नामकी राक्षसी उत्पन्न हुई और वह ऋषिकी आज्ञासे राजाको भस्म करने दौड़ी। सबमें भगवान्‌को देखनेवाले भक्त राजाको कुछ भी भय न हुआ। वह हाथ जोड़े हुए जैसा खड़े थे वैसे ही खड़े रहे।

हे बहिन! भगवान्‌के भक्त भगवत्‌के सिवा सब जगत्‌को वन्ध्याके पुत्रके समान मिथ्या समझते हैं और चराचर प्राणियोंमें एक सच्चिदानन्दघन अद्वितीय भगवान्‌को ही देखते हैं। इसलिये वे न किसीको भय देते हैं, न किसीसे भय खाते हैं। राजा कृत्याको भी भगवत्-स्वरूप देखते थे फिर वह उससे डरकर क्यों भागते? न तो वह डरे और न भागे ही। कुलाचलके समान अचल खड़े रहे। इतनेमें ही सहस्रों सूर्यके समान प्रकाशवाला और प्रज्वलित अग्निके समान तेजवाला भगवान्‌का सुदर्शनचक्र प्रकट हुआ। और प्रकट होते ही पहले तो उसने कृत्याकी खासी आवभगत की। अपने तेजसे उसे भस्म कर दिया और फिर वह दुर्वासाजीका सत्कार करनेके लिये दौड़ा। उसे देखते ही दुर्वासाजी अपने तपोबलको भूल गये। उसके तेजके सामने ठहर न सके, वहाँसे प्राण लेकर भागे। आगे-आगे दुर्वासाजी और पीछे-पीछे सुदर्शन। रसातल, पाताल, वरुणलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, जन और महर्लोक आदिमें जहाँ-जहाँ दुर्वासाजी गये वहीं-वहीं सुदर्शनचक्र उनके पीछे लगा हुआ उनको तपाता हुआ चला गया, न तो वह उन्हें भस्म करता था और न पीछा ही छोड़ता था। बेचारे दुर्वासाजी भागते-भागते थक गये, स्वास फूल गया। चोटीसे लेकर एडीतक पसीना बहने लगा। पैर लथड़ा गये, आखिर ब्रह्मलोकमें जाकर उन्होंने अपनी रक्षाके लिये ब्रह्माजीसे प्रार्थना की तब ब्रह्माजीने कहा—

हे ऋषि! जिस परमेश्वरके एक-एक रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, जिसकी आज्ञासे मैं एक ब्रह्माण्ड-मात्रका अधिपति हूँ, उस ईश्वरके भक्तके अपराधीकी हालतमें आपकी मैं रक्षा नहीं कर सकता। मैं क्या, कोई भी नहीं कर सकता। आप उसी देवके पास जाइये, वही आपकी रक्षा करेगा। मैं तो आपको अपने लोकमें क्षणभरके लिये ठहरा भी नहीं सकता, आप यहाँसे शीघ्र ही चले जाइये।

ब्रह्माजीसे सूखा उत्तर पाकर दुर्वासाजी वहाँसे चटपट भागकर शिवलोकमें पहुँचे और भगवान् श्री-शिवजीसे रक्षा करनेको कहने लगे। तब शिवजी बोले—

'हे दुर्वासा! ब्रह्मा, मैं और इन्द्रादि सब देवता जिस देवके हाथके यन्त्र हैं, जिस देवको अपने भक्त

इतने प्यारे हैं, कि जो निर्गुण होकर भी उनकी रक्षा करनेके लिये सगुणरूप होकर अनेक प्रकारकी लीलाएँ करता है, उस देवके भक्तके तुम अपराधी हो, अतः मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। तुम सर्वेश्वर भगवान्के पास जाकर प्रार्थना करो, वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगे।'

दुर्वासाजी शिवलोकसे चलकर भगवान्के पास पहुँचे और त्राहि-त्राहि कहकर उनके चरणोंमें गिर पड़े। तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे—

'हे सौम्य! जिन भक्तोंकी समस्त क्रियाएँ केवल मेरी प्रीतिके लिये होती हैं, जिन भक्तोंने अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर दिया है, जो भक्त मेरे सिवा दूसरेको जानते ही नहीं उन भक्तोंके मैं पराधीन हूँ। मैं समर्थ हूँ, तो भी तुम्हारे किये हुए अपराधको क्षमा नहीं कर सकता। तुम राजा अम्बरीषकी शरणमें ही जाओ। वही तुम्हारे अपराधको क्षमा करेंगे।'

यह सुनकर दुर्वासाजी राजा अम्बरीषके पास जाकर त्राहि-त्राहि कहकर उसके चरणोंमें गिरने लगे, ऐसा देखकर अम्बरीषजीने सुदर्शनकी अनेक प्रकारसे स्तुति करके उसको शान्त किया। दुर्वासाजीको अत्यन्त आदर-सत्कारपूर्वक भोजन करवाया। और उसके बाद स्वयं भोजन किया।

हे बहिन! भगवान्की शरण लेना ही कल्याणका सच्चा मार्ग है। जो बहिन-भाई भगवान्की शरण लेते हैं, वे संसारसमुद्रसे अनायास ही पार हो जाते हैं। और जो हतभाग्य मनुष्य विश्वेशकी भक्ति छोड़कर स्त्री, पुत्र, धन, धाम आदि भोगोंमें आसक्त रहते हैं, वे जन्मते और मरते रहते हैं, और जहाँ जाते हैं वहीं दुःख ही उठाते हैं, शान्ति कभी नहीं पाते।

हे बहिन! भगवत्-शरणमें जैसा सुख है, वैसा सुख चक्रवर्ती राजाको भी नहीं होता। चक्रवर्ती राजा तो सम्पूर्ण मनुष्यलोकके भोग प्राप्त करनेसे सुखी होता है परन्तु भगवत्-भक्त तो मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकके भोगोंकी इच्छा ही नहीं करता, इसलिये चक्रवर्ती राजासे भी भगवत्-भक्तका सुख अधिक है। किसीने सच कहा है कि जैसा सुख निःस्पृही भगवत्-भक्तको होता है, वैसा सुख किसी लोकमें किसीको नहीं है। सच कहा है—

विश्वेशके जो हों शरण, भवसे हुए वे पार हैं।
संसारमें आसक्त जो, वे डूबते मँझधार हैं॥
'देवी' शरण ले ईशकी, यदि शान्ति तुझको इष्ट है।
हरि-भक्त पाता शान्ति है, भव-भक्त पाता कष्ट है॥

अभिलाषा

(लेखक—श्रीव्रजभूषणजी गोस्वामी)

तरु भूषन फूल बनूँ, ब्रजभूषन! माधवको लख फूला करूँ।
बन गोकुलकी कलनादिनि कोकिल आमकी डारपै झूला करूँ॥
कर कुंजन कुंजन गुंजन गुंजन भृंग ह्वै भृंगता भूला करूँ।
ब्रजवीथिनकी बन दूब हरी पद छूकर मोदसे ऊला करूँ॥
मधु काननको मैं मयूर बनूँ लखके घनश्यामको नाचा करूँ।
बन चातक मैं ब्रजभूमिहिको घनश्यामहिते नित याचा करूँ॥
यदि बिप्र बनूँ तो बनूँ ब्रजको जहाँ कृष्णकथा नित बाचा करूँ।
युगलेश्वर पायन-पायनदाज पड़ो रहके रज राचा करूँ॥

कर्त्तव्य

(लेखक—श्रीनोखेलालजी शर्मा बी० ए०, काव्यतीर्थ)

एक मनुष्यकी आत्मा भौतिक शरीर छोड़कर नियन्ताके सामने खड़ी हुई । नियन्ताने अपने मन्त्रीसे पूछा, 'कहो मन्त्रिन्! जो साधन इसे मिले थे उससे इसने सृष्टिकी कुछ भलाई की वा नहीं ?'

मन्त्रीने उत्तर दिया, 'देवाधिदेव ! यह अङ्गोंका विकल बनाया गया था ।' नियन्ताने कहा, 'यदि इसे अच्छे अङ्ग मिलें तो यह कुछ करेगा ?' मनुष्य बोल उठा, 'निश्चय सरकार ।'

× × × ×

बहुत काल पीछे वही आत्मा पुनः नियन्ताके सामने खड़ी हुई । नियन्ताने पूछा, 'क्यों मन्त्रिन् ! इसे आँखें तो अच्छी मिली थीं ।' मन्त्रीने उत्तर दिया, 'हाँ देव ! पर उसे इसने सुन्दर वस्तुएँ देखनेमें लगाया; सृष्टिकी भलाई कुछ न की । इसी प्रकार, इसे हाथ-पाँव आदि भी अच्छे मिले थे, पर उनसे इसने केवल अपना स्वार्थ साधा ।' मनुष्यके पास एक बहाना था, झट बोल उठा, 'सरकार मैं क्या करता, मैं बिल्कुल निर्धन था ।' नियन्ताने कुतूहलवश पुनः उसे धनके साथ इहलोक भेजा ।

× × × ×

बहुत दिन पीछे पुनः उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा भयभीत होकर नियन्ताके सामने खड़ी हुई । उसे अपनी पुरानी प्रतिज्ञा याद पड़ी जिससे वह बहुत व्याकुल हो रहा था । नियन्ताने उसके धनका उपयोग पूछा । मन्त्रीने कहा, 'दयामय ! अपने धनको इसने अधिकतः भोग-विलासमें लगाया और कुछ पृथिवीमें गाड़े रहा । अब मनुष्यको एक बहाना सूझ गया । वह बोला 'दीनानाथ ! धनके साथ बुद्धि न मिलनेसे मैं क्या करता !' नियन्ताने एक बार और बुद्धिके साथ उसे इहलोक भेजा ।

× × × ×

कालान्तरमें जब आत्मा पुनः उसी प्रकार वहाँ दाखिल हुई तो नियन्ताने उसकी बुद्धिका उपयोग पूछा । मन्त्रीने उत्तर दिया, 'देव ! इसे बहुत अच्छी विद्या-बुद्धि मिली थी । पर उसे इसने वेतन लेकर बेंच दिया । सृष्टिकी कोई भलाई न की । विद्या पाकर यह गर्वसे अपनेको बुद्धिमान् मानने लगा । साधारणतः यह तर्कशक्तिसे विपरीत कल्पना किया करता और उसीका पृष्ठपोषण करता । देव ! बुद्धिका इसने बड़ा ही दुरुपयोग किया है ।' मनुष्य अपनी भूलपर अवाक् था । उसके पास अब कोई बहाना नहीं था । उसे बहुत कठिन दण्ड मिलनेकी आज्ञा हुई । सभा मनुष्यकी भूलपर आश्चर्यचकित थी । स्वयं मनुष्य अपनी प्रतिज्ञा न पाल सकनेका कारण ढूँढ़ न पाता था ।

नियन्ता दण्ड देकर भी हँस रहे थे ।

ईश्वरकी दीनबन्धुता

'रहिमन' बहु भेषज करत, व्याधि न छाँडति साथ ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथके नाथ ॥ १ ॥

संतत संपतिवानकौं, सब कोऊ सब देइ ।
दीनबंधु बिन दीनकै, को 'रहीम' सुधि लेइ ॥ २ ॥

समय दसा कुल देखिकै, लोग करत सनमान ।
'रहिमन' दीन अनाथके, तुम बिन को भगवान ॥ ३ ॥

दीन लखै सब जगतकौं, दीनहिं लखै न कोइ ।
जो 'रहीम' दीनहिं लखै, दीनबंधु-सम होइ ॥ ४ ॥

—रहीम

तन्त्र

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मके साथ जब प्रकृतिका अविना या नित्य सम्बन्ध है तब प्रकृतिलीन जीवोंकी पुनरावृत्तिका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि जिन जीवोंको ज्ञानोत्पन्न नहीं होता वे प्रलयकालमें अपरा प्रकृतिमें प्रसुप्त हो जाते हैं, यह अपरा प्रकृति परमा प्रकृतिका ही एक अंश है । जिस प्रकार हम गम्भीर निद्राके समय जगत्को भूल जाते हैं, अपनेको भी भूल जाते हैं, परन्तु जाग करके फिर पूर्व-स्मृतिके अनुसार जगत्के कार्य सम्पादन करते हैं । पर जो ब्रह्मलीन हो गये हैं, वे फिर नहीं जगते, इस देहमें पुनः नहीं लौटते । क्योंकि ज्ञानके कारण उनका कर्म नष्ट हो जाता है, और कोई स्मृति नहीं होती, अतएव कर्मचेष्टा भी नहीं होती । इसीलिये उन्हें शरीर ग्रहण करके फिर कर्म-क्षेत्रमें विवश होकर लौटना नहीं पड़ता । हम जो प्रतिदिन निद्राके समय सब कुछ भूल जाते हैं, यह अज्ञान-लीन अवस्था है, ज्ञान-लीन नहीं ।

प्रकृतिके गुणक्षोभसे जिस प्रकार सत्त्वादि समस्त गुण पृथक्-पृथक् रूपमें भासित हो उठते हैं, उसी प्रकार सर्व-प्रथम मूल प्रकृति भी शुद्ध और अशुद्ध भेदसे दो अंशोंमें विभक्त हो जाती है । शुद्ध अंशका नाम परा प्रकृति या विद्या है और अशुद्ध अंशका नाम अपरा प्रकृति या अज्ञान है । मूल प्रकृति ही महामाया या महाविद्या है । इस महा-मायासे उद्भूत विद्याशक्तियोंको भी महाविद्या कहा जाता है, क्योंकि उस चैतन्योपहित मूला प्रकृतिसे ये महाविद्याएँ अलग नहीं हैं । निर्गुण ब्रह्मके चैतन्यभावद्वारा परा प्रकृति-में उपहित होनेपर जो शक्ति उत्पन्न होती है वही सर्व-शक्तिमान् शिव या सर्वज्ञ ईश्वर हैं । इसी कारण महादेवी-को शिवकी शक्ति भी कहा जाता है तथा उसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव-प्रसविनी भी कहते हैं ।

यह शिव-शक्ति-सम्मिलित तत्त्व ही हिरण्यगर्भ या ईश्वर है सांख्यके मतसे भी प्रकृति और पुरुष यह दोनों मूलतत्त्व हैं । यद्यपि हिरण्यगर्भको सर्वविद् और सर्वकर्ता कहा गया है—'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता'—तथापि यह जन्य ईश्वर है ।

किन्तु तन्त्रमें इसे जन्य ईश्वर नहीं कहा गया है । ब्रह्मकी सिसृक्षासे उसमें स्थित शक्ति स्पन्दित होकर उस निर्गुण ब्रह्मके चैतन्यभाव और उसके साथ शक्तिके विकास (जो उसमें विलीन थी) से जो परम ऐश्वर्यमय शक्ति विकसित होती है वह न ब्रह्म ही है, न मूलप्रकृति ही; परन्तु ब्रह्म और प्रकृतिका सम्मिलन होकर (जिस प्रकार माता-पिताके सम्मिलनसे उत्पन्न पुत्र न वह माता है न पिता) जिस एक अद्भुतकर्मा शक्तिका विकास होता है वही इस जगत्-सृष्टिका मूल (Direct cause) है । इसीको उपलक्ष्यकर महा-निर्वाणतन्त्रमें कहा गया है—

नमः सर्वस्वरूपिण्यै जगद्धात्र्यै नमो नमः ।
आद्यायै कालिकायै ते कर्त्र्यै हर्त्र्यै नमो नमः ॥
सृष्टेरादौ त्वमेवासीस्तमोरूपमगोचरम् ।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं परब्रह्मसिसृक्षया ॥
महत्तत्त्वादिभूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत् ।
निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥

× × ×

सत्यं ज्ञानमनाद्यन्तं अवाङ्मनसगोचरम् ॥
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा ।
करोषि पासि हंस्यन्ते जगदेतच्चराचरम् ॥
तव रूपं महाकालो जगत्संहारकारकः ।
महासंहारसमये कालः सर्वं प्रसिद्ध्यति ॥
कलनात्सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः ।
महाकालस्य कलनात्त्वमाद्या कालिका परा ॥
कालसंग्रसनात्काली सर्वेषामादिरूपिणी ।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्याकालीति गीयसे ॥
पुनः स्वरूपमासाद्य तमोरूपं निराकृतिः ।
वाचातीतं मनोऽगम्यं त्वमेकैवावशिष्यसे ॥
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी ।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका ॥

सृष्टिके पूर्व एकमात्र तुम ही तमोरूपमें विद्यमान थी, तुम्हारा वह अव्यक्त रूप मन और वाणीकी पहुँचके परे है। पश्चात् परब्रह्मकी (अर्थात् मूल प्रकृतिके साथ तादात्म्यप्राप्त तुरीय ब्रह्मकी) सिसृक्षाके अनुसार तुम्हारे ही (अन्य रूपमें) तमोरूप शक्तिसे निखिल जगत्की सृष्टि होती है। महत्तत्त्व-से लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त यह समस्त जगत् तुम्हींसे सृष्ट होता है। सब कारणोंका कारण वह ब्रह्म तो केवल निमित्त-मात्र है। वह ब्रह्म सत्त्वस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है, वह अनादि, अनन्त और मन-वाणीके अगोचर है। हे महा-योगिनी! तुम उसकी इच्छामात्रका अवलम्बन कर इस चराचर जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करती हो। जगत्-संहारकारी महाकाल तुम्हारा ही रूपमात्र है। प्रलय-कालमें यह महाकाल समस्त जगत्को ग्रास करेगा। सब प्राणियोंको कलन अर्थात् ग्रास करनेके कारण वह महा-काल नामसे प्रकीर्तित होता है। तुम उस महाकालका भी कलन अर्थात् ग्रास कर जाती हो, इसीलिये तुम्हारा नाम आद्याकालिका है। कालको ग्रास करनेके कारण तुम्हीं सबकी आदिभूता या कारणरूपा हो, इसीसे तुम्हें सब आद्याकाली कहते हैं। फिर महाप्रलयकालमें वाणी और मनसे अतीत तमोमय निराकार, अव्यक्त स्वरूप अवलम्बन करके एकमात्र तुम्हीं विद्यमान रहती हो। तुम मायाके द्वारा बहुत रूप ग्रहण करती हो, अतः तुम साकार होते हुए भी निराकारा हो। तुम सबकी आदि हो, परन्तु स्वयं अनादि हो। तुम्हीं सबकी सृष्टि करनेवाली, पालन करने-वाली और संहार करनेवाली हो।

इससे यह समझा जा सकता है कि मूल प्रकृतिसे उपहित ब्रह्म अथवा ब्रह्मके साथ अङ्गाङ्गीभावसे मिलित प्रकृति ही आद्याकाली हैं।

जीवके समष्टि अदृश्यसे उत्पन्न भोगकालके उपस्थित होनेसे ही आद्याशक्ति (प्रकृति) में गुणक्षोभ होता है, उस समय सर्वप्रथम तमोगुणका आविर्भाव होता है। चैतन्ययुक्त शक्ति जब इस तमोगुणमें अनुप्रविष्ट होती है तो उसे महा-काल कहते हैं। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सत्त्वगुण रजोगुणमें और रजोगुण तमोगुणमें लय हो जाता है और तमोगुण प्रकृतिमें लीन हो जाता है। पुनः सृष्टिकालमें आद्याकाली महाकालीको प्रसवकर उसमें अनुप्रविष्ट हो जाती है, यही कालीकी विपरीतरतातुरा मूर्ति है। आद्या-शक्ति यदि तमोगुणमें प्रविष्ट न हो तो जगत्की उत्पत्ति ही कैसे हो? स्त्री-पुरुषके सहयोगसे जिस प्रकार जीवोत्पत्ति होती है, महाकाल और आद्याशक्तिके सहयोगसे उसी प्रकार यह जगत् उत्पन्न होता है।

इस आद्याशक्तिको राधाशक्ति भी कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणके मतसे गोलोकके रासमण्डलमें राधिकाने एक डिम्ब प्रसव किया था, उस डिम्बसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर उत्पन्न हुए। यह डिम्ब ही महत्तत्त्व है। महत्तत्त्व ही त्रिगुण भेदसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरका रूप धारण करता है। वैष्णवलोग इसी कारण राधाकी इतनी भक्ति, इतना सम्मान करते हैं; वस्तुतः इस राधाके बिना रास-रसलीला होनेका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। और इसके बिना जगत्-सृष्टिकी भी सम्भावना नहीं है। आद्याशक्तिके अनुप्रविष्ट न होनेसे महाकाल तो तमोभूत जडमात्र है, वह सृष्टिलीलाके लिये कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिये सुरसिक वैष्णव साधक कहते हैं—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

यह कृष्णवर्ण तमोगुण ही नवीन-नीरद श्यामसुन्दर हैं, यही महाकाल हैं। गीतामें लिखा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

इस प्रकार तत्त्वकी दृष्टिसे देखनेपर तन्त्रमतानुसार सच्चिदानन्द ब्रह्मयुक्त आद्याशक्तिसे नाद (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, नादसे विन्दु (अहङ्कार-तत्त्व) की उत्पत्ति होती है। अहङ्कार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारका है। इन तीन विन्दुओं (सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अहङ्कार) की समष्टिका नाम ही परम विन्दु है। सात्त्विक विन्दुका नाम विन्दु, तामसिक विन्दुका नाम बीज और राजसिक विन्दुका नाम नाद है। इन विन्दु, बीज और नादमें विन्दु शिवस्वरूप या चिन्मय है, बीज शक्तिस्वरूप या प्रकृतिमय है, एवं नाद उभयात्मक या शिवशक्तिमय है।

विन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्।
तयोर्योगेऽभवन्नादास्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः॥

बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक हैं, एवं इन दोनोंके योगमें नाद है, अतः वह शिवशक्त्यात्मक है। इससे त्रिशक्ति अर्थात् ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है। यह ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति ही क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु नामसे आख्यात हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनोंकी समष्टि ही महत्तत्त्व या परमबिन्दु है। यही जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता अथवा ईश्वर हैं। यही सांख्योक्त—'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता' है। वेदमें भी कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे-
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न होकर समस्त विश्वको उत्पन्न करते हैं और उसके पति या प्रभु बनते हैं। जबतक यह विश्व रहता है, वह तबतक इसके प्रभु बने रहते हैं। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता हैं। उन्हें कोई-कोई ब्रह्मा भी कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वह त्रिशक्तिमय ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप अथवा सगुण ईश्वर हैं। वही योगदर्शनके 'पूर्वेषामपि गुरुः' हैं। अर्थात् कपिल, नारद, वशिष्ठादि श्रेष्ठतम और प्राचीनतम आचार्योंके भी वह गुरु हैं। इस ईश्वरके प्रणिधानसे निश्चय ही समाधि-सिद्धि या योगकी प्राप्ति होती है। योगदर्शनके भाष्यमें महर्षि व्यास कहते हैं—

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिधानमात्रेण—

प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेषसे उसको आत्मसमर्पण करनेपर ईश्वर अभिध्यानके द्वारा उस योगीके ऊपर अनुग्रह करते हैं।

इस उपास्य देवता या परमात्मशक्तिकी सात्त्विकादि गुणभेदसे उपासनाकी भिन्नता तन्त्रमें देखी जाती है। और उसी प्रकार साधक और साधनाकी भी तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं।

अधिकारी-भेदसे यह साधनकी भिन्नता हिन्दुओंकी विशेषता है। अन्यान्य धर्मावलम्बियोंके धर्मसाधनके उपाय और निष्ठाकी बात तत्तद् धर्मशास्त्रोंमें एक ही प्रकारकी बतलायी गयी हैं। सबके लिये एक ही नियम निश्चित किया गया है, परन्तु वस्तुतः हम सबकी मनुष्याकृति होनेपर भी हम सभी समान मनुष्य नहीं हैं। जिनको यथार्थ सूक्ष्म दृष्टि (Insight) प्राप्त है, वे इस बातको समझ सकते हैं। वर्तमान युगमें हमलोग 'सबका अधिकार समान है' इस प्रकारकी डींग हाँकते हैं, परन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं है। हम देखते हैं कि एक ही श्रेणीके पाँच छात्र एक ही शिक्षकके द्वारा शिक्षित होते हैं, तथापि उनमें बुद्धिका तारतम्य दिखलायी देता है। और उसीके अनुसार परीक्षामें कोई प्रथम होता है, कोई मध्यम, कोई सबसे निम्न रहता है; तथा कोई तो उत्तीर्ण ही नहीं हो पाता। अतः सिर्फ सीनाज़ोरीसे हम इस अधिकारकी भिन्नता अथवा भेदकी उपेक्षा नहीं कर सकते। गिलहरीके बिलमें सियार और बाघ नहीं रह सकते। प्राचीन कालके ऋषि इस बातको समझते थे, इसीलिये उन्होंने साधकोंकी योग्यताके अनुसार साधनाके स्तर और भेदोंको निश्चय किया था। तन्त्रमें लिखा है—जो ज्ञान-वैराग्ययुक्त पुरुष हैं वे ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकार देखते हैं—

सत्तामात्रं निर्विशेषं अवाङ्मनसगोचरम्।
समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्वत्र समदृष्टिभिः॥
ततो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति।
यस्मिन्सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्मलक्षणैः॥

जिससे अखिल विश्व उत्पन्न हुआ है, और उत्पन्न होकर जिसमें अवस्थान करता है, फिर प्रलयकालमें जिसमें लयको प्राप्त होता है, वही ब्रह्म है। वह सत्तामात्र, निर्विशेष, वाणी और मनके अगोचर है, समदृष्टिसम्पन्न पुरुषको समाधियोग-द्वारा इस ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान होता है।

बहिरन्तर्यथाकाशं सर्वेषामेव वस्तुनाम्।
तथैव भाति सद्रूपो ह्यात्मा साक्षीस्वरूपतः॥

(महानिर्वाण० १०। १८। १९)

जिस प्रकार सब वस्तुओंके भीतर और बाहर आकाश रहता है, उसी प्रकार सत्स्वरूप और साक्षीस्वरूप आत्मा स्वरूपतः सर्वत्र ही विद्यमान रहता है।

ज्ञानमात्मैव चिद्रूपो ज्ञेयमात्मैव चिन्मयः।
विज्ञाता स्वयमेवात्मा यो जानाति स आत्मवित्॥

(महानिर्वाणतन्त्र)

चिन्मय आत्मा ही ज्ञान है, चिन्मय ही ज्ञेय है, आत्मा ही स्वयं ज्ञाता है, जो इसे जानते हैं वही आत्मविद् हैं।

ब्रह्मादितृणपर्यन्तं मायया कल्पितं जगत्।
सत्यमेकं परं ब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत्॥
विहाय नामरूपाणि नित्ये ब्रह्मणि निश्चले।
परिनिश्चिततत्त्वो यः स मुक्तः कर्मबन्धनात्॥

ब्रह्मसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत् मायाकल्पित है, एकमात्र परब्रह्म ही सत्य है। यह जानकर मनुष्य सुखी हो जाता है। जो नामरूप परित्यागकर नित्य निश्चल ब्रह्मका याथार्थ्य निर्णय कर सकते हैं वही कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं।

ज्ञानं तत्त्वविचारेण निष्कामेनापि कर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलात्मनाम्॥

तत्त्वविचार एवं निष्काम कर्मानुष्ठानद्वारा तमोराशिके क्षय होनेपर तथा हृदयाकाशके निर्मल होनेपर तत्त्वज्ञानका उदय होता है। (क्रमशः)

कुटुम्बप्रेम, विश्वप्रेम और ईश्वरप्रेम

(लेखिका—श्रीमती सावित्रीदेवीजी अग्निहोत्री)

सहसा कोई व्यक्ति सबसे ऊपरकी सीढ़ीमें नहीं पहुँच सकता। बीचकी सीढ़ियोंको पार करनेके पश्चात् ही ऊपरकी सीढ़ी प्राप्त हो सकेगी। अथवा यों कहिये कि यदि अन्तिम सीढ़ीपर चढ़ना है तो पहली सीढ़ीका स्वागत करना अनिवार्य है। किन्तु हाँ, गति निरन्तर प्रचलित रहनी चाहिये, बीचहीमें जाकर बैठ जानेसे उच्च शिखर न प्राप्त हो सकेगा। सदैव यह स्मरण रहना चाहिये कि अन्तिम सीढ़ी चढ़नेके लिये ही प्रथम सीढ़ी चढ़ रहे हैं। पहली सीढ़ी साधन है और अन्तिम साध्य। अस्तु।

कुटुम्बप्रेम, विश्वप्रेम एवं ईश्वरप्रेम मनुष्यकी उत्तरोत्तर आत्मोन्नतिकी सीढ़ियाँ हैं। एक बालकको आरम्भमें वर्णमाला पढ़ाकर फिर क्रमशः अन्य पुस्तकें पढ़ाते हुए उसका ज्ञान विस्तृत किया जाता है। बस, यही वर्णमाला हम कुटुम्बप्रेमसे पढ़ना आरम्भ करते हैं। हमारे यहाँकी आश्रमप्रणाली भी यही शिक्षा देती है। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ एवं संन्यास उत्तरोत्तर इसी उन्नतिके पथकी सीढ़ियाँ हैं, जिनमें आत्मज्ञान क्रमशः अपना संकुचित भाव छोड़कर निरन्तर विस्तृत होता हुआ अन्ततः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्तपर पहुँच जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रममें व्यक्तिका क्षेत्र केवल अपनेहीतक परिमित रहता है। वह सारे कार्य अपने ही लिये करता है। वह अपने लिये पढ़ता है, अपने ज्ञानका भाण्डार बढ़ाता है, अपना स्वास्थ्य ठीक रखता है, अपनी इन्द्रियोंपर शासन रखता है, अपनी रक्षा करता है। यह सब एक प्रकारसे अपनी ही सेवा करता है, तब क्या इससे उसे स्वार्थी कहकर पुकारा जा सकता है? नहीं, इसीसे तो वह शिक्षा ग्रहण करता है कि आगे चलकर सारे कुटुम्बकी इसी प्रकार सेवा करूँगा। कुटुम्बकी सेवा करनेके लिये ही वह अपनी सेवा करना सीखता है, अथवा कुटुम्बप्रेमके लिये ही वह अपनेसे प्रेम करता है। फिर गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करते ही उसका वह छोटा-सा कार्यक्षेत्र कितना विस्तृत हो जाता है। अपनेसे भी कहीं अधिक अब उसे वृद्ध माता-पिता, पत्नी और सन्तानरक्षाकी चिन्ता रहती है। वह उनकी सेवामें तत्पर अथवा प्रेमसे अग्रसर होकर ही धनोपार्जन करता है। इसके अतिरिक्त यदा-कदा आये हुए अतिथियोंकी सेवामें भी भाग लेता है। अब देखिये—क्रमशः सेवा और त्यागमें पहलेकी अपेक्षा वही व्यक्ति कितना अनुभवी हो गया। किन्तु नहीं,

अभी तो आगे बढ़ना है। वानप्रस्थमें आकर वन्य पशु-पक्षी तथा वृक्ष इत्यादि भी उसके कुटुम्बके अन्तर्गत आ गये। अब वह इन सभीसे प्रेम करता है एवं त्यागभाव धारणकर सभीकी सेवामें निरन्तर तत्पर रहता है।

बस क्या मार्ग समाप्त हो गया, सीढ़ियाँ पार हो गयीं ? नहीं, अभी कुछ और मार्ग शेष है, थोड़ा और बढ़ना बाकी है। अब—संन्यास आश्रममें आकर—सारे विश्वको अपना समझना और अपनेको सारे विश्वमें मिला देनेकी आवश्यकता आती है। जब उससे प्रेम कर अपनेको भुलाकर उसकी सेवामें—उसके हितमें मनुष्य रत होता है तब जीवनके उद्देश्यकी सीमा समाप्त होती है। विचारपूर्वक देखनेसे ज्ञात होगा कि हमारे यहाँ सनातनसे चली आयी यह उपर्युक्त प्रणाली कितनी सुगमता एवं सरलतासे त्याग और सेवाका पाठ पढ़ाती है। किस प्रकार धीरे-धीरे ऊपरकी ओर चढ़ाती ले जाती है।

प्रेम, त्याग और सेवाका पाठ मनुष्य प्रथम अपने घरसे ही सीखता है, किन्तु उसका अन्त घरमें ही न हो जाना चाहिये। कुटुम्ब और विश्वमें अन्तर होते हुए भी कोई अन्तर नहीं है। ऐसे ही बहुत-से कुटुम्ब मिलकर वसुधाका वह एक बृहत् कुटुम्ब बना है अथवा उस बृहत्काय कुटुम्बके अन्तर्गत ही ये छोटे-छोटे अनेकों कुटुम्ब हैं। हाँ, कभी-कभी ऐसी विकट परिस्थिति आ जाती है जब कि कुटुम्बसेवा और विश्वसेवामें भेद-सा पड़ने लगता है। अर्थात् उस स्थितिमें एकहीकी सेवा हो सकती है, चाहे कुटुम्बसेवा कर ली जावे, चाहे विश्वसेवा ही। ऐसी दशामें उपयोगितावादका आश्रय लेकर समस्या हल की जा सकती है। उस समय यह देखना चाहिये कि अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंका अधिक-से-अधिक हित साधन हो सके। पर किन्हीं स्थितियोंमें यह बात भी समीचीन नहीं ठहरती। अतः सबसे उत्तम तो यह होगा कि हम निःस्वार्थभावसे सेवामें रत हो जावें। बदला पानेकी आशासे यदि कार्य न किया जावे तो अपने सगे-से-सगे सम्बन्धीकी सेवा भी विश्व-सेवाकी परिधिके अन्तर्गत आ जाती है। कुटुम्बसेवा और विश्वसेवामें बहुत अंशोंमें यही अन्तर रहता है न कि एकमें प्रतिफल पानेकी आशा रहती है दूसरेमें तनिक भी नहीं। तो बस, केवल मनोगत भावोंका ही तो अन्तर है न ? तब यदि प्रतिफल पानेकी आशासे विश्वसेवा भी की जावे तो वह संकुचित समझी जावेगी और यदि निःस्वार्थभावसे प्रतिफल पानेकी आशा न रखकर केवल कर्तव्य समझकर—कुटुम्बसेवा भी की जावे तो वह विस्तृत है। कोई भी व्यक्ति अकेला तो विश्वभरकी सेवा कर नहीं सकता, हाँ, उसके एक अंशको ही सहायता पहुँचा सकेगा। यदि कोई व्यक्ति हमारी किसी एक उँगलीके घावपर मरहम लगा रहा है तो वह हमारे समस्त शरीरकी ही सेवा कर रहा है। कारण ऐसे छोटे-छोटे अङ्ग मिलकर ही समस्त शरीरका निर्माण हुआ है। किन्तु हाँ, उस एक उँगलीको ही सर्वस्व न समझ लेना चाहिये यदि उँगलीका घाव इतना विषाक्त हो गया है कि अच्छा नहीं हो सकता और उसके—उँगलीके—द्वारा शरीरको लाभ पहुँचनेके स्थानपर हानि-ही-हानि है तो ऐसी दशामें उँगलीके हितका ममत्व छोड़कर शरीरके हितके लिये उँगलीको उस समय काट डालना भी श्रेयस्कर होगा। अस्तु।

× × × ×

यदि किसी मातासे प्रेम करना हो तो विवश हो प्रथम उसकी सन्तानसे प्रेम करना ही होगा। बिना उसकी सन्तानसे प्रेम किये माताका प्रेम पाना असम्भव है। सन्तानसे वैरभाव रखकर तो माताका प्रेम

कदापि न मिल सकेगा। कुछ परिस्थितियोंमें सम्भव है सन्तानसे प्रेम करनेपर माताका वैरभाव तिरोहित हो जावे। बस, ईश्वरप्रेमपर भी यही बात घटित होती है। यदि ईश्वरका प्रेम पाना है—उसकी सेवा करनी है तो प्रथम उसकी दीन-दुःखी सन्तानसे प्रेम और उन्हींकी सेवा करनी चाहिये। कदाचित् वह अपनी सेवासे इतना अधिक प्रसन्न न होगा, जितनी अधिक प्रसन्नता उसे अपनी प्रिय सन्तानोंकी सेवासे मिलेगी। यदि ईश्वरके प्रति हृदयमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखकर कुटुम्बप्रेम और विश्वप्रेम किया जावे तो बड़ी ही सुगमतासे ईश्वरप्रेम प्राप्त होगा। इस कुटुम्बप्रेम और विश्वप्रेममें ही ईश्वरप्रेम अन्तर्निहित है। ईश्वरप्रेमके स्वच्छ, शुभ्र उच्च शिखरकी ये सीढ़ियाँ हैं।

और फिर हम इतने तुच्छ होकर उस सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी किस सेवामें भाग ले सकते हैं? उसके किस कार्यमें सहयोग दे सकते हैं? क्या उसके साथ चन्द्र-सूर्य बनवा सकते हैं? नहीं। हमारे हृदयकी दयालुता एवं निःस्वार्थता आँकनेके लिये ही तो उसने दीन-दुःखियोंकी सृष्टि की है। अतएव इन सबकी निःस्वार्थ सेवा और प्रेमके द्वारा ही हम उसके बहुत निकट पहुँच सकते हैं। इस प्रकार करते-करते क्रमशः मनुष्य भगवान्‌के बहुत समीप पहुँच जाता है। और संसारके समस्त प्राणी उसे आत्मरूप या ईश्वरस्वरूप दीखने लगते हैं। यों प्रतिक्षण समस्त विश्वको ब्रह्मरूप दीखनेवाले ब्रह्मविद् पुरुषको फिर कौन-सा मोह और कौन-सा शोक रह जाता है?

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

बस, यही परमोत्कृष्ट स्थिति है। हमें अन्तमें इसी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये यत्नशील रहना चाहिये।

राम

(लेखक—श्रीब्रह्मदत्तजी दीक्षित 'ललाम' बी० ए०, सी० टी०)

"कहाँ है? प्रभुका धाम, 'ललाम'?"
"सभीमें रमते हैं श्रीराम।"
"कौन हँसता है फूलोंमें?
केलि करता है कूलोंमें?
चमकता कौन चाँदनीमें?
छिपा है कौन यामिनीमें?
उषा किसका करती शृंगार?
कर रही किसको संध्या प्यार?
खिलाती किसको सिंधु हिलोर?
कौन है सबके मनका चोर?"
वही भगवान, कभी घनश्याम,
कभी बन जाते हैं श्रीराम॥
'अनलहक़' कहते बन 'मंसूर'
तड़पते दर्शनको बन 'सूर'।
कभी चैतन्य कभी हैं बुद्ध,
कभी हैं चिदानंदघन शुद्ध॥

विष्णुप्रियाजीको संन्यासी स्वामीके दर्शन

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥*
(सु० र० भां० ३६६ । १७)

मेरा अपना ऐसा विश्वास है और शास्त्रोंका भी यही सिद्धान्त है कि यह संसार एकान्तवासी तपस्वी महापुरुषोंके पुण्यसे तथा पतिव्रताओंके पातिव्रतके प्रभावसे ही स्थित है। शास्त्रोंका यही अभिमत है कि संसार धर्मपर ही स्थित है और पुरुषोंके लिये संसारी भोग्य पदार्थोंकी आसक्ति छोड़कर प्रभुसे प्रेम करना और स्त्रीके लिये मन, वचन, कर्मसे पातिव्रतधर्मका पालन करना यही परमधर्म बताया गया है। तपस्वीको मान-सम्मानकी पीछेसे इच्छा हो सकती है। भगवत्-भक्ति भी प्रसिद्धिके लिये की जा सकती है, किन्तु पतिव्रताको तो संसारसे कुछ मतलब ही नहीं। वह तो मालती कुसुमकी भाँति निर्जन प्रदेशमें विकसित होती है और अपने प्यारेको प्रसन्न करके अन्तमें मुरझाकर वहीं जीर्ण-शीर्ण हो जाती है, उसकी गुप्त सुगन्धि संसारमें व्याप्त होकर लोगोंका कल्याण अवश्य करती है, किन्तु इसे तो कोई परम विवेकी पुरुष ही समझ सकता है। सर्वसाधारण लोगोंको तो उसके अस्तित्वका भी पता नहीं। इसीलिये कहता हूँ, पातिव्रतधर्म, योग, यज्ञ, तप, पाठ-पूजा और अन्य सभी साधनोंसे परमश्रेष्ठ है। एक सच्ची पतिव्रता सम्पूर्ण संसारको हिला सकती है, किन्तु ऐसी पतिव्रता बहुत थोड़ी होती हैं।

पाठकवृन्द ! विष्णुप्रियाजीकी मनोव्यथाको समझें । इस अल्प वयसमें उन्हें अपने प्राणेश्वरकी असह्य विरह-वेदना सहनी पड़ रही है। उनके प्राणेश्वर भक्तोंके लिये भगवान् हैं। वे जीवोंका उद्धार भी करते हैं। असंख्य जीव उनकी कृपासे संसार-सागरसे पार हो गये। भक्तोंके लिये वे साक्षात् नारायण हैं। हुआ करें, उनके लिये तो वे उनके पति—हृदयरमण पति ही हैं। वे उनके पास स्थूल शरीरसे नहीं हैं तो न सही, उनके हृदयमें तो पतिकी मूर्ति सदा विराजमान है, वे पतिको छोड़कर और किसीका चिन्तन ही नहीं करतीं ! अहा, धन्य है उनकी एकनिष्ठ पतिभक्तिको !

विष्णुप्रियाजीकी आन्तरिक इच्छा थी कि एक बार इस जीवनमें अपने आराध्यदेवके प्रत्यक्ष दर्शन और हो जायँ किन्तु वे अपनी इच्छाको प्रकट किस प्रकार करतीं और किसके सामने प्रकट करतीं ? यदि किसीसे कहतीं भी तो वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं, किसीकी बात मानने ही क्यों लगे ? इसलिये अपने मनोगत भावोंको हृदयमें ही दबाकर वे अपने इष्टदेवके चरणोंमें ही मनसे प्रार्थना करने लगीं। वे प्रेमाकर्षणपर विश्वास रखती हुई कहने लगीं—'वे तो मेरे घटकी एक-एक बातको जाननेवाले हैं, मेरा यदि सच्चा प्रेम होगा, तो वे यहीं मुझे दर्शन देने आ जायँगे।' यही सोचकर वे चुपचाप बैठी रहीं। सचमुच प्रेममें बड़ा भारी आकर्षण है। हृदयमें लगन होनी चाहिये, प्यारेके प्रति पूर्ण विश्वास हो, हृदय

* सती स्त्रीका यही परमधर्म है कि (अग्निको साक्षी देकर एक बार) जिसने उसका पाणिग्रहण किया है, वह पति चाहे जीवित हो या मर गया हो, बस, उसीके साथ पतिलोकमें रहनेकी इच्छा करती हुई उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई भी आचरण न करे।

उसके लिये छटपटाता हो और स्नेह सच्चा हो तो फिर मिलनेमें सन्देह ही क्या है ?

जापर जाको सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥

मन कोई दस-बीस तो है ही नहीं । अग्निके समान सर्वत्र मन एक ही है । पात्र-भेदसे मन वैसा ही गन्दा और निर्मल बन जाता है । यदि दो मन निर्मल और पवित्र बन जायँ तो शरीर चाहे कहीं भी पड़े रहें, दोनोंके मनोगत भावोंको दोनों ही लाख कोसपर बैठे हुए भी समझनेमें समर्थ हो सकते हैं । शान्तिपुरमें बैठे हुए प्रभुको भी विष्णुप्रियाजीका बेतारका तार मिल गया । प्रभु मानो उन्हींको कृतार्थ करने नवद्वीप जानेकी इच्छासे अद्वैताचार्यसे विदा लेकर विद्यानगरकी ओर चल पड़े । वहाँ पहुँचकर प्रभु सार्वभौम भट्टाचार्यके भाई वाचस्पतिके घरपर ठहरे । लोगोंकी अपार भीड़ प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगी । जो भी सुनता वही नावसे, घड़ोंसे तथा हाथोंसे तैरकर गंगाजीको पार करके विद्यानगर प्रभुके दर्शनोंके लिये चल देता । उस समय दोनों घाटोंपर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखायी देने लगे । प्रभुके वहाँ पहुँचनेसे एक प्रकारका मेला-सा लग गया । गंगाजीके झाउओंका जङ्गल मनुष्योंके पदाघातसे चूर्ण होकर सुन्दर राजपथ बन गया । लोग महाप्रभुकी जयजयकार करते हुए महान् कोलाहल करते और प्रभु-दर्शनोंकी अपनी आकुलताको प्रकट करते ।

महाप्रभु इस भीड़-भाड़ और कोलाहलसे ऊबकर अपने दो-चार भक्तोंके साथ धीरेसे मनुष्यों-की दृष्टि बचाते हुए विद्यानगरसे कुलियाके लिये चले गये । प्रभुके दर्शन न पानेसे लोग वाचस्पति पण्डितको कोसने लगे । उन्हें भाँति-भाँतिकी उलटी-सीधी बातें सुनाने लगे । अन्तमें जब उन्हें पता चला कि प्रभु तो यहाँसे चुपके ही निकल गये, तब तो उनके दुःखका ठिकाना नहीं रहा, वे सभी प्रभुके विरहमें जोरोंसे रुदन करने लगे । इतनेमें ही एक ब्राह्मणने आकर समाचार दिया कि प्रभु तो कुलिया पहुँच गये । तब वाचस्पति उस अपार भीड़के अग्रणी बनकर कुलियाकी ही ओर चले । कुलिया पहुँचकर लोगोंने प्रभु-दर्शनोंकी अपनी व्यग्रता प्रकट की, तब प्रभुने छतपर चढ़कर अपने दर्शनोंसे लोगोंको कृतार्थ किया । बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको धन्य मानते हुए अपने-अपने स्थानोंको लौट गये, किन्तु जितने ही लोग जाते थे, उतने ही और भी बढ़ जाते थे, सायंकालतक यही दृश्य रहा ।

प्रभुके ऐसे लोकव्यापी प्रभावको देखकर पहले जिन्होंने इनसे द्वेष किया था, वे सभी अपने पूर्व-कृत्योंपर पश्चात्ताप प्रकट करते हुए प्रभुकी शरणमें आये और अपने-अपने अपराधोंके लिये उनसे क्षमा चाही । विरोधियोंके हृदय प्रभुके संन्यासको देखते ही नवनीतके समान कोमल हो गये थे । त्याग ही तो प्रेमका भूषण है, त्यागके बिना प्रेम प्रस्फुटित होता ही नहीं । संग्रही और परिग्रहीके जीवनमें प्रेम किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, प्रभुके प्रेमके प्रभावसे उन पापकर्मवाले निन्दकोंके हृदयोंमें भी प्रेमकी तरंगें हिलोरें मारने लगीं । सबसे पहले तो विद्यानगरके परम भागवती पण्डित देवानन्दजी प्रभुके शरणापन्न हुए और उन्होंने अपने ही अपराधभञ्जनकी याचना नहीं की, किन्तु प्रभुसे यह वचन ले लिया कि यहाँ आकर जो कोई भी आपसे अपने पूर्वकृत अपराधोंके लिये क्षमायाचना करेगा, उसे आप कृपापूर्वक क्षमा-दान दे देंगे । महाप्रभुके विशाल हृदयमें किसीके पूर्वकृत अपराधोंका स्मरण ही नहीं था, वे महापुरुष थे । वे संसारी लोगोंके स्वभावसे विवश होकर कहे हुए वचनोंका बुरा ही क्यों मानने लगे । वे तो जानते थे—'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि'

ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही सभी चेष्टाएँ करता है, इसलिये किसीकी कैसी भी बातका बुरा न मानना चाहिये, फिर भी उन्होंने देवानन्दजीकी प्रसन्नताके निमित्त अपराध-भञ्जनकी स्वीकृति दे दी। सभीने प्रभुके चरणोंमें आत्म-समर्पण किया और प्रभुने उन्हें गलेसे लगाया।

प्रभुके छोटे-बड़े सभी भक्त तथा भक्तोंकी स्त्रियाँ-बच्चे यहाँ कुलियामें आकर उनके दर्शन कर गये थे। शचीमाता शान्तिपुरमें ही मिल आयी थीं। कोई भी भक्त प्रभु-दर्शनोंसे वञ्चित नहीं रहा। महाप्रभु पाँच-सात दिन कुलियामें ठहरे। इतने दिनोंतक कुलियामें मेला-सा ही लगा रहा। इतनेपर भी एकान्तमें प्रभुका चिन्तन करती हुई विष्णुप्रियाजी अपने घरके भीतर ही बैठी रहीं। वे एक सती साध्वी कुल-वधूकी भाँति घरसे बाहर नहीं निकलीं, मानो उन्हींको अपने दर्शनोंसे कृतार्थ करनेके निमित्त प्रभुने नवद्वीप जानेकी इच्छा प्रकट की। भक्तोंके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसी समय नौका मँगायी गयी और प्रभु अपने दस-पाँच अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ गंगा पार करके नवद्वीप घाटपर पहुँचे। घाटकी सीढ़ियोंपर चढ़कर प्रभु शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीजीकी कुटियापर पहुँचे। ब्रह्मचारीजी अपने भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए प्रभुके पैरोंमें लोट-पोट होने लगे। क्षणभरमें ही यह समाचार सम्पूर्ण नगरमें फैल गया। लोग चारों ओरसे आ-आकर प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ मानने लगे। समाचार पाते ही शचीमाता भी जैसे बैठी थीं, वैसे ही दौड़ी आयीं। प्रभुने माताकी चरण-वन्दना की। माता अपने अश्रुओंसे प्रभुके वस्त्रोंको भिगोने लगी। प्रभु चुपचाप खड़े कुछ सोच रहे थे, किसीकी कुछ कहनेकी हिम्मत नहीं हुई! तब प्रभु पैरोंमें खड़ाऊँ पहने धीरे-धीरे शचीमाताके साथ घरकी ओर चलने लगे। एक-एक करके उन्हें सभी बातें स्मरण होने लगीं। पाँच-छः वर्ष पूर्व जिस घाटपर स्नान करते थे, वह घाट इतने आदमियोंके रहनेपर भी सूना-सा प्रतीत हुआ। सभी पूर्वपरिचित वृक्ष हिल-हिलकर मानो प्रभुका स्वागत कर रहे हों। वे ही भवन, वे ही अट्टालिकाएँ, वे ही प्राचीन पथ, वे ही देवस्थान प्रभुकी स्मृतिको फिरसे नूतन बनाने लगे। महा-प्रभु नीची निगाह किये हुए आगे-आगे जा रहे थे। पीछेसे लोगोंकी अपार भीड़ हरिध्वनि करती हुई आ रही थी। घरके सामने आकर प्रभु खड़े हो गये। विष्णुप्रियाजीका दिल धड़कने लगा। वे अपने प्रेमके इतने भारी वेगको सहन करनेमें समर्थ न हो सकीं। झरोखेमेंसे उन्होंने अपने जीवनसर्वस्वकी झाँकी की। सिर मुँड़े हुए और गेरुए वस्त्र धारण किये हुए प्रभुको विष्णुप्रियाजी-ने अभी सर्वप्रथम देखा है। उनके प्रकाशमान चेहरेको देखकर विष्णुप्रियाजी चित्रमें लिखी मूर्तिके ही समान बन गयीं। उनके नेत्रोंमेंसे निकलनेवाले निरन्तरके अश्रुकण ही उनकी सजीवताका समर्थन कर रहे थे।

विष्णुप्रियाजीकी इच्छा अपने प्राणेशके पाद-पद्मोंमें प्रणत होकर कुछ प्रार्थना करनेकी थी, किन्तु इतनी अपार भीड़में कुल-वधू बाहर कैसे जाय, यही सोचकर वे दुविधामें पड़ गयीं। फिर उन्होंने सोचा जब वे यहाँतक आये हैं, संन्यासी होकर भी उन्होंने इतनी अनुकम्पा की है, तब मुझे बाहर जानेमें अब क्या लाज? लोक-लाज सब इन्हींके चरणोंकी प्राप्तिके ही निमित्त तो है, जब ये चरण साक्षात् सम्मुख ही उपस्थित हैं, तब इनके स्पर्श-सुखसे अपनेको वञ्चित क्यों रक्खूँ? यह सोचकर विष्णुप्रियाजी जैसे बैठी थीं वैसे ही प्रभुके पादपद्मोंका स्पर्श करने चलीं।

उन्होंने वेणी बाँधना बन्द कर दिया था, शरीरके सभी अङ्गोंके आभूषण उतार दिये थे,

आहार भी बहुत ही कम कर दिया था। नित्यके कम आहारसे उनका शरीर क्षीण हो गया था। वे निरन्तर प्रभुका ही ध्यान किया करती थीं। प्रभु-दर्शनोंकी लालसासे क्षीणकाय, मलिनवसना विष्णुप्रियाजी अपने सम्पूर्ण शरीरको सङ्कुचित बनाती हुई जल्दीसे प्रभुकी ओर चलीं। प्रभु दृष्टि उठाकर किसीकी ओर नहीं देखते थे, वे पृथिवीकी ही ओर खड़े-खड़े ताक रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा, मलिन वस्त्र पहने एक स्त्री उनके चरणोंमें आकर गिर पड़ी। स्त्री-स्पर्शसे भयभीत होकर प्रभु दो कदम पीछे हट गये। विष्णुप्रियाजी सुबकियाँ भर-भरकर धीरे-धीरे रुदन करने लगीं। प्रभुने भर्रायी हुई आवाजमें पूछा—'तुम कौन हो?'

हाय! रे वैराग्य! तेरी ऐसी कठोरताको बार-बार धिक्कार है, जो अपने शरीरका आधा अङ्ग कही जाती है, जिसके लिये स्वामीको छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं, उसीका निर्दयी स्वामी, उसके जीवनका सर्वस्व, उसका इष्टदेव उससे पूछता है—'तुम कौन हो?' आकाश! तू गिर क्यों नहीं पड़ता! पृथ्वी! तू फट क्यों नहीं जाती! विष्णुप्रियाजी चुप रहीं, सोचा, कोई दूसरा ही मेरा परिचय करा दे, किन्तु दूसरे किसकी हिम्मत थी? सभीकी वाणी बन्द हो गयी थी। इतनी भारी भीड़ उस समय बिल्कुल शान्त हो गयी थी, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। विष्णुप्रियाजीने जब देखा कोई भी कुछ नहीं कहता, तब वे स्वयं ही धीरे-धीरे करुण-स्वरमें कहने लगीं—'मैं आपके चरणोंकी अत्यन्त ही क्षुद्र दासी हूँ।'

महाप्रभुको अब चेत हुआ, उन्होंने कुछ ठहरकर कहा—'तुम क्या चाहती हो?'

अत्यन्त ही कातरवाणीमें उन्होंने कहा—'मैं आपकी कृपा चाहती हूँ।'

प्रभुने नीची दृष्टि किये हुए कहा—'विष्णुप्रिये! तुम अपने नामको सार्थक करो। संसारमें विष्णुभक्ति ही सार है, उसीको प्राप्त करके इस जीवनको सफल बनाओ।'

रोते-रोते विष्णुप्रियाजीने कहा—'आपके अतिरिक्त कोई दूसरे विष्णु हैं, इस बातको मैं नहीं जानती, और जाननेकी इच्छा भी नहीं है। मेरे तो विष्णु, कृष्ण, शिव जो भी कुछ हैं आप ही हैं। आपके चरणोंके अतिरिक्त मुझे कोई दूसरा आश्रय नहीं।'

इन हृदयविदारक वचनोंको सुनकर वहाँ खड़े हुए सभी स्त्री-पुरुषोंका हृदय फटने लगा। सभीके नेत्रोंसे जल-धारा बहने लगी। विष्णुप्रियाजीने फिर कहा—'प्रभो! सुना है, आप जगत्का उद्धार करते हैं, फिर अभागिनी विष्णुप्रियाको जगत्से बाहर क्यों निकाल दिया गया है, इसके उद्धारकी बारी क्यों नहीं आती?'

प्रभुने कहा—'तुम्हारी क्या अभिलाषा है?' सुबकियाँ भरते हुए ठहर-ठहरकर विष्णुप्रियाजीने कहा—'मुझे जीवन-यापन करनेके लिये कुछ आधार मिलना चाहिये। आपके चरणोंमें यह कङ्गालिनी भिखारिणी उसीकी भीख माँगती है।'

थोड़ी देर सोचकर प्रभुने अपने पैरोंके दोनों खड़ाउओंको उतारते हुए कहा—'देवि! हम संन्यासियोंके पास तुम्हें देनेके लिये और है ही क्या? यह लो, तुम इन पादुकाओंके ही सहारे अपने जीवनको बिताओ।'

इतना सुनते ही विष्णुप्रियाजीने धूलिमें सने हुए अपने मस्तकको ऊपर उठाया और काँपती हुई उँगलियोंसे उन दोनों खड़ाउओंको सिरपर चढ़ाकर वे रुदन करने लगीं। उस समय जनसमूहमें हाहाकार मच गया, सभी चीत्कार मारकर रुदन करने लगे। प्रभु उसी समय माता-

को प्रणाम करके लौट पड़े। माता अपने प्यारे पुत्रको जाते देखकर मूर्च्छित हो पृथिवीपर गिर पड़ी, प्रभु पीछेकी ओर बिना देखे हुए ही जल्दीसे भीड़को चीरते हुए आगेको चलने लगे। बहुत-से भक्त जल्दीसे आगे चलकर लोगोंको हटाने लगे। इस प्रकार थोड़ी देर ही नवद्वीपमें ठहरकर प्रभु नावसे उस पार पहुँच गये और वृन्दावन जानेकी इच्छासे गङ्गाजीके किनारे-किनारे ही आगेकी ओर चलने लगे। सैकड़ों मनुष्य घर-बारकी कुछ भी परवा न करके उसी समय प्रभुके साथ-ही-साथ वृन्दावन जानेकी इच्छासे उनके पीछे-पीछे चलने लगे। इस प्रकार तुमुल हरिध्वनि करते हुए सागरके समान वह अपार भीड़ प्रभुके पथका अनुसरण करने लगी।*

हिन्दी-साहित्यमें उपासनाका स्वरूप

(लेखक—श्री डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट्०)

साहित्य और उपासना दोनोंके मूलमें एक ही तत्त्व काम करता है। घनीभूत भावनाका एक-मुख निकास साहित्य और उपासना दोनोंको जन्म देता है। यद्यपि साहित्यका क्षेत्र उपासनाके क्षेत्रसे बहुत विस्तृत है तथापि उसका एक अंश उपासनाके क्षेत्रसे घनिष्ठरूपसे सम्बद्ध है। बल्कि कहना चाहिये कि इस दृष्टिसे ये दोनों एक ही वस्तुके दो रूप हैं। मनःप्रवृत्तिके क्षेत्रमें जो उपासना है, अभिव्यञ्जनाके क्षेत्रमें वही साहित्य हो जाता है।

भगवान्‌के सन्निधानके इच्छुक महात्माओंकी वाणीने भाषाके साहित्यको अमर रत्न प्रदान किये हैं। हिन्दीपर भी उनका आभार और किसी भाषासे कम नहीं। इस जन-वाणीके साहित्यिक प्रसारका सबसे अधिक श्रेय सन्त-महात्माओंको ही है। परमात्मा शायद उसी भाषामें की हुई प्रार्थनाको सुनता है जिसमें हमारे हृदयकी वासनाएँ स्वभावतः प्रकट हो सकती हैं। जिस भाषामें भूखा बच्चा माँके पास जाकर 'भूख लगी है माँ' कहा करता है, वही उसकी आध्यात्मिक भाषा है। अतएव हमारे सन्त-महात्माओंकी भक्तिके अकृत्रिम स्रोतका उसीमें उमड़ पड़ना स्वाभाविक ही था; और यह भी स्वाभाविक है कि साम्प्रदायिक पद्धतियोंको छोड़कर हृदयके इन्हीं सरल उद्रेकोंमें हम उनकी उपासनाके विशुद्ध स्वरूपके दर्शनकी आशा करें।

परमात्मा परमार्थतः सगुण है अथवा निर्गुण, यह झगड़ा दर्शनशास्त्रकी सीमाको पारकर हमारे साहित्यमें भी पहुँच गया, परन्तु साधनाके मार्गमें इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। सूरदासने निर्गुण ज्ञानका उपदेश देनेवाले उद्धवकी गोपियोंके हाथों बुरी गत बनवायी। तुलसीदासने ज्ञानमार्गी लोमश ऋषिको ऐसा अज्ञानी बनाया कि भुशुण्डिके मुँहसे सगुणोपासनाकी बातें सुनकर वे आग-बबूला हो गये और उसे कौआ बननेका शाप देकर फिर अपनी मूर्खतापर जी भर पछताये। इसके विपरीत कबीर सगुणवादियोंकी हँसी उड़ाते थे—

> गुणमयी मूर्ति सेइ सब भेख मिलि,
> निर्गुण निजरूप विश्राम नाहीं।
> अनेक जुग बंदगी विविध प्रकार की,
> अंति गुणका गुण ही समाहीं॥

परन्तु जहाँ साधनाका निरूपण अभीष्ट हुआ,

* गीताप्रेससे शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड ४ से उद्धृत। —सम्पादक

वहाँ दोनों पक्षवालोंने एक ही बात कही । जहाँ एक ओर सूरदास कहते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु, निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं 'सूर' सगुन लीला पद गावै ॥

वहाँ दूसरी ओर भक्ति-भावके लिये जगह निकालनेके उद्देश्यसे कबीर भी कहते हैं—

संतो, धोखा कासों कहिये ।
गुणमैं निर्गुण, निर्गुणमैं गुण है, 'बाट' छाँड़ि क्यों बहिये ॥

जो कबीरदासके सिद्धान्त और उनकी साधनामें विरोध बताकर उनपर 'धोखे' का दोषारोपण कर रहे थे, उनको जवाब देना जरूरी था। क्योंकि कबीर जानते थे कि—

भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै-सूल ।
कहै 'कबीर' हरि भगति बिनु, मुकति नहीं रे मूल ॥

इसीसे वे पुरानी 'बाट' छोड़कर बहना नहीं चाहते थे।

शुष्क तत्त्व-चिन्तन, रूखे जप-तप, यज्ञ-यागमें मनुष्यके हृदयके लिये सरस आकर्षण नहीं होता। परलोकमें इनके करनेसे चाहे जितने सुखोंकी सम्भावना हो, परन्तु जबतक हमारे हृदयका संयोग अपने साधना-मार्गके साथ इसी जीवनमें न हो जाय तबतक हमारे लिये यह परलोक हमेशा पर-लोक रहेगा, अप्राप्य रहेगा । परिणामकी दृष्टिसे इन साधनोंका उपयोग इतना ही है कि ये मनको एकाग्र करनेमें सहायक होते हैं। परन्तु उसमें भी ये अकेले ही सफल हो सकते हैं, यह दृढ़ताके साथ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः मन बलात्कारसे वशीभूत नहीं होता। बलात्कारसे केवल इतना ही हो सकता है कि मनकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ जो काम करना चाहती हों, उनको करनेसे हम उन्हें रोक दें। परन्तु इससे आगे बढ़कर अगर हम यह भी चाहें कि मन ही विषयोंकी ओर न दौड़े तो अवश्य विफल-मनोरथ होंगे। असलमें अध्यात्म जबरदस्तीका सौदा नहीं है। भौतिक आवश्यकताओंको बिल्कुल कुचल ही डालनेसे अध्यात्म-सिद्धि नहीं हो जाती। ज्ञानमार्गकी दुरूहताका मूल कारण यही जबरदस्ती, यही बलात्कार है। इस कठिनताको सरलतामें बदल देनेवाला मार्ग उपासनाका मार्ग है।

उपासनाके मूल सिद्धान्तको आजकलके मनोवैज्ञानिकोंकी भाषामें सब्लिमेशन अथवा भूमिका-परिवर्तन कह सकते हैं। मन कदापि निष्क्रिय नहीं रह सकता। वह हमेशा किसी-न-किसी उधेड़-बुनमें लगा रहता है। उसकी प्रवर्तन शक्ति कभी मौन नहीं बैठी रह सकती। अगर उसे देवता बननेका अवकाश न मिला तो वह दानव बन जा सकता है। अङ्गरेजी कहावतके अनुसार ठाला मन शैतानका कारखाना है। मन हमको परमात्माकी ओरसे बहुत बड़ी देन है। उसमें अनन्त शक्ति निहित है।* प्रश्न उतना 'मन-मारण' का नहीं है जितना उसे सन्मार्गपर प्रवृत्त करके इस शक्तिके सदुपयोगका। मन मारकर भी क्या कोई किसी कामको सफलताके साथ कर सकता है? 'मन-मारण' से शास्त्रोंका अर्थ उसकी बुरी प्रवृत्तिको रोकना हो सकता है। पर उसे बुरे मार्गपर जानेसे रोकनेके पहले, उसके लिये ऐसा भला मार्ग भी तो खुला रहना चाहिये जिसपर वह आनन्दसे चल सके, जहाँ उसको कोड़ोंकी मारका डर न हो, दुनियाँमें सब कुछ भुलाकर जिसपर चलनेहीमें वह रम जाय! संसारमें स्त्री, धन, माया इत्यादिका त्याग देना यदि आवश्यक है तो साधन-पथमें भी तो उनकी

* मनके हारे हार है, मनके जीते जीत ।
परमातमको पाइये मनहीके परतीत॥

जगह लेनेके लिये कोई वस्तु होनी चाहिये । तुलसीदासजीने जिस समय रामसे प्रार्थना की—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥

—उस समय उनके भीतरसे मनुष्यका हृदय पुकार रहा था । वासनाएँ स्वतः भली या बुरी नहीं होतीं । उनका भला या बुरा होना, उनके आलम्बनपर निर्भर है । जो वासना पुत्र-कलत्र-धन इत्यादिकी ओर आकृष्ट होकर मोह कहाती है और बन्धनका कारण होती है, वही भगवान्‌की ओर आकृष्ट होनेसे उपासना या भक्ति कहाती है और जीवकी मुक्तिका कारण हो जाती है । जो इन्द्रियाँ विषयासक्त होकर आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा डालती हैं, वे ही तल्लीनताकी अवस्थामें परमात्माकी ओर मुड़ जाती हैं और श्रवण, कीर्तन, परोपकार आदिद्वारा भगवत्प्राप्तिमें सहायक होती हैं—

जब लगि थो अँधियार घर, मूस थके सब चोर ।
जब मंदिर दीपक बरयो, वही चोर धन मोर ॥

—मलूक

मनुष्यके मनस्तत्त्वकी इस विशेषताने आध्यात्मिक साधना-पथमें इष्टदेवकी कल्पना करायी है । भक्तके चित्तकी इसी मृदुल भावनाका आलम्बन बननेके उद्देश्यसे 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला, कौसल्या हितकारी' (तुलसी) और 'पारावार पूरन अपार परब्रह्म रासि जसुदाके कोरें* एक बार ही कुरै परीं (देव) यहाँतक कि 'नाजसरथि घर औतरि आवा····' नाजसत्रै लै गोद खिलावा' कहनेवाला वेदान्ती भी वेदान्त—वेदान्त भूलकर विवश होकर कह उठा—

महापुरुष देवाधिदेव, नरसिंह प्रगट कियो भगति भेव ।
कहै 'कबीर' कोइ लहै न पार, प्रह्लाद उबारयो अनेक बार ॥

सचमुच इन लोहेके चनोंको चबानेके लिये 'वेदान्त भी वेदांत है ।' इसीसे तो निर्गुण ब्रह्मके राज्यमें भी सर्वैश्वर्य-विभूति-सम्पन्न ईश्वरका प्रकटीकरण हुआ है ! तत्त्वचिन्तक कुछ भी कहा करे, भक्त उपासकका दिल तो उछल-उछलकर यही कहता रहेगा—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभा-
त्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

'नेदं यदिदमुपासते' (केन० १ । ५) कहनेभरसे तो काम चलता नहीं । हृदयके लिये तो सामग्री जुटानी ही पड़ती है ।

सुन्दर बदन कमल दल लोचन, बाँकी चितवन, मँद मुसकानी ।

(मीरा)

ये बातें न होंगी तो दिल कैसे मानेगा ?

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति ।

(छान्दोग्य० ७ । २२)

उद्धवने गोपियोंको तत्त्वचिन्तनका महत्त्व समझानेमें अपना दिमाग खपा दिया परन्तु क्या उनके मनमें उसकी बात जरा भी बैठी ? उन्होंने सौ बातकी एक बात कहकर उसके सब तर्क वितर्कोंको बेकाम कर दिया—

ऊनो* कर्म कियो मातुल बधि, मदिरामत्त प्रमाद ।
'सूरस्याम' एते अवगुनमें निर्गुनतें अति स्वाद ॥

गुणोंके अवगुणोंकी अब कोई क्या शिकायत करेगा ? इन गाँठोंमें लोक-हितैषणाका मधुर रस भरा हुआ है, भाई ! इन्हींसे भक्तको अपने उद्धारकी आशा होती है । यहाँ तर्क-वितर्क सब 'कुतर्क' कहलाते हैं । सतीको जितना दुःख भोगना पड़ा वह सब इसलिये

* कोरें=क्रोडे, गोदमें ।

* ऊनो=कम, तुच्छ, बुरा ।

कि जहाँ विश्वास करना चाहिये, वहाँ वह तर्क करने लगीं, दिलका काम दिमागसे लेने लगीं।

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सोकि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥

भला तर्कसे यह समस्या हल हो सकती है ? परन्तु पार्वती जन्ममें जब उनकी तर्क-बुद्धि मिट गयी और उन्हें अनुभव हो गया कि 'सो फलु भली भाँति हम पावा॥' तब शिवजीके समझानेसे उनके दिलमें यह बात बैठते देर न लगी कि—

अगुन-अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥
—तुलसी

इष्टदेवकी सिद्धि तर्कसे नहीं प्रेमसे होती है। इष्टदेवकी भावनामें चञ्चल मनके आगे भगवान्‌का वह मञ्जुल मनोहर रूप रक्खा जाता है जिसे देखकर वह विवश होकर खुद ही भटकना छोड़ देता है। बाहरसे जोर-जबरकी जरूरत नहीं पड़ती। संसारका फिर उसके ऊपर कुछ असर नहीं रह जाता—

मो मन गिरिधर छबिपै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चालपै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम-घन-बरन लीन ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यो।
'कृष्णदास' किये प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो॥

इष्टदेव कर्ता, धर्ता, हर्ता सब कुछ होनेके पहले इष्ट है, हमारी रुचि, प्रेम और लालसापर अधिकार किये रहता है। वह हमारे हृदयमें सांसारिक प्रेमके लिये, मोहके लिये जगह नहीं रहने देता, मोहिनीके मानको ठुकरा देना और मानिनीसे हृदयको हटा लेना आसान बना देता है—

तोरि मानिनीतें हियो, फोरि मानिनी मान।
प्रेमदेवकी छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥*

हमारे लिये वह पुत्र (वात्सल्यमें), सखा (सख्यभावमें), पति (माधुर्यभावमें), पत्नी (सूफी-माधुर्यमें) माता-पिता सब कुछ बन जाता है। जो उसका जैसे भजन करता है उसको वह वैसे ही मिलता है।

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

अगर ऐसा न होता तो भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा झूठी न हो जाती—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

भक्तको उससे डरनेका अवसर नहीं होता। वह इष्ट है, 'भय बिनु होइ न प्रीति'का अनुसरण नहीं करता। 'रीझि भजो कै खीजि', वह अपनी तरफका काम पूरा करेगा। तुलसीदास तो उनका 'पूतरा' नचानेतकको उतारू हो गये थे। भावुक भक्त उसमें और प्रेममें कोई अन्तर नहीं देखता; वे दोनों एक हैं। बल्कि कहना यह चाहिये कि भगवान् साक्षात् प्रेमस्वरूप हैं—

प्रेम हरीको रूप है, वे हरि प्रेमस्वरूप।
एक होय दोमैं लखै, ज्यों सूरजमैं धूप॥
—रसखान

उपासक केवल अपने इष्टदेवका सान्निध्य चाहता है। उसीके प्रेममें वह निमग्न रहता है। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते कभी भी वह उसके मनसे

---

* इस रास्तेमें देश, जाति और सम्प्रदायका कोई भेद नहीं चलता। अनामीके भिन्न-भिन्न नामकरण कर देनेसे उसमें भेद थोड़े ही आ जावेगा। इस अनस्ति भेदभावके लिये लोग लड़ें तो मूर्खता छोड़कर उसे और क्या कहेंगे ? लगभग चार सौ वर्ष पहले मनोहर कविने कहा था—

अचरज मोहिं हिंदू तुरक, बादि करत संग्राम।
इक दीपतिसों दीपियत, काबा कासीधाम॥

यह रास्ता सबके लिये खुला है जो चाहे उससे अपने जीवनको सरस बना ले। हिन्दू इसी रास्तेपर चलकर अपने जीवनमें वास्तविक मधुरिमा भरते हैं, मियाँ भी जब 'रसखान' होना चाहते हैं तो इसी मार्गपर चलते हैं—

प्रेमदेवकी छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान।

बाहर नहीं निकलता। वह उसे अपने हृदयमें छिपाना चाहता है—

दूरि न दौरि दुरयौ जो चहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं॥

—पद्माकर

अपनी आँखोंमें बसाना चाहता है—

साँवरेलालको साँवरो रूप मैं नैननको कजरा करि राख्यौ॥

—देव

अपने सारे संसारका उसीमें पर्यवसान कर देना चाहता है—

आओ प्यारे मोहना, नयन झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं औरको, ना तोहिं देखन देउँ॥

—कबीर

शरीरसे वह सब काम करता रहता है, पर उसकी लगन नहीं छूटती—'जस नागरिको चित गागरिमैं' (रसखान)। उसे उसकी प्रेममयी स्मृति रात-दिन बनी रहती है। उसके मनन, उसके ध्यान और उसके दर्शनसे उसकी तृप्ति ही नहीं होती, जितना ही अधिक वह इस प्रेमामृतका पान करता है। उसके लिये उतनी ही अधिक तीव्र उसकी तृषा होती जाती है। वह चाहता है कि उसके रूपको देखनेके लिये रोम-रोम आँखें बन जायँ, उसकी वाणी सुननेके लिये शरीरपर जगह-जगह कान हो जायँ और उसकी बगल छोड़कर वह कहीं जावे ही नहीं—

श्रीहरिकी छबि देखिबेको अँखियाँ प्रति रोमहिंमैं करि देतो।
बैननके सुनिबे हित श्रौन जितै तित ही करतो करि हेतो॥
मोढिग छाड़ि न काम कहूँ रहै, 'तोष' कहै लिखतो बिधि एतो।
तौ करतार इती करनी करिकै कलि मैं कल कीरति लेतो॥

उपास्यदेव ही नहीं बल्कि उनके सान्निध्य और संसर्गसे उनके क्रीड़ाके स्थल भी उसी प्रकारकी पूत और स्निग्ध भावनाओंसे घिर जाते हैं। उपास्यदेवके अभावमें वे ही उसकी कोमल कल्पनाओंके केन्द्र हो जाते हैं। उसे अपने उपास्यदेवका सम्पूर्ण वैभव स्मृतिरूपसे उनके चारों ओर विचित्र मण्डल बाँधे दिखायी देता है। उन स्थलोंमें वह अपने आपको उसी पुराने वातावरणमें घिरा पाता है, जिसने एक दिन उनको पावन कर चिरस्मरणीय बनाया था। अतएव वे भी उसके लिये उतने ही आकर्षक हो जाते हैं।

मानुस हौं तौ वहै 'रसखान' बसौं सँग गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नंदकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वहै गिरिको जो कियौ हरि छत्र पुरंदर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदंबकी डारन॥

रसखानका यह सवैया तो प्रसिद्ध ही है, भक्तवर हठीजीका यह कवित्त भी इस सम्बन्धमें कम प्रसिद्धि पाने योग्य नहीं है—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजनको,
पसु कीजे महाराज नंदके नगरको।
नर कौन? तौन जौन राधे-राधे नाम रटै,
तट कीजै बर कूल कालिंदीके कगरको॥
इतने पै जोइ कुछ कीजिये कुँवर कान्ह,
राखिये न आन फेर 'हठी'के झगरको।
गोपी-पद-पंकज-रज कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुलके बगरको॥

तुलसीदासजीने उपासकका आदर्श स्वरूप उस तेजपुंज लघु वयस 'तापस'में दिखाया है जो प्रयागसे आगे बढ़कर वन जाते हुए रामके दर्शनोंके लिये उत्सुकताके साथ यमुनातटपर आया था। यह तपस्वी कौन था, इसपर वितर्क-तर्क करते हुए भिन्न-भिन्न विद्वानोंने विभिन्न मत दिये हैं, परन्तु हृदय उन्हींके मतको स्वीकार करता है जो उसमें स्वयं तुलसीदासका प्रतिरूप देखते हैं। वह चाहे जो रहा हो, पर आदर्श उपासक अवश्य था। रामको देखकर उसके प्रेमोल्लासकी इयत्ता न रही। उसके शरीरमें पुलक और आँखोंमें आँसू आ गये। उसकी दशाका वर्णन

नहीं हो सकता। आँखरूपी दोनेसे वह रामके रूपामृतका पान कर रहा था। उसे वही आनन्द हो रहा था जो भूखेको अच्छा आहार मिलनेपर होता है।

सजल नयन तन पुलकि निज, इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि॥
पिअत नयन पुट रूप पियूखा। मुदित सु-असन पाइ जिमि भूखा॥

इष्टदेवकी प्रधान विशेषता उसकी प्रेम-वश्यता है। वह केवल हमें ही अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता, स्वयं भी हमारी ओर आकृष्ट होता है। क्योंकि भक्त और भगवान्‌में कोई भेद नहीं है। इसीसे तुलसीदासने कहा है—'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मतिमलिन कह दास तुलसी'। जिस समय उपरिलिखित 'तापस' ने आँखोंमें आँसू और तनमें पुलक लाकर रामको दण्डवत् प्रणाम किया, उस समय राम चुपचाप थोड़े ही रहे। उन्होंने उपास्यदेवके कर्तव्यका पूरा निर्वाह किया। उन्होंने भी पुलकित होकर उसे सप्रेम गले लगाया। उपासकको यदि भूखेका मधुर भोजन मिला तो उपास्यदेवको भी निर्धनका पारस पत्थर; प्रेम और परमार्थका मिलन हो गया—

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा॥
मनहु प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥

इसी प्रणत-पालक प्रेमने गीतामें भगवान्‌से आश्वासन दिलाया है—ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ (९।२९) इसी स्वरमें स्वर मिलाते हुए सूरदासने भगवान्‌से कहलाया है—'हम भगतनके भगत हमारे।' भक्तके प्रेमके सूत्रके आगे परमात्मा अपने समस्त ऐश्वर्यको भूल जाता है और प्रेमके झीने तारमें ही बँध जाना सबसे बड़ा ऐश्वर्य समझता है—

या झीने-हित तारमैं, बल एतो अधिकाइ।
अखिल लोकको ईस हू, जासों बाँधो जाइ॥

—रसनिधि

इस 'झीने हित-तार' को यह बल उसीकी प्रेम-वश्यतासे मिला है। तभी तो—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारदलौं सुक ब्यास रटैं पचि हारैं तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछियाभर छाछपै नाच नचावैं॥

—रसखान

सच्चे उपासकका प्रेम वह प्रेम नहीं जिसे करके 'सम्मन' की तरह पछताना पड़े—

निकट रहे आदर घटे, दूरि रहे दुख होय।
'सम्मन' या संसारमें, प्रीति करे जनि कोय॥

आध्यात्मिक प्रेममें यही तो विशेषता है कि वह सांसारिक प्रेमकी तरह क्षीण नहीं होता, उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जितना ही भक्त भगवान्‌के 'निकट' पहुँचता है उतना ही उसका प्रीतिभाजन होता जाता है। उपासनाका अर्थ ही समीप बैठना है। इसलिये इस आसवका पान जिसने एक बार कर लिया उसकी लहर मिट नहीं सकती—

हरि रस पीया जानिए, कबहुँ न जाय खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नहिं तन मनकी सार॥

—कबीर

इस मदिर आनन्दमें उपासक संसारके सब सुखोंको तृणवत् समझने लगता है। उसे किसी बातकी इच्छा ही नहीं रह जाती। उसकी सब कामनाएँ एकमुखी होकर उपास्यदेवमें लीन हो जाती हैं। उपासनासे मुक्ति तो अवश्य मिलती है, पर सच्चे उपासककी उपासना तल्लीनताकी उस चरम दशाको पहुँच जाती है जिसमें वह किसी साध्यका साधन न रहकर अपना उद्देश्य अपने आप हो जाती है। वैकुण्ठकी भी आकांक्षा उसमें नहीं रह जाती।

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा,
नहिं जहँ गोपी, ग्वाल न गाय।।

जहँ नहिं जल जमुनाको निर्मल
और नहीं कदमनकी छाँय।
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वालिनी
ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय॥

ब्रह्मानन्द भी उसके सामने तुच्छ लगने लगता है। रामको देखकर विदेहराजकी यही दशा हो गयी थी—

इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥

मोक्षतककी यह अनिच्छा ही उपासकको मोक्षपदकी योग्यता प्रदान करती है। जिस अनन्य भक्तिका शाण्डिल्यने—

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्।
(९६)

इस सूत्रमें और गीताने—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८।२२)

—इस श्लोकमें उल्लेख किया है, वह यही है। इसके प्राप्त हो जानेपर फिर उपासकको स्वयं अपनी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। 'पुरुष' अर्थात् भगवान् स्वयं उसके लिये चिन्तित रहते हैं। गीतामें भगवान्ने स्वयं ही आश्वासन दिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

इसका वे सदैव पालन करते आये हैं। और भक्तके अपने तन-मनकी सुधि भूलकर मुक्तिसे विरत रहनेपर भी वह उसकी मुक्तिकी चिन्ता रखते हैं। स्वतः उसे अपनाकर उसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

परन्तु यह न समझना चाहिये कि परमात्माको कहीं बाहरसे दौड़कर आना पड़ता है। वह तो सर्वत्र व्यापक है, सबके हृदयमें वास करता है और अनन्य उपासकका हृदय तो उसका खास अपना घर है, निज-निवास है। निवास ढूँढ़ते हुए रामसे तुलसीदासके वाल्मीकिने कहा था—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु उर, सो राउर निज गेहु॥

कबीर कहते हैं—

सब घट मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोय।
भाग तिन्होंका हे सखी! जा घट परगट होय॥

हमारा हृदय ही क्षीरसागर है जिसमें शेषनागकी सेजपर भगवान् (चेतन तत्त्व) लेटे हुए हैं। जबतक भगवान् सोये रहते हैं विषय-वासनारूप सहस्र जिह्वाएँ फूत्कार करती हुई हमें त्रस्त करती रहती हैं। किन्तु ज्यों ही देवोत्थान होता है, त्यों ही शेषनाग (आधिभौतिकता) की ये सहस्र जिह्वाएँ स्वयं त्रस्त होकर सिमिट जाती हैं; और यह शेषनाग भी धन्य होकर पूजाका पात्र हो जाता है—

अरे अशेष! शेषकी गोदी तेरा बने बिछौना-सा।
आ मेरे आराध्य खिला लूँ तुझको आज खिलौना-सा॥
—एक भारतीय आत्मा

देवोत्थानके लिये किसी एकादशीविशेषकी आवश्यकता नहीं। अपनी सच्ची लगन और अनन्य उपासनासे हम जब चाहें तब अपनी देवोत्थानी एकादशी उपस्थित कर सकते हैं।

मुक्ति न चाहनेपर भी अपने ही हृदयस्थ ऐसे भगवान्से भागकर भक्त जा कहाँ सकता है। भगवान्से उसको और उससे भगवान्को छोड़ते बने तब न वह मुक्तिको छोड़े? और परमात्माके साथ शाश्वत समागम अथवा अद्वैत भावको छोड़कर, मुक्ति है क्या? भक्त तो परमात्माको क्या छोड़ेगा, परमात्मा भी भक्तको नहीं छोड़ सकता—

कबीर मन मिरतक भया, दुरबल भया सरीर ।
पाछे लागे हरि फिरैं कहत 'कबीर! कबीर!!' ॥

सूरदास भी कहते हैं—

भक्त बिरह कातर करुनामय डोलत पाछे लागे ।

इस करुणाकी भी कोई सीमा है? बेचारे तुलसीदासको झोली-तूमड़ी भी न रखने दी। उनकी पहरेदारीपर ऐसे जा डटे कि उन्हें लुटा देनेके सिवा गरीबको और कोई उपाय ही न सूझा। इसीके बलपर तो रुनुकताके वास्तविक दृष्टिवाले अन्धे भक्तने हाथ छुड़ाकर भागते हुए भगवान्को ललकारकर कहा था—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकै मोहि ।
हिरदेसे जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि ॥

इस प्रकार उपासनाकी आत्म-विस्मृति कर तल्लीनताके द्वारा उपासकको अयाचित ही वह मुक्ति सुलभ हो जाती है। जो जप-तप, ज्ञान-वैराग्य, योग-यागद्वारा भी दुर्लभ मानी गयी है। जप-तप आदि करके भी अगर लोग विफल हों तो जप-तपका क्या दोष? उन्हें जानना चाहिये कि राम प्रेमसे प्रसन्न होते हैं, केवल उन बातोंसे नहीं जिनमें बनावट भी हो सकती है—

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा ॥

सहस्रारमें ब्रह्मकी झलक पानेके लिये भी प्रेमाविष्ट जागर्तिकी आवश्यकता है—'पति सँग जागी सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीस' (कबीर) इसलिये मुक्ति तो प्रेमपूर्ण उपासनासे ही मिलेगी; जप, तप, योग इत्यादि तो उसके बाहरी लक्षण अथवा अधिक-से-अधिक सहायकमात्र हैं। उपासनाके बिना वे निःसत्त्व हो जाते हैं। उपासनाके सहयोगमें उनकी सार्थकता है, अन्यथा नहीं—

आसन दृढ़, आहार दृढ़, सुमति ग्यान दृढ़ होय ।
'तुलसी' बिना उपासना, बिनु दुलहेकी जोय ॥

बिना दुलहेकी दुलहिन ही क्या?

मांसाहारसे पाप

१—जो दूसरेका मांस खाता है, उसके मनमें दयाका भाव कहाँसे आवेगा?

२—जैसे खर्चीले आदमीके हाथमें धनका सञ्चय कभी नहीं रह सकता, इसी प्रकार मांसाहारीके मनमें दयाका सञ्चय नहीं रह सकता।

३—जानवरोंकी हत्या करना निस्सन्देह बड़ी निष्ठुरता है और उनका मांस खाना तो निश्चित पाप है।

४—मांस-भक्षण न करनेमें ही जीवन है। मांसाहार करोगे तो नरकका दरवाजा तुम्हारे छुटकारेके लिये कभी नहीं खुलेगा।

५—अगर लोग खानेके लिये मांसकी इच्छा न करें तो मांस बेचनेवाला कोई भी न रहे।

६—प्राणियोंको जो व्यथा और यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, उसका सच्चा चित्र एक बार भी मनुष्यके मनमें खिंच जाय तो वह फिर किसी दिन मांस खानेकी इच्छा न करे।

७—जो पुरुष माया या अज्ञानके बन्धनसे मुक्त हो गये हैं वे कभी मांस नहीं खाते।

साधु तिरुवल्लुवर

भक्त-गाथा

भक्त श्रीनिवास आचार्य

श्रीगौराङ्गदेवके अनन्यभक्तोंमें श्रीनिवास आचार्य भी एक महाभक्त हो गये हैं। यही नहीं, इनका तो जन्म ही गौरभक्तिको लेकर हुआ था, जिन दिनों निमाई पण्डित अपनी विद्वत्ताके लिये सारे नवद्वीपमें पुज रहे थे उन्हीं दिनों नवद्वीपसे सात-आठ मील दूर चाकन्दी (जि० बर्दवान) ग्राममें इनके पिता श्रीगङ्गाधर भट्टाचार्य भी साहित्य और व्याकरणके असाधारण पण्डित समझे जाते थे। कहा तो यह जाता है कि 'विद्या ददाति विनयम्' परन्तु व्यवहार प्रायः इसके विपरीत देखा जाता है। परन्तु जैसे प्रत्येक नियममें अपवाद भी होते ही हैं। वैसे ही लड़ाकू पण्डितोंके पारस्परिक ईर्ष्याभावको कटु अनुभवके कारण'नियम'का नाम भी यदि दे दिया जाय तो भी इसमें अपवाद नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बड़े-बड़े उदार पण्डित भी देखनेमें आते हैं। प्रसन्नताकी बात है, हमारे श्रीनिवासके पिता श्रीगङ्गाधर भट्टाचार्य भी ऐसे ही उदार पण्डित थे। जब कभी श्रीचैतन्यदेवकी गुणगरिमा उनके सुननेमें आती तो उसी समय गौराङ्गके प्रति उनके हृदयमें आदरभाव जागृत हो उठता। उनकी इच्छा होती कि नवद्वीप पहुँचकर निमाई पण्डितके दर्शन करूँ; पर उनका यह विचार उनके शिष्योंको पसन्द न आता। उनके गुरुदेव किसी पण्डितकी ख्याति सुनकर उसके दर्शनोंके लिये दौड़े जायँ इसमें उन्हें बड़ी हेठी मालूम पड़ती। इसीलिये गङ्गाधरजी मन मारकर रह जाते; पर कोई मन मारकर कबतक रह सकता है ? चैतन्यचरणोंमें उनकी प्रीति दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी ! इतनेमें उन्हें संवाद मिला कि जबसे निमाई पण्डित गयासे लौटकर आये हैं तबसे अपना सारा पाण्डित्य भुलाकर भगवत्प्रेममें मतवाले हो बैठे हैं और अपने प्रेमभरे श्रीहरि-कीर्तनके द्वारा सारे नवद्वीपवासियोंको भी मतवाला बना रहे हैं। बस, अब तो गङ्गाधर पण्डित किसीके भी रोके न रुक सके और गौरदर्शनके लिये चल पड़े। रास्तेमें उन्हें पता चला कि महाप्रभु तो संन्यास ग्रहण करनेके अभिप्रायसे कटवामें श्रीकेशवभारतीके यहाँ गये हुए हैं। 'ओहो ! ऐसे विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुष संन्यास लेने जा रहे हैं।' यह सोचकर उनके दिलका भक्तिभाव और भी वृद्धिगत हुआ और उन्होंने कटवाका रास्ता पकड़ लिया। वहाँ उन्होंने अपनी आँखों देखा कि अपनी वृद्धा माता और नवयौवना पत्नीको भगवान्के भरोसे छोड़ निमाई पण्डित श्रीकेशवभारतीसे संन्यासदीक्षा लेकर संसारत्यागी और भगवदनुरागी बन रहे हैं। हजारों आदमियोंकी भीड़ जमा है जिनमेंसे अनेक कोमलहृदय नर-नारी आँखोंसे आँसू ढाल रहे हैं। सारा दृश्य देखकर गङ्गाधर पण्डित भी अपने आपको न सँभाल सके। फूट-फूटकर रो पड़े और रोते-रोते अचेत हो गये। चेतना होनेपर भी उनका आवेग निःशेष नहीं हुआ। श्रीकेशवभारतीने निमाई पण्डितका संन्यासका नाम रक्खा श्रीकृष्णचैतन्य। गङ्गाधर पण्डित मुखसे श्रीकृष्ण चैतन्य कहकर ढार मारकर रो पड़ते। अपनी ऐसी दशा लेकर वह चाकन्दी आये। गाँववाले उनके अन्दर इस चैतन्यभक्तिको देखकर उन्हें चैतन्यदासके नामसे पुकारने लगे।

चैतन्यदासका विवाह तो बहुत पहले ही हो चुका था; पर अबतक उनके कोई सन्तान नहीं हुई थी। उन्हें इसकी कोई चिन्ता भी न होती थी। उनकी पत्नी लक्ष्मीप्रियाकी अवस्था भी ढल चुकी थी,

परन्तु भगवान्की लीला विचित्र है, एक दिन अकस्मात् उनके अन्दर पुत्रदर्शनकी लालसा हो आयी। चैतन्यदेवके आशीर्वादपर उनका बड़ा भारी विश्वास था, इसलिये पत्नीसहित उन्होंने पुरीके लिये, जहाँ देश-देशान्तरमें परिभ्रमण करके श्रीचैतन्य निश्चितरूपसे रहने लग गये थे, प्रस्थान कर दिया। उनका आशीर्वाद लेकर वहाँसे वापस आये और भाग्यवश लक्ष्मीप्रियाके गर्भ भी रह गया। फलतः वैशाखी पूर्णिमाको शुभ मुहूर्तमें परम भागवत श्रीनिवासने जन्मग्रहण करके हित् मित्रसहित सारे परिवारको आनन्दमें निमग्न कर दिया। इन्हीं श्रीनिवास महाशयके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् वर्णन यहाँ किया जाता है।

माता-पिताके आचार-विचारका सन्तानपर बड़ा प्रभाव पड़ता है; और उसमें भी विशेषरूप माताके आचार-विचारका। कहा जाता है, अमुक व्यक्तिके अन्दर तो माताके दूधके साथ-साथ ही अमुक विद्या प्रविष्ट हो चुकी थी। यह सर्वदा सत्य ही है। सर्वप्रथम गुरुका कार्य करनेवाली माता ही होती है। श्रीनिवासकी माता लक्ष्मीप्रिया बड़ी धर्मपरायणा स्त्री थीं, वह अपने शिशुको स्तन्यपान करातीं जातीं और इसके साथ-ही-साथ अपने बेटेके कानोंमें भगवान् और उनके भक्तोंका गुणानुवाद सुनातीं जातीं, जिसका फल यह हुआ कि पहले-पहल बच्चेकी तोतली वाणीसे और कुछ न निकलकर भगवान् और उनके भक्तोंके नाम ही निकले। श्रीचैतन्य और उनके शिष्योंके नाम सदा उसकी जीभपर रहते। पिताके मुखसे भी श्रीनिवासको रात-दिन इसी प्रकारकी भक्तिपूर्ण चर्चा सुननेको मिलती, इस कारण आरम्भसे ही उनके भगवद्भक्तिके संस्कार बन गये। साथ ही योग्य गुरुके द्वारा अल्पकालमें ही उन्होंने खासी विद्या भी प्राप्त कर ली। असाधारण प्रतिभाके कारण कुछ ही वर्षोंमें श्रीनिवास व्याकरण, न्याय, काव्य, अलंकार आदिके अच्छे पण्डित हो गये। क्यों न हों, जब सौ विद्याओंकी विद्या भक्तिदेवी जन्मसे ही उनके हृदयमन्दिरमें प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। उनके आ जानेके बाद अन्य बाह्य विद्याएँ तो उनके पीछे-पीछे अपने आप दौड़ आती हैं।

अबतक श्रीनिवास युवावस्थाको प्राप्त हो चुके थे और भक्ति उनके अन्दर भलीभाँति जड़ जमा चुकी थी। अब विपरीत बयारके झकोरोंसे उसके उखड़ बगल होनेका डर जाता रहा था। अब चैतन्यदासको उसकी देख-रेख करनेकी कोई खास जरूरत नहीं रह गयी थी; और न जाने इसीलिये या क्या, चैतन्यदास इस लोकसे प्रयाण कर गये। मातासहित श्रीनिवासको इस घटनासे बड़ा शोक हुआ। इधर वह अपने नाना बलराम आचार्यकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हो चुके थे, अतः पिताका श्राद्ध आदि संस्कार करके वह माताको लेकर अपने ननिहाल जाजिग्राममें चले गये और वहीं रहने लगे। जाजिग्रामवासियोंको इन्हें अपने मध्य पाकर बड़ा सुख मिला। एक तो इनमें अगाध पाण्डित्य और ऊपरसे उसमें भगवद्भक्तिका संयोग—अब और क्या चाहिये ? कहावत है कि सोना और उसमें सुगन्ध; पर बेचारा सुगन्धयुक्त सोना इस भक्तिसमन्वित विद्याकी समानता क्या कर सकता है ? वह तो उसके सामने अति तुच्छ पदार्थ है। अवश्य ही श्रेष्ठातिश्रेष्ठ वस्तुका बोध करानेमात्रके निमित्त इस तुच्छातितुच्छ वस्तुकी उपमासे भी काम लिया जा सकता है। कहनेका मतलब यह कि जाजिग्रामकी वैष्णवमण्डलीके बीच यह इस प्रकार शोभायमान हुए जिस प्रकार तारिकामण्डलीके बीच चन्द्रमा।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीनिवासका जन्म ही एक तरहसे चैतन्यकी भक्ति लेकर हुआ था। अब तो वह एक बार उस पावनमूर्तिका दर्शन करके अपने

नेत्रोंको तृप्त करनेके लिये तरस उठे। कटवानिवासी श्रीनरहरि सरकार जो वैष्णवमण्डलीमें सरकार ठाकुर या साकार ठाकुरके नामसे प्रसिद्ध थे, उनसे तथा अन्य चैतन्यभक्तोंसे सलाह लेकर उन्होंने पुरीके लिये प्रस्थान किया; पर मार्गमें उन्हें यह संवाद मिला कि जिन गौरचन्द्रकी दर्शनोंकी लालसासे वह पुरी जा रहे हैं वह तो अदृश्य हो गये। यह दुःसंवाद पाते ही वह पछाड़ खाकर जमीनपर गिर पड़े और बेहोश हो गये। एक बार होशमें आकर, सिर धुन-धुनकर विलाप करके बारम्बार बेहोश होने लगे। राहगीरोंको भी जब इनकी इस दशाका कारण मालूम होता तो वे भी आँसू बहाने लगते। इसी तरह दिन-का-दिन बीत गया और रात आ गयी। पर श्रीनिवासकी वेदना शान्त नहीं हुई बल्कि वह ऐसे बढ़ी जैसे रातमें फोड़े आदिका कष्ट बढ़ता है। अबतक चैतन्यके उन्होंने एक बार भी दर्शन नहीं किये थे—उसके बिना ही, उनका गुणगान सुन-सुनकर ही सन्तोष लाभ करते रहे थे; पर अब तो उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि चैतन्यचरणोंसे वञ्चित होकर जीवनधारण करना ही व्यर्थ है। जब उनकी व्याकुलता बहुत अधिक बढ़ गयी तब भगवान्‌ने निद्रादेवीको भेज दिया जिन्होंने उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया। श्रीनिवासको नींद आ गयी। इसी समय, स्वप्नमें श्रीचैतन्यदेवने दर्शन देकर उनसे कहा—'तुम सारा शोक त्यागकर अविलम्ब पुरी चले जाओ। वहाँ गदाधर आदि भक्तजन तुम्हारी राह देख रहे हैं।' आँख खुलनेपर श्रीनिवास-के व्यथित हृदयको इस स्वप्नसे भी बड़ी सान्त्वना प्राप्त हुई। सवेरा होते ही वह पुरीके लिये चल पड़े।

पुरी पहुँचनेपर श्रीनिवासने देखा कि नगरकी ईंट-ईंट गौरवियोगमें आँसू बहा रही हैं। पूछ-ताँछ-कर गदाधर पण्डितके आश्रममें पहुँचे तो देखा कि वे अचेत पड़े हैं और उनकी आँखोंसे आँसुओंका झरना झर रहा है। श्रीचैतन्यदेवका नाम लेकर श्रीनिवास उनके चरणोंमें लोट गये और अपने नेत्रोंके वारिप्रपातसे उन्हें भिगोने लगे। चैतन्यदेवका नाम कानमें पड़ते ही गदाधर पण्डितके मृतवत् शरीरमें चैतन्यका सञ्चार हुआ। शोकसन्तप्त हृदयमें शीतलता आ गयी। नव शक्ति पाकर निद्रासे जागे हुए व्यक्ति-की भाँति उठकर बैठ गये और पैर पलोटते हुए श्रीनिवासको उठाकर गलेसे लगा लिया। बोले—'भैया! तुम कौन हो, कहाँसे आये हो, जिसने अमृतमय नामका उच्चारण करके मुझ मुर्दा पड़े हुएको जिन्दा करके उठाकर बैठा दिया। धन्य हो, बच्चा! तुम्हारा कल्याण हो।'

इसके पहले गदाधर पण्डितको भी श्रीनिवासके सम्बन्धमें एक स्वप्नादेश हो चुका था, इसलिये ज्यों ही उन्हें मालूम हुआ कि यह वही सज्जन हैं त्यों ही उनका हृदय आनन्दसे गद्गद हो गया। उन्होंने उन्हें एक बार पुनः उठाकर गलेसे लगा लिया और कहा—'बेटा! मुझे महाप्रभु यह आज्ञा कर गये हैं कि मैं तुम्हें तुरन्त भागवत पढ़ाऊँ, और भागवत समाप्त करके तुम्हारे लिये वृन्दावन जानेका आदेश है। श्रीगौरकी आज्ञा है कि तुम वहाँ जाकर रूप और सनातनके रचे हुए भक्तिशास्त्रका अध्ययन करो और फिर समस्त गौड़ प्रदेशमें भक्तिकी भागीरथी प्रवाहित करो। हाँ, बेटा! मुझसे जो भागवत पढ़नेकी बात है उसमें कठिनाई यह है कि मेरे पास जो भागवतकी पोथी है, उसके जहाँ-तहाँ कितने ही अक्षर आँसू गिरनेसे मिट गये हैं। इसलिये एक काम करो, मैं सरकार ठाकुरके नाम एक चिट्ठी लिखे देता हूँ जिसे लेकर, कल प्रातःकाल गौड़के लिये रवाना हो जाओ। वह तुम्हें भागवतकी नयी पुस्तक देंगे जिसे लेकर तुम जल्दी-से-जल्दी यहाँ आ जाओ। कारण, तुम देख ही

रहे हो, मैं भी मौतके रास्तेपर ही बैठा हूँ—न जाने कब चल बसूँ ।'

गदाधर पण्डितके मुखसे श्रीगौरद्वारा निर्धारित अपने जीवनका समस्त कार्यक्रम सुनकर श्रीनिवासको बड़ी प्रसन्नता हुई । कल ही प्रातःकाल वापस जाना है, इस खयालसे श्रीगदाधरसे आज्ञा लेकर वह निकले और समुद्रस्नान तथा जगन्नाथदर्शनसे निवृत्त होकर, सार्वभौम आचार्य, राय रामानन्द प्रभृति भक्तजनोंके यहाँ गये और उनके दर्शन किये । वह भक्त हरिदासकी समाधिस्थलीपर भी पहुँचे और उनके नामानुराग आदिका स्मरणकर अपने आँसुओंसे उसे तर करके चले आये ।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठे और गदाधर पण्डितके चरणोंमें मस्तक झुकाकर गौड़के लिये चल पड़े और यथासमय श्रीखण्ड नामक स्थानमें सरकार ठाकुरके पास पहुँचे और उन्हें गदाधर पण्डितकी चिट्ठी दी । बतलाया, श्रीगौरके बिना श्रीक्षेत्र कैसा श्रीहीन हो गया है । यद्यपि श्रीनिवासके आनेके पहले ही सरकार ठाकुरको गौरके तिरोधानका समाचार मिल चुका था और वह बहुत अधिक शोक प्रकाश कर चुके थे; पर श्रीनिवासके आते ही उनका शोक फिरसे नया हो गया । दोनों चैतन्यभक्त बहुत देरतक बिलख-बिलखकर रोये ।

श्रीगदाधर पण्डितके आदेशानुसार वह सरकार ठाकुरसे भागवतकी पोथी लेकर शीघ्र ही पुरीके लिये चल पड़े; पर होनहारकी बात, रास्तेमें उन्हें यह दुःखद संवाद मिला कि पण्डित गदाधर भी अब इस लोकमें नहीं हैं । वास्तवमें गदाधर पण्डितने स्वप्नादेश-को न मानकर दूसरी भागवतकी पुस्तक न आनेतक श्रीनिवासको भागवत न पढ़ाकर बड़ी गलती की थी । उनका मृत्युकाल समीप था, इसीसे 'तुरन्त' पढ़ानेका आदेश था । अस्तु, गदाधरकी मृत्युके संवादने उन्हें जर्जर कर दिया । हृदय टूक-टूक हो गया । आँखोंसे जलस्रोत बह निकला । सारे शरीरको शोकने ऐसे ग्रस लिया जैसे चन्द्रमा या सूर्यको राहु ग्रसता है । खैर, येनकेनप्रकारेण अपने आपको सँभाला; पर अब पुरीकी ओर पैर नहीं बढ़े । पैर बढ़ाना व्यर्थ भी था, अतः वह गौड़को वापस लौटे; पर ठीक ठिकाने पहुँचनेके पूर्व रास्तेमें उन्हें खबर मिली कि श्रीगौरके परम अन्तरङ्ग श्रीनित्यानन्द तथा श्रीअद्वैताचार्य भी इस नश्वर शरीरको त्यागकर श्रीगौरके ही चरणोंमें जा विराजे हैं । बस, अब तो श्रीनिवासकी रही-सही हिम्मत भी टूट गयी । एक-एक करके उनके सारे अवलम्ब उनसे अलग कर दिये गये । सिरपर टूटकर गिरे हुए इस शोकके पहाड़से वह गर्द-वर्द हो गये । जमीनमें लोट-पोट होकर लगे छाती पीटने और सिरके बाल नोचने । महापुरुषोंका वियोग ऐसा ही दुःखदायी होता है ।

इसी प्रकार रोते-धोते रात बीत गयी । सबेरा होते ही वह गौड़की ओर चले । श्रीखण्डमें पहुँचनेपर उन्होंने सारा हाल रो-रोकर सरकार ठाकुरसे कहा । सरकार ठाकुर भी कलेजेपर पत्थर रक्खे सारी गाथा सुनते जाते थे और बहते हुए आँसुओंको पोंछते जाते थे । गौराङ्गके बाद एक-एक करके उनके सब पार्षद भी विदा होते जाते हैं, इस बातका ध्यान कर-करके दोनों भक्तोंने खूब आँसू बहाये । इसके बाद कुछ दिन सरकार ठाकुरके ही यहाँ बिताकर, जी हलका होनेपर श्रीनिवास श्रीगौराङ्गकी जन्मभूमि तथा लीला-भूमियोंका दर्शन करनेको निकले । जब वह नवद्वीपमें पहुँचे तब उन्हें मालूम हुआ कि गौराङ्गके संन्यास लेनेके बादसे उनकी धर्मपत्नी श्रीविष्णुप्रिया कठोर ब्रह्मचर्य व्रतमें निरत हैं । वे किसी पुरुषका मुँह-तक नहीं देखतीं । सारे दिन हरिनामका जप करती रहती हैं; और सूर्यास्तके बाद थोड़े-से चावल बनाकर

अपने इष्टदेवको समर्पण कर पा लेती हैं। उनके दर्शनकी इन्हें बड़ी लालसा हुई। उधर श्रीविष्णुप्रियाको इनके नवद्वीप आनेके पहले ही यह स्वप्न हुआ था, मानों श्रीगौराङ्गदेव पधारे हैं और श्रीनिवासकी गुणावलीका बखान कर उनके नवद्वीप-आगमनकी सूचना दे रहे हैं। इसलिये ज्यों ही इन्हें इनके आनेका संवाद मिला उन्होंने इन्हें बुला भेजा। इन्होंने उनकी सेवामें पहुँच उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम कर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। फिर कई दिन नवद्वीपमें वास करके श्रीविष्णुप्रियाकी आज्ञासे श्रीअद्वैताचार्यकी निवासभूमि शान्तिपुर और श्रीनित्यानन्दके प्रचारक्षेत्र खड़दहको भी देखने गये। फिर खानाकुल कृष्णनगरमें श्रीअभिराम गोस्वामीके घर पहुँचे। उन्होंने इनका भलीभाँति आतिथ्य-सत्कार करके इनसे कहा—'श्रीनिवास, तुम शीघ्र वृन्दावन पहुँचकर गोपाल भट्टसे दीक्षा लो। वहाँ रूप, सनातन और रघुनाथदासके दर्शन करो। इसके बाद श्रीचैतन्य कृपा करके तुम्हारे द्वारा अपना कार्य करा लेंगे। उनकी दयासे तुम्हारे द्वारा गौड़ प्रदेशमें भक्तिकी धारा बह निकलेगी।'

इसके बाद श्रीनिवास मातासे अनुमति लेकर वृन्दावनको चल पड़े और कटवा, जहाँ महाप्रभुने संन्यास ग्रहण किया था, नित्यानन्दकी जन्मभूमि एकचक्रा, गया, प्रयाग और अयोध्या आदि पुण्यस्थानोंके दर्शन करते हुए मथुरा पहुँच गये। वहाँ उन्हें दुःसंवाद मिला कि सनातन गोस्वामी भी प्रयाण कर चुके हैं। उनका यह घाव अभी ज्यों-का-त्यों बना हुआ था, इतनेमें वृन्दावन पहुँचते-न-पहुँचते उन्हें यह भी शोकसमाचार प्राप्त हुआ कि श्रीरघुनाथ और रूप गोस्वामी भी परलोक सिधार गये। इसी प्रकार लगातार एकके बाद एक चोट खाते-खाते उनका हृदय बिल्कुल जर्जर हो गया था। बुद्धि काम नहीं देती थी। भगवान्‌की क्या लीला है, समझमें नहीं आ रही थी। जैसे-तैसे गिरते-पड़ते वृन्दावनमें श्रीजीव गोस्वामीके आश्रममें पहुँचे। श्रीजीव गोस्वामी इन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'कल रातको मुझे तुम्हारे आगमनका स्वप्न हुआ है।' इसके बाद वह इन्हें गोपाल भट्टके यहाँ ले गये। 'आओ भाई! भले आये, मैं तो तुम्हारी बाट ही देख रहा था' कहकर गोपाल भट्टने श्रीचैतन्यके हाथका लिखा एक पत्र इन्हें थमाते हुए कहा—'इसमें महाप्रभुने तुम्हारे सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा है।' अपने सम्बन्धमें श्रीचैतन्यके करकमलाङ्कित अक्षर देखते ही श्रीनिवास भावनिमग्न होकर जमीनपर गिर पड़े। सचेत होनेपर जीव गोस्वामी इन्हें अपने आश्रममें ले गये।

इसके बाद निश्चित शुभ मुहूर्तमें गोपाल भट्टके हाथों श्रीनिवासका दीक्षासंस्कार हुआ। अनन्तर जीव गोस्वामीके निकट इनका वैष्णव ग्रन्थोंका अध्ययन हुआ। श्रीगौरने श्रीनिवासके सम्बन्धमें जो भविष्यद्वाणी की थी, इससे जीव गोस्वामीको यह विश्वास तो पहले ही हो चुका था, कि यह कोई साधारण पुरुष नहीं होंगे; पर अध्ययनकालमें जब उन्हें इनकी अद्भुत प्रतिभाके दर्शन हुए तब तो उनके विश्वासका आधार और भी मजबूत हो गया। उन्होंने भक्तमण्डलीके सामने श्रीनिवासके सम्बन्धमें बोलते हुए कहा—'हम लोगोंके सर्वस्व श्रीगौराङ्गदेव अपनी लीला संवरण कर गये, उनके पीछे-पीछे एक-एक करके उनके पार्षद नित्यानन्द, अद्वैताचार्य और गदाधर पण्डित आदि सभी प्रयाण कर गये। श्रीरूप, सनातन तथा रघुनाथदास-जैसे भक्त-शिरोमणि भी आज हमारे बीच नहीं हैं। हम हतप्रभ हो गये हैं। और बंगालमें तो अब एक तरहसे सन्नाटा ही छा गया है। इसलिये इस बातकी सख़्त जरूरत है कि उस तुषारग्रस्त प्रदेशमें भगवत्तत्त्वका प्रकाश फैले। परन्तु कार्य महान् है,

इसलिये किन्हीं महान् पुरुषसे ही इसका होना सम्भव है । हम जानते हैं, गौर गौर थे, नित्यानन्द और अद्वैत भी अपने-अपने क्षेत्रमें अद्वितीय थे, इसलिये क्षतिपूर्तिकी तो आशा नहीं की जा सकती; परन्तु इतनी आशा तो हमें करनी ही चाहिये कि इन लोगोंका बड़े यत्नसे लगाया हुआ जो भक्तिका महा उद्यान है वह इनके पीछे भी हरा-भरा रहे—सर्वथा उजाड़ न हो जाय । श्रीगौराङ्गदेवको श्रीनिवासाचार्यसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं । इसके प्रमाणस्वरूप उनके कर-कमलोंसे लिखा हुआ एक पत्र मेरे पास मौजूद है । निश्चय ही, श्रीनिवासाचार्य असाधारण पुरुष हैं । इनके अन्दर अद्भुत प्रतिभा है । पाण्डित्यकी भी कसर नहीं है । भक्तिभावका तो पूछना ही क्या है ? श्री-चैतन्यदेवका आदेश और अपनी आँखों देखे इनके गुण—सबका विचार करनेके बाद मैंने यह स्थिर किया है कि यदि आप सर्व महानुभावोंकी सम्मति हो तो इन्हें श्रीरूप-सनातन विरचित तथा अन्यान्य भक्ति-ग्रन्थोंसे लैस करके गौड़के लिये रवाना कर दूँ । इनके साथ-साथ नरोत्तम और श्यामानन्दको भी भेजना अच्छा होगा । ये लोग इनके घनिष्ठ मित्र हैं, इसलिये कार्यक्षेत्रमें अच्छे सहयोगी सिद्ध होंगे ।'

समस्त उपस्थित मण्डलीने बड़े हर्षके साथ इस प्रस्तावका अनुमोदन किया । यात्राका विचार निश्चित हो जानेपर चुन-चुनकर उपयोगी ग्रन्थ इकट्ठे किये गये और फिर उन्हें बड़े यत्नसे मोमजामेमें लपेटकर एक मजबूत-से सन्दूकके अन्दर बन्द किया गया । फिर एक बैलगाड़ीपर लादकर उसे गौड़के लिये रवाना किया गया । रक्षाके लिये दस हथियारबन्द सिपाही भी भेजे गये । इस प्रकार नरोत्तमदास और श्यामानन्दके सहित श्रीनिवासाचार्य गौरपादका आदेश पालन करनेके निमित्त वृन्दावनसे विदा हुए । विदाईका दृश्य बड़ा कारुणिक था । विदा होनेवाले और विदा करनेवाले सभीके नेत्रोंमें आँसू थे ।

श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द तीनों सत्संगी जीव थे । इसलिये रास्ता बड़े मजेसे तय हो रहा था । भगवच्चर्चा छिड़ जाती तो कोस-के-कोस निकल जाते, पता ही न लगता । चुप्पी सधती तो ऐसी सधती कि कई-कई घण्टेतक सन्नाटा ही छाये रह जाता । तीनों-के-तीनों साधक ध्यान और तत्त्वचिन्तन-में ऐसे निमग्न होते कि बाह्यचेतनाको सर्वथा खो बैठते । इसी प्रकार अनेक प्रदेशों और नगरोंको लाँघकर यात्री लोग गौड़देशकी सीमामें पहुँच गये और बाँकुड़ा जिलेके वनविष्णुपुर ग्राममें पड़ाव डाल दिया । पर यहाँ एक दुर्घटना हो गयी । रातको जब सब लोग सो रहे थे, डाकुओंका एक दल चढ़ आया और गाड़ीपर लदे हुए सन्दूकको धन-दौलतसे भरा हुआ समझकर गाड़ीसमेत उसे जंगलमें ले जा छिपाया । श्रीनिवासाचार्य आदि हाथ मलते रह गये । आखिर सबेरा होते ही उन्होंने वृन्दावनवासी सिपाहियोंको वापस किया और इस दुर्घटनाका सारा विवरण श्री-जीव गोस्वामीको लिख भेजा । नरोत्तम और श्यामानन्द-को भी अपने-अपने घर रवाना कर दिया और कहा—'भाई, मैं तो जबतक पुस्तकें न मिलेंगी, तबतक घर लौटकर जाऊँगा नहीं । तुमलोग जाओ ।'

इस प्रकार सब साथियोंको जहाँ-तहाँ रवाना करके वह अन्यमनस्क होकर उसी विष्णुपुरके गली-कूचोंमें घूम-घूमकर दिन बिताने लगे । लोग इन्हें कोई यों ही ऐरा-गैरा समझकर इनकी ओर विशेष ध्यान न देते और इन्हें भी क्षुधासे अत्यधिक पीड़ित होने-पर किसी प्रकार कहींसे रूखा-सूखा अन्न प्राप्त करके पेटको भर लेनेके सिवा उन लोगोंसे क्या प्रयोजन था ? ग्रन्थापहरणके कारण हक्के-बक्के-से हुए यह

चुपचाप अकेले कभी किसी वृक्षके नीचे जा बैठते, कभी कहीं। पर कैसा ही घटाटोप क्यों न हो जाये, सूर्यका प्रकाश कबतक छिपा रह सकता है। इसी प्रकार हमारे श्रीनिवासाचार्य भी अधिक छिपे न रह सके। एक दिन विष्णुपुरके कृष्णदास नामक एक ब्राह्मण-कुमारने बातों-ही-बातों यह भाँप लिया कि यह कोई असाधारण पुरुष हैं। वह इनपर लट्टू हो गये। एक दिन वह इन्हें वहाँके राजा हम्मीरकी सभामें भी ले गये। उस समय वहाँ भागवतकी कथा चल रही थी। यह मैले-कुचैले कपड़े पहने चुपचाप एक किनारे बैठ गये और भागवत सुनने लगे। कथा सुननेसे इन्हें मालूम हुआ कि कथावाचक महोदयका ज्ञान बहुत परिमित है, पर फिर भी वह पूरी हेकड़ीके साथ श्लोकोंके मनमाने अर्थ कर-करके उन्हें लोगोंके कानोंमें जबरदस्ती ठूँस रहे हैं। बस इनसे नहीं रहा गया। इन्होंने पण्डितजी महाराजकी भूल बतलाना शुरू कर दिया। पण्डितजीने इन्हें दीन-मलीन देखकर बिलकुल साधारण आदमी समझा था, इसलिये एक बार उन्होंने इनके सामने पाण्डित्य बघार ही दिया; पर तर्कमें दो कदम और आगे बढ़नेपर उनके पैर उखड़ गये। उन्होंने समझ लिया कि अब इनके सामने अपनी विद्वत्ताको और अधिक खर्च न करनेमें ही शोभा है। इधर इस कुछ मिनटके तर्क-वितर्कमें ही इनकी प्रतिभाकी किरणें एक बार सर्च-लाइटकी तरह सारी सभामें फैल गयीं। राजा हम्मीर-को तो इनकी वाणीने इस प्रकार अपनी ओर खींच लिया जैसे चुम्बक लोहेको खींचता है। उसने प्रार्थना की—'महाराज! आप ही कुछ देर दया करके इस कथामृतका पान कराके हम सबको कृतकृत्य कीजिये।' सारी सभाका इस प्रकार भावपरिवर्तन देखकर और राजाज्ञा सुनकर पूर्व व्यास स्वयं ही उनके लिये स्थान खालीकर दूसरे आसनपर जा विराजे। श्रीनिवासाचार्यने बिना किसी रागद्वेषके भावके, सहज स्वभावसे, व्यासासनको सुशोभित करके कथारम्भ किया। फिर तो इन्होंने वह अमृतकी वर्षा की कि सारे श्रोता चित्रलिखित-से रहकर उसका पान करते-करते नहीं अघाते थे। राजा हम्मीरकी भी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी। पूर्व वक्ताका सारा अभिमान गल गया और कथा समाप्त होनेपर उसने इन्हें विनीतभावसे प्रणाम करके क्षमा-याचना की। और राजा हम्मीरका तो इस कथाने मानों उद्धार ही कर दिया। अपने दुष्कर्ममय जीवनके प्रति उसे घोर घृणा हुई और हृदयमें भगवच्चरणारविन्दोंकी सेवा करनेका संकल्प हुआ। कथा तो वह बराबर ही सुनता था; पर उसी तरह जिस तरह राजे-महाराजे शौकके और बहुत-से काम किया करते हैं। विषया-नन्दके परे भी कोई आनन्द होता है और होता है तो वह कैसा होता है इसका यत्किञ्चित् आभास उसे आज मिला। उसने अपनी अश्रुधारासे श्रीनिवासके चरणोंको भिगोकर अपनी कृतकृत्यता प्रकट की। पीछे बातों-ही-बातों जब उसे यह पता चला कि हालमें विष्णुपुरमें जो गाड़ी लूटी गयी है, यह इन्हीं श्रीनिवासाचार्यकी थी, तब तो लज्जाके मारे वह पानी-पानी हो गया। क्योंकि यह राजा क्या था, डाकुओंका सरदार था। इसका जीवन बड़ा दुष्कृत्यपूर्ण था। इसीने धन-दौलतके लोभसे श्रीनिवासाचार्यकी गाड़ीको गायब किया था। पर जैसे भूल-भटककर शामतक ठिकाने पहुँच जानेवाला भूला नहीं समझा जाता। वैसे ही पापी-से-पापी होकर भी मनुष्य जब भगवान्‌की शरणमें पहुँच जाता है तो उसके उद्धारमें सन्देह नहीं रहता। भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

राजाने हाथ जोड़कर अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी और कहा कि सप्तर्षि वाल्मीकिके उद्धारके लिये पधारे थे और मैं समझता हूँ आपने मेरे उद्धारके लिये दर्शन देनेकी कृपा की है। आजसे मेरा जीवन आपके चरणोंपर निछावर है।

इसके बाद राजा श्रीनिवासको एक बन्द कमरेमें ले गया और कहा —'देखिये यही न है आपका सन्दूक ? देख लीजिये, आपकी एक चिटतक गायब नहीं होने दी गयी है।' श्रीनिवासने देखा उनके सारे-के-सारे ग्रन्थ ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा माल्म हुआ मानों प्राण मिल गये। उन्होंने बड़ी श्रद्धाके साथ ग्रन्थोंके सन्दूकको प्रणाम किया। इसके बाद श्रीनिवास कुछ दिन यहीं राज-अतिथि होकर रहे। राजाने उनके लिये स्वतन्त्र स्थानकी व्यवस्था कर दी; और वह सदा वहीं उनकी सेवामें उपस्थित होकर भागवत सुना करता। उसने श्रीनिवासाचार्यसे मन्त्रदीक्षा भी ग्रहण कर ली।

वनविष्णुपुरसे चलकर श्रीनिवास जाजीग्राम पहुँचे। दीर्घकालके बाद अपने लालको आया देखकर माताकी हिलकी भर आयी। उसने बड़े प्रेमसे उसे पुचकारा और पास बैठाकर उसकी पीठपर हाथ फेरा। खबर पाकर गाँवके भी नेमी-प्रेमी जुट आये। सबने बड़े प्रेमके साथ अपने पथप्रदर्शकका स्वागत किया। श्रीनिवास अब वहीं रहकर अध्ययन तथा हरिनामसंकीर्तनमें रहकर जीवन बिताने लगे। बड़े-बड़े तार्किक उनके पास आते और परास्त होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार करते। रामचन्द्र कविराज तार्किकोंके शिरमौर समझे जाते थे, यह भी पूरे जोशखरोशमें भरकर आचार्यके पास वाद-विवाद करने आये। डटकर शास्त्रार्थ हुआ; पर अध्यात्म-प्रकाशके तो दूरसे दर्शन होते ही तर्कबुद्धिकी आँखमें चकाचौंध छा जाती है, अतः उससे युक्त आचार्यके सामने रामचन्द्र विवादमें कैसे ठहर सकते थे ? इसके सिवा श्रीनिवास पाण्डित्यमें भी उन्नीस नहीं थे। जिन युक्तियोंको रामचन्द्र कविराज सर्वथा अखण्डनीय समझकर उपस्थित करते थे उन्हें आचार्य हँसते-हँसते ही उड़ा बगल करते थे। और विशेषता यह कि उनकी वाणी संहारका कार्य भी ऐसे हितचिन्तनके साथ कर रही थी जैसे डाक्टर घावकी चीरफाड़ करता है। वह कविराजकी भूल इस प्रकार सुझाते जिस प्रकार परम कारुणिक गुरुजन अपने शिष्योंकी भूल सुझाया करते हैं। फलतः रामचन्द्र कविराजने अपना सारा अभिमान त्यागकर श्रीआचार्यके चरणोंको प्रणाम किया और उनका शिष्यत्व भी अङ्गीकार किया। घोर तार्किक रामचन्द्रके भक्ति-पथके पथिक बनते ही मानों तार्किकोंका गढ़ टूट गया। अनेक दिग्गज विद्वानोंके भक्तिके झण्डेके नीचे आ जानेसे गौड़के गाँव-गाँव और घर-घरमें भगवन्नामका घोष सुनायी देने लगा। जल्दी ही इन्हें प्राणोंसे अधिक प्यार करनेवाली और स्वयं भगवद्भक्तिपरायणा इनकी माता प्रयाण कर गयीं, जिससे इन्हें महान् कष्ट हुआ; पर इससे इनके उद्दिष्ट कार्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ी। आगे चलकर सरकार ठाकुर तथा इनके गुरुदेवने विशेष आग्रह करके इनका विवाह भी करा दिया; पर गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए भी इनका भक्तिप्रचारका कार्य पूर्ववत् जारी रहा। वृन्दावनसे आनेके बाद यह दो बार पुनः उस पुण्यभूमिका दर्शन करने गये थे, पर वहाँ जानेपर दीक्षागुरु श्रीगोपाल भट्टके दर्शन इन्हें प्राप्त नहीं हो सके। वह तो इनके जानेके पूर्व ही इस लोकसे प्रस्थान कर चुके थे। और दूसरी बार तो वहाँ जाकर यह स्वयं भी वापस नहीं लौटे। अब उनका कार्य समाप्त हो चुका था। इसलिये अपना अन्तिम जीवन

वृन्दावनधाममें ही बितानेकी इनकी साध थी। वृन्दावनविहारीकी अनुकम्पासे उस पवित्र क्षेत्रमें ही हरिनाम लेते-लेते इन्होंने अपनी अन्तिम घड़ी व्यतीत की। श्रीनिवासके पिता चैतन्यदासको श्रीचैतन्यदेवने यह आशीर्वाद दिया था 'तुम्हारे जो पुत्र होगा उसके अन्दर मेरा प्रकाश रहेगा।' चैतन्यका वह चैतन्यमय प्रकाश असंख्य अन्धकारपूर्ण हृदयोंको प्रकाशित करके अन्तमें समस्त विश्वको व्याप्त करनेवाले महाप्रकाशमें जा मिला।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !!

शैव और वैष्णवोंके झगड़ोंका मूल आधार क्या है ?

(लेखक—पं० श्रीमहेशानन्दजी ओझा न्यायसांख्ययोगवेदान्तशास्त्री)

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कन्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपितनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स नस्तामसीं वृत्तिमीशः॥

भारतवर्षमें ही नहीं, किन्तु सभी देशोंमें बहुदेवतावादका थोड़ा-बहुत अंश सृष्टिके आदिकालसे ही स्थान पाये हुए है। इस विषयमें अनेक मत हमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, दर्शन और पुराणोंमें गवेषणापूर्ण विवेचनाके साथ उपलब्ध होते हैं। जहाँपर जिस देवताका प्रकरण चला, वहाँपर उसे श्रुति-स्मृतियोंके प्रबल प्रमाणों, युक्तियों और अनुभवोंके प्रदर्शनसे पूर्णतया पुष्ट किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि साधारण बुद्धिवाले हम पाठकोंके कोमलकान्त हृदयपर बहुदेवतावादकी गहरी छाप पड़ जाती है। वैदिक सनातनकालसे आजतक मानववंशके अनेक अङ्ग हो गये और उनके होनेमें कोई रहस्य छिपा है। वह यह कि सब पदार्थोंमें ईश्वरतत्त्व बड़ा ही दुर्गम है। समस्त संसारके सब पन्थियोंने इसको भिन्न-भिन्न भाषाओंके पर्याय शब्दोंद्वारा यथामति व्यक्त किया है, एवं माना है। तब उन पर्यायवाचक शब्दोंके आधारपर अनेक सम्प्रदाय (फ़िरके) एवं पृथक्-पृथक् मार्गोंके द्वारा बहुत-सी उपासनाओंकी उत्पत्ति हुई है। पुण्यश्लोक ऋषियोंसे लेकर उन सभी सम्प्रदायों तथा उपासनाभेदों और अनेक पन्थोंके सम्मान्य आचार्यप्रवरोंने किसी-न-किसी रूप और रीतिके बलपर ईश्वरोपासनाका आदेश जगत्‌को दिया। सभी प्रकारकी उपासनाओंका प्राप्य स्थान ईश्वर ही है, इसलिये उनका ऐसा मानना उचित भी है। साधारण मनुष्योंको बहुधा भ्रम हो जाता है कि ईश्वर अनेक हैं। कई लोग तो इतना कहते भी संकोच नहीं करते कि 'पुराण और दर्शनोंमें ईश्वरसम्बन्धी जो विवेचन मिलता है उसमें ऐक्य नहीं।' उपर्युक्त कथन ही इस बातकी पुष्टि करता है कि उन्होंने वेदादि शास्त्रोंका गूढ़ अध्ययन नहीं किया। वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्य जगदादिकारण, सच्चिदानन्दस्वरूप, आनन्दघन, सर्वव्यापक, निर्गुण, महान्‌से भी महान्, छोटेसे भी छोटा, अदीर्घ, एक ही निष्क्रिय, निरवयव, परब्रह्म परमात्मा एक है, वही हमें पुराणोंमें त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें भासित होता है। इनके अतिरिक्त भी इन्द्र, अग्नि, वरुण-आदिमें भी ईश्वरबुद्धिका आदेश वेदभगवान् दर्शाता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋग्वेद २। ३। २२)

अर्थात् 'विप्र लोग एक ब्रह्मका ही अनेक नामोंसे बखान करते हैं। उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।' व्यावहारिक सत्तामें ये देव सविशेष कार्योंको करनेवाले हैं, व्याकृत दशामें इन देवोंके गुणभेद होनेसे धर्मभेद भी है। किन्तु अव्याकृतरूपमें वह एक ही है। पुराण असंख्य रत्नोंके भण्डार हैं। त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवका तथा अन्य इन्द्र, अग्नि आदि वेदवर्णित देवोंका पुराणोंमें वही स्थान है, जो वेदोंमें। जिन लोगोंको पुराणोंमें साम्प्रदायिकताका भाव प्रतीत होता है, वे बेचारे भूलते हैं। पुराणोंका गूढ़ अनुशीलन करनेवालेको उनमें साम्प्रदायिकताका भाव नहीं मालूम पड़ता। मैंने इस

लेख लिखनेसे पहले कई दिनोंतक शिवपुराणका अध्ययन किया, उसमें मुझे कहींपर साम्प्रदायिकता नहीं झलकी। सारे पुराणोंपर दृष्टि डालनेसे पता लगता है कि पुराणोंका चरम उद्देश्य अद्वैतवादसे है जो वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय है। किन्तु अधिकारीके भेदसे तथा सृष्टि, स्थिति और लयके क्रमसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि रूपोंकी अवतारणा हुई है। पहले लिखा जा चुका है कि ईश्वर अत्यन्त दुःखगम वस्तु है, अनेक प्रकारसे बतलानेपर भी नहीं जाना जाता।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमः। (केन० १।३)

बुद्धि और शास्त्रोंके बलसे भी इसका जानना कठिन है। 'न मेधया न बहुना श्रुतेन' (श्रुति)। देवताओंके लिये भी ईश्वरतत्त्व जान लेना सरल हो, यह बात नहीं—

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।

इस भागवतके वचनसे उपर्युक्त बात स्पष्ट दिखला दी गयी। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि ईश्वरकी दुःखगमताको बतलानेके लिये ही अनेकानेक मतोंने ईश्वरतत्त्वको जकड़ रक्खा है। और उचित भी है। क्योंकि जो अत्यन्त दुर्बोध और सत्तात्मक वस्तु होती है उसमें अनेक प्रकारकी भाव-स्फूर्तियाँ उत्पन्न होकर मस्तिष्कको चक्करमें डाल देती हैं। सन्देह विशेषणोंमें हुआ करते हैं, वस्तुमें किसीको भी सन्देह नहीं हुआ करता।

वैष्णव लोग शेषशायी श्रीमन्नारायणको ही सर्व-शक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्दघन, सर्वपालक मानते हैं। शैवमतावलम्बी श्रीशिवको ही संसारकी सृष्टि, स्थिति और लयका कारण, जगन्नियन्ता मानते हुए भिन्न पथसे उसकी उपासना करते हैं। और—

यस्मात्खलु इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्ब्रह्म।

—इस प्रकारके ब्रह्मके स्वरूप और तटस्थ लक्षणको उसीमें संगत करते हैं इसी भाँति अन्य गाणपत्य और शाक्तोंका भी एक ही आलाप है। इतना ही नहीं, अपितु श्रुतिस्मृतियोंमें जहाँ-जहाँ विष्णु, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा, अग्नि, वायु, सूर्य आदि प्रधान देवताओंकी स्तुति की गयी है, वहाँ इनका ब्रह्मस्वरूप-जैसा रूप दिखलाकर वर्णित किया गया है। यथा नारायणके विषयमें—

'नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्, निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्।

यच्च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(नारायणोपनिषद्)

श्रीशिवजीके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारका उल्लेख मिलता है—

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरो सर्वभूतानां ब्रह्माधिपति-र्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदा शिवोम्।

(श्रुति)

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

(श्वेता० उप० ३।११)

अर्थात् सबके मुख, शिर और गर्दन जिसके मुख, शिर, और ग्रीवा हैं, जो सबके अन्तःकरणमें विद्यमान है, सर्वव्यापक होनेके कारण तथा ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष इन छः भग संज्ञाओंसे सम्पन्न वह भगवान् शिव सर्वगत है। गन्धर्वराज पुष्पदन्तने तो सबका प्रतिपाद्य तथा सबका एक ही प्राप्य शिव भगवान्‌को कहकर बड़ी ही सुन्दर स्तुति की है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

अर्थात् 'हे भगवन्! वेदत्रयी, सांख्यशास्त्र, योग, न्याय, पाशुपत्य और वैष्णव ये पाँचों भिन्न-भिन्न मार्गोंका वर्णन करते हैं तो सही, किन्तु अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भले-बुरे नाना मार्गोंपर चलनेवाले मनुष्यके परिणाममें गम्य एक तुम ही हो। जैसे सीधे वा टेढ़े मार्गमें बहती हुई नदियोंका गम्य येनकेन प्रकारेण समुद्र ही है।'

इसी प्रकारकी देवी, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, राम, कृष्ण आदि अनेक देवोंकी स्तुतिसे पुराण भरे पड़े हैं। कई भक्तोंको

अपने-अपने उपास्यदेवकी भक्तिसे मनोवाञ्छित सिद्धियाँ भी प्रत्यक्ष प्राप्त हुई हैं। शिवभक्ति तो बिना फल दिये विरत ही नहीं होती। काशीविश्वनाथकी मनसे प्रार्थना करनेपर मनोरथसिद्धि होती है। यह बड़े-बड़े लोगोंका अकाट्य विश्वास है। हम पहले लिख आये हैं कि परब्रह्म परमेश्वर शुद्ध-बुद्ध-स्वभाव, निराख्यात, निरञ्जन, निरीह तथा अनाद्यनन्त एक ही है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके साकार ईश्वर उससे पृथक् हों यह बात नहीं। सब मतोंके प्रवर्त्तक महापुरुषोंने अन्तमें ईश्वरैक्यका निःसंशय सिद्धान्त स्वीकार किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्ने कई स्थलोंपर अपनेको 'अहं' शब्द-द्वारा परब्रह्मरूपसे बखान किया है। विभूतियोगाख्य १० वें तथा विश्वरूपदर्शनाख्य ११ वें अध्यायमें विराट् रूप दिखाकर उन्होंने बहुदेवतावादके मोहमें पड़े हुए अर्जुनका मोह दूर किया। और दसवें अध्यायके अन्तमें इतना भी कह दिया कि 'संसारमें जो भी वस्तु विभूतियाली, ऊर्जस्वी और श्रीसम्पन्न है, वह मुझ परमेश्वरके अंशसे उत्पन्न हुई तू जान।'

> **यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**
> **तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥**
> **यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।**
> **न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥**
> (गीता १० । ४१, ३९)

अर्जुनको उन्होंने बतलाया है कि 'सब भूतोंके प्ररोहका कारण मैं ही हूँ, वह स्थावरजङ्गममेंसे कोई नहीं, जो मेरे बिना उत्पन्न हुआ हो।'

> **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।**
> (गीता ७ । ६)

क्योंकि—

> **मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।**
> **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥**
> (गीता ७ । ७)

'मुझसे पृथक् कोई दूसरा जगत्कारण नहीं। जिस प्रकार एक सूत्रमें असंख्य मणियाँ पिरोयी रहती हैं उसी प्रकार यह सब मुझमें पिरोया हुआ है।' भगवान् श्रीकृष्ण-जीने ऐक्यवादकी हद कर दी और स्पष्ट कह दिया—

> **लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥**
> (गीता ७ । २२)

अर्थात् जो कोई दूसरे देवताकी उपासनाको भी करता है वह उसके फलस्वरूपमें मुझसे दिये हुए फलोंको ही प्राप्त करता है। यही श्रुतिका सिद्धान्त है।

> **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**
> **सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**
> (श्वेताश्वतर० ६ । ११)

इस उपर्युक्त निवेदनसे स्पष्ट किया गया है कि परमेश्वर एक ही है और त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव—उससे अलग नहीं। इन सब उद्धरणोंके विवेचक विद्वान् किसी भी दुराग्रहके चङ्गुलमें नहीं फँसते और न उन्हें फँसना ही चाहिये। और न उन्हें किसीसे पक्षपात है। पक्षपातरहित होकर उनके लिये सब एक-सा है, सब कुछ उस परमेश्वरकी विभूति है—इस बातको भागवतमें बड़े अच्छे ढंगसे समझाया गया है—

> **एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।**
> **पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥**
> **इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।**
> **सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम्॥**

अब एक और प्रबल प्रमाण देकर हम प्रकृतका अनुसरण करते हैं।

> **स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवोऽक्षरः परमः स्वराट्। स इन्द्रः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥**
> **स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।**
> **ज्ञात्वा तन्मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥**
> (कैवल्योपनिषद्)

इस उपनिषद्-वाक्यसे निर्विवाद सिद्ध है कि वह परब्रह्म ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शिव, अक्षर, इन्द्र, काल, अग्नि तथा चन्द्रमा आदि है। उसीको जानकर साधक मृत्युका अतिक्रमण करता है और कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। जिस देवताके उपासक, उपासना या स्तुति करते हैं, वे अपने उपास्यदेव-पर पूर्णब्रह्मकी ही भावना किये रहते हैं। और यही सात्त्विक उपासना है। शिवजीके अनन्य उपासक कुसुमदशन (पुष्पदन्त) गन्धर्वराजने शिवजीकी स्तुतिमें कहा है—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥

अर्थात् 'हे भगवन् ! सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, आकाश, आत्मा आदि जड व चेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब तुम्हारे स्वरूप हैं । परिपक्व बुद्धिवाले इतनी ही वाक्शक्तिका प्रयोग कर सकते हैं आगे उनकी बुद्धिका बल नहीं चल सकता । सारा तात्पर्य यह है कि इस प्रकारका कोई पदार्थ हम नहीं जान पाते जो तुम्हारी व्यापकतासे शून्य हो ।'

संसार त्रिगुणात्मक है । प्रत्येक पदार्थके अन्दर तीन गुण मौजूदा हालतमें रहते हैं । सत्त्व, रज, तम यदि न हों तो प्रकृतिद्वारा सृष्टिका होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव हो जाय । यहाँ त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है । और मायी महेश्वर है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

अनेक लोक हैं उनकी सृष्टि भी तरह-तरहसे देखनेमें आती है । जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—यह चार प्रकारकी सृष्टि भौतिक है । और सब त्रिगुणात्मिका मायाका कार्य होनेसे 'कारणगुणा हि कार्ये संगच्छन्ते' इस नैयायिकोंके कथनानुसार सब सृष्टि तीनों गुणोंसे व्याप्त है ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

(गीता १८ । ४०)

अर्थात् 'पृथिवी अथवा देवताओंके लोकोंमें भी ऐसा प्राणी प्राप्त नहीं हो सकता जो सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों प्रकृतिके गुणोंसे छूटा हुआ हो ।' इस भगवान्‌के कथनानुसार सब गुणत्रयाक्रान्त है । हाँ, इन तीनों गुणोंमें न्यूनाधिकता जरूर है, कोई सत्त्वप्रधान है तो कोई रजःप्रधान । सांख्यदर्शनके अनुसार इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है । उस समय किसी प्रकारकी सृष्टि नहीं होती । जब इन गुणोंमें क्षोभ होता है तब प्रकृति-द्वारा महत्तत्त्वादिकी उत्पत्ति और उनसे आगे सृष्टिका क्रम बनता चला जाता है । वेदान्तके आचार्य भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीने ब्रह्मके सविशेष और निर्विशेष दो भेद किये हैं ।

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपभेदोपाधिविशिष्टम्, तद्विपरीतं सर्वोपाधिवर्जितं चेत्यादि ।

वह सविशेष ब्रह्म जब मायाकी उपाधि धरकर सृष्टि करनेका 'लोकानुसृजा इति' 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इस प्रकारका सङ्कल्प करता है तब वह मायावच्छिन्न होकर परमेश्वर संज्ञावाला होता है, वही परमेश्वर मायामें रहनेवाले सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके भेदसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि शब्दोंका वाच्य होता है । यह वेदान्त-परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रका मत है—

स च परमेश्वरः एकोऽपि सोपाधिभूतमायानिष्ठसत्त्व-रजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्माविष्णुमहेश्वरादिशब्दवाच्यतां भजते ।

उपनिषदोंमें भी इसका उल्लेख बाहुल्येन प्राप्त होता है ।

अथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशः असौ स योऽयं ब्रह्मा, अथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशः असौ स योऽयं रुद्रः, अथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशः असौ स योऽयं विष्णुरिति ।

इस प्रकार—

उद्रक्तसत्त्वगुणमायावच्छिन्न ईश्वरो विष्णुः, उद्रक्त-रजोगुणमायावच्छिन्न ईश्वरो ब्रह्मा, उद्रक्ततमोगुणमाया-वच्छिन्न ईश्वरो महेश्वरः ।

ये प्रत्येकके लक्षण हो गये । कूर्मपुराणमें भी कहा है—

रजोगुणमयं चान्यद्रूपं तस्यैव धीमतः ।
चतुर्मुखः स भगवान् जगत्सृष्टौ प्रवर्त्तते ॥
सृष्टं च पाति सकलं विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
सत्त्वं गुणं समाश्रित्य विष्णुर्विश्वेश्वरः स्वयम् ॥
अन्तकाले स्वयं देवः सर्वात्मा परमेश्वरः ।
तमोगुणं समाश्रित्य रुद्रः संहरते जगत् ॥

शिव और विष्णुके अर्थसे भी यही बात प्रतीत होती है कि 'शेते विश्वं यस्मिन्निति शिवः', 'वेवेष्टीति विष्णुः' ।

शिवपुराणमें इस प्रकारके कई श्लोक हैं जिनसे त्रिमूर्तिका ऐक्य सिद्ध होता है । जैसे सुवर्णके बने हुए कटक, कुण्डल आदि आभूषणोंमें नाममात्रका भेद दृष्टिगोचर होता है । सुवर्ण तो सबमें अनुस्यूत है । उसी प्रकार हरीश कहते हैं—मुझमें, ब्रह्मामें और शिवमें कोई भेद ही नहीं ।

न तत्र परभेदो वै कर्त्तव्यश्च महामुने।
वस्तुतो ह्येकधा भिन्नं रूपं मे त्रिजगत्युत॥
सुवर्णस्य यथैकस्य वस्तुत्वं नैव गच्छति।
अलंकारे कृते देव नामभेदो न वस्तुतः॥

शिवपुराणमें त्रिमूर्तिमें भेद दृष्टिवालोंके लिये बन्धनकी व्यवस्था की गयी है।

अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत्॥
ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्।
इत्यादि।

पञ्चमाध्यायमें—

आवयोरन्तरं नैव ह्यणुमात्रं विचारतः।

मुझमें और शिवमें विचारदृष्टिसे देखनेपर अणुके बराबर भी भेद नहीं है। शिवपुराणमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवको उपनिषद्सम्मत सत्त्व, रज और तमगुणोंसे बखान किया गया है।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च गुणाख्य उदाहृताः।
विष्णुः सत्त्वं रजो ब्रह्मा तमो रुद्र उदाहृतः॥

इन सब बातोंके होते हुए भी शैव और वैष्णवोंमें झगड़ा होना सिद्ध करता है कि इन साम्प्रदायिक झगड़ोंका मूल कारण केवल मोह ही है। जबतक ऐकात्म्य ज्ञानमार्तण्डसे अज्ञानान्धकारका नाश नहीं होता तबतक सम्प्रदायोंमें सुख और शान्ति नहीं आ सकती। सम्प्रदायकी आड़में आकर हम ईश्वरको संकुचितादि दोषारोपणोंसे अनुदार बना लेते हैं। यह कितने अनर्थकी बात है—

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्।

श्रीश्रीराधातत्त्व

(लेखक—श्रीशङ्कर दण्डिस्वामीजी शङ्करानन्दतीर्थजी)

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविभाभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ४। ३७)

श्रीभगवान् श्यामसुन्दरके आठ पटरानियाँ थीं;—१ विदर्भराज भीष्मककी पुत्री रुक्मिणी, २ ऋक्षराज जाम्बवान्की कन्या जाम्बवती, ३ यादव सत्राजित्की कुमारी सत्यभामा, ४ सूर्यतनया कालिन्दी, ५ काशिराज नग्नजित्की पुत्री सत्या, ६ उज्जैनकी राजपुत्री मित्रविन्दा, ७ गयराज ऋतुसुकृतकी कन्या भद्रा और ८ भद्रराजतनया लक्ष्मणा।

स्वेच्छाविहारी भगवान् श्रीकृष्ण जब लीलाशेष करके परमधाम पधार गये और भगवान्के सारथि दारुकने जब यह समाचार पटरानियोंको सुनाया, तब एक कालिन्दीको छोड़कर शेष सभी रानियाँ श्रीकृष्ण-विरहसे व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गयीं; केवल कालिन्दी धीर स्थिरभावसे बैठी रहीं, इनको देखनेपर यह जान पड़ता था मानों श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेसे इन्हें कुछ कष्ट ही नहीं हुआ। मूर्च्छासे जागनेपर रानियोंने कालिन्दीजीको इस प्रकार धीर स्थिर और पूर्ववत् आनन्दित देखकर उनसे पूछा—

यथा वयं कृष्णपत्न्यस्तथा त्वमपि शोभने।
वयं विरहदुःखार्त्तास्त्वं न कालिन्दि तद्वद॥

'बहिन! हमलोगोंकी तरह तुम भी प्राणनाथ श्रीकृष्णकी पत्नी हो। हम सब उनके विरहदुःखसे व्याकुल हैं, परन्तु तुमपर शोकका कोई चिह्न नहीं दीखता, इसका क्या कारण है सो बताओ।'

इसके उत्तरमें मुरलीधर-महिषी कालिन्दीजीने कहा—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।
तस्या दास्यप्रभावेण विरहो मान्न संस्पृशेत्॥

'आत्माराम श्रीकृष्णचन्द्रकी आत्मा श्रीराधिका हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है, मैं उन श्रीराधिकाजीकी

दासी हूँ, इसीके प्रभावसे श्रीकृष्णसे मेरा कभी वियोग नहीं होता—विरह मुझे स्पर्श नहीं कर सकता।'

श्रीमद्भागवत रासपञ्चाध्यायीमें 'आत्माराम' शब्द बहुत जगह आया है। रासलीला-वर्णनमें पहले ही 'आत्माराम' आता है। 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' (१० । २९ । ४२) इसी श्लोकसे रासलीला-वर्णनका प्रारम्भ है। आत्मा शब्दकी व्याख्या वेदान्त-में प्रसिद्ध है। ब्रह्म, परब्रह्म, आनन्द, रस, पुरुष, परमात्मा आदि विभिन्न शब्दोंद्वारा 'आत्मा' शब्द वेदान्तमें सूचित हुआ है। सूत्रकार भगवान् व्यासने तो ब्रह्मके सिवा किसी भी गौण अर्थमें आत्मा शब्दके प्रयोगको असम्भव बतलाया है। 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्।' (ब्रह्मसूत्र १ । १ । ६) श्रुति कहती है—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(कठ० १ । २ । २२)

'शुद्धचित्त पुरुष नश्वर शरीरमें स्थित स्थूल सूक्ष्म शरीरसे अतीत अपरिच्छिन्न सर्वव्यापी चिन्मय आत्मा-को जानकर शोकसे रहित हो जाता है।'

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥
(मुण्डक० २ । २ । ५)

'आत्माके सिवा अन्यान्य सब विषयोंका त्याग करके केवल आत्माको ही जानो। आत्मा ही अमृत—मोक्षप्राप्तिका उपाय है।'

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।
(माण्डूक्य० ६)

'आत्मा ही सारे विश्वका ईश्वर है, यही सर्वज्ञ है, यही अन्तर्यामी है, यही सबका उत्पत्तिस्थान है, यही सबकी सृष्टि और संहारका कारण है।'

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेताश्वतर० ३ । ८)

'एकमात्र आत्माको जाननेसे ही जन्ममृत्यु-प्रवाहरूप दुःखसागरसे पार हुआ जाता है अन्य कोई उपाय नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद्के मैत्रेयी ब्राह्मणमें आत्माका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्या-त्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥
(बृहदारण्यक)

'पुत्र, मित्र, कलत्र, गृह, धन आदि जो कुछ भी विषय प्रियरूपमें प्रतीत होते हैं, वे सब उन विषयोंके लिये प्रिय नहीं लगते, आत्माके लिये ही प्रिय मालूम होते हैं। समस्त वस्तुओंसे अन्तरतम यह आत्मा पुत्र-कलत्रादि समस्त विषयोंसे प्रिय है। इसीलिये आत्मा ही देखने, सुनने और निदिध्यासन करने यानी साक्षात् करने योग्य है।'

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः।
(बृहदारण्यक)

'जो वस्तु दूसरेकी सहायताके बिना ही स्वयं प्रकाशित होती है और जो सबके अन्तरमें विराजमान है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।' (तैत्तिरीय भृगुवल्ली १)

'जिससे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे सब जीवित रहते हैं, और अन्तमें जिसमें प्रवेश करके प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं, उसे विशेष-

रूपसे जाननेका प्रयत्न करो, वही ब्रह्म है ।' इसी उपनिषद्की भृगुवल्ली छठे अनुवाकमें कहा है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

'आनन्द ही ब्रह्म है यह निश्चयरूपसे जानो, आनन्दसे ही अखिल भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और आनन्दरूपमें ही प्रवेश करके लय हो जाते हैं ।'

इसीकी ब्रह्मानन्दवल्लीके सातवें अनुवाकमें कहा गया है—

रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

'यह आनन्दमय आत्मा रसमय रससिन्धु है । इस रसरूप आत्माको प्राप्त होकर ही जीव आनन्दी होता है ।' सामवेदरहस्यमें कहा है—

स एवायं पुरुषः स्वरमणार्थं स्वस्वरूपं प्रकटितवान् । तद्रूपं रससंवलितमानन्दरसोऽयं पुराविदो वदन्ति । सर्वे आनन्दरसा यस्मात् प्रकटिता भवन्ति ।

'उस परात्पर पुरुषने अपने रमणके लिये अपने स्वरूपको प्रकट किया । वह प्रकटित रूप रस-संवलित है । ज्ञानी इसे आनन्दरस कहते हैं । इसीसे समस्त आनन्द और रसकी उत्पत्ति होती है ।'

यह रस-संवलित आनन्दरस ही आत्मा है । यही आत्मा आनन्दरसमें सर्वदा रमण करता है । और स्वयं ही नायकरूप धारण करके आराधनामें लगा रहता है । इसीलिये इसको 'राधा' नामसे कीर्तन करते हैं । इस आनन्दमय आत्माका संग प्राप्त होनेपर सब प्रकारकी काम-कामना निःशेषरूपसे नष्ट हो जाती है । इसीसे इसको 'राधा' कहते हैं ।

राध्नोति सकलान्कामान् तस्माद्राधेति कीर्तिता ।

(देवीभागवत)

श्रीमद्भागवतके माहात्म्य-वर्णनके प्रसङ्गमें श्रीस्कन्द-पुराणमें कहा गया है—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥

(१ । २२)

'श्रीराधिका श्रीकृष्णकी आत्मा हैं । श्रीकृष्ण अपनी आत्मा श्रीराधिकाके साथ रमण करते हैं । इस रहस्यके गूढ तत्त्वको जाननेवाले मुनिगण इसीलिये श्रीकृष्णको आत्माराम कहते हैं ।'

पद्मपुराणमें कथा आती है, एक समय भगवान् आदिनारायणने देवदेव महादेवसे वर माँगनेके लिये कहा, तब भगवान् उमापति बोले—

यद्रूपं ते कृपासिन्धो परमानन्ददायकम् ।
सर्वानन्दाश्रयं नित्यं मूर्त्तिमत्सर्वतोऽधिकम् ॥
निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं यद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ।
तदहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां परमेश्वर ॥

(पद्म० पाताल० ८२ । ५८-५९)

'हे कृपासिन्धो ! हे परमेश्वर ! विद्वान् लोग आपके जिस रूपको निर्गुण, निष्क्रिय और शान्त बतलाते हैं, आपके उसी परमानन्ददायक, सर्वानन्दके आश्रय, नित्य, सर्वश्रेष्ठ मूर्तिमान् रूपको मैं देखना चाहता हूँ ।'

इसपर भगवान् श्रीआदिनारायण श्रीशिवजीको श्रीवृन्दावनमें आनेका आदेश देकर अन्तर्धान हो गये । देवाधिदेव तदनुसार श्रीवृन्दावन पहुँचे । वहाँ भगवान्ने उनको श्रीराधाकृष्णके रूपमें दर्शन देकर कहा—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम् ।
घनीभूतामलप्रेमसच्चिदानन्दविग्रहम् ॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम् ।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघम् ॥

(पद्म० पाताल० ८२ । ६६-६७)

'आज आपने मेरे उस अलौकिक रूपके दर्शन किये हैं जो घनीभूत विशुद्ध प्रेम है और सच्चिदानन्द-विग्रह है । उपनिषद्समूह इसी मेरे स्वरूपको अरूप, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर कहते हैं ।'

देवीभागवतमें भगवान् श्रीनारायण देवर्षि नारदसे कहते हैं—

कृष्णप्राणाधिदेवी सा तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति॥
(९।५०।१७)

'श्रीराधिका श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी है अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्रकी आत्मा है । श्रीकृष्ण सर्वदा श्रीराधिकाके साथ आनन्दलीला करते हैं, वह कभी रासेश्वरी श्रीराधिकाका त्याग नहीं करते—दोनों सदा अभिन्नात्मरूपसे साथ रहते हैं ।'

भविष्यपुराणमें देवर्षि नारदके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं—

स नास्ति त्रिषु लोकेषु यस्य तिष्ठाम्यहं वशे ।
विना राधां प्रियतमां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्॥

'प्रियतमा, प्राणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठा (आत्मा) श्रीराधिकाके सिवा तीनों लोकोंमें मैं किसीके भी वशमें होकर नहीं रहता ।'

अनया सह विच्छेदः क्षणमात्रं न विद्यते ।

'परन्तु श्रीराधिकाके साथ क्षणमात्रके लिये भी मेरा विछोह नहीं होता ।' ऋग्वेद उपनिषद्भागमें 'राधिकोपनिषद्' है—उसमें वर्णन है—

ॐ अथोर्द्ध्वमन्थिन ऋषयः सनकाद्या भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपासित्वोचुः देव कः परमो देवः का वा तच्छक्तयः तासु च का वरीयसी भवतीति सृष्टि-हेतुभूता च केति। स होवाच। हे पुत्रकाः शृणुतेदं ह वा व गुह्याद्गुह्यतरमप्रकाश्यं यस्मै कस्मै न देयम् । स्निग्धाय ब्रह्मवादिने गुरुभक्ताय देय-मन्यथा दातुर्महदघं भवतीति ।

कृष्णो ह वै हरिः परमो देवः षड्विधैश्वर्य-परिपूर्णो भगवान् गोपीगोपसेव्यो वृन्दाऽऽराधितो वृन्दावनाधिनाथः स एक एवेश्वरः । तस्य ह वै द्वे तनू–नारायणोऽखिलब्रह्माण्डाधिपतिरेकांशः प्रकृतेः प्राचीनो नित्यः, एवं हि तस्य शक्तयस्त्वनेकधा । आह्लादिनीसन्धिनीज्ञानेच्छाक्रियाद्या बहुविधाः शक्तयः । तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरङ्ग-भूता राधा, कृष्णेनाराध्यते इति राधा । कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका गान्धर्वेति व्यप-दिश्यत इति। अस्या एव कायव्यूहरूपा गोप्यो महिष्यः श्रीश्चेति। येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-र्देहेनैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत् । राधा वै हरेः सर्वेश्वरी सर्वविद्या सनातनी कृष्णप्राणाधिदेवी चेति विविक्ते वेदाः स्तुवन्ति यस्या गतिं ब्रह्मभागा वदन्ति। महिमास्याः स्वायुमानेनापि कालेन वक्तुं न चोत्सहे । सैव यस्य प्रसीदति तस्य करतलाव-कलितं परमं धामेति। एतामविज्ञाय यः कृष्ण-माराधयितुमिच्छति स मूढतमो मूढतमश्चेति। अथैतानि नामानि गायन्ति श्रुतयः—

राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता ।
सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावनविहारिणी॥
वृन्दाराध्या रमाऽशेषगोपीमण्डलपूजिता ।
सत्या सत्यपरा सत्यभामा श्रीकृष्णवल्लभा॥
वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
गान्धर्वा राधिका रम्या रुक्मिणी परमेश्वरी॥
परात्परतरा पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना ।
भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भवव्याधिविनाशिनी॥

इत्येतानि नामानि यः पठेत् स जीवन्मुक्तो भवति इत्याह हिरण्यगर्भो भगवानिति ।

सन्धिनी तु धामभूषणशय्यादिमित्रभृत्यादि-रूपेण परिणता मृत्युलोकावतरणकाले मातृपितृ-रूपेण चाऽऽसीदित्यनेकावतारकारणा । ज्ञान-

शक्तिस्तु क्षेत्रशक्तिरिव । इच्छान्तर्भूता माया । सत्त्वरजस्तमोमयी बहिरङ्गा । जगत्कारणभूता सैवाविद्यारूपेण जीवबन्धनभूता । क्रियाशक्तिस्तु लीलाशक्तिरिव ।

य इमामुपनिषदमधीते सोऽव्रती व्रती भवति स वायुपूतो भवति स सर्वपूतो भवति राधाकृष्णप्रियो भवति । स यावच्चक्षुःपातं पङ्क्तीपुनाति ।

ॐ तत्सदिति श्रीमदृग्वेदे ब्रह्मभागे परमरहस्ये राधिकोपनिषद् ।

एक दिन ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियोंने भगवान् ब्रह्माकी स्तुति करके उनसे पूछा 'भगवन् ! सर्वप्रधान परम देव कौन हैं, उनकी शक्ति कौन-कौन-सी हैं, उनमें प्रधान शक्ति कौन-सी है ? और कौन-सी शक्ति सृष्टिकी कारण हैं ?' उत्तरमें ब्रह्माजीने कहा—पुत्रो ! सुनो; परन्तु यह अत्युत्तम गोपनीय रहस्य अप्रकाश्य है, तुम बिना बिचारे इसे सबपर प्रकट न करना । स्नेहपूर्ण हृदयवाले, ब्रह्मवादी अथवा गुरुभक्तको यह बतलाना चाहिये । ऐसे पुरुषोंके सिवा दूसरे किसीको बतलानेसे पाप होगा ।

भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परम देव हैं । वे षड् ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं । अर्थात् उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य नित्य स्थित हैं । वे गोप-गोपियोंद्वारा सेव्य हैं, श्रीवृन्दाद्वारा आराधित हैं और वृन्दावनके अधिपति हैं । वे ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं । उनके एक रूप नारायण हैं जो अखिल ब्रह्माण्डके अधीश्वर हैं, और एक रूप श्रीकृष्ण हैं वे प्रकृतिसे पुरातन और नित्य विद्यमान हैं । उनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि अनेकों शक्तियाँ हैं । उनमें आह्लादिनी सबसे प्रधान है । यह आह्लादिनी शक्ति ही परम अन्तरङ्गभूता श्रीराधिका हैं । श्रीकृष्ण सदा इनकी आराधना करते हैं और यह सर्वदा श्रीकृष्णकी आराधनामें लगी रहती हैं, इसीसे इनका नाम 'राधा' है । श्रीराधाजीको गान्धर्वी भी कहते हैं । इन्हींके देहसे गोपियाँ, श्रीकृष्णकी रानियाँ तथा लक्ष्मीदेवी आविर्भूत हुई हैं । रससागर आदि-नारायण श्रीमहाविष्णु ही लीला करनेके लिये श्रीराधा और श्रीकृष्ण इन दो रूपोंमें प्रकट हुए हैं । श्रीराधा भगवान् श्रीहरिकी सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या और प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी—आत्मा हैं । वेद एकान्तमें श्रीराधाकी ऐसी स्तुति करते हैं । ब्रह्मविद्गण इनके सम्बन्धमें ऐसा कहते हैं । मैं अपने सम्पूर्ण जीवनमें भी श्रीराधाकी महिमा कहकर उसे शेष करनेमें समर्थ नहीं हूँ । श्रीराधा जिनपर प्रसन्न हो जाती हैं, परमधाम उनके करतलगत हो जाता है अर्थात् वे सहज ही परमपदको पा जाते हैं । श्रीराधाकी अवज्ञा करके जो मनुष्य श्रीकृष्णकी आराधना करना चाहता है वह मूढतमोंमें भी मूढतम है । श्रुतिने श्रीराधाके निम्नलिखित नाम गाये हैं—

श्रीराधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्णमन्त्रकी अधिदेवता, सबकी आदि स्वरूपा, सबके द्वारा वन्दनीया, श्रीवृन्दावनविहारिणी, श्रीवृन्दाकी आराधिता, रमा, असंख्य गोपीमण्डलद्वारा पूजिता, सत्या, सत्यपरा, सत्यभामा, श्रीकृष्णवल्लभा, वृषभानुसुता, गोपी, मूलप्रकृति, ईश्वरी, गान्धर्वी, राधिका, रमणीया, रुक्मिणी, परमेश्वरी, परात्परतरा, पूर्णा, पूर्णचन्द्रनिभानना, भुक्तिमुक्तिप्रदा और सदा भवव्याधिविनाशिनी ।

इस नामावलीका पाठ करनेसे जीवन्मुक्ति मिलती है । भगवान् हिरण्यगर्भने ऐसा कहा ।

भगवान् श्रीकृष्णकी सन्धिनीशक्ति धाम, भूषण, शय्या आदि और मित्र तथा भृत्यादि रूपमें परिणत होती है । मर्त्यलोकमें अवतारके समय माता-पिताके रूपमें प्रकट होती है । यही शक्ति बहुत-से अवतारोंका कारण है । ज्ञानशक्ति ही क्षेत्रज्ञशक्ति है । मायाशक्ति

इच्छाशक्तिके अन्तर्गत है। मायाशक्ति सत्त्व-रज-तमो-गुणरूपा है और बहिरङ्गा है। यह मायाशक्ति ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करनेवाली है और यही अविद्यारूपसे जीवके बन्धनका कारण है। क्रियाशक्ति ही लीलाशक्ति है।

जो इस उपनिषद्का पाठ करते हैं वे अव्रती होनेपर भी व्रती हो जाते हैं, वे अग्निपूत, वायुपूत और सर्वपूत होते हैं। वे श्रीराधाकृष्णके प्रिय होते हैं। जितनी दूरतक उनकी दृष्टि पड़ती है, उतनी दूरतक सब कुछ पवित्र हो जाता है।

ॐ तत्सत् इति ऋग्वेदे ब्रह्मभागे परमरहस्ये
राधिकोपनिषद् समाप्ता।

ब्रह्मसंहितामें वर्णन है—

स्वरूपप्रेमवात्सल्यैर्हरेर्हरति या मनः।
हरा सा कथ्यते सद्भिः श्रीराधा वृषभानुजा॥
हरति श्रीकृष्णमनः कृष्णाह्लादस्वरूपिणी।
अतो हरेत्यनेनैव राधेति परिकीर्तिता॥

स्वरूप-प्रेम-वात्सल्यद्वारा जो हरिके मनको हरण करती है, उस वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधारानी-को ही सत्पुरुष 'हरा' कहते हैं। वह भगवान् कृष्णके मनको आह्लादस्वरूपिणी होकर हरती है इसलिये 'हरे' शब्दसे 'राधा' का ही कथन होता है। हरा शब्दका सम्बोधनमें हरे रूप होता है।

वैदग्धीसारसर्वस्वमूर्तिलीलाधिदेवताम्।
श्रीराधां रमयन्नित्यं राम इत्यभिधीयते॥

वैदग्धीसारसर्वस्वमूर्तिलीलाधिदेवता श्रीराधाके साथ नित्य रमण करनेसे श्रीकृष्ण 'राम' कहलाते हैं।

श्रीरूप गोस्वामीपादने 'उज्ज्वल-नीलमणि' में कहा है—

तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधा चन्द्रावलीत्युभे।
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका॥
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिगरीयसी।
ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी॥

'श्रीराधा और चन्द्रावलि ये अन्य सब गोपियोंसे श्रेष्ठ हैं, इन दोनोंमें श्रीराधा सर्वतोभावसे श्रेष्ठ हैं। महाभावस्वरूपा, गुणोंमें अति श्रेष्ठा, श्रीकृष्णकी यह आह्लादिनी शक्ति उनकी अनन्त शक्तियोंमें सबसे उत्तम और प्रधान हैं।'

श्रीचैतन्यचरितामृतमें सनातनजीको शिक्षा देते हुए श्रीश्रीमहाप्रभु कहते हैं—

कृष्णके आह्लादे ताते नाम आह्लादिनी।
सेइ शक्तिद्वारे सुख आस्वादे आपनि॥
सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण॥
ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम नाम।
आनन्द-चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानी॥

श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
(६।७।६१)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी कहा है—

कृष्णेर अनन्त शक्ति ताते तिन प्रधान।
चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम॥
अंतरंगा, बहिरंगा, तटस्था कहि जारे।
अन्तरंगा स्वरूपशक्ति सबार ऊपरे॥

यह अन्तरङ्गा शक्ति श्रीराधा महारानी, सच्चिदा-नन्दघनविग्रह श्रीकृष्णरूप चेतन जलका विकसित पुष्प है। श्रीविष्णुपुराणमें अन्यत्र कहा है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ॥
(१।१२।६८)

श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति श्रीराधारानी ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् शक्तिके नामसे त्रिधा लीला करती

हैं। इनमें आनन्दस्वरूपिणी ह्लादिनीशक्ति भगवदानन्द विधानसे उनकी नित्यलीलामें नित्य नियुक्त हैं। सत्-स्वरूपा सन्धिनीशक्ति सृष्ट्यादि लीलाकार्यमें आनन्द-रत हैं और स्वरूपा ज्ञानस्वरूपिणी संवित्-शक्ति ज्ञानियोंकी अनुभूतिके रूपमें आविर्भूत होती हैं।

सच्चिदानंदमय हय ईश्वर स्वरूप।
तीन अंशे चिच्छक्ति हय तीन रूप॥
आनंदांशे ह्लादिनी सदंशे संधिनी।
चिदंशे संविद जारे कृष्ण ज्ञान मानि॥
(श्रीचैतन्य च० म० ६।१५८-१५९)

श्रीमद्भागवत १०।३३।१७ में कहा है—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

बालक जैसे दर्पणके सामने अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, ठीक इसी प्रकार आत्माराम-रसविग्रह-रस-सिन्धु-रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णने योगमायाकी सहायता-से अपनी ही ह्लादिनीशक्तिके विकसित रूप निज प्रतिबिम्बस्वरूपा गोपियोंके साथ रासलीलाका अभिनय किया था। जो भगवान्‌को पाकर केवल भगवान्‌को ही देखतीं, भगवान्‌का ही चिन्तन करतीं, भगवान्‌की ही बातें कहतीं और भगवान्‌की ही बातें सुनती थीं, भगवान्‌के सिवा और किसी भी वस्तुके लिये उनके मनमें किसी समय किसी प्रकारकी भी आसक्ति या उत्साह नहीं पैदा होता था; उन सब कृष्णसर्वस्वा, कृष्ण-गतप्राणा, कृष्णसुखविधानमें नित्य तत्परा ('कृष्ण-सुखैकतात्पर्यगोपीभाववर्यः') नित्यसिद्धा गोपियोंमें ('गोपायति आत्मानं परमात्मानं या सा गोपी') सर्वश्रेष्ठा प्रेम-सारभूत-महाभावस्वरूपिणी, रसराज-शिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्रकी परम वाञ्छिता रासेश्वरी हैं श्रीराधा-रानीजी 'राधाया अकरोद्रते रतिर्मनःपूर्तिम्'[1] जो विहारकालमें श्रीराधाके रतिसुख उत्पन्न करके चित्त विनोदन करते हैं, 'रसानन्दो राधासरसवपुरालिङ्गन-सुखैः'[2] जो आनन्द-रस-तन्मय हैं एवं जो श्रीराधाके रसमय देहका आलिङ्गन कर परमानन्द लाभ करते हैं,—उन आनन्दघन रसविग्रह श्रीकृष्णचन्द्रजीकी आत्मा हैं श्रीराधारानीजी।

इस प्रकार श्रुति-संहिता-पुराण आदि शास्त्रोंमें और ज्ञानश्रेष्ठ प्रेमश्रेष्ठ अवतारोंके उपदेशोंमें श्रीराधातत्त्वका वर्णन विस्तारसे पाया जाता है। अधिक क्या, श्रीराधा-तत्त्व श्रीकृष्णतत्त्वसे अभिन्न है। श्रीराधाकृष्ण एक तत्त्व है। रसास्वादनके लिये, रसविस्तारके लिये रससागर रसिक-चूडामणि 'रसो वै सः' दो रूपोंमें प्रकट हुए हैं। 'रसाब्धिर्देहेनैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।'

सच्चिदानन्दतत्त्व ही परब्रह्म है। सच्चिद्रूप श्रीकृष्ण हैं और आनन्दरूपिणी श्रीराधाजी हैं। दोनों मिलकर एक सच्चिदानन्दघन परमतत्त्व है—वही वेदान्तका—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
मूकास्वादनवदनिर्वचनीयं स्वयमेव तत्त्वं स्वयमेव बोध्यम्।

—परब्रह्म है। 'उत्सव'

१ भगवान् शंकराचार्यकृत आर्त्तत्राणनारायणाष्टादशकस्तोत्रम् १२।
२ भगवान् शंकराचार्यकृत जगन्नाथस्तोत्रम् ६।

पतिव्रता-लक्षण

मंगल वपु मंगल-करन, मंगल-फल-दातार ।
दासी सो श्रीपति चरन, बंदति बारंबार ॥१॥
तियको पति ही परम गुरु, अरु पति ही है देव ।
अस बिचारि मन बचकरम, दासी पतिहीं सेव ॥२॥
पति प्रसन्नता स्वर्ग है, नर्क पतिहिको क्रोध ।
याते राखु प्रसन्न पति, दासी जौ कछु बोध ॥३॥
तात मात सासू ससुर, अरु सुत सूर सचेत ।
दासी इनसे स्वल्प सुख, पति अपार सुख देत ॥४॥
और कृपाकरकी कृपा, जगहींमें रहि जाय ।
दासी श्रीपतिकी कृपा, दुहुँ पुर होत सहाय ॥५॥
लँगड़ो लुंजो आँधरो, मूढ़ ग्रसित-बहु-रोग ।
दासी कैसहु होय पति, पै पूजनके योग ॥६॥
दासी बरके नामसे, बर तरु पूजैं नारि ।
साक्षात बर नहिं भजहिं, तिन्ह सम कौन गँवारि ॥७॥
कुलगुरु द्विज सासू ससुर, अरु निज जेठ जिठान ।
दासी पति पूजित समुझि, करहु सदा सनमान ॥८॥
धन्य मातु पितु बन्धुवर, सास ससुर धन तौन ।
परम धन्य सो पति सदा, पतिव्रता गृह जौन ॥९॥
पृथ्वी जात पतालको, लखि कलि पाप-पहार ।
दासी धारे धीर धरि, पातिव्रत आधार ॥१०॥
नैहर सासुर सर्व सुख, सो सीता तृण जान ।
दासी बन गवनी हरषि, पतिपद प्रेम प्रमान ॥११॥
दासी दुख कारण प्रगट, यद्यपि कौशलनाथ ।
पै रानिन्ह सुतको तज्यो, तज्यो न पतिको साथ ॥१२॥
कुटिल तियनके सीखते, होत अवश हित हानि ।
दासी सुनि कुबरी वचन, कैकेई पछितानि ॥१३॥
पतिपर आयसु जनि करहु, अस परिणाम विचार ।
पति दासी मृगछाल-हित, सिय दुख सह्यो अपार ॥१४॥
दासी पतिते हठ किये, कैकेइहिं दुखभार ।
विधवापन सुतविमुखता, अपयश जगत अपार ॥१५॥
सती न मानी पति वचन, रामपरीक्षा लीन्ह ।
दासी सो अपराधबस, शंभु ताहि तजि दीन्ह ॥१६॥
दासी पति आदर बिना, कहूँ न तियको मान ।
नैहरहूँ निदरी गई, दक्षसुता जग जान ॥१७॥
दासी देवर सुतवधू, बेटी आदि अधीन ।
इनकहँ निदरि कुटुंबिनी, होहिं कुटुंबविहीन ॥१८॥
नभ रबि थल नर जलबरुन, निरखहिं वस्त्रविहीन ।
दासी नारि अधर्म लखि, चीरहरन हरि कीन्ह ॥१९॥
बड़हर नारि अनारपन, जामन सुमग अघाय ।
दासी निज बर त्यागिके, पीपर सेवैं जाय ॥२०॥
दासी सब निदरहिं सदा, पतिबंचक अनुमानि ।
रामहुँ परसेउ पाँवते, गौतमतिय जिय जानि ॥२१॥
जो बिधवा राखन चहै, पातिव्रतको नेम ।
सुतहिं जानि पतिआत्मज, पालै बचन सप्रेम ॥२२॥
सूपनखा गइ रामपहँ, तजि बैधव्य बिचार ।
दासी कानरु नासिका, काटे राजकुमार ॥२३॥
पातिव्रतको मूल बस, दासी इतनों जान ।
पति जीवित वा मृतकको, जनि कीजै अपमान ॥२४॥

—श्रीपतिदासीजी

सन्तका स्वभाव

संतको मानहिंसे दुख होवे ॥
सब कुछ त्याग इकांते बिचरे, मान त्याग ना होवे ।
कोउ मंदिर कोउ किला बनावे, गली गली फिरि रोवे ॥
संतको मानहिंसे दुख होवे ॥
गृह बनाय ठाकुर थापन हित, सबकी थैली टोवे ।
दस साधू निज साथमें लेके, बीज मूढता बोवे ॥
संतको मानहिंसे दुख होवे ॥
हाथी घोड़े बृथा ठाटसे, सत्य ज्ञानको खोवे ।
'कवलवास' एक टुकड़ा लेकर, हाथ सीस धरि सोवे ॥
संतको मानहिंसे दुख होवे ॥

—महात्मा जयगौरीशंकर सीताराम

विवेक-वाटिका

जो एक प्रभु अपनी नियामक शक्तिके द्वारा सबको नियममें रखते हैं, जो एक होते हुए ही सब लोकोंकी उत्पत्ति और लय करनेमें समर्थ हैं, उस देवको जो लोग पहचान लेते हैं वे अमृतरूप हो जाते हैं। —उपनिषद्

* * *

जो मृत्युके समय भगवान्‌का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह निस्सन्देह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है परन्तु अन्तकालमें स्मरण वही कर सकता है जिसने जीवनभर भगवत्-स्मरणका अभ्यास किया हो।

—श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे, द्वापरमें सेवासे जो फल मिलता था, वही कलियुगमें केवल श्रीहरि-कीर्तनसे मिलता है। अतएव जो दिन-रात श्रीहरिका प्रेम-पूर्वक कीर्तन करते हुए ही घरका सारा काम करते हैं, वे भक्तगण धन्य हैं! —श्रीमद्भागवत

* * *

अहिंसा, इन्द्रियसंयम, दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान और सत्य इन सात पुष्पोंद्वारा की हुई पूजासे भगवान् जितने प्रसन्न होते हैं, उतने साधारण पुष्पोंसे नहीं होते, क्योंकि भगवान्‌को सामग्रियोंकी अपेक्षा भक्ति अधिक प्यारी है। भक्तको छोड़कर इन पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा दूसरा कौन करेगा। —पद्मपुराण

* * *

एक क्षणके लिये भी आयुका नाश होना बन्द नहीं होता, क्योंकि शरीर अनित्य है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको विचारना चाहिये कि नित्य वस्तु कौन-सी है। उस नित्य वस्तुको जान लेना ही सबसे बड़ा ज्ञान है।

—देवर्षि नारद

* * *

जो अलज्जाके काममें लज्जा करते हैं और लज्जाके काममें लज्जा नहीं करते, जो भयरहित काममें भय देखते हैं और भयके काममें निर्भय रहते हैं और जो अदोषमें दोषबुद्धि रखते हैं और दोषमें अदोष देखते हैं वे झूठी धारणावाले जीव दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। —धम्मपद

* * *

जब काल सुमेरु-जैसे पर्वतोंको जला देता है, बड़े-बड़े सागरोंको सुखा देता है, पृथिवीको नाश कर देता है तब हाथीके कानकी कोरके समान चञ्चल मनुष्य तो किस गिनतीमें है।

—भर्तृहरि

* * *

काम-क्रोध बड़े ही क्रूर हैं, इनमें दयाका नाम नहीं, इन्हें काल ही समझो। ये ज्ञाननिधिके साँप, विषयकन्दराके बाघ और भजनमार्गके घातक हैं। ये जलमें नहीं, बिना ही जलके डुबो देते हैं, बिना ही आगके जला देते हैं और बिना ही शस्त्रके मार डालते हैं। —ज्ञानेश्वर

* * *

वे माता-पिता धन्य हैं, और वही पुत्र धन्य है जो जिस किसी प्रकारसे रामका भजन करता है। जिसके मुखसे धोखेसे भी रामका नाम निकलता है उसके पैरोंकी जूती मेरे तनके चमड़ेसे बने तो भी कम ही है। वह चाण्डाल भक्त अच्छा जो रात-दिन रामको भजता है। जिसमें हरिका नाम नहीं, वह ऊँचा कुल किस कामका? —तुलसीदासजी

* * *

मनरूपी पखेरू तभीतक विषयवासनाके आकाशमें उड़ता है, जबतक कि वह ज्ञानरूपी बाजकी झपेटमें नहीं आता।

—कबीर साहेब

* * *

आवश्यकता चावलकी होती है, परन्तु चावल बोनेसे वह उपजता नहीं। चावल पानेके लिये बोना पड़ता है धान! धानमें छिलका यद्यपि अनावश्यक है परन्तु छिलके बिना धान नहीं उगता। इसी प्रकार शास्त्रविहित आचारोंका पालन किये बिना कभी धर्मलाभ नहीं होता।

—रामकृष्ण परमहंस

* * *

जो वस्तु अनादि और अनन्त है, उसीमें सुख है; अन्तवान् वस्तुमें सुख नहीं है। अन्तवान् वस्तुका एक दिन अवश्य नाश होगा, इसलिये जो उसपर आसक्त होगा उसको दुखी होना ही पड़ेगा। —विजयकृष्ण गोस्वामी

* * *

जो बिना जड़की अमर-बेलको पालते हैं उन प्रभुको छोड़कर फिर दूसरे किसकी खोज करनी चाहिये। —रहीम

* * *

Registered No. A. 1724.

श्रीरामायणांक

अनेक प्रेमियोंके आग्रहसे 'रामायणांक' पुनः छप गया था। मूल्य वही २॥≋) ही रक्खा गया है। पृष्ठ पाँच सौसे ऊपर और सैकड़ों चित्र हैं। आपके संग्रहमें एक प्रति अवश्य रक्खें।

रामायणांकका गेटप, छपाई, सफाई, कागज और बाइण्डिंग सब सुन्दर है।

रामायणांकमें श्रीरामजीकी लीलाओंके अनेक सुनहरी, बहुरंगे, सादे चित्र एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पञ्चवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगबेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। रामायणकालीन भारतके कई भौगोलिक मानचित्र भी हैं।

रामायणांकमें अनेक महात्माओं, देशी-विदेशी विद्वानों और रामायणप्रेमियोंके लेख हैं।

रामायणांक–सुखमय जीवनका अमोघ साधन है।

आजतक कल्याणके सिवा इतने बड़े किसी भी सामयिक पत्रको दुबारा छपकर आपकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला। यदि आप इस बार इस अङ्कको न अपना सकेंगे तो समझ लीजिये कि एक उत्कृष्ट वस्तुसे वञ्चित रह जायँगे, क्योंकि इसके शीघ्र तीसरी बार छपनेकी आशा हम अभी आपको नहीं दिला सकते। अतः खरीदनेमें शीघ्रता करें।

कुछ सम्मतियाँ पढ़िये—

……सुन्दर, सस्ता और उपयोगी निकला है।……पढ़नेसे……अनेक ज्ञातव्य बातोंका पता चल जाता है।……अङ्क संग्रहणीय है। भारत (इलाहाबाद)

लेख बड़े-बड़े विद्वानोंकी लेखनियोंसे लिखे गये हैं। कई लेख तो भारतसे भिन्न देशोंसे भी मँगवाये गये हैं। ……लेख प्रायः सब तथ्यपूर्ण एवं जानकारीसे भरे हुए हैं।……कई सहस्र रुपया व्यय करना पड़ा होगा फिर भी इसका मूल्य केवल २॥≋) रक्खा गया है……। अवश्य संग्रह करना चाहिये। आर्यमित्र (आगरा)

………विषयोंकी व्यापकताकी दृष्टिसे तो रामायणपर यह अद्वितीय ग्रन्थ सिद्ध होगा। ……सच्ची लगनके बिना ऐसे गुरुतर कार्य सिद्ध नहीं होते। हमें विश्वास है कि पाठकगण इस……से पूरा लाभ उठावेंगे। प्रताप (कानपुर)

……**'रामायणांक'** हिन्दी-जगत्की एक स्थायी सम्पत्तिके रूपमें सदा आदर पाता रहेगा—……। अपने ढंगका अद्वितीय ग्रन्थ है, साथ ही 'कल्याण' नामको सार्थक करता है।……हमारी प्रत्येक हिन्दी-प्रेमीसे अपील है कि वह इस विशेषांकको मँगवाकर अवश्य पढ़ें, इससे 'लोकलाहु परलोक निबाहू' दोनों साधनाएँ सफल होंगी। माधुरी (लखनऊ)

पता—**व्यवस्थापक, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर**

ॐ
कल्याण
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
गीता ९।३२-३३
B. K. Mitra
मार्गशीर्ष
१९९१
भाग ९
अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण २७५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पैंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India)

* श्रीहरिः *

कल्याण मार्गशीर्ष सं० १९९१ की

विषय-सूची

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें

१–श्रीमद्भगवद्गीता–शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, इसमें मूल भाष्य है और भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है, भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है और गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मू० साधारण जिल्द २॥), पक्की जिल्द ... २॥।)

२–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र १।)

३–श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह ... ... १।)

४–श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह ... ... १।)

५–श्रीमद्भगवद्गीता–(श्रीकृष्ण-विज्ञान) अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद (सचित्र) पृ० २७५, मोटा एण्टिक कागज, गीताके श्लोकोंके सामने ही कवितामें अनुवाद छपा है। दो सुन्दर चित्र भी हैं। मू० ।।।) स० १)

६–श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥≥) सजिल्द ... ॥।=)

७–श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, हिन्दी गीता ॥≥) वालीकी तरह, मूल्य १) सजिल्द ... १।)

८–श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्-प्राप्ति नामक निबन्धसहित, साइज मझोला, मोटा टाइप, ३३२ पृष्ठकी शुद्ध छपी और अच्छे कागजकी सचित्र पुस्तकका मू० ॥) स० ॥≥)

९–गीता–साधारण भाषा-टीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र, ३५२ पृष्ठ, मूल्य =)॥ सजिल्द ≥)॥

१०–गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।–) सजिल्द ... ... ।≥)

११–गीता–भाषा, इसमें श्लोक नहीं है। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मू० ।) सजिल्द ।=)

१२–गीता–मूल ताबीजी साइज २×२॥ इञ्च, सजिल्द ... ... =)

१३–गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द ... ... =)

१४–गीता–७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण ... ... –)

१५–गीता-सूची (Gita-List)–संसारकी अनुमान २००० गीताओंका परिचय ... ... ॥)

१६–श्रीविष्णुपुराण–हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मू० २॥) सजिल्द ... ... २॥।)

१७–अध्यात्मरामायण–(सातों काण्ड) सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ रंगीन चित्र, मूल्य साधारण जिल्द १॥।) कपड़ेकी जिल्द ... ... २)

१८–प्रेम-योग–सचित्र, लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, मू० १।) सजिल्द १॥)

१९–विनय-पत्रिका–सरल हिन्दी-भावार्थ-सहित, ६ चित्र, अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मू० १) सजिल्द १।)

२०–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)–सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी जीवनी अभी हिन्दीमें कहीं भी नहीं छपी। यह ५ खण्डोंमें पूर्ण होगी। पृष्ठ ३६०, मूल्य ॥।=) सजिल्द १=) मात्र।

२१– ,, ,, (खण्ड २)–९ चित्र, ४५० पृष्ठ। पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। मू० १=) सजिल्द १।=)

२२– ,, ,, (खण्ड ३)–११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, अभी छपा है। अवश्य पढ़िये। मू० १) सजिल्द १।)

२३–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४०६, एण्टिक कागज, मू० ॥=) सजिल्द ॥।–)

२४– ,, ,, २–सचित्र, लेखक– ,, ,, पृष्ठ ६३०, एण्टिक कागज, मू० ॥।=) सजिल्द १=)

२५–भागवतरत्न प्रह्लाद–३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द १।)

२६–श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–(सचित्र) महाराष्ट्रके प्रसिद्ध सन्तकी जीवनी और उपदेश, मूल्य ... ॥।–)

२७–विष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित सचित्र मू० ... ... ॥=)

२८–एकादश स्कन्ध–(श्रीमद्भागवत) सचित्र हिन्दी-टीका-सहित। यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है। मू० ॥।) स० १)

२९–देवर्षि नारद–२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर अक्षर, मू० ॥।) सजिल्द ... १)

३०–नैवेद्य–(सचित्र) लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ३५०, मू० ॥=) सजिल्द ... ॥।–)

३१–तुलसीदल–(सचित्र) लेखक— पृ० २९४, मूल्य ॥) सजिल्द ... ॥≥)

३२-श्रीएकनाथ-चरित्र-(सचित्र) प्रसिद्ध महान् भगवद्भक्तकी बड़ी सुन्दर जीवनी, पृष्ठ २४०, मूल्य ॥)

३३-दिनचर्या-(सचित्र) उठनेसे सोनेतक करने योग्य धार्मिक नित्यकर्मकी बातोंका वर्णन है। इसमें अनेक स्तोत्र, भजन, वर्ण और आश्रम-धर्म आदिकी बातें भी जोड़ दी गयी हैं। पुस्तक रुचिकर है। मूल्य ॥)

३४-श्रुति-रत्नावली-(सचित्र) लेखक-श्रीभोलेबाबाजी, वेद और उपनिषदोंके चुने हुए मन्त्रोंका अर्थसहित संग्रह। मू० ॥)

३५-विवेक-चूडामणि-(सचित्र) मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित, पृष्ठ २२४, मूल्य ।≋) सजिल्द ॥=)

३६-श्रीरामकृष्ण परमहंस-(सचित्र) जीवनीके साथ-साथ ३०१ उपदेशमय वचनोंका संग्रह भी है। पृष्ठ २५०, मू० ।≋)

३७-भक्त-भारती (७ चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र ।≋)
३८-भक्त बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
३९-भक्त नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
४०-भक्त-पञ्चरत्न—५ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
४१-आदर्श भक्त—७ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
४२-भक्त-चन्द्रिका-७ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
४३-भक्त-सप्तरत्न-७ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
४४-भक्त-कुसुम-६ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
४५-प्रेमी भक्त-६ चित्रोंसे सुशोभित ।-)
४६-यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ-३ चित्रोंसे सुशोभित ।)
४७-गीतामें भक्ति-योग (सचित्र) ले०-श्रीवियोगी हरिजी ।-)
४८-श्रुतिकी टेर-(सचित्र) ले०-श्रीभोलेबाबाजी ।)
४९-परमार्थ-पत्रावली-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह ।)
५०-माता—श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी-अनुवाद ।)
५१-ज्ञानयोग-इसमें जानने योग्य अनेक पारमार्थिक विषयोंका सुन्दर वर्णन है ।)
५२-व्रजकी झाँकी-वर्णनसहित लगभग ५० चित्र ।)
५३-बदरी-केदारकी झाँकी (सचित्र) ।)
५४-प्रबोध-सुधाकर (सचित्र) सटीक ≡)॥
५५-मानव-धर्म-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ≡)
५६-साधन-पथ—ले०— " =)॥
५७-गीता-निबन्धावली =)॥
५८-वेदान्त-छन्दावली-ले०—श्रीभोलेबाबाजी =)॥
५९-अपरोक्षानुभूति-मूल श्लोक और अर्थसहित =)॥
६०-मनन-माला-सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है =)॥
६१-भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०-श्रीवियोगी हरिजी =)
६२- " दूसरा भाग " =)
६३- " तीसरा भाग " =)
६४- " चौथा भाग " =)
६५- " पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) =)
६६-चित्रकूटकी झाँकी (२२ चित्र) =)
६७-स्त्रीधर्म-प्रश्नोत्तरी (नये संस्करणमें १० पृष्ठ बढ़े हैं) =)
६८-The Immanence of God(By Malaviyaji) as.2
६९-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय -)॥
७०-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग -)॥
७१-मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित -)॥
७२-हनुमानबाहुक सचित्र, सटीक -)॥
७३-आनन्दकी लहरें (सचित्र) -)॥
७४-मनको वश करनेके उपाय (सचित्र) -)।
७५-गीताका सूक्ष्म विषय, पाकेट-साइज -)।
७६-ईश्वर-लेखक-पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय -)।
७७-मूल गोसाईं-चरित -)।
७८-श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश, २ रंगीन चित्र -)
७९-त्यागसे भगवत्प्राप्ति (सचित्र) -)
८०-ब्रह्मचर्य-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार -)
८१-भगवान् क्या हैं ? -)
८२-समाज-सुधार -)
८३-आचार्यके सदुपदेश -)
८४-एक सन्तका अनुभव -)
८५-सप्त-महाव्रत -)
८६-हरेरामभजन २ माला)॥।
८७-विष्णुसहस्रनाम-मूल, मोटा टाइप)॥। सजिल्द -)॥
८८-रामगीता-मूल, अर्थसहित)॥।
८९-सेवाके मन्त्र)॥
९०-सीतारामभजन)॥
९१-प्रश्नोत्तरी-श्रीशंकराचार्यकृत (टीकासहित))॥
९२-सन्ध्या (हिन्दी-विधि-सहित))॥
९३-बलिवैश्वदेव-विधि)॥
९४-पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।
९५-गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट-साइज)।
९६-धर्म क्या है ?)।
९७-दिव्य सन्देश)।
९८-श्रीहरि-संकीर्तन-धुन)।
९९-कल्याण-भावना ले०-श्रीताराचन्द्रजी पाँड्या)।
१००-लोभमें पाप आधा पैसा
१०१-गजलगीता आधा पैसा
१०२-श्रीरामायणांक-१६७ चित्र, ५१२ पृष्ठ मू० २॥≋) स० ३≋)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

छप गयी **गीता-डायरी सन् १९३५ की** छप गयी

मूल्य साधारण जिल्द ।), कपड़ेकी जिल्द ।-)

पिछले कई वर्षोंमें डायरीके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकालने पड़े और इसपर भी अन्तमें कई सज्जनोंको निराश होना पड़ा, यही इसकी उपयोगिताका सबसे बड़ा प्रमाण है। इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपसे त्योहार भी छापे जाते हैं। गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है। आरम्भके ३२ पेजोंमें अति उपयोगी विषय रहते हैं, जिनमें इस बार कुछ परिवर्तन किया गया है। अन्तमें याददाश्तके सादे पन्ने हैं। सबके लिये एक उपयोगी सुन्दर डायरी है। अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी जीसे प्रशंसा की है। केवल १५००० छापी गयी है, जिन्हें आवश्यकता हो, आर्डर देनेकी शीघ्रता करें।

कल्याणके ग्राहकोंको जो सुविधा दी जाती है उसका विवरण आश्विनके टाइटलके ३रे पेजमें देखिये।

श्रीमद्भगवद्गीता (मराठी-अनुवाद-सहित)

इसका कुछ परिचय यह है—

आकार डिमाई आठ पेजी, पृष्ठ ५७०, मोटा-चिकना कागज, भगवान्‌के ४ सुन्दर बहुरंगे चित्रोंमें एक नया चित्र बहुत ही सुन्दर है। हाथसे बुने हुए देशी कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य केवल १।) मात्र, डाकखर्च अलग, छपाई शुद्ध-सुन्दर, मूल श्लोक, पदच्छेद, अन्वय, सरल अर्थ और यत्र-तत्र टिप्पणियाँ, संक्षिप्त माहात्म्य, गीताकी महिमा, अध्यायोंके प्रधान विषयोंकी सूची, प्रत्येक श्लोकके विषयकी सूची, त्यागद्वारा भगवत्प्राप्ति नामक उपयोगी निबन्ध भी जोड़ दिया गया है। छपाईका ढंग बड़ा सुन्दर है। प्रत्येक मूल पदके सामने ही उसका मराठी अर्थ छपा है, इससे संस्कृतका अर्थ ठीक-ठीक समझमें आ सकता है। एक पुस्तक मँगानेवालोंको कमीशन काटकर मूल्य १-)॥, डाकखर्च ॥=), पैकिंग)॥ और मनीआर्डर फीस =) कुल १॥।=) होते हैं। कई सज्जनोंके साथ मिलकर अधिक पुस्तकें मँगवानेसे खर्च कम पड़ेगा।

किर्लोस्कर—मोठा टाईप व स्पष्ट छपाई यामुळें अगदीं नवख्या अभ्यासूला स्वतः च गीतेचा परिचय करून घेण्यास हें पुस्तक छान झालें आहे.····किमतीच्या मानानें पुस्तक फारच स्वस्त दिसतें.

नवाकाळ—····डेमी हें आकाराचें पुस्तक असूनहि किंमत सवा रुपया ही अगदीं माफक आहे. गीतेच्या अर्था कडे लक्ष मुखून पारायण करणारांना ही प्रत संग्राह्य वाटल्याशिवाय रहाणार नाहीं।

हमारा नया बड़ा सूचीपत्र छप गया है, जिन सज्जनोंको जरूरत हो वे लिखकर मँगवा लेनेकी कृपा करें।

 पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर।**

कालियदमन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रसिद्धान् सिद्धान् वा शिशुतरुणवृद्धानपि जनानुदारान् वा दाराननवरतमाराधनपरान् ।
चिदानन्दात्मेयं भुवनजननी संविदमला हरन्ती हृच्छल्यान्नयति किल कल्याणपदवीम् ॥

वर्ष ९ } गोरखपुर, मार्गशीर्ष १९९१, दिसम्बर १९३४ { संख्या ५
पूर्ण संख्या १०१

सेवककी कसौटी

तू साहब मैं सेवक तेरा । भावैं सिर दे सूली मेरा ॥
भावैं करवत सिरपर सार । भावैं लेकर गरदन मार ॥
भावैं चहुँ दिस आग लगाय । भावैं काल दसों दिस खाय ॥
भावैं गिरवर गगन गिराय । भावैं दरिया माहिं डुबाय ॥
भावैं कनक-कसौटी देय । 'दादू' सेवक कस-कस लेय ॥

—दादूजी महाराज

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्रश्न—शिष्य कैसा होना चाहिये ?

उत्तर—जो पापसे डरता हो, झूठ न बोलता हो, हठी न हो, सात्त्विक प्रकृतिका हो, जिसे गुरुमें पूर्ण विश्वास हो और गुरुवाक्यमें परम श्रद्धा हो । शिष्यमें उद्दण्डता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उद्दण्डको सद्गुरु स्वीकार नहीं करते । साधुके तीन लक्षण मुझे बहुत अच्छे लगते हैं—१—जीवनभर कामिनीका कभी स्वीकार न करे, २—कञ्चनका स्वीकार न करे और ३—रेलके लिये, खानेके लिये और वस्त्रके लिये भी कुछ न ले ।

भजनानन्दी गृहस्थको एकस्त्रीव्रती और शुद्ध आजीविका करनेवाला अवश्य होना चाहिये । उसको यह समझना चाहिये कि मुझे परमार्थके मार्गपर चलना है। अशुद्ध जीविकावाला परमार्थ-पथपर नहीं चल सकता ।

साधु यदि पैसा अपने पास रक्खेगा तो वह गृहस्थसे भी अधिक पतित होगा । अब तो मैं सब साधुओंसे मिलता हूँ, परन्तु पहले मुझे एक सन्तने कहा था कि पैसेवाले साधुओंका संग न करना ।

प्र०—गृहस्थ शिष्यको क्या करना चाहिये ?

उ०—गृहस्थमें रहते हुए पहले तो क्रोधका त्याग करना चाहिये । गृहस्थ हो या विरक्त, जहाँ क्रोध आया कि किया हुआ साधन नष्ट हुआ । सहनशक्ति होनी चाहिये । सहनशक्ति कम होनेसे ही भजनमें आनन्द नहीं आता । जबतक पापसे भय नहीं हुआ तबतक भजन भी प्रायः लोगदिखाऊ ही होता है । असली भजन उससे नहीं हो सकता । एक व्यक्ति वेदान्तका उपदेश तो बहुत देता था परन्तु जिस किसीसे रुपये लेता, उसे कभी वापस नहीं देता । ऐसे केवल कथन करनेवालोंसे कुछ लाभ नहीं ।

मैं चार बातें सबको बतलाता हूँ—१—सहनशक्ति, २—निरभिमानिता, ३—निरन्तर नामस्मरण और ४—'भगवान् अवश्य मिलेंगे' इस बातपर पूर्ण विश्वास । जहाँ इसमें सन्देह हुआ कि सब गया । इन चार बातोंमें जब तुम पास हो जाओगे तब समझ लो कि सब कुछ हो गया ।

जिस कार्यसे भगवच्चिन्तनमें कमी हो उसको कभी न करे । एक वक्त या दो वक्त भूखे रहनेसे यदि भजन बढ़ता हो तो वही करना चाहिये । जहाँतक हो खर्च कम करे, आवश्यकताओंको न बढ़ावे । विरक्तको तो माँगना ही नहीं चाहिये । साधु दाल-रोटी माँगकर खा ले या गृहस्थके घरमें जो मिले वही खाना चाहिये। साधुके लिये नयी चीज बनाना भी पाप है । साधु यदि कह दे कि मैं खीर खाऊँगा तो साधु और उसको खीर खिलानेवाला गृहस्थ दोनों गिरे ! इन बातोंपर विचार करो ।

कल्याण

इस बातका मनमें निश्चय करो कि शरीरके नाशसे तुम्हारी मृत्यु नहीं होती, तुम शरीर नहीं हो, इस शरीरके पहले भी तुम थे और पीछे भी रहोगे। तुम आत्मा हो, तुम्हारा स्वरूप नित्य है। जो वस्तु नित्य होती है वही सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन होती है। इस नित्य सनातन, सर्वव्यापीस्वरूपमें न जन्म है, न मरण है; न विषमता है, न विषाद है; न राग है, न रोग है; न दोष है, न द्वेष है; न विकार है, न विनाश है। यह सत् है, चेतन है और आनन्दमय है।

× × ×

यही आनन्दमय सत्-चेतन-स्वरूप आत्मा सर्वगत है; संसारमें जितने जीव हैं सबमें यही निर्दोष और सम आत्मा स्थित है। इसलिये जिसकी दृष्टि इस आत्माकी ओर होगी, वह न किसीसे घृणा करेगा, न द्वेष; वह सबमें समान भावसे अपने आत्मस्वरूपको देखकर सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार करेगा।

× × ×

आत्मवत् व्यवहारमें—अपने ही शरीरके दायें-बायें और ऊपर-नीचेके अंगोंके साथ और उनके द्वारा होनेवाले व्यवहारकी भाँति—क्रियामें भेद रहेगा। क्योंकि बाह्य व्यवहार सारे-के-सारे—प्रकृतिमें हैं, प्रकृतिमें भेद है ही। इस प्रकृति-भेदके कारण ही समस्त संसारमें विषमता नजर आ रही है। न सबका वर्ण एक-सा है, न बुद्धि एक-सी है, न ढाँचा एक-सा है, न शरीरकी ताकत एक-सी है, न चेहरा एक-सा है; कुछ-न-कुछ भेद अवश्य है। इस भेदमय संसारमें अभेद देखना ही तो आत्मबुद्धि है—शुद्ध ज्ञान है। ये सारे भेद विनाशी हैं, और वह अभेद अविनाशी है। अतएव जितने जीव सब अलग-अलग भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीख पड़ते हैं, उन सबमें एक विभागरहित नित्य अविनाशी आत्माको देखो। और ऐसा देखते हुए ही यथायोग्य बर्ताव करो। तुम्हारे सब बर्ताव अन्तरसे सर्वथा निर्दोष हो जायँगे।

× × ×

एक ही विशाल वृक्षके बहुत-सी डालियाँ हैं, लाखों पत्ते हैं और हजारों फूल तथा फल लगे हैं। डालियों और पत्तोंकी अलग-अलग आवश्यकता भी है और सार्थकता भी; क्योंकि फूल तथा फल इन्हींसे मिलते हैं। निरे ठूँठसे फल-फूल नहीं मिलते। परन्तु कोई भी बुद्धिमान् पुरुष डालियों और पत्तोंके लिये ठूँठकी जड़को नहीं काटता, जड़ ही कट गयी तो डाली-पत्ते और फूल-फल फलेंगे ही किसके आधारपर? इसी प्रकार केवल जड़की रक्षा करके डाली-पत्तोंको काटनेसे भी काम नहीं चलेगा; इसी प्रकार मूलवृक्ष आत्मा, और उसके डाली-पत्तेस्वरूप विभिन्न बाह्य अंग हैं। अतएव न तो बाहरके व्यवहारमें विभिन्नता देखकर इस विभिन्नताको नाश करनेकी व्यर्थ चेष्टा करो। विभिन्नतामें ही फल है और इसीमें सौन्दर्य है। प्रकृतिका महान् सौन्दर्य हम वृक्षके चित्र-विचित्र शाखा-पत्र और रंग-बिरंगे मनमोहक पुष्प तथा रसीले स्वादु फलोंमें ही देख पाते हैं। इस रंग-बिरंगी रसीली व्यावहारिक सृष्टिको मिटाकर, विविध विचित्रताओं और नाना रंगोंसे रहित सदा एकरस और एकरङ्ग आत्माकी उपलब्धि सहज नहीं है। इस विचित्रता और अनेकतामें ही उस नित्य एकरसत्व और एकत्वका अनुभव करो—व्यावहारिक अनित्य भेदमें ही पारमार्थिक नित्य अभेदके दर्शन करो।

× × ×

सर्वगत एकरस निर्दोष अभेदमय आत्माको देखते हुए ही भेदमय व्यवहार करो। व्यवहारका भेद तुम्हारे मिटाये मिट नहीं सकता और आत्मामें तुम अभेद उत्पन्न कर नहीं सकते। अतएव व्यवहारमें आवश्यक भेद रक्खो—परन्तु आत्मदृष्टि रखते हुए ही; कहीं आत्माको भूलकर शरीर और शरीर-सम्बन्धी भेदोंको ही अपना असली स्वरूप मान लोगे तो राग-द्वेष और अपने-परायेके अज्ञान और पापमय झगड़ेमें पड़कर पतित हो जाओगे। तुम भारतवासी हो, हिन्दू हो, सनातनी हो, युक्तप्रान्तके हो, ब्राह्मण हो, गृहस्थ हो, पण्डित हो, परन्तु इन सबके पहले 'आत्मा' हो—इन सभी परवर्ती स्वरूपोंकी पूरी रक्षा करो—सब मर्यादाओंका पालन करो, परन्तु वैसे ही, जैसे नाटकका पात्र नाट्य-मञ्च (स्टेज) पर अपने स्वाँगके अनुसार ही खेल खेलता है परन्तु अपने निज-स्वरूपको कभी नहीं भूलता। ये सब केवल तुम्हारे इसी शरीरके स्वाँग हैं, आत्मा तुम्हारा यथार्थ नित्य निजरूप है। तुम मरनेपर यूरोपमें जन्म ले सकते हो, अहिन्दू हो सकते हो परन्तु आत्मासे अनात्मा नहीं हो सकते। अवश्य ही नाटकके उसी पात्रकी उन्नति होती है, और वही खेलमें ऊँचे स्वाँगको पाता है, जो अपने स्वाँगके खेलको उसीके अनुसार ठीक-ठिकानेसे निबाहता है; दूसरेकी क्रिया भूलकर भी नहीं करना चाहता। यही वर्णाश्रमका रहस्य है। प्रत्येक उन्नतिकामी व्यक्तिको वर्णाश्रमकी इस मर्यादाका अवश्य पालन करना चाहिये। परन्तु इसीको असली रूप मानकर दूसरे स्वाँगोंसे—दूसरे देश, जाति, धर्म, प्रान्त, वर्ण, आश्रम और आजीविकाके कार्योंसे कभी न घृणा करो, न उन्हें अपनेसे नीचा समझो। अपने-अपने स्वरूपमें सभीकी आवश्यकता और सार्थकता है और सभी बड़े हैं। जैसे नीचा समझकर दूसरे किसीसे भी घृणा न करो, वैसे ही ऊँचा समझकर दूसरे किसीकी नकल या चाह भी न करो। एक ही नित्य अविनाशी सत् चेतन आनन्दमय आत्मामें यह प्रकृतिके विविध खेल हो रहे हैं! यही समझकर और इसीकी ओर दृष्टि रखकर नित्य आत्माका ध्यान करते हुए ही शरीरसे यथायोग्य व्यवहार करो।

× × ×

यह आत्मा परमात्माका ही सनातन अभिन्न अंश है, परमात्माका ही स्वरूप है। परन्तु जबतक इसकी स्थिति प्रकृतिमें है, तबतक यह जीवात्मा कहलाता है और तबतक इसे प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगना तथा गुणोंके संगसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जाना पड़ता है। असंग, अक्रिय, नित्य, आनन्दमय होनेपर भी इसे प्रकृतिस्थित होनेसे सुख-दुःखका भोग करना पड़ता है। इस प्रकृतिमेंसे 'अहं' को निकालकर उसे सत् और आनन्दमय सर्वगत अविनाशी एक आत्मामें स्थापित करो, और प्रकृतिजन्य गुणोंके फन्देसे छूटकर सुख-दुःखसे अतीत अनामय आनन्दमय ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त हो जाओ।

× × ×

यह स्मरण रक्खो कि देहमें स्थित होनेसे जो सुख-दुःखभोगी जीवात्मा कहलाता है वही साक्षी-रूपसे द्रष्टा, अन्दरसे सच्ची आवाज देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, नियामकरूपमें ईश्वर और निर्गुणरूपमें परमात्मा है। यह सभी स्वरूप एक ही कालमें एक ही भगवान्में हैं, सिर्फ कार्यभिन्नतासे स्वरूपभिन्नता है। यही उनकी अनिर्वचनीय लीला है।

× × ×

इसी समग्र परमात्माके मुख्यतः दो नित्य स्वरूप हैं—एक अव्यक्त, दूसरा व्यक्त। अव्यक्तमें दो भेद हैं एक अव्यक्त निर्गुण और दूसरा अव्यक्त सगुण।

अव्यक्त निर्गुण उस स्थितिका नाम है, जिसमें शक्तिकी लीला बन्द है, शक्ति शक्तिमान्‌में विलीन है। इसीको विज्ञानानन्दघन ब्रह्म कहते हैं। अव्यक्त सगुण ही—सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, सबका नियामक, विभु है, आत्मा, जीवात्मा, द्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, इसीके स्थिति-भेद हैं। शक्तिकी क्रिया होनेकी स्थितिमें ही—वह सगुण कहलाता है। वही परमात्मा नित्य दिव्य विग्रहरूपमें व्यक्त है—इसीके श्रीराम-कृष्णादि अवताररूप, विष्णु, शिव, देवी, ब्रह्मा, सूर्य आदि दिव्य स्वरूप हैं। इन सब स्वरूपोंको कदापि स्वरूपतः और तत्त्वतः अलग-अलग मत मानो। एकके ही अनेक अव्यक्त और व्यक्त लीला-वपु हैं। अपने इष्टरूपके अनन्य भक्त रहो। शेष सब रूपोंको या तो उसीमें विलीन करके सर्वत्र सर्वदा सर्वथा एक उसीको देखो सुनो। विलीन न कर सको तो सब रूपोंको अपने उस एक ही लीलामय इष्टदेवके विभिन्न स्वरूप समझो! यह निश्चय रक्खो—सर्वमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वरूप भगवान्‌के किसी भी व्यक्त साकार रूपकी एकमात्र महेश्वरबुद्धिसे परम श्रद्धायुक्त होकर अनन्य उपासना करनेवाला भक्त, और नित्य निर्गुण विज्ञानानन्दघन परमात्माकी अभेदोपासना करनेवाला ज्ञानी दोनों अन्तमें एक ही भगवत्तत्त्वको प्राप्त होंगे। क्योंकि परमात्मा एक ही है। अवश्य ही लीलामय साकार रूपका अनन्य उपासक श्रेष्ठ योगवेत्ता पुरुष प्रेमके अलभ्य रसको विशेषरूपसे उपलब्ध करेगा।

× × ×

भगवान्‌के नित्यविग्रह श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि स्वरूपोंको कभी जन्मने और मरनेवाला समझकर इनकी अवहेलना न करो। इनका प्रादुर्भाव और तिरोभाव अथवा प्राकट्य और अन्तर्धान होता है, न कि जन्म-मरण। जो लोग इनके अज, अविनाशी, महेश्वररूप परम पुरुषोत्तम भावको न जानकर इन्हें जन्मने-मरनेवाले मनुष्य समझते हैं, उनकी बातोंपर विश्वास कभी न करो। और परम श्रद्धाके साथ इन दिव्य स्वरूपोंका अपनी-अपनी रुचिके अनुसार ध्यान-भजन करते रहो। यह भगवान्‌की योगमायाका बड़ा प्रभाव है। योगमायाका पर्दा डालकर प्रकट होनेके कारण ही तो हम मूढ़ लोग अज और अविनाशी भगवान्‌को न पहचानकर श्रीराम-कृष्णरूपको मायाबद्ध मानवरूप कहते हैं। याद रक्खो—भगवान्‌की इस दुरत्यय योगमायासे वही पुरुष बचकर पार जा सकता है जो इस योगमायाके अधिपति भगवान्‌के शरण हो जाय। अतएव भगवान्‌के अव्यक्त और व्यक्त निर्गुण सगुण रूपोंमें भेदभाव न कर, विवादको छोड़कर, तर्कको तिलाञ्जलि देकर केवल प्रेमपूर्वक भजन ही करो।

× × ×

चाहे अव्यक्तको भजो या व्यक्तको, प्राणिमात्रके साथ सद्व्यवहारकी दोनोंमें ही जरूरत है। अव्यक्तमें सब ब्रह्ममय है, और व्यक्तमें श्रीकृष्णमय या श्रीराममय! बात एक ही है। चाहे सबको ब्रह्म समझकर अपनेको भी उनसे अभिन्न मानकर अनिवार्य व्यावहारिक भेदको रखते हुए ही अभेद व्यवहार करो। चाहे सबको श्रीरामस्वरूप मानकर श्रीरामके दिये हुए अपने स्वाँगके अनुसार सबकी यथायोग्य सेवा करो। याद रक्खो—सेवा स्वकर्मसे ही अच्छी प्रकार हो सकेगी! यह आदर्श साधकोंके लिये है। सिद्धोंकी बात तो सिद्ध ही जानते हैं।

'शिव'

पाप और पुण्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्र०—(क) पाप और पुण्य क्या है ?

(ख) जो मनुष्य ईश्वर और किसी धर्मशास्त्रपर विश्वास नहीं करता, वह शास्त्रीय विधि-निषेधको तो पुण्य-पाप मानता नहीं, फिर उसके लिये पाप-पुण्यकी व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है ?

उ०—(क) यद्यपि पाप-पुण्यका विषय बहुत गम्भीर है तथा इसका दायरा बहुत विस्तृत है तथापि संक्षेपमें साररूपसे यही कहा जा सकता है कि 'मानव-कर्त्तव्य ही पुण्य या सुकृत है, और अकर्त्तव्य ही पाप या दुष्कृत है।'

(ख) पुण्य-पाप अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके निर्णय-में शास्त्र (धर्मग्रन्थ) ही प्रमाण हैं इसीलिये श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १६ । २४)

'अतएव तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तुझे शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्म ही करने चाहिये।' परन्तु जिस मनुष्यका ईश्वर और शास्त्रमें विश्वास नहीं है, शास्त्रकी व्यवस्था न माननेपर भी, उसके लिये भी मानव-कर्त्तव्य ही पुण्य है और अकर्त्तव्य ही पाप है । अब यह प्रश्न आता है कि शास्त्रको न माननेवाला मनुष्य कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका निर्णय किस प्रकार करे ? इसका उत्तर यह है कि उसे प्राचीन और वर्त्तमान महापुरुषोंके किये हुए निर्णय और आचरणको प्रमाण मानकर अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय करना चाहिये । इसपर यदि कहा जाय कि किसीकी दृष्टिमें कोई महापुरुष हैं और किसीकी दृष्टिमें कोई, और उन महापुरुषोंमें मतभेद है, ऐसी स्थितिमें वह क्या करे ? इसका उत्तर यह है कि जिसकी दृष्टिमें जो महापुरुष हैं, उसको उन्हींका आचरण और निर्णय मानना चाहिये । इसपर यदि यह कहा जाय कि तब तो माननेवालेकी बुद्धि ही प्रधान रही, सो ठीक ही है; जो धर्मशास्त्र और ईश्वरको नहीं मानते, उन्हें तो अपनी ही बुद्धिपर निर्भर करना पड़ेगा । अपनी बुद्धिके निर्णयमें भूल हो सकती है इसीलिये महापुरुषोंने शास्त्रप्रमाण माननेके लिये कहा है । शास्त्रको प्रमाण न माननेवालोंको किसी महापुरुषके वचन प्रमाणरूप मानने पड़ेंगे, और यदि किसी महापुरुषपर भी विश्वास न हो तो उन्हें अपनी बुद्धि-का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा । अतएव ऐसे पुरुषोंके लिये अपनी बुद्धिसे किये हुए निश्चयके अनुसार ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी व्यवस्था होती है ।

अब यह बात बुद्धिसे सोचनी चाहिये कि मनुष्य-के लिये वस्तुतः कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य क्या हो सकता है । इस प्रकारसे सोचनेकी बुद्धि मनुष्यमें ही है, पशु-पक्षी आदि अन्यान्य जीवोंमें नहीं । इसलिये यह बात मनुष्यपर ही लागू पड़ती है । जो मनुष्यका शरीर प्राप्त करके कर्तव्याकर्तव्यका विचार किये बिना ही कार्य करता है, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है, वास्तव-में ऐसा मनुष्य मानव-शरीरमें भी पशुके ही तुल्य है ।

संसारमें दो वस्तुएँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं—(१) चेतन, (२) जड़ । जो द्रष्टा है वह चेतन है, और जो दृश्य है वह जड है । द्रष्टा भोक्ता है, दृश्य

भोग है। द्रष्टाके ही लिये दृश्य है। त्याग-बुद्धिसे ज्ञानपूर्वक दृश्यका उपभोग करनेमें मुक्ति है अर्थात् इस चेतनका दुःख और पापोंसे मुक्त होकर परम आनन्द और परमा शान्तिमें निवास है। बिना समझके उपभोगसे बन्धन, पतन, दुःख और अशान्ति है।

अतएव जो कर्म अपने या किसी भी अन्य चेतन जीवके लिये इस लोक और परलोकमें वस्तुतः लाभ-जनक है वही कर्तव्य है, और जिससे अपना या अन्य किसी जीवका इहलोक और परलोकमें अहित होता है वही अकर्तव्य है, इसी कर्तव्य-अकर्तव्यको शुभ-अशुभ कर्म, कार्य-अकार्य, विधि-निषेध या पाप-पुण्य कहा जा सकता है।

इसी प्रकार इस लोक और परलोकमें प्राप्त होने-वाले सुखके साधनरूप जो जड पदार्थ हैं, उनकी वृद्धिका यत्न करना पुण्य है और क्षयका प्रयत्न पाप है। यही पुण्य-पापका संक्षिप्त विवेचन है।

प्र०—मांसाहारको कुछ लोग पुण्य बताते हैं और कुछ लोग पाप; वास्तवमें यह क्या है ? यदि पाप है तो जिस मनुष्यका जन्म मांसाहारी कुल और वातावरणमें हुआ है और लड़कपनसे ही मांस खाना जिसका स्वभाव है वह मांसाहारको पाप कैसे मान सकता है ?

उ०—मांसाहारमें सबसे बढ़कर दोष यह है कि किसी-की हिंसा किये बिना मांस मिल नहीं सकता और किसी भी जीवको किसी प्रकारसे किञ्चित् मात्र भी कष्ट पहुँचाना पाप है। उसे समूल नष्ट कर देना तो महापाप है। ऐसी परिस्थितिमें मांसाहार पुण्य तो किसी प्रकार माना ही नहीं जा सकता, किन्तु वह पाप नहीं है सो बात भी नहीं, निश्चय पाप ही है। जो लोग मांसाहारको पुण्य समझते हैं अथवा जो पाप नहीं समझते, वे भी गम्भीरताके साथ विचार करें तो सम्भव है कि उनकी बुद्धिमें भी मांसाहार पाप दीखने लगे। क्योंकि जिनका मांस खाया जाता है, उन जीवोंको प्रत्यक्षमें ही महान् कष्ट होता है और उनका नाश हो जाता है। किसी प्रकारसे किसीको दुःख पहुँचाना ही पाप है। अपने शरीरका उदाहरण सामने रखकर इसपर विचार करना चाहिये। विवेकशील मनुष्यका कभी यह कर्तव्य नहीं हो सकता कि वह जिस कार्यको अपने लिये महान् दुःख समझता है, उसीको दूसरोंके प्रति करे। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि चोट लगनेपर या मारनेपर जैसी पीड़ा हम लोगोंको होती है वैसी ही पशु-पक्षियोंको होती है। मारनेके समय उनके रुदन, विलाप और छूटनेकी चेष्टा और निराशासे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। फिर अपने शरीरपोषणके लिये या स्वादके लिये तो दूसरे जीवोंका जानसे मार डालना किसी प्रकार भी मनुष्यत्व नहीं कहला सकता !

पशु-पक्षी आदिको मारकर उनका मांसाहार करनेमें उनका या अपना किसी प्रकार हित भी नहीं है, वे तो प्रत्यक्ष पीड़ित होते और मरते ही हैं परन्तु मांसाहारीका भी बड़ा नुकसान होता है। मांसाहारसे मनुष्यका स्वभाव क्रूर और तामसी हो जाता है, दया उसके हृदयसे चली जाती है। वह जिनका मांस खाता है, उन जीवोंके रोग और दुष्ट-स्वभावके परमाणु अन्दर जानेसे नाना प्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ हो जाती हैं; पाप तो होता ही है। मनुष्यके मुखकी आकृति और उसके दाँतों तथा दाढ़ोंको देखनेसे इस बातका भी प्रत्यक्ष पता लगता है

कि मांस मनुष्यका आहार भी नहीं है। जो जिसका आहार नहीं है वह उसके लिये अखाद्य है और स्वास्थ्य-नाशक है। दुर्गन्धके कारण भी मांस अखाद्य है। फिर यह ऐसा आवश्यक भी नहीं है कि इसके बिना जीवन न चले। इसके अतिरिक्त अधिकार भी नहीं है, जो मनुष्य जिस वस्तुको पैदा नहीं कर सकता, उसको नाश करनेका उसे क्या अधिकार है ? किसी भी जीवको सहायता देने, बढ़ाने और उसके जीवन धारणमें मददगार होनेका ही अधिकार है, मारनेका कदापि नहीं। यह भी विचार करना चाहिये कि मांसाहारीको तो मांसाहारसे क्षणिक सुख मिलता है और थोड़े-से कालके लिये उसका निर्वाह होता है, परन्तु उस प्राणीका तो सदाके लिये नाश हो जाता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे कोई भी समझदार मनुष्य मांसाहारको न तो पुण्य बतला सकता है और न यही कह सकता है कि यह पाप नहीं है। यह तो एक प्रकारकी जबर्दस्ती है। पशुपक्षियोंमें हम देखते हैं कि बलवान् पशुपक्षी निर्बल जीवोंको मारते हैं। मनुष्य बुद्धिमान् होनेके कारण सबसे बलवान् है, अतः वह यदि अपने छल, बल और कौशलसे निरीह, निर्बल, मूक पशुओंको मारता है तो यह उसका मानवदेहमें ही पशुपन है। पशुमें तो कर्तव्याकर्तव्यकी बुद्धि नहीं है, इसलिये हम कह सकते हैं कि उसके लिये वह पाप नहीं होता परन्तु मनुष्यको तो यह बुद्धि प्राप्त है अतएव वह यदि दूसरे जीवोंको मारकर या उन्हें मरवाकर मांसाहार करता है, तो वह पशुसे भी गया-गुजरा है। पशुपक्षी ही नहीं, गम्भीर विचार करनेपर तो जान पड़ेगा कि सजीव हरे वृक्ष और व्रीहि आदिके छेदनमें भी किसी अंशमें हिंसा है। परन्तु संसारमें कोई भी आरम्भ निर्दोष नहीं होता, और मनुष्यको अपने जीवननिर्वाहके लिये इनका उपयोग करना पड़ता है और उसकी आकृतिसे भी पता लगता है कि यह फल, व्रीहि इत्यादि ही उसका खाद्य है; तथापि जहाँतक हो सके इनका उपयोग भी आवश्यकतानुसार कम-से-कम ही करना चाहिये। अनावश्यक फलमूलवृक्षादिका छेदन कदापि नहीं करना चाहिये। फिर वृक्षोंका तो उनकी उन्नति या वृद्धिके लिये भी छेदन किया जा सकता है। कलम करनेसे पेड़ बढ़ते हैं, फलोंसे बीज होते हैं और उन बीजोंसे पुनः वृक्षोंकी वृद्धि होती है। परन्तु मांसाहारमें तो केवल क्षय-ही-क्षय है अतएव मांसाहार सर्वथा पाप और त्याज्य है।

संसारमें जितने जड पदार्थ हैं वे सभी किसी-न-किसी रूपमें चेतनोंके लिये ही हैं, परन्तु उनको भी व्यर्थ नुकसान पहुँचाना पाप है, फिर चेतन प्राणियोंका शरीरवियोग करना पाप है इसमें तो कहना ही क्या है ?

जिस मनुष्यका जन्म और पालनपोषण मांसाहारी कुल और वातावरणमें हुआ है, और लड़कपनसे जिसका वैसा स्वभाव है, उसके लिये भी मांसाहार सर्वथा त्याज्य है। मनुष्यको विवेककी बड़ी सम्पत्ति प्राप्त है, जब उसको यह

समझ आ जाय कि दूसरोंके द्वारा पीड़ा पहुँचानेपर या मारनेपर मुझे दुःख होता है, तभीसे उसको यह सोचना चाहिये कि जैसा दुःख मुझको होता है, ऐसा ही दूसरे प्राणियोंको भी होता है। और दूसरे प्राणियोंके मरने-मारनेके समय होनेवाले कष्टको मांसाहारी देखता-सुनता भी है। ऐसी हालतमें विवेकशील मनुष्य होनेके कारण उसके लिये भी मांसाहार करना पाप ही है, और उसे मांसाहारको पाप समझकर तुरन्त ही त्याग देना चाहिये।

चेतावनी

(लेखिका—श्रीविद्यावतीदेवीजी)

(१)

लखि पायो नहीं परमारथ स्वारथ अंत समै पछितायगा रे।
जिस भोगका गाहक ह्वै रहा तू, सोई दाहक ह्वै धरि खायगा रे।
सुनि ले कहौं तोसों भजे बिन राम, अराम कहूँ नहिं पायगा रे।
धन-मालको ढोइकै रासभ-सो, खुद धूरकी घास ही खायगा रे॥

(२)

जेहिके सिर मोर किरीट लसै, वनमाल हिये पर सोहती है।
अधरानसों मंजु लगी मुरली, बजिकै सचराचर मोहती है।
जेहिकी दृग-दृष्टि दयासे भरी, दुख दीननहीके टटोहती है।
अभिलाष हमारी उसी हरिसे, मिलबे हित मारग जोहती है॥

(३)

जबलौं सुचितासों अरे मन! संत-समाजका संग करैगा नहीं।
जबलौं इन काननमें कमनीय कथा हरिकी तू भरैगा नहीं।
जबलौं उरसों मद कामऽरु क्रोधको कूर तू दूर धरैगा नहीं।
तबलौं चहै यत्न करोरि करै, भव-सिंधुसे पार परैगा नहीं॥

(४)

जिनकी रुचि राममें है न, तिन्है तजु चाहे सुधा ही रहैं परसे।
नहिं अंतमें आइहैं काम जबै, गहिहैं यमदूत कड़े करसे।
करिहैं न सहाय परे रहिहैं, भव-भोग सबै सरिता सरसे।
बुझिहै न पियास पपीहा तेरी, बिन स्वाँतिका बारिदके बरसे॥

ब्रह्मविद्या और उसके साधन

(लेखक—स्वामी श्रीनित्यानन्दजी भारती)

अनादि कालसे ऋषि, मुनि तथा महात्माजन वेद-मन्त्रों, उपनिषद्-वाक्यों और अपने सारगर्भित व्याख्यानों-द्वारा मनुष्यमात्रको सचेत करते रहे हैं और यह समझाते चले आ रहे हैं कि—मनुष्य-जन्म बारबार नहीं मिलता, इस जन्मको पाकर ऐसा पुरुषार्थ करो कि फिर जन्म-मरणका दुःख न भोगना पड़े, याद रक्खो परमेश्वरकी प्राप्ति ही मनुष्य-जन्मका मुख्य उद्देश्य है। इन सब विचारोंकी बार-बार आवृत्तिके अनन्तर परमात्माको जिस ज्ञानके द्वारा एक अविभक्त अविनाशी रूपमें जाना जाता है उस ज्ञानका नाम ही ब्रह्मविद्या है। क्योंकि यह विचार ही मनुष्यको ब्रह्मतक पहुँचनेके लिये उत्तेजित करते हैं और इनके सहारे ही मुमुक्षु लोग ब्रह्मको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि जिस विद्याके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त किया जाय वही विद्या ब्रह्मविद्या है।

इस ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें कई प्रकारके प्रवाद प्रचलित हैं। यद्यपि हमारा उद्देश्य इस लेखद्वारा उन प्रवादोंपर दृष्टि डालना नहीं है तथापि प्रसंगवशात् उपेक्षा न करते हुए हम यह वर्णन करेंगे कि ब्रह्मविद्यासे किस वस्तुकी प्राप्ति होती है, ब्रह्मविद्याका उपदेष्टा किस प्रकारका होना चाहिये और ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन हो सकता है?

सबसे पहले हमें यह विचार करना है कि ब्रह्मविद्याकी उपयोगिता क्या है। क्योंकि यदि हम यह जान लें कि ब्रह्म-विद्याकी आवश्यकता क्या है तो यह अनायास ही जान सकेंगे कि ब्रह्मविद्याका फल क्या है। आइये, सबसे पहले हम वेदभगवान्से परामर्श करें। ऋग्वेदसंहितामें कहा गया है कि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६४, मन्त्र ३९)

'जिस परम ब्रह्ममें अग्नि, सूर्यादि देवता आश्रय पाये हुए हैं उसी अविनाशी परम तत्त्वमें ऋचाएँ (वेद-मन्त्र और स्तुति-वाक्य) स्थित हो रही हैं। जो उस परम तत्त्व (अक्षर-ब्रह्म) को नहीं जानता वह मन्त्रों और स्तुति-वचनोंसे क्या ले लेगा? (अर्थात् कुछ नहीं,) हाँ, जो लोग उस अविनाशीका साक्षात्कार कर लेते हैं वही मोक्ष प्राप्त करते हैं।'

मन्त्रका 'समासते' शब्द बड़ा ही भावपूर्ण है। सम् और आङ् पूर्वक आस् धातुका प्रयोग मोक्षकी अवस्थाका कितना स्वाभाविक वर्णन कर रहा है इसका आनन्द वे ही विद्वान् अनुभव कर सकते हैं जिनको व्याकरणके साथ निर्वचन विद्याका भी ज्ञान है। अपनी भाषामें कहना चाहें तो इस प्रकार कहना होगा कि निश्चिन्त होकर बैठ गये हैं। जन्ममरणके चक्रपर चढ़कर चक्कर खानेवाला जितना दुःख अनुभव करता है उस दुःखसे छूटकर निश्चिन्त होकर—निर्भय होकर उससे कई गुणा बढ़कर सुख प्राप्त करता है। इसी भावको लेकर मोक्षकी चिन्तारहित ब्राह्मीस्थिति 'समासते' पदसे वर्णन की गयी है।

मन्त्रमें स्पष्ट कह दिया गया है कि जो अक्षर (ब्रह्म) का साक्षात्कार नहीं करता वह जन्ममरणके चक्रसे कदापि नहीं छूट सकता। मन्त्रों और स्तोत्रोंसे वास्तविक लाभ उसी व्यक्तिको प्राप्त होता है जो मन्त्रों और देवताओंके मूलाधार परम ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। मन्त्रोंसे लौकिक सिद्धियाँ या अभ्युदय भी प्राप्त होते हैं परन्तु वेद-मन्त्रोंका मुख्य फल यह नहीं है, मुख्य फल तो आत्म-साक्षात्कार है। आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कारको छोड़कर जन्ममरणसे निश्चिन्त न करनेवाले तुच्छ फलोंको पानेके लिये वेदमन्त्रोंका पठन-पाठन करना ऐसा ही है जैसा दुग्धामृत त्याग करके गोबरके लिये कामधेनुकी सेवा करना!

प्राचीन कालसे एक ऐसा वैज्ञानिक सम्प्रदाय चला आ रहा है जो वेदमन्त्रोंका आध्यात्मिक व्याख्यान करनेमें प्रबल युक्तियोंका आश्रयण करता है। इसीलिये मन्त्रोंका वास्तविक अर्थ आत्मापरक माना जाता है। महर्षि यास्कने अपने निरुक्तमें इस विषयपर बड़ा मनोरञ्जक और प्रभाव-शाली लेख लिखा है। जो लोग निरुक्ततक नहीं पहुँच सकते वह यजुर्वेदके कठोपनिषद्की उस प्रतीकपर ध्यान दें जिसमें स्पष्ट कहा है कि सारे वेद जिस पदका बारबार

व्याख्यान करते और अनेक प्रकारसे समझानेका प्रयत्न करते हैं यह—ब्रह्म है, आत्मा है, ओंकार है, ॐ है। यथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
(कठ० १ । २ । १५)

उपर्युक्त मन्त्रका तात्पर्य ऋग्वेदमें दूसरे स्थानपर भी स्पष्ट है। यथा—

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥
(१० । १२५ । ४)

'जो प्राण धारण करता है तथा जो विचारता, देखता है और जो सुनता भी है वह मेरा (ही दिया हुआ) अन्न खाता है। जो मुझको नहीं मानते, वह नाशको प्राप्त होते हैं। सुननेवाले! (कान खोलकर) सुन ले, तेरे बड़े कल्याणकी बात कह रहा हूँ—इसपर पूरा-पूरा विश्वास रख।'

परमात्मदेव हमारे कल्याणकी बात कहते हैं। विशेषकर उन लोगोंसे कहते हैं जो सुनने-सुनानेवाले हैं, जिनके कानोंमें सुनने और सुनकर समझनेकी शक्ति है। जो लोग परमात्माके नियमोंमें नियन्त्रित हुए सुख-दुःख भोगते हैं, ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा कर्मेन्द्रियोंसे कार्य सिद्ध करते हैं—वे लोग परमात्माके राज्यमें रहते हुए, परमात्माके दिये हुए शरीर, इन्द्रिय और नाना प्रकारके भोगोंको भोगते हुए भी यदि भगवान्‌को भुलाते हैं अथवा परमेश्वरसे विमुख होते हैं तो निश्चय रक्खो कि वे अपने हाथों अपना सत्यानाश कर रहे हैं। वेद कहता है कि—जो ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं करता वह नाशको प्राप्त होता है। दोनों मन्त्रोंसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मदर्शनसे मोक्ष प्राप्त होता है अथवा ब्रह्मका निराकरण करनेसे नाश होता है। इन्हीं वैदिक शब्दोंपर विचार करते हुए महर्षिने समाधिद्वारा कैसा सुन्दर भाव पाया था। देखिये—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २ । ५)

'यदि मनुष्यजीवनमें जीते-जी यह जान लिया कि 'ब्रह्म क्या है' तब तो अच्छा हुआ, परन्तु यदि नहीं जाना तो याद रक्खो बड़ा भारी विनाश (नुकसानका काम) हुआ। धीर पुरुष तो प्रत्येक जड-जंगममें ब्रह्मको व्यापक जानकर मरनेके पश्चात् अमृतपदको प्राप्त कर लेते हैं (शरीर त्यागकर फिर जन्म-मरणमें नहीं आते)।'

ऋषि हमें समझाते हैं कि ब्रह्मदर्शनके लिये मनुष्य-जीवनका ठीक-ठीक उपयोग करो और यदि मार्ग कठिन प्रतीत हो तो उत्साहहीन मत हो जाओ किन्तु अधिक-से-अधिक अदम्य उत्साह और प्रबल धीरताके साथ मोक्ष-धामकी ओर यात्रा निरन्तर जारी रक्खो। कहीं ऐसा न हो कि अमूल्य अवसर हाथसे निकल जावे और जन्ममरणका प्रवाह अपने वेगमें तुमको पुनः लपेट ले जावे!

यदि हम जन्ममरणके प्रवाहको तोड़ना चाहें तो हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम प्राणपणसे अपने वर्तमान जीवनसे लाभ उठावें और ब्रह्मविद्याका उपार्जन करें। न केवल उपार्जन ही करते रहें किन्तु उसपर आचरण करें और अत्यन्त पुरुषार्थद्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार करें। क्योंकि मोक्षकी प्राप्ति केवल ब्रह्मदर्शनसे ही हो सकती है और किसी उपायसे नहीं। जैसा कि यजुर्वेदके पुरुषसूक्तमें भी कहा गया है कि—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(३१ । १८)

'उस परम पुरुषका साक्षात्कार करके ही मृत्युको लाँघ सकते हो, (याद रक्खो!) विश्राम पानेके लिये और कोई मार्ग—उपाय नहीं है।'

इतनेसे भलीभाँति यह जाना जा सकता है कि ब्रह्म-ज्ञान—ब्रह्मविद्या—आत्मसाक्षात्कार या परमेश्वरका दर्शन ही एक ऐसा उपाय है जिसका सहारा लेकर हमलोग अनादि संसारचक्र या जन्म-मरण-प्रवाहसे निकलकर सच्चा विश्राम पा सकते हैं अथवा मोक्षका महान्—अपरिमित सुख प्राप्त कर सकते हैं।

सचमुच जिन-जिन महापराक्रमी आत्मवीरों—महात्माओं-ने प्राणोंकी बाज़ी लगाकर—दिनरात एक करके—प्रबल पुरुषार्थ किया है, निश्चयसे उन्होंने ही मोक्ष प्राप्त किया है। उन्होंने जीवनकालमें ही वह आनन्द प्राप्त किया है जो न तो शरीरका विषय है और न मन तथा बुद्धिद्वारा प्रकाशित अथवा उपार्जित ही किया जा सकता है!

इसीलिये वेद, उपनिषद् और व्याख्यान ग्रन्थोंमें ऐसे ब्रह्मज्ञानी (ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले) की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है और स्तुति वाक्योंसे उसका परम आदर किया गया है। ब्रह्मज्ञानी आचार्यको वेदभगवान् कितना सम्मान देता है—इस बातका यदि पता लगाना हो तो शुक्ल यजुर्वेदकी शरण लीजिये और ब्राह्मणग्रन्थोंसे उसका व्याख्यान पूछिये, देखिये, संहिता क्या कह रही है—

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान्
गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥

(यजुर्वेद ३२। ९)

'गन्धर्व (वेदविद्याका धारण करनेवाला) विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता) उस अमृत ब्रह्मका प्रवचन—खोल-खोलकर व्याख्यान करे जो ब्रह्म गुहा (बुद्धि या ब्रह्माण्ड) में स्थित है और जो स्वरूपसे सत् तथा आनन्दमय है। उस ब्रह्मके तीन पद गुहामें निगूढ़ (अत्यन्त गुप्त) हुए हैं उन पदोंको जो जान गया है वह पिताका भी पिता है।'

ब्रह्मके तीन पदोंका वर्णन करना यद्यपि इस लेखका उद्देश्य नहीं है। वेदमें कई स्थानोंपर ब्रह्मके पदोंका और विष्णुके पाद-विक्रमका सविस्तर वर्णन है तथापि हम इतना इस समय संकेत कर सकते हैं कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयको ब्रह्मके तीन पद कहा गया है। अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका वर्णन किया गया है। विशेष बात जिसके लिये यह मन्त्र उद्धृत किया गया है वह यह है कि ब्रह्मज्ञानी महात्माको 'पिताका भी पिता' कहा गया है। पिताका पिता कहनेसे तीन अर्थोंका बोध होता है और तीनों अर्थोंकी दृष्टिसे ब्रह्मज्ञानी पिताका पिता कहलानेका अधिकारी है। यथा—

(क) अपने पिताका भी पिता। ब्रह्मज्ञानीका पिता यदि ब्रह्मविद्यासे शून्य है अथवा आत्मज्ञानसे विमुख होकर सांसारिक भोगोंमें व्यस्त है तो ऐसे पिताको वैराग्यका उपदेश देकर और ब्रह्मविद्याका व्याख्यान समझाकर ब्रह्मज्ञानी पुत्र उसका कल्याण कर सकता है। ऐसा करनेसे पिता शिष्य और पुत्र आचार्य होगा—शिष्य-आचार्यका सम्बन्ध पिता-पुत्रके समान है। अतः ब्रह्मज्ञानी पुत्र अपने पिता (चाचा, ताया, मामा, नाना, माता, नानी, चाची, ताई—आदि बड़े बूढ़ों) को इस नाते 'पुत्र' कह सकता है और 'सुनो वत्स!' इस प्रकार कहनेका अधिकारी है। यह है ब्रह्मविद्याका प्रताप जिससे पुत्र 'पिताका भी पिता' बन जाता है। यदि सन्देह हो तो एक छोटा-सा प्रमाण देते हैं—सुनिये!—इससे आपको पता लग जायगा कि ब्रह्मविद्याका उपदेश करने-वाला विद्वान् व्यक्ति सच्चा पिता क्योंकर कहला सकता है?

सामवेदके ताण्ड्य महाब्राह्मणमें एक प्राचीन ऐतिहासिक घटनाका वर्णन किया गया है जिसमें आंगिरस ऋषिने अपने पिताओंको 'पुत्र' कहकर पुकारा था। गाथा इस प्रकार है—

शिशुर्वै आंगिरसः मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्, स अध्यापयन् पितॄन् पुत्रकेत्यामन्त्रयत। तं पितरोऽब्रुवन्नधर्मं करोषि यो नः पितॄन् सतः पुत्रकेत्यामन्त्रयसे। सोऽब्रवीदहं वाव पिता यो मन्त्रकृदस्मीति। ते देवेष्वपृच्छन्त। ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति। तद्वै सोदजयत्॥

(ताण्ड्य ब्राह्मण १३। ३। २४)

'अंगिराका पुत्र छोटी आयुमें ही ऐसा विद्वान् हो गया कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंसे भी आगे बढ़ गया और वेदका बड़ा रोचक और वैज्ञानिक व्याख्यान करनेमें प्रसिद्ध हो गया। उसने वेदका व्याख्यान करते हुए अपने पिता आदि बड़े वृद्धजनोंको 'पुत्रो!' कहकर सम्बोधन कर दिया। पिता आदि वृद्धजनोंको यह दुर्व्यवहार बहुत बुरा लगा। उनसे सहन न हुआ और वे कहने लगे—तू वेदवेत्ता होकर अधर्म करता है जो हम पिता आदि बड़े बूढ़ोंको 'पुत्रो' कहकर सम्बोधन करता है, यह सुनकर आंगिरसने कहा कि निश्चयसे मैं पिता हूँ क्योंकि मै मन्त्रोंका द्रष्टा और व्याख्याता हूँ परन्तु बड़े लोगोंकी इससे सन्तुष्टि नहीं हुई। वह इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेके लिये देवोंके पास गये और सब वृत्तान्त सुनाकर व्यवस्था पूछने लगे। देवोंने पूर्वापर विचार-कर यह व्यवस्था दी कि—यह (आंगिरस) निश्चयसे पिता ही है क्योंकि यह मन्त्रद्रष्टा वैदिक तत्त्वज्ञानका प्रभाव-

शाली व्याख्यान करनेवाला है। देवोंकी ऐसी व्यवस्थासे आंगिरसका पक्ष सत्य सिद्ध हो गया और इस प्रकार आंगिरसकी जीत हो गयी।'

यह कथा इतनी प्रसिद्ध और प्रामाणिक है कि राजर्षि मनुने भी अपने नियमोंमें इसको उद्धृत किया है और अन्तमें यह कहा है कि—

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

अर्थात् युवा भी जो विद्वान् है देवोंने उसीको बड़ा (पूजनीय) माना है।

(ख) दूसरा अर्थ है—दूसरोंके पिताजनोंका पिता। पूर्वोक्त युक्तिप्रमाणसे ही यह भी सिद्ध ही है कि ब्रह्मज्ञानी दूसरोंके वृद्धजनोंका भी अपने तत्त्वज्ञानसे उद्धार कर सकता है और इसीलिये उनका भी पिता कहलानेका अधिकारी है। एक प्रमाण इस विषयपर भी प्रकाश डाल रहा है। देखिये, अथर्ववेदकी पिप्पलाद शाखामें कैसा स्पष्ट वर्णन किया गया है! गाथा इस प्रकार है—ब्रह्ममें अत्यन्त श्रद्धा रखनेवाले भारद्वाज, सत्यकाम, गार्ग्य, आश्वलायन, कात्यायन और भार्गव ये छः प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी ऋषि एकत्रित होकर बड़े ही विनीत भावसे महर्षि पिप्पलादके चरणोंमें उपस्थित हुए और प्रार्थना करने लगे कि 'भगवन्! हमें ब्रह्मज्ञान दीजिये और हमारी शंकाओंका कृपा करके समाधान कर दीजिये!' महर्षिने उनकी योग्यता देखकर ब्रह्मविद्यासम्बन्धी नियमोंका प्रारम्भिक उपदेश किया और कुछ दिन बाद उनके गूढ़ प्रश्नोंका भी विस्तारसहित समाधान कर दिया। उस अलौकिक व्याख्यानको सुनकर उन तत्त्वज्ञानी ब्रह्मनिष्ठोंको जो आनन्द हुआ और ब्रह्मवेत्ता महर्षि पिप्पलादके चरणोंमें उनकी जो श्रद्धा उत्पन्न हुई और जिन शब्दोंमें उन्होंने कृतज्ञता प्रकाशित की वह इतिहासके पृष्ठोंपर आज भी चमक रही है। वे सुवर्णमय शब्द ये हैं, ध्यान दीजिये!—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥

(प्रश्नोपनिषद् ६।८)

'उन्होंने महर्षिकी श्रद्धापूर्वक पूजा की और अत्यन्त प्रतिष्ठा करते हुए यह बोले कि—भगवन्! आप हमारे सच्चे पिता हैं। भगवन्! आपने हमको अविद्यासागरसे पार कर परले पार पहुँचा दिया है। हमारा बेड़ा पार कर दिया है—हमें कृतार्थ कर दिया है। आप-जैसे परम ऋषियोंको हमारा नमस्कार है, बारबार नमस्कार है।'

अविद्यान्धकारसे पार लगानेवाले तत्त्ववेत्ताको 'पिता' माननेमें भारद्वाज आदि ऋषियोंका प्रमाण पर्याप्त है और यह सिद्ध करता है कि ब्रह्मज्ञानी दूसरेके पिता आदिका भी पिता कहलानेका अधिकारी है।

(ग) तीसरे अर्थकी दृष्टिसे भी 'पिताका पिता' कहना ठीक है। पिता नाम रक्षकका भी है। अतः जो रक्षकका भी रक्षक हो वह—पिताका पिता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे बड़े-बड़े रक्षकोंकी भी रक्षा करता है। जो पिता, माता अथवा धनी या राजा आदि सन्तानों, निर्धनों और प्रजा आदिकी रक्षा करते हैं उनकी भी ब्रह्मज्ञान देकर मृत्यु आदिसे रक्षा करनेवाला ब्रह्मज्ञानी है। अतः वह पिताका भी पिता या रक्षकका भी रक्षक है। अथवा रक्षकोंका रक्षक ब्रह्म है। और ब्रह्मज्ञानीको स्वयं उपनिषद्ने भी ब्रह्म ही माना है। यथा—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' इत्यादि।

उपर्युक्त विचारसे ब्रह्मविद्या और उसकी आवश्यकतापर यत्किञ्चित् प्रकाश डालनेके पश्चात् अब हमारा यह कर्तव्य है कि हम यह भी जानें कि—ब्रह्मविद्या किस प्रकारसे प्राप्त की जा सकती है? ब्रह्मविद्याके लिये क्या-क्या आवश्यक नियम हैं? और ब्रह्मविद्याके अधिकारी कैसे होने चाहियें?

वेद और प्राचीन इतिहास इस विषयमें भी हमारी प्रचुर सहायता करनेको तैयार हैं और हमें भलीभाँति समझानेमें समर्थ हैं। आप उनका स्वाध्याय करके देखें कि प्राचीन कालमें ब्रह्मज्ञानी लोग कितने उदार, कितने धर्मात्मा, कितने सदाचारी और कितने मननशील, सत्यवादी, सत्यप्रिय, तपस्वी, तितिक्षु, ब्रह्मचर्यसम्पन्न और वैराग्यवान् होते थे तथा कितने तत्त्ववेत्ता, कितने ब्रह्मनिष्ठ, कितने ब्रह्मपरायण और कितने बड़े वैदिक विद्वान् हुआ करते थे। यह उन शुभ गुणोंका ही प्रताप था कि चक्रवर्ती महाराजा भी राजसिंहासन खाली कर देते थे और ब्रह्मवेत्ता ऋषियोंके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया करते थे तथा बड़े-से-बड़े विद्वान् भी नम्र होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार करते थे। आजकलके मर्यादाहीन समयमें—जब कि कोई ब्रह्मविद्याका ऋषि नहीं है—यों चाहे कोई भी अपनेको ऋषि, महर्षि, वेदज्ञ, ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्म मान ले अथवा निकम्मे, मूर्ख और विषयलम्पट, पाखण्डी शिष्यवर्गसे स्वार्थपूर्ण

आदर पा ले और 'देवी ब्रह्मविद्या' का द्रौपदीके समान सरे बाज़ार अपमान करे—तो कहिये उसको इस दुष्कृत्यसे कौन रोक सकता है ?

आचार्य और शिष्य किस योग्यताके होने चाहियें—इस विषयमें महर्षि पतञ्जलिने अपने 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निकमें तथा महर्षि यास्कने अपने 'निरुक्त' के नैगम काण्डमें वेदके कुछ मन्त्र संग्रह किये हैं और उनके आधारपर अपने बहुमूल्य विचार भी प्रकट किये हैं। हमारी इच्छा है कि इस स्थानपर उनका दिग्दर्शन करा दिया जावे। देखिये—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥
(ऋग्वेद १० । ७१ । ७)

'जिसने वेदवक्ता कल्याणकारी मित्र (आचार्य) को त्याग दिया है ऐसे पुरुष (शिष्य) का वेदमें भी कोई भाग नहीं है। यदि सुनता है तो व्यर्थ सुनता है क्योंकि वह जानता ही नहीं कि कल्याणका मार्ग कौन-सा है।'

तात्पर्य यह कि, आचार्य वेदका पूर्ण विद्वान् होना चाहिये और शिष्यको चाहिये कि ऐसे विद्वान्की शरणमें रहकर ज्ञान उपार्जन करे।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
(ऋग्वेद १० । ७१ । ४)

'एक (मूर्ख) तो मन्त्रोंको देखता (पढ़ता) हुआ भी नहीं देखता (अर्थ नहीं समझता)। और दूसरा (अज्ञानी) वचनोंको सुनता हुआ भी नहीं सुनता (वास्तविक अर्थ नहीं जानता)। परन्तु एक ओर तो यह हैं और दूसरी ओर एक और (सुयोग्य शिष्य) है जिसके लिये विद्या अपना स्वरूप (वास्तविक रहस्य) प्रकाशित कर देती है जैसे पति-की इच्छावाली सुन्दर स्त्री अपने पतिको अपना स्वरूप दिखाती है।'

तात्पर्य यह कि, शिष्य सुयोग्य और विद्वान् होता हुआ अधिकारी होना चाहिये। अनधिकारी होगा तो विद्या कभी उससे प्रसन्न होकर प्रेम नहीं करेगी। यदि वह विद्याको स्पर्श करेगा तो दुराचारी समझा जायगा।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवानफलामपुष्पाम् ॥
(ऋग्वेद १० । ७१ । ५)

'एक वह (आचार्य) है जिसको (ब्रह्मकी) मित्रता-में पक्के अनुभव (स्थितप्रज्ञ) वाला कहते हैं। ऐसे विद्वान् (के अनुभव) को बड़े-बड़े जानकार भी नहीं पहुँच सकते। और इधर देखिये, एक ओर (झूठा गुरु) है जो पाखण्ड और दम्भसे निर्दुग्धा गौके पीछे-पीछे फिरता है जिसने फल (अनुभव) और फूल (अर्थज्ञान) से रहित वाणीको सुना है।'

तात्पर्य यह कि, आचार्य वह है जो ब्रह्मनिष्ठ है तथा महान् अनुभवी है और जिसमें पाखण्डका नामतक भी नहीं है और इसके साथ ही वेदका प्रकाण्ड विद्वान् भी है। और सुनिये—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य
वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञः स सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
(निरुक्त १ । १८)

'निस्सन्देह वह गदहा है जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं समझता। जो वेदका यथार्थ अर्थ जानता है वह बड़े-से-बड़े कल्याणको प्राप्त करता है, और ज्ञान (ब्रह्म-साक्षात्कार) द्वारा पापोंको समूल नष्ट करके निरतिशय सुख (मोक्ष) को प्राप्त होता है।'

इत्यादि अनेकों मन्त्रोंका स्वाध्याय करके ऋषि-मुनियों-ने विद्याके उपदेष्टा तथा उपदेश्य वर्गके लिये नियमोंका निर्माण किया है जो वैदिक साहित्यमें इतस्ततः बिखरे पड़े हैं और मनुस्मृति आदि स्मृतियों और श्रौत तथा गृह्य-सूत्रोंमें वर्णन किये गये हैं। लेखके आकार-प्रकारका विचार करते हुए उपनिषद्के कुछ प्रमाणोंपर ही सन्तोष करना उचित प्रतीत होता है क्योंकि ब्रह्मविद्याका सीधा सम्बन्ध उपनिषदोंसे ही है। उपनिषदोंमें जहाँ-जहाँ आचार्यों और शिष्योंकी योग्यताका वर्णन हुआ है वहाँपर खुले शब्दोंका प्रयोग किया गया है जिससे अधिक व्याख्यानका अवकाश नहीं रहा है। कुछ स्पष्ट प्रमाण नीचे उद्धृत किये जाते हैं जिनसे स्वतः पता लग जायगा कि ब्रह्मविद्याका आचार्य कैसा होना चाहिये और शिष्यमें कौन-कौन-से गुण होने चाहिये। देखिये ऋषि क्या कहते हैं!

(१) परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥
(मुण्डक० १ । २ । १२-१३)

'(महर्षि आङ्गिरस, प्रसिद्ध गृहस्थ शौनकको समझाते हुए उपदेश करते हैं कि) ब्रह्मके जिज्ञासुको चाहिये कि कर्मसे प्राप्त होनेवाले लौकिक (तथा पारलौकिक) भोगोंकी भलीभाँति परीक्षा करनेके पश्चात् निर्वेद (वैराग्य-संन्यास) को प्राप्त हो जाय क्योंकि कर्मसे प्राप्त न हो सकने योग्य (मोक्ष) को कर्मसे कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता है । अतः उस मोक्षविज्ञान (ब्रह्मविद्या) की प्राप्तिके लिये वह विरक्त पुरुष अत्यन्त नम्र होकर श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरुके शरणमें उपस्थित होवे । वह विद्वान् (आचार्य) शरणमें आये हुए शान्तचित्त और जितेन्द्रिय विरक्त शिष्यके (कल्याणके) लिये उस ब्रह्मविद्याको ठीक-ठीक वैसा ही (बिना कुछ छिपाये) सत्य-सत्य कह दे जिससे उसने स्वयं ब्रह्मको अविनाशी और व्यापक आत्मा जाना है ।'

इस प्रतीकसे यह सिद्ध होता है कि—ब्रह्मविद्याका उपदेष्टा गुरु श्रोत्रिय अर्थात् वेदशास्त्रका पारङ्गत विद्वान् और ब्रह्ममें निष्ठा—अत्यन्त श्रद्धा रखनेवाला अनुभवी महात्मा हो और सत्यवादी हो—दम्भी या पाखण्डी नहीं । और शिष्य ऐसा हो जो संसारके भोगोंको हृदयसे दुःखका कारण अनुभव करता हो, पूरा-पूरा विरक्त हो, मोक्षका अभिलाषी हो, जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी हो और शुद्ध हृदय-वाला हो, इसके साथ ही आचार्यमें अत्यन्त भक्ति रखनेवाला भी हो ।

**(२) तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।**
(मुण्डक० १ । २ । ११)

'जो तप और श्रद्धासे युक्त होकर अरण्य (एकान्त स्थान) में निवास करते हैं और मन तथा इन्द्रियोंको शान्त करके विद्वान् (ज्ञानी) हुए भिक्षासे निर्वाह करते हैं ।'

इस प्रतीकमें कहा गया है कि ब्रह्मविद्याके अधिकारी वही लोग हैं जो श्रद्धालु, तपस्वी, एकान्तवासी और भिक्षा-हारी होते हुए विरक्त तथा विद्वान् हैं ।

(३) तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥
(प्रश्न० १ । १५-१६)

'यह ब्रह्मलोक (मोक्षधाम) केवल उन लोगोंके लिये है जो तपस्वी और ब्रह्मचारी हैं तथा जिनके (हृदयमें) सत्य प्रतिष्ठित है । निस्सन्देह पुण्यमय (परम पवित्र) ब्रह्मलोक उन्हीं लोगोंके लिये है, जिनमें न तो छल, कपट और कुटिलता है और न झूठ है तथा न जिनमें माया (अज्ञान) ही है ।'

इस मन्त्रसे स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्याके अधिकारीमें ब्रह्मचर्य और सरलताका होना भी अत्यन्त आवश्यक है ।

(४) त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः । (कैवल्य० १ । ४)

'उन्होंने (जिज्ञासु—मुमुक्षुओंने) एक त्यागसे ही अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त कर लिया था ।' प्रजापति कहते हैं कि जिज्ञासुमें 'त्याग' का होना भी अनिवार्य है ।

(५) तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति ।
(बृहदारण्यक० ४ । ४ । २३)

'इसलिये (आत्माको अविनाशी) जानता हुआ शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान (दृढ़ निश्चय) से युक्त होकर अपने आपमें ही आत्मा (ब्रह्म) का साक्षात्कार करे और सबको आत्मा (ही है–ऐसा) जाने ।'

इस वाक्यमें महर्षि याज्ञवल्क्यने स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्मविद्याके अधिकारीमें शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधानका होना अत्यन्तावश्यक है । न केवल यही अपितु मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्षकी प्रबल इच्छा भी आवश्यक है । यथा कृष्ण यजुर्वेदकी श्वेताश्वतर शाखामें प्रार्थना है—

(६) मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (६ । १८)

'मैं मोक्ष चाहता हुआ आपकी शरण आ पड़ा हूँ (भगवन् ! मुझे अङ्गीकार कीजिये) ।'

(७) ब्रह्मसꣲस्थोऽमृतत्वमेति । (छान्दोग्य० २ । २३ । १)

'ब्रह्ममें अचल निष्ठा रखनेवाला (ही) मोक्ष प्राप्त करता है।'

अतः ब्रह्मनिष्ठाकी भी आवश्यकता है। इसीलिये महर्षि व्यासने भी कहा है कि—

(८) तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्। (वेदान्तसूत्र १।१।७)

'उस ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवालेको ही मोक्षका उपदेश (देने या लेने) का अधिकार है।'

(९) कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ० २।१।१)

'मोक्षका अभिलाषी कोई होगा जो धीर बनकर जितेन्द्रियत्व धारण करे और आत्मदर्शन पावे।' इसीलिये भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है कि—

(१०) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।
(२।२८)

'यमनियमादि योगांगोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धि क्षीण हो जाती है और ज्ञानका प्रकाश हो जाता है यहाँतक कि विवेकख्याति भी प्राप्त हो जाती है।'

और देखिये, महर्षि गौतम अपने न्यायदर्शनमें कहते हैं कि—

(११) तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः। (न्यायसूत्र ४।२।४३)

'आत्मसाक्षात्कारके लिये यम-नियमोंके द्वारा आत्मसंशोधन करो अथवा अध्यात्मशास्त्र (उपनिषद्) में वर्णन की हुई विधियोंसे या योगसे योग्यता सम्पादन करो।'

(१२) यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
(श्वेता० ६।२३)

'जिसकी परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वरमें है वैसी ही गुरुमें है (ऐसे अधिकारीको कथन किये हुए उपदेश सफल होते हैं)।'

उपर्युक्त प्रमाणोंसे ऋषियोंका स्पष्ट आशय है कि ब्रह्मविद्यासे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिमें और नहीं तो, कम-से-कम—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, विद्वत्ता, धैर्य, तप, सत्य, जिज्ञासा, मुमुक्षुत्व, ब्रह्मचर्य, ब्रह्मनिष्ठा, त्याग, एकान्तवास और गुरुभक्ति–ये गुण तो अवश्य ही होने चाहिये। यही वह आवश्यक गुण हैं जिनकी उपनिषदों और गीतामें स्थान-स्थानपर व्याख्या की गयी है। यही वह गुण हैं जिनके धारण करनेसे ऋषि, मुनि और ब्रह्मज्ञानी बना जा सकता है, यही वह गुण हैं जिनसे जीते-जी मोक्ष प्राप्त होता है, यही वह गुण हैं जिनके धारण करनेसे मनुष्य-जन्मका उद्देश्य पूर्ण होता है। अधिक क्या यही गुण हैं–जिनसे ब्रह्मत्वकी योग्यता प्रकाशित होती है और 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' का रहस्य समझा जा सकता है।

वर्तमान कालके कलुषित और व्यभिचार-दोषदूषित कपटी ज्ञानियोंसे पीछा छुड़ाकर प्राचीन ऋषियोंपर दृष्टि डालो–देखो ! वह कैसे पुरुषार्थी, निर्दोष और तपस्वी थे। आओ, हम भी वैसे ही बनें ! और उनके चरण-चिह्नोंपर चलें।

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥
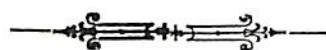
रंगभूमिमें कलाधर कृष्ण

मल्लोंको अशनि तुल्य नरोंको नरेंद्र सम, मधुरा वनिताओंको मूर्तिमान मंजु काम।
गोपोंको स्वबंधु सम, शासक खल भूपोंको, निज पितु जननीको शिशु नयनाभिराम॥
मृत्यु भोजपतिको औ विराट अज्ञानियोंको, योगियोंको परम तत्त्व शुद्ध कैवल्यधाम।
वृष्णियोंको इष्टदेवस्वरूप विदित हुए, कंस रंगभूमि मध्य साग्रज मनोज्ञ श्याम॥

—विनायक राव भट्ट

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

अज्ञानी जीवकी निन्दा

हे ब्राह्मणो ! इस लोकमें मैंने कितने ही पुरुष सफेद घरके समान देखे हैं। भाव यह है कि जैसे सफेद घर ऊपरसे रमणीक और भीतर जड़रूप होता है, इसी प्रकार कितने ही पुरुष ऊपरसे रमणीक दीखते हैं और भीतरसे तमोगुणयुक्त जड़रूप होते हैं । इस लोकमें मैंने बहुत-से पुरुष भारवाही वृषभके समान देखे हैं। भाव यह है कि जैसे वृषभ अपने प्रयोजन विना ही भार उठाता है, इसी प्रकार कितने ही शास्त्रको पढ़कर अन्य लोगोंको शास्त्रका उपदेश करते हैं, किन्तु अपने मनमें किञ्चित् भी शास्त्रके अर्थको धारण नहीं करते। इसलिये वे व्यर्थ ही शास्त्रका भार उठानेवाले हैं। इस लोकमें कितने ही पुरुष मैंने शुक-सारिकाके समान देखे हैं। भाव यह है कि जैसे शुक-सारिका पक्षी सुन्दर शब्दोंका उच्चारण करते हैं, किन्तु उन शब्दोंका अर्थ नहीं जानते, इसी प्रकार कितने ही पुरुष सुन्दर शब्दोंका उच्चारण करते हैं, किन्तु शब्दोंका अर्थ नहीं जानते । हे ब्राह्मणो ! इस लोकमें कितने ही पुरुष विशाल नेत्रवाले होकर भी अन्धे हैं। भाव यह है कि जैसे अन्धा अत्यन्त समीपवर्ती पदार्थको भी नहीं देखता, इसी प्रकार कितने ही पुरुष अत्यन्त समीप हृदयदेशमें स्थित आत्माको भी नहीं जानते । इस लोकमें कितने ही पुरुष चित्रलिखित मूर्तिके समान देखनेमें आये हैं। भाव यह है कि जैसे चित्रलिखित मूर्ति देखनेमें सुन्दर लगती है किन्तु किसी कार्यके करनेमें समर्थ नहीं होती, इसी प्रकार कितने ही पुरुष देखनेमें सुन्दर लगते हैं किन्तु कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते । हे ब्राह्मणो ! कितने ही पुरुष मैंने कुपथ्य भोजनके समान देखे हैं। भाव यह है कि कुपथ्य भोजन प्रथम आनन्दका हेतु प्रतीत होता है और पीछे दुःखका कारण होता है, इसी प्रकार कितने ही पुरुष सभामें लोगोंको सत्य अर्थका उपदेश करके कुछ प्रसन्नता उत्पन्न करते हैं और एकान्तमें असत्य अर्थका उपदेश करके दुःखके कारण होते हैं। इस लोकमें कितने ही पुरुष मैंने बाघके समान देखे हैं। भाव यह है कि बाघ मृगादि पशुओंको मारता है, इसी प्रकार कितने ही पुरुष शरीर, मन तथा वाणीसे सर्वदा जीवोंकी हिंसा करते हैं। कितने ही पुरुष मैंने मदिराके पानसे मदोन्मत्त वानरके समान देखे हैं। भाव यह है कि जैसे मदिराके पानसे मत्त वानर अत्यन्त चंचल होता है, इसी प्रकार कितने ही पुरुष अज्ञानरूपी मदिराके पानसे शास्त्रविरुद्ध अनेक चेष्टाएँ करते हैं।

हे ब्राह्मणो ! इस लोकमें कितने ही पुरुष कामरूपी शत्रुके वश हुए देखनेमें आते हैं, कितने ही क्रोधरूपी अग्निसे जलते हुए दिखायी देते हैं, कितने ही लोभके वश हुए अनादरके पात्र होते हुए देखनेमें आये हैं। वेद और वेदान्तको जाननेवाले पुरुष भी सत्त्व,रज तथा तम इन तीन गुणवाले होते हैं। इसलिये मैंने उनको विषयोंमें रागवाला देखा है। देव और पुरुषोंके स्वप्न तथा जाग्रत्में कुछ भी विलक्षणता नहीं है। भाव यह है कि जाग्रत्में

निद्राका विरोधीपना स्वप्नसे विलक्षणरूप है। तीन गुणवाले अभिमानी देवोंके जाग्रत्‌में यह विलक्षणता सम्भव नहीं है क्योंकि देवताओंने अद्वितीय आत्माके ज्ञानसे अपने अज्ञानकी निवृत्ति नहीं की है। जबतक जीवको अद्वितीय आत्माका ज्ञान नहीं होता, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। तीन गुणवाले अभिमानी देवों और पुरुषोंको ब्रह्मका ज्ञान अज्ञानरूपी निद्रामें ही होता है क्योंकि ज्ञानसे उनके मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। कितने ही पुरुष व्याकरण पढ़ते हैं, व्याकरणसे पदार्थोंके ज्ञानमें उन पुरुषोंकी बुद्धि कुशल होती है। कितने ही मीमांसाशास्त्रका पठन करते हैं, मीमांसाशास्त्रसे वाक्यार्थके ज्ञानमें उन पुरुषोंकी बुद्धि कुशल होती है। कितने ही न्यायशास्त्र पढ़ते हैं, न्यायशास्त्रसे प्रमाणज्ञानमें उनकी बुद्धि कुशल होती है। कितने ही धर्मशास्त्र पढ़ते हैं, धर्मशास्त्रसे धर्माधर्मके ज्ञानमें उन पुरुषोंकी बुद्धि कुशल होती है। इसी प्रकार अन्य शास्त्र पढ़नेसे उन-उन शास्त्रोंके अर्थमें उनकी बुद्धि कुशल देखनेमें आती है किन्तु अद्वितीय ब्रह्मके प्रतिपादक वेदान्तशास्त्रके अर्थमें उनकी बुद्धि कुशल देखनेमें नहीं आती। इस लोकमें जितने पुरुषोंको वेदान्तशास्त्रके अर्थका ज्ञान है, वह ज्ञान भी सम्पूर्ण नहीं है, किन्तु यत्किंचित् अर्थका ही ज्ञान है, इस थोड़ेसे अर्थके ज्ञानसे संशयकी निवृत्ति नहीं होती। हे ब्राह्मणो! जिनको सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रके अर्थका ज्ञान है, किन्तु उनमें काम-क्रोधादि ज्ञानके प्रतिबन्धक हैं, उन काम-क्रोधादिके प्रतिबन्धके कारण उन पुरुषोंके मूलाज्ञानकी निवृत्ति वह ज्ञान नहीं कर सकता। जैसे अग्निके सम्बन्धसे नाश हुई शक्तिवाला भुना हुआ दाना फल उत्पन्न नहीं करता, इसी प्रकार काम-क्रोधादि प्रतिबन्धयुक्त ज्ञान पुरुषके मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं करता।

अहङ्कारमें ज्ञानकी मुख्य प्रतिबन्धकता

काम-क्रोधादिकी अपेक्षासे अहङ्कारमें मुख्य प्रतिबन्धकता है। जैसे अपराधी चोरका बन्धन गृहस्तम्भके सहारे रहता है और उस स्तम्भमें एक मध्यका स्तम्भ मुख्य होता है और दूसरे कोनोंके स्तम्भ गौण होते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी जीवका बन्धनगृह यह संसार काम-क्रोधादि स्तम्भोंके आश्रय रहता है। इन स्तम्भोंमें भी अहङ्कार तो बीचका मूल स्तम्भ है और काम-क्रोधादि कोनोंके स्तम्भ हैं। जैसे कोनोंके स्तम्भोंका नाश होनेपर भी जबतक मूल स्तम्भ विद्यमान रहता है, तबतक घरका नाश नहीं होता, इसी प्रकार काम-क्रोधादि निवृत्त होनेपर भी जबतक अहङ्कार रहता है, तबतक संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये अहङ्कार आत्मज्ञानमें मुख्य प्रतिबन्धक है।

अहङ्कारकी व्यापकता

हे ब्राह्मणो! यह अहङ्कार सब जीवोंमें रहता है। अहङ्कारसे रहित कोई भी जीव मैं नहीं देखती। क्योंकि जनक राजाके इस यज्ञमें सब देशोंके विद्वान् एकत्र हुए हैं। उनमें कितने ही ब्राह्मण अकेले कामदोषसे रहित हैं, कुछ काम-क्रोध दोनों दोषोंसे रहित हैं, कुछ ब्राह्मण काम, क्रोध, लोभ तथा मोह इत्यादि अनेक दोषोंसे रहित हैं तो भी अहङ्कारसे रहित मैं किसी ब्राह्मणको नहीं देखती। इसलिये अहङ्कार सर्वत्र व्यापक है।

अहङ्कारमें दुर्विज्ञेयता

हे ब्राह्मणो! अहंकारके सिवा जितने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष हैं, उनमें बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रके प्रमाणसे तथा अनुभवसे दुःखकी कारणता जानकर उनको त्याग सकता है किन्तु अहंकारमें जो दुःखकी कारणता है, वह

शास्त्रके प्रमाणसे अथवा अनुभवसे जानी नहीं जा सकती, क्योंकि सर्व शास्त्रके वेत्ता विद्वान् पुरुषमें भी अहंकार देखनेमें आता है। यदि शास्त्रके प्रमाणसे अथवा अनुभवसे अहंकारमें दुःखकी कारणता जान ली जाती तो विद्वान् फिर किस लिये अहंकार करते? इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रकारोंने दुःखकी कारणता नहीं जानी है। इस विषयमें आप सब ब्राह्मण दृष्टान्तरूप हैं।

अहङ्कारमें लोक तथा परलोकके दुःखकी कारणता

हे ब्राह्मणो! जैसे मदिराके पानसे मनुष्य विपरीत देखनेवाला हो जाता है, इसी प्रकार अहंकाररूपी मदिराके पानसे मनुष्य विपरीत देखने लगता है। इस विपरीत-दर्शनसे अहंकारी मनुष्य अपने माता-पिताका, अन्य बान्धवोंका, देवोंका तथा पण्डित ब्राह्मणोंका निरादर करता है। काले साँपके समान शीघ्र मृत्यु करनेवाले यमराजकी भी अहंकारी पुरुष अवज्ञा करता है। सोये हुए सर्पके समान मृत्यु-के कारणरूप बुद्धिमान् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य-की भी अहंकारी अवज्ञा करता है। इस प्रकार सब जीवोंका अपमान करनेवाला अहंकारी इस लोकमें जल्दी प्राणान्त दुःखको प्राप्त होता है। सब प्राणियों-की अवज्ञासे उत्पन्न होनेवाले पापसे अहंकारी मरनेके पीछे रौरव आदि नरकोंको प्राप्त होता है। इसलिये इस लोकमें तथा परलोकमें अहंकार जीवके दुःखका कारणरूप है। इस प्रकारका अहंकाररूपी दोष याज्ञवल्क्यमें नहीं है। इसलिये काम-क्रोधादि दोष भी उनमें नहीं हैं। भाव यह है कि जैसे व्यापक-रूप अग्निका अभाव होनेसे व्याप्यरूप धूम उसमें नहीं रहता, इसी प्रकार व्यापकरूप अहंकारके अभावसे व्याप्यरूप काम-क्रोधादि भी नहीं रहते। इसलिये इस लोकमें एक याज्ञवल्क्य ही पुरुष है। याज्ञवल्क्यके समान दूसरा पुरुष नहीं है। क्योंकि श्रुतिमें सर्वत्र पूर्णको पुरुष कहा है। ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य मुनिसे स्थूल, सूक्ष्मरूप सब जगत् पूर्ण है, इसलिये याज्ञवल्क्य ही एक पुरुष है। भाव यह है कि श्रुतिमें ब्रह्मको सर्वत्र पूर्ण कहा है। और 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मरूप ही हो जाता है।' इस श्रुतिमें ब्रह्मवेत्ता पुरुषकी ब्रह्मरूपता कही है। इसलिये ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यमें सर्वत्र पूर्णता सम्भव है। याज्ञवल्क्य-का ऐसा स्वरूप मैंने शास्त्रके प्रमाणसे और अपने अनुभवसे निश्चय किया है। एक दूसरा आश्चर्य आप देखिये, 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' मांसमय चक्षुसे और वाणीसे आत्मा देखनेमें और कथनमें नहीं आता। इस प्रकारका श्रुतिका वचन मुझे कुछ असत्य-सा प्रतीत होता है क्योंकि श्रुतिने तो कहा है कि सर्वत्र पूर्णरूप पुरुष मांसमय नेत्रोंसे दीख नहीं सकता किन्तु मैं गार्गी इन मांसमय नेत्रोंसे सर्वत्र पूर्ण याज्ञवल्क्यको अपने सामने देखती हूँ। सम्यक् विचारसे देखा जाय तो श्रुतिका वचन सत्य ही है क्योंकि मांसमय नेत्रोंसे आप सब ब्राह्मणोंको याज्ञवल्क्यका वास्तव स्वरूप दिखायी नहीं देता किन्तु मैं गार्गी तो शास्त्रप्रमाण तथा आन्तर अनुभव इन दोनों प्रमाणवाले नेत्रोंसे याज्ञवल्क्यका वास्तव स्वरूप जानती हूँ। केवल मांसमय नेत्रोंसे मैं उनके स्वरूपको नहीं जानती। जैसे कि 'यह देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञानमें तथा अंशके ज्ञानमें केवल नेत्र-इन्द्रियकी कारणता नहीं है किन्तु पूर्वसंस्कार सहकृत नेत्र-इन्द्रियकी कारणता है। इसी प्रकार इस पूर्ण पुरुषके ज्ञानमें भी केवल नेत्र-इन्द्रियकी कारणता नहीं है, किन्तु शास्त्रप्रमाण तथा आन्तर अनुभव, इन दोनों प्रमाणवाले नेत्र-इन्द्रियकी कारणता है। इसलिये पूर्वोक्त श्रुतिका विरोध नहीं है। जिन माता-पितासे ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य उत्पन्न हुए हैं, उन माता-पिताको धन्य है। जिस पृथिवीपर याज्ञवल्क्य चलते हैं, वह पृथिवी धन्य है। इस सभामें मुझ गार्गीको, जनक राजाको और आप सब ब्राह्मणोंको याज्ञवल्क्य-के दर्शन हुए हैं और उनके वचन सुननेमें आये

हैं, इसलिये हम सब भी धन्य हैं । इस जगत्में याज्ञवल्क्यके समान कोई भी पुरुष पूर्वमें नहीं हुआ, अब भी कोई नहीं है और आगे भी कोई नहीं होगा । इसलिये चन्दनके समान शीतल और क्षीरसमुद्र समान निःक्षोभ याज्ञवल्क्यका विवाद-रूपी मन्थन आप न करें। यदि आप ब्राह्मण अहंकार-वश याज्ञवल्क्यके साथ विवाद करेंगे तो जैसे क्षीरसमुद्रमेंसे अति मन्थन करनेसे कालकूट नामका विष निकला था और अति मन्थनसे जैसे चन्दनमेंसे अग्नि उत्पन्न हो आता है, इसी प्रकार याज्ञवल्क्य मुनिमेंसे शापरूप कालकूट विष तथा शापरूप अग्नि उत्पन्न होगा। उस शापरूपी अग्निसे आप सब ब्राह्मणोंका नाश हो जायगा । इसलिये याज्ञवल्क्यके साथ आप विवाद न करें और तीनों कालमें दुःख देनेवाले अहंकारको त्यागकर आप सब ब्राह्मण याज्ञवल्क्य गुरुको नमस्कार करें। हे ब्राह्मणो! आत्माके अपरोक्ष ज्ञानवाले याज्ञवल्क्य-के साथ हम परोक्ष ज्ञानवालोंने व्यर्थ विवाद आरम्भ किया है। इस विवादसे हमको दुःख ही मिलेगा। भाव यह है कि जैसे एकको नेत्रसे काशीका अपरोक्ष ज्ञान हुआ है और दूसरेको शब्दप्रमाणसे काशीका परोक्ष ज्ञान हुआ है, तो परोक्ष ज्ञानवाले पुरुषका अपरोक्ष ज्ञानवाले पुरुषके साथ काशीका स्वरूप निर्णय करनेमें विवाद सम्भव नहीं है, इसी प्रकार आत्माके अपरोक्ष ज्ञान-वाले याज्ञवल्क्यके साथ आत्माके परोक्ष ज्ञानवाले हम सबका विवाद सम्भव नहीं है। पूजा करनेयोग्य आत्मज्ञानरूपी समुद्रयुक्त याज्ञवल्क्यका उल्लंघन करना हम प्रतिवादियोंका विवादरूपी पापसे स्पर्श करना है, इसलिये हममें महान् पापकी उत्पत्ति हुई है। इस पापकी निवृत्तिका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। याज्ञवल्क्यको बारम्बार नमस्कार करनेसे ही इस पापकी निवृत्ति होगी। इसलिये पापकी निवृत्ति और मनोवाञ्छित फलकी प्राप्तिके लिये आप सब ब्राह्मण याज्ञवल्क्यको नमस्कार कीजिये । श्रुतिमें भी कहा है कि 'आत्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ।' अर्थात् इस लोक, तथा परलोकके धन-पुत्रादि पदार्थोंकी कामना-वाले सकामी पुरुषको शरीर तथा धनसे ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुषकी सेवा करनी चाहिये । इस सेवासे सब मनोवाञ्छित पदार्थोंकी प्राप्ति उस पुरुषको होती है। इसलिये याज्ञवल्क्यके जीतनेकी इच्छा त्यागकर सब ब्राह्मण याज्ञवल्क्यको नमस्कार करें!

इस प्रकार सब ब्राह्मणोंसे कहकर गार्गी याज्ञवल्क्यको प्रणाम करके प्रश्न करनेसे निवृत्त हुई। पश्चात् गार्गीके अमृतरूपी वचनोंके पान-से जिनके अहंकारादि दोष जाते रहे हैं, ऐसे आश्वलादि सब ब्राह्मण याज्ञवल्क्यको नमस्कार करने लगे। इन ब्राह्मणोंमेंसे कितने ही ब्राह्मण मस्तकसे और कितने ही वाणीसे प्रणाम करने लगे। एक विदग्ध नामके ब्राह्मणने भावी मृत्युके वश मोहको प्राप्त होनेसे याज्ञवल्क्यको प्रणाम नहीं किया । उस शाकल्य ब्राह्मणका वृत्तान्त इस प्रकार है।

शाकल्यका वृत्तान्त

जब इस शाकल्यका जन्म हुआ तो जन्मकाल-के नक्षत्ररूप भावी अर्थको बोधन करनेवाले, ज्योतिषशास्त्रको जाननेवाले विद्वान् शाकल्यके जन्मनक्षत्रको देखकर विचार करने लगे कि यह शाकल्य याज्ञवल्क्यके साथ विविध प्रकारकी ईर्ष्या करके जल मरेगा। इस प्रकारके भावी अर्थको जानकर ज्योतिषशास्त्र जाननेवाले पण्डितोंने शाकल्यका विदग्ध नाम रक्खा था। शाकल्य-की बुद्धिका बोध करनेवाला यह विदग्ध नाम शाकल्यके माता-पिताको आनन्द देनेवाला हुआ। यदि विचारकर देखा जाय तो विदग्ध शब्दका प्रथम अर्थ ही शाकल्यमें घटता है किन्तु दूसरा अर्थ शाकल्यमें नहीं घटता क्योंकि बुद्धिमान् तो अपने हितकारी शब्दको अङ्गीकार करते हैं, किन्तु

शाकल्य तो गार्गीके हितकारी वचनोंको सुनकर उलटा क्रोधयुक्त हुआ। जैसे सर्पको दूध पिलाया जाय तो विषकी ही वृद्धि होती है, इसी प्रकार गार्गीके हितकारी वचन भी शाकल्यके क्रोधके हेतु हुए। इसलिये शाकल्यमें बुद्धिमत्ता सम्भव नहीं है। याज्ञवल्क्यने सूर्यसे विद्या प्राप्त की है, ऐसा जिस दिनसे शाकल्यने सुना, उस दिनसे ही शाकल्य विविध प्रकारकी ईर्ष्यासे जलने लगा। याज्ञवल्क्यने सूर्य भगवान्‌से यजुर्वेद प्राप्त किया है, इस प्रकारका वचन किसी प्रसङ्गपर जिस किसी पुरुषके मुखसे शाकल्य सुनता, तो उस कहनेवाले पुरुषसे शाकल्य इस प्रकार कठोर वचन कहता—

शाकल्य—इस याज्ञवल्क्यने जिस प्रकार सूर्य-भगवान्‌से शुक्ल वर्णवाला यजुर्वेद प्राप्त किया है, उसी प्रकार चन्द्रमासे रक्त वर्णवाला अथर्वकाण्ड भी तो प्राप्त किया है! इसी प्रकार मंगलसे हरित वर्णवाला ऋग्वेदकाण्ड भी प्राप्त किया है!

इस प्रकार उपहासयुक्त कठोर वचन रात-दिन शाकल्य लोगोंसे कहता था। और याज्ञवल्क्य-की निन्दाको नहीं सहन करनेवाले सज्जन पुरुष याज्ञवल्क्यके साथ विवाद करनेकी शाकल्यको प्रेरणा करते थे परन्तु मेरे समान याज्ञवल्क्य नहीं है इस प्रकारके अभिमानसे शाकल्य विवाद करनेको भी याज्ञवल्क्यके पास नहीं आता था। जैसे अर्जुन-के साथ कर्ण स्पर्धा करता था तथा जैसे इन्द्रके साथ नमुचि नामका दैत्य स्पर्धा करता था, इसी प्रकार शाकल्य याज्ञवल्क्यके साथ स्पर्धा किया करता था।

डोरूशंकर—हे देवी! याज्ञवल्क्यके साथ जब शाकल्यको इतनी अधिक स्पर्धा थी, तो सब ब्राह्मणोंसे प्रथम ही शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न क्यों नहीं किया?

देवी—हे वत्स! जब याज्ञवल्क्यने गौओंका हरण किया, उस समय भी शाकल्य सभामें बैठा था किन्तु उस समय शाकल्यने अपने मनमें इस प्रकार विचारकर प्रश्न नहीं किया कि याज्ञवल्क्यने सब ब्राह्मणोंकी सभामें गौओंको ले जानारूप अनुचित कर्म किया है। इससे सिद्ध होता है कि सर्व ब्राह्मणोंकी अविद्यमानतामें याज्ञवल्क्यने 'मैं सूर्य भगवान्‌का शिष्य हूँ' ऐसे मिथ्या वचन कहकर सब लोगोंको मोहमें डाल दिया है। याज्ञवल्क्य-को उस पाप कर्मका फल अब प्राप्त हुआ है। आजतक याज्ञवल्क्यका प्रतिष्ठापूर्वक जो जीवन था, वह अब समाप्त हो गया है क्योंकि याज्ञवल्क्य खल पुरुषके समान पाखण्डी है, ऐसा जानकर ही मैंने और सब ब्राह्मणोंने याज्ञवल्क्यकी उपेक्षा की है। और विद्वान् जिसकी उपेक्षा करते हैं, उसका लोकमें कोई भी सत्कार नहीं करता, इसलिये सब ब्राह्मणोंके अपमान और गौओंके हरणसे याज्ञवल्क्यको यह फल मिला है। जैसे सूर्य भगवान्‌के समीप अन्धकार नहीं रहता, इसी प्रकार सर्व विद्वान् ब्राह्मणोंके समीप किसी पुरुषका पाखण्ड नहीं चलता। पाप-से मोहित हुआ याज्ञवल्क्य इस बातको नहीं जानता। यदि याज्ञवल्क्य ब्राह्मणोंकी महिमाको जानता होता, तो जिन ब्राह्मणोंके एक बालकके तेजको देवराज इन्द्र भी सहन नहीं कर सकता, ऐसे सब ब्राह्मणों-के देखते हुए यह गौओंका हरणरूप अनुचित कार्य नहीं करता।

इस प्रकारके अनेक विचार अपने मनमें करके अहंकारयुक्त शाकल्य प्रथम गूँगा बना रहा किन्तु जब उसने सब ब्राह्मणोंको पराजित देखा और सब ब्राह्मणोंसहित गार्गीने जब याज्ञवल्क्यको नमस्कार किया, तब जैसे पैरसे दबा हुआ सर्प क्रोधित होकर फुंकार मारता है, इसी प्रकार शाकल्यके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये, उसकी भ्रुकुटी ललाटकी तरफ चढ़ गयी और वह बारम्बार जल्दी-जल्दी लम्बे-लम्बे निःश्वास लेने लगा। जैसे जब किसीका पुत्र मर जाता है, तब वह दैवको धिक्कारता है, इसी प्रकार शाकल्य दैवको धिक्कारने लगा—

शाकल्यका विचार

शाकल्य—(मनमें) जैसा इस लोकमें दैवका बल है, वैसा बल शास्त्रके अध्ययनका भी नहीं है, उत्तम कुलका भी वैसा बल नहीं है, और मन्त्रादिका भी वैसा बल नहीं है क्योंकि शास्त्रयुक्त, उत्तम कुलयुक्त और मन्त्रादियुक्त इन सब ब्राह्मणोंका याज्ञवल्क्यने जो पराभव किया है, वह केवल दैवबलसे ही किया है। विद्याका बल याज्ञवल्क्यमें नहीं है, इसलिये दैवबल विद्यादि सब बलोंकी अपेक्षा अधिक है। इतिहासमें बुद्धिमान् पुरुषोंने कहा है कि निमेष, मुहूर्त, प्रहर, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सर इत्यादि कालरूप भगवान्के प्रतिकूल होनेसे सब जीवोंकी बुद्धि अन्यथा हो जाती है। यदि काल अनुकूल होता है, तो सब जीवोंके बुद्धिकी वृद्धि करता है। इस कालके उल्लंघन करनेको कोई पुरुष समर्थ नहीं है, यह ऐतिहासिक वचन आजदिनतक सच्चा होता चला आया है क्योंकि जैसे पाखंडी पुरुष मूढ़ बालकको पराजित करता है, इसी प्रकार ब्रह्माके समान विद्यावाले इन सब ब्राह्मणोंको इस दुर्बुद्धि याज्ञवल्क्यने पराजित किया है। इससे सिद्ध होता है कि काल भगवान्का उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता। काल भगवान्की प्रतिकूलतासे ये सब विद्वान् ब्राह्मण पराजित हुए हैं और उन्हीं काल भगवान्की अनुकूलतासे विद्याहीन याज्ञवल्क्यका विजय हुआ है। इस लोकमें जो कार्य होनेवाला होता है, वह अवश्य होता है। हजार उपाय करनेपर भी होनहार नहीं टलती, शास्त्रमें लिखी हुई यह बात आज सत्य हुई। क्योंकि इस समाजमें जितने ब्राह्मण एकत्र हुए हैं, वे सब ब्रह्माके समान विद्यावाले हैं। यह कृपण याज्ञवल्क्य विद्यासे रहित है। किन्तु इस याज्ञवल्क्यका जय होनेवाला था और इन सब ब्राह्मणोंका पराजय होनेवाला था। वह अवश्य हो गया। इससे मुझे बड़ा भारी खेद है। अथवा यह काल मेरे यशकी वृद्धि करनेवाला है क्योंकि याज्ञवल्क्यने सब विद्वान् ब्राह्मणोंको जीत लिया है और मैं जब इस याज्ञवल्क्यको जीत लूँगा, तो सब लोकोंमें मेरा यश होगा, इसलिये यह काल मुझे यशकी प्राप्ति कराने आया है।

इस प्रकारके अनेक विचार शाकल्यके मनमें घूमने लगे। भावी अर्थको जाननेवाली गार्गीके पूर्वोक्त हितकारी उपदेशको त्यागकर दुर्बुद्धि शाकल्य गार्गीकी अनेक प्रकारसे निन्दा करने लगा—

शाकल्यके दुर्विचार

यह गार्गी कुमारी है, यौवन अवस्थावाली है, माता-पिताके घरमेंसे बाहर निकलकर व्यभिचारिणी स्त्रीके समान अपनी इच्छानुसार वर्तती है। इस सभामें याज्ञवल्क्यके सिवा सब ब्राह्मण सदाचारी हैं, स्नान-शौचादि कर्मोंमें नित्य प्रीतिवाले हैं, जटा-दाढ़ी धारण करनेवाले हैं, कृश शरीरवाले और वृद्धावस्थावाले हैं। ऐसे उत्तम ब्राह्मण इस नग्न गार्गीको नेत्रोंसे नहीं देखते। इस निर्लज्ज गार्गीकी ब्राह्मण क्यों इच्छा करें ? यह याज्ञवल्क्य यौवनावस्थावाला, स्निग्ध शरीरवाला, निरन्तर शरीरका पोषण करनेवाला, अत्यन्त कामी तथा वेदके अर्थको अन्यथा करनेवाला है। यह दुर्बुद्धि याज्ञवल्क्य पापयुक्त नेत्रोंसे नग्न गार्गीके अंगोंकी ओर बारम्बार देखता है। जबसे याज्ञवल्क्य सभामें आया है, तबसे अबतक उसकी दृष्टि राजा जनक तथा गार्गीमें है। इन दोनोंको छोड़कर याज्ञवल्क्य किसी अन्य ब्राह्मणकी ओर नहीं देखता। याज्ञवल्क्यके सिवा सब ब्राह्मण गुरुके चरणकमलोंकी पूजा करनेवाले हैं और गुरु शास्त्रकी शिक्षा पाये हुए हैं। इसलिये वे सब नासिकाके अग्र भागमें दृष्टि करके सभामें बैठे हैं। यह अधम याज्ञवल्क्य इस सभामें अपनी विद्याका प्रकाश करने नहीं आया है किन्तु गार्गीके लिये और धनके लिये आया है। इसीलिये याज्ञवल्क्य

गार्गीके मुखको तथा जनक राजाके मुखको बारम्बार देखता है। व्यभिचारिणी स्त्री व्यभिचारी पुरुषको फँसा लेती है और व्यभिचारी पुरुष व्यभिचारिणी स्त्रीके पीछे हो जाता है क्योंकि जिस पदार्थका बारम्बार अनुभव किया होता है, उस पदार्थको वह पुरुष जल्दी जान लेता है। जैसे मछली मच्छके गमनागमनको झट जान जाती है, इसी प्रकार यह गार्गी भी बाल्यावस्थासे अपनी इच्छानुसार विचरनेवाली व्यभिचारिणी है और यह याज्ञवल्क्य भी व्यभिचारी है, इसलिये इन दोनोंने परस्पर स्नेह बाँधा है। कुलीन स्त्रियाँ अपने पतिको, पुत्रको, भाईको, मामाको, अथवा अन्य किसी कुलीन स्त्रीको साथ लिये बिना अपने घरके आँगनसे बाहर नहीं जातीं किन्तु पति आदि किसीको साथ लेकर बाहर जाती हैं। बुरी नीयतसे ही यह गार्गी इन ब्राह्मणोंके सामने बारम्बार याज्ञवल्क्यकी स्तुति करती है। ये सर्व विद्वान् ब्राह्मण भी व्यभिचारिणी गार्गीके भीतरके अभिप्रायको न जानकर, इसके वचनोंसे मोहित होकर याज्ञवल्क्यको नमस्कार करते हैं। सब धर्मात्माओंमें मुख्य जनक राजा भी व्यभिचारिणी गार्गीके वचनोंसे मोहको प्राप्त हो गया है। इसीसे जनक राजा बारम्बार याज्ञवल्क्यको नमस्कार करता है।

हे वत्स ! सर्वदा ब्रह्मचर्य-धर्मका पालन करनेवाली गार्गीको अनेक प्रकारके दुर्वचन कहकर शाकल्य उसकी निन्दा करने लगा। जैसे मृत्युके समीप प्राप्त हुए पतङ्गे महान् अग्निको उल्लंघन करनेका उद्यम करते हैं, इसी प्रकार मृत्युके समीप प्राप्त हुआ शाकल्य ज्ञानसमुद्ररूप याज्ञवल्क्यके उल्लंघन करनेका उद्यम करने लगा। पश्चात् शाकल्य अनेक प्रश्नोंसे देवोंकी संख्या याज्ञवल्क्य-से पूछने लगा और याज्ञवल्क्य भी उसे देवोंकी संख्या बताने लगे। याज्ञवल्क्यने विस्तारसे देवोंकी अनन्त संख्या कही और संक्षेपसे सूत्रात्मारूप एक प्राणको ही देवतारूप कहा और दूसरे सब देवताओंको सूत्रात्मारूप प्राणकी ही विभूतियाँ बताया। इस प्रकार संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकारसे जब याज्ञवल्क्यने देवोंकी संख्या कही, तब शाकल्य याज्ञवल्क्यसे दूसरे आठ प्रश्न पूछने लगा। उनका उत्तर भी याज्ञवल्क्यने उसको दिया। जैसे मेंढक सर्पके मुखमें प्रवेश करता है, इसी प्रकार कालरूप सर्पके मुखमें प्राप्त हुआ मूढ़-बुद्धि शाकल्य याज्ञवल्क्यसे अनेक प्रकारके दुर्वचन कहने लगा, तब याज्ञवल्क्य बोले—

(क्रमशः)

राम-भक्तकी शक्ति

कोटिन कुबेरनको कनक, कनूका सम,
ताको चारों बेद एक अलप कहानी है।
कामधेनु कल्पतरु चिंतामनि आदिककी,
ताको दान देखि-देखि मति चकरानी है॥
पाँचहू मुकुति ताकी दासी ह्वै खवासी करैं,
कालहू करालकी न ता सँग बिसानी है।
'दीन' कवि जाके मन-मन्दिरमें बास करैं,
रामसो सुराजा औ सिया-सी महारानी है॥

अहल्या-उद्धार

सुनि मुनि कौशिकतें सापको हवाल सब,
बाढ़ी चित करुनाकी अजब उमंग है।
पद-रज डारि, करे पाप सब छारि, करि
नवल सुनारि दियौ धामहू उतंग है॥
'दीन' भनै ताहि लखि जात पति-लोक-ओर,
उपमा अभूतको सुझानो नयो ढंग है।
कौतुकनिधान राम रजकी बनाइ रज्जु,
पदते उड़ाई ऋषि-पतनी पतंग है॥

—स्व० लाला भगवानदीनजी 'दीन'

विवेक-वाटिका

वह सभा सभा नहीं है जिसमें वृद्ध न हो; वह वृद्ध वृद्ध नहीं है जो धर्मकी बात नहीं कहता; वह धर्म धर्म नहीं है जिसमें सत्य नहीं है; वह सत्य सत्य नहीं है जिसमें छल है। —भगवान् श्रीरामचन्द्र

* * *

जो पुत्र बूढ़े माता-पिताकी, पति अपनी साध्वी स्त्रीकी, पिता अपने छोटे बच्चोंकी, शिष्य गुरुकी, समर्थ मनुष्य ब्राह्मणोंकी और शरणागतकी रक्षा नहीं करता वह जीता हुआ ही मुर्देके समान है। —भगवान् श्रीकृष्ण

* * *

मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण मन है, विषयासक्त मनसे बन्धन होता है और विषयवृत्तिसे रहित मनसे मुक्ति। अतएव मुक्तिकी चाह करनेवाले मनको सदा विषयोंसे रहित रक्खें। विषयसङ्गसे छूटा हुआ मन जब उन्मनी भावको प्राप्त होता है, तब परमपदकी प्राप्ति होती है। —उपनिषद्

* * *

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित मनमाना घोर तप करते हैं और दम्भ, अहङ्कार, कामना, आसक्ति तथा शरीरादिके बलका अभिमान रखनेवाले हैं वे शरीरमें स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित भगवान्‌को कष्ट देनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको आसुरी स्वभाववाला ही जानो। —श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

जीवित अवस्थामें शरीरको लोग देव (नरदेव, भूदेव) शब्दोंसे पुकारते हैं परन्तु मर जानेपर उस शरीरके या तो (सड़ जानेपर) कीड़े हो जाते हैं, या (जला देनेपर) राख हो जाती है, अथवा (पशु आदिके खानेपर उनकी) विष्ठा बन जाती है, ऐसे शरीरके लिये जो मनुष्य दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करता है जिससे नरककी प्राप्ति होती है, वह क्या अपने स्वार्थको जानता है ? —देवर्षि नारद

* * *

परमात्माका वाचक प्रणव है, उसका जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये। इससे आत्माकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव होता है। —योगदर्शन

* * *

परलोकमें सहायताके लिये माता-पिता, पुत्र-स्त्री और सम्बन्धी कोई नहीं रहते। वहाँ एक धर्म ही काम आता है। मरे हुए शरीरको बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टीके ढेलोंके समान पृथ्वीपर पटककर घर चले आते हैं। एक धर्म ही उसके साथ जाता है। —मनुस्मृति

* * *

मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्रोह, सबपर कृपा और दान, यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है। —महाभारत

* * *

जो आत्मनिष्ठ हैं तथा जो आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं चाहते, वे विषयी मनुष्योंकी भाँति रमणीय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते और दुःखरूप वस्तुकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होते। —योगवासिष्ठ

* * *

सोये हुए गाँवको जैसे बाढ़ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र और पशुओंमें लिप्त हुए मनुष्यको मौत ले जाती है। जब मृत्यु पकड़ती है उस समय पिता, पुत्र, बन्धु या जातिवाले कोई भी रक्षा नहीं कर सकते। इस बातको जानकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीलवान् बने और निर्वाणकी ओर ले जानेवाले मार्गको जल्द साफ करे। —धम्मपद

* * *

भगवान्‌की मायाके दोषगुण बिना हरिभजनके नहीं जाते, अतएव सब कामनाओंको छोड़कर श्रीरामको भजो। —तुलसीदासजी

* * *

जो दिन आज है वह कल नहीं रहेगा, चेतना है तो जल्दी चेत जा, देख, मौत तेरी घातमें घूम रही है। —कबीर

* * *

श्रीरामके चरणोंकी पहचान हुए बिना मनुष्यके मनकी दौड़ नहीं मिटती, जो लोग केवल भेष बनाकर दर-दरपर अलख जगाते हैं परन्तु भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम नहीं करते, उनका जन्म वृथा है। —रहीम

* * *

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

[गतांकसे आगे]

भक्तिके साधन

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥३४॥

३४–आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं ।

कर्म और ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके अब देवर्षि नारद भक्तिशास्त्रके प्रधान प्रवर्त्तक और भक्तितत्त्वके अनुभवी आचार्यों–सन्त-भक्तोंद्वारा गान किये हुए उस श्रेष्ठतम भक्तिके साधनोंका वर्णन करते हैं ।

तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च ॥३५॥

३५–वह (भक्ति-साधन) विषयत्याग और संगत्यागसे सम्पन्न होता है ।

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है क्योंकि जीव परमानन्दस्वरूप परमप्रेमरूप भगवान्‌का ही सनातन चिदंश है, परन्तु विषयोंके प्रति प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है और इसीसे वह प्रेम दुःखके कारण कामके रूपमें परिणत हो रहा है और इसी कारण उसके परमात्ममुखी दिव्य स्वरूपका प्रकाश नहीं होता । प्रेमके दिव्य स्वरूपके प्रकाशके लिये उसकी विषयाभिमुखी गतिको पलटकर ईश्वराभिमुखी करनेकी आवश्यकता है । इसके लिये दो उपाय हैं—१–विषयोंका स्वरूपसे त्याग और २–विषयोंकी आसक्तिका त्याग । जो लोग यह मानते हैं कि विषयोंमें आसक्त रहते और यथेच्छ अमर्यादित विषयोंका संग्रह एवं उपभोग करते हुए ही भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो जायगी, अथवा भगवद्भक्तिके मार्गमें विषय और विषयासक्तिके त्यागकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, वे बहुत बड़ी भूलमें हैं । भक्तिमें तो अपने भोगके लिये कोई वस्तु रह ही नहीं जाती; जब भोक्ता ही कोई नहीं रहता तब भोग्यवस्तु कहाँसे रहे ? वहाँ तो एकमात्र प्राणाधार भगवान् ही सर्व-भोक्ता हैं और हम अपने समस्त अंगों एवं समस्त सामग्रियोंसहित भगवान्‌के भोग्य हैं । एकमात्र वही पुरुष हैं और सब उनकी भोग्या प्रकृति हैं । ऐसी अवस्थामें भक्तका अपना कोई भोग्य-विषय रह ही नहीं जाता । इसको यदि ऊँची स्थिति कहकर कोई इससे बचना चाहे तो उसे भी साधनकालमें विषयोंका और विषयासक्तिका यथासाध्य उत्तरोत्तर त्याग करना ही पड़ता है । शरीर विषयभोगमें लगा होगा और मन विषयोंमें आसक्त रहेगा, तो फिर प्रियतम भगवान्‌की सेवा किस तन-मनसे होगी ? अतएव विषयत्यागकी बड़ी भारी आवश्यकता है । बाह्यभोग तो क्या, मनसे भी विषयोंका चिन्तन छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि यह नियम है कि मन जिस वस्तुका चिन्तन करेगा उसीमें उसकी आसक्ति होगी । भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

अर्थात् 'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा अनुस्मरण करनेसे मुझमें लीन हो जाता है ।'

मनको जहाँ लगाओ, वहीं लग जाता है,

और वह लगाना होता है, इन्द्रियोंके द्वारा ही; हम बार-बार जिस प्रकारके दृश्योंको देखेंगे, जैसी बात सुनेंगे, जैसी चीज खायँगे, जो कुछ सूँघेंगे, जैसी वस्तुका स्पर्श करेंगे, उन्हींका मनमें बार-बार चिन्तन होगा और जिस वस्तुका अधिक चिन्तन होगा, उसीमें आसक्ति होगी। नाटक देखेंगे, वेश्याका गाना सुनेंगे, उनमें आसक्ति होगी; भक्तलीला देखेंगे, कीर्त्तन सुनेंगे तो उनमें आसक्ति होगी। अतएव भक्तिकी अभिलाषा रखनेवालोंको भगवान्‌के प्रतिकूल तमाम विषयोंका त्याग करना चाहिये। वास्तवमें इस सूत्रमें विषयत्यागमें उन्हीं विषयोंका त्याग समझना चाहिये, जो हमारे मनको भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें—जगत् प्रपञ्चमें लगा देते हैं। ध्यान, चिन्तन, कीर्तन, भगवत्सेवा, साधुसत्कार, सत्सङ्ग आदि जो भगवदनुकूल विषय हैं, उनमें तो तन-मनको चाह करके लगाना चाहिये। और जिन विषयोंके संग्रह और सेवनकी शरीरयात्रा या कुटुम्बपोषणके लिये नितान्त आवश्यकता हो, उनका भी यथासम्भव बहुत ही थोड़े परिमाणमें संग्रह और सेवन करना चाहिये, और वह भी शास्त्रानुकूल तथा ईश्वरकी आज्ञा समझकर अन्य किसी भी फल-कामनाको मनमें स्थान न देते हुए केवल ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही! इस प्रकारसे किया हुआ विषय-सेवन भी विषयत्यागके ही तुल्य समझा जाता है। केवल बाहरसे किसी विषयका त्याग कर दिया जाय और मनमें उसका स्मरण बना रहे, तो वह यथार्थ त्याग नहीं है, इसीलिये सूत्रमें विषयत्यागके साथ-ही-साथ आसक्ति-त्यागकी भी आवश्यकता बतलायी गयी है। महाभारतमें कहा है—

त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणां तथैव च।

(शान्तिपर्व १९२। १७)

'विषयासक्ति और विषय दोनोंके त्यागका नाम ही त्याग है।' इसीसे विषयानुरागका त्याग होगा, और विषयानुरागसे रहित हृदय ही भगवत्प्रेमका दिव्य धाम बन सकता है। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होनेपर तो विषयका त्याग स्वाभाविक ही रहता है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

अमृतके स्वादको चख लेने और उसके गुणसे लाभ उठा लेनेपर फिर विषकी ओर किसीकी नजर ही क्यों जाने लगी? परन्तु उस अमृतकी प्राप्तिके लिये भी—इसकी ओर गति होनेके लिये भी विषयविषके त्यागकी आवश्यकता है। विषयासक्तिका त्याग करके भगवान्‌में आसक्त होनेमें ही परम सुख है। भगवान् कहते हैं—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १२)

'मुझमें चित्त लगानेवाले और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोड़नेवाले भक्तको मुझसे जो परम सुख मिलता है, वह सुख विषयासक्त-चित्त लोगोंको कहाँसे मिल सकता है?'

अव्यावृतभजनात्॥ ३६॥

३६—अखण्ड भजनसे (भक्तिका साधन सम्पन्न होता है)।

भजन भक्तिका प्रधान अङ्ग है, यह साध्य और साधन दोनों है। जो भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिये अखण्ड भजन स्वाभाविक हो जाता है और जिनको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति करनी है, उनको अखण्ड भजनका अभ्यास करना चाहिये। जो भजन बिना मुक्ति और भगवत्प्रेमकी प्राप्ति चाहता है वह भूलता है। गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बारि मथे बरु होइ घृत, सिकतातें बरु तेल ।
बिनु हरि-भजन न भव तरहिं, यह सिद्धांत अपेल ॥

जलके मन्थनसे चाहे घी निकल आवे, बालूसे चाहे तेल निकले, परन्तु भगवान्के भजन बिना भव-सागरसे मनुष्य नहीं तर सकता, यह सिद्धान्त अकाट्य है । अतएव भजन तो अनिवार्य साधन है । फिर भक्तिके साधकके लिये तो यही एक खास वस्तु है । विषयसे मन हटाकर यदि भगवान्में न लगाया जाय तो वह वापस दौड़कर वहीं चला जायगा । विषयत्याग वैराग्य है और भगवत्-भजन अभ्यास । इन्हीं अभ्यास-वैराग्यसे विशुद्ध भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है । परन्तु जो भजन अभी होता है, घड़ीभर बाद नहीं होता, आज किया, कल नहीं; वह प्रेम और आदरयुक्त अखण्ड भजन नहीं है । भजनरूपी अभ्यास तो वही सिद्ध होता है जो सदा होता रहे, सतत होता रहे और सत्कारपूर्वक हो । योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं —

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ-भूमिः । (१ । १४)

'दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर सत्कारके साथ करनेपर ही अभ्यास दृढ़ होता है ।' इस नित्य-निरन्तरके अखण्ड स्मरणसे भगवान्की प्राप्ति सहज ही हो जाती है । स्वयं भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ ।'

अतएव अखण्डरूपसे भगवान्का प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए ही स्नान, भोजन, व्यापार आदि सब काम करने चाहिये । भगवत्-स्मरणयुक्त होनेसे प्रत्येक कार्य ही भजन हो जायगा । इस प्रकार भजनका ताँता क्षणभर भी नहीं टूटना चाहिये । स्वरूपका चिन्तन न हो सके तो निरन्तर भगवान्का नामस्मरण ही करना चाहिये । भगवान्के नामस्मरणसे मन और प्राण पवित्र हो जायँगे और भगवान्के पावन पदकमलोंमें अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जायगा । नाम-जपकी सहज विधि यह है कि अपने श्वास-प्रश्वासके आने-जानेकी ओर ध्यान रखकर श्वास-प्रश्वासके साथ-ही-साथ मनसे, और साथ ही धीमे स्वरसे वाणीसे भी भगवान्का नाम-जप करता रहे । यह साधन उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते, खड़े रहते सब समय किया जा सकता है । अभ्यास दृढ़ हो जानेपर चित्त विक्षेपशून्य होकर निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें अपने आप ही लग जायगा । प्रायः सभी प्रसिद्ध भक्तों और सन्तोंने इस साधनका प्रयोग किया था । महात्मा चरणदासजी कहते हैं—

स्वासा माँही जपेतें, दुबिधा रहे न कोय ।

इसी प्रकार कबीरजी कहते हैं—

साँस साँस सुमिरन करौ यह उपाय अति नीक ।

मतलब यह कि भगवान्के स्वरूप, प्रभाव, रहस्य, गुण, लीला अथवा नामका चिन्तन निरन्तर तैलधारा-की भाँति होते रहना चाहिये । यही अखण्ड भजन है ।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवण-कीर्त्तनात् ॥ ३७ ॥

३७—लोकसमाजमें भी भगवद्-गुण-श्रवण और कीर्तनसे (भक्ति-साधन सम्पन्न होता है) ।

मनसे तो नित्य भगवान्का चिन्तन करना ही चाहिये, परन्तु कान और वाणीसे भी सदा-सर्वदा लोगोंके बीचमें भी भगवान्का गुण ही सुनना और कहना चाहिये । मनसे भगवच्चिन्तनकी चेष्टा तभी

सफल होती है, जब हमारी इन्द्रियाँ भी भगवत्-सम्बन्धी कार्योंमें ही लगी रहें। सभी कार्योंका प्रायः आधार होता है—सुनना और बोलना। यदि कानोंमें सदा विषयोंकी चर्चा आती रहेगी और वाणीसे सदा विषयोंकी बातें की जायँगी तो मनसे भगवान्‌का चिन्तन होना असम्भव-सा ही समझना चाहिये। परन्तु यदि कान और जबान भगवान्‌में लगे रहेंगे—उन्हें दूसरे कार्यके लिये फुरसत ही नहीं मिलेगी, तो अन्यान्य इन्द्रियाँ और मन भी स्वतः ही भगवत्परायण हो जायँगे। अतएव कान और जीभको भगवान्‌के नाम-गुण-लीलादिके सुनने और गानेमें ही निरन्तर लगाये रखना चाहिये। यही जीवनको सफल बनानेके साधन हैं। केवल जीवित रहने, श्वास लेने, खाने और मैथुन करने आदिमें ही जीवनकी सफलता मानी जाय तो क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते हैं? क्या लोहारकी धोंकनी श्वास नहीं लेती है और क्या पशु भोजन या मैथुन नहीं करते हैं। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
(२।३।१९-२०)

'जिसके कर्णपथमें भगवान्‌के नाम-गुणोंने कभी प्रवेश नहीं किया, वह मनुष्यरूपी पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहेकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय है। हे सूतजी! जो कान भगवान्‌की लीलाका श्रवण नहीं करते वे साँपके बिलके समान हैं और जो दुष्टा जिह्वा भगवान्‌की लीला-कथाका गान नहीं करती वह मेंढककी जीभके समान व्यर्थ बकवाद करनेवाली है।'

इसीका अनुवाद गोस्वामी तुलसीदासजीने किया है।

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। स्रवनरंध्र अहिभवन समाना॥
जो नहिं करहिं राम-गुन-गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥

श्रीमद्भागवतके अन्तमें कहा गया है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
(१२।१२।४८-४९)

'जिन वाणियोंसे अधोक्षज भगवान्‌की कथा न कही जाकर विषयोंकी बुरी बातें कही जाती हैं, वह वाणी असत् और व्यर्थ है। जिन वचनोंमें भगवान्‌के गुणोंको प्रकट किया जाता है, पुण्यकीर्ति भगवान्‌का यश वर्णन किया जाता है, वास्तवमें वही वचन सत्य हैं, वही मंगलरूप हैं, वही पुण्य हैं, वही मनोहर हैं, वही रुचिर हैं, वही नित्य नये-नये रसमय हैं, वही सदा मनको आनन्द देनेवाले हैं और वही मनुष्योंके शोकरूपी समुद्रको सुखानेवाले हैं।'

अतएव कानोंसे भगवान्‌के गुण और नामोंका श्रवण और वाणीसे उनका कीर्त्तन करना चाहिये। इसीसे भगवान्‌का निर्मल प्रेम उदय होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः॥

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(११ । २ । ३९-४०)

'चक्रपाणि भगवान्के लोकप्रसिद्ध जन्म, कर्म और गुणोंको कानोंसे सुनता हुआ, और विचित्र लीलाओंके अनुसार रक्खे हुए भगवान्के नामोंका निःसंकोच होकर गान करता हुआ विषयासक्तिरहित होकर संसारमें विचरे । इस प्रकार व्रत धारण करके अपने परम प्रियतम प्रभुका नामसंकीर्तन करनेसे श्रीहरिमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब वह बड़भागी पुरुष द्रवित चित्त होकर प्रेमावेशमें कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी जोरसे चिल्लाता है, कभी उच्च स्वरसे गान करने लगता है और कभी उन्मत्तके समान नाचने लगता है ।'

यों निरन्तर भगवान्के गुण-श्रवण-कीर्तनमें लगे रहनेसे चित्तसे आप ही भगवान्का ध्यान होता है और इसके फलस्वरूप भगवती प्रेमा-भक्ति अपने-आप ही प्रकट हो जाती हैं, जिससे साधक सर्वथा पापशून्य होकर परम आनन्दमय बनकर कृतार्थ हो जाता है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥
(११ । २६ । २९)

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥
(११ । ३१ । २७-२८)

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥
(११ । २६ । ३०)

भगवान् कहते हैं—'जो लोग मुझमें मन लगाकर श्रद्धा और आदरके साथ मेरी नाम-गुण-लीला-कथाको सुनते, गाते और चिन्तन करते हैं उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है ।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'हे राजन् ! जो मनुष्य देवदेव भगवान्के दिव्य जन्म-कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे छूट जाता है । भगवान् श्रीहरिके अति मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाल-लीलाओंको सुनने तथा उनका गान करनेसे मनुष्य परमहंसोंकी गति-स्वरूप भगवान्में परा भक्तिको प्राप्त होता है ।'

भगवान् कहते हैं—'इस प्रकार मुझ अनन्त-गुणसम्पन्न सच्चिदानन्दघन—ब्रह्ममें भक्ति हो जानेपर फिर उस साधु पुरुषको और कौन-सी वस्तु प्राप्त करनी बाकी रह जाती है ? अर्थात् वह कृतार्थ हो जाता है ।'

भगवान्के नाम श्रवण और कीर्तनका परम फल है । जहाँतक भगवान्के नामकी ध्वनि पहुँचती है, वहाँतक वातावरण पवित्र हो जाता है । मृत्युकालके अन्तिम श्वासमें भगवान्का नाम किसी भी भावसे जिसके मुँहसे निकल जाता है उसको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान्के नामका जहाँ कीर्तन होता है वहाँ यमदूत नहीं आ सकते । अतएव दस नामापराधोंसे* बचते हुए भगवान्के नामका जप-कीर्तन और श्रवण अवश्य ही करना चाहिये ।

* नामके दस अपराध ये हैं—१-सन्तोंकी निन्दा, २-भगवान्के नामोंमें छोटे-बड़ेका भेदभाव, ३-गुरुका अपमान, ४-शास्त्रनिन्दा, ५-नाममें अर्थवाद (अर्थात् यह समझना कि यह केवल प्रशंसामात्र है, ऐसा फल

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

'पुत्रादिके नामसङ्केतसे, परिहासमें, स्तोभ या अवहेलनासे भी भगवान्‌का नाम लेनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक यदि कोई मनुष्य पुण्यश्लोक भगवान्‌का नाम-कीर्तन करता है तो उसके पाप अग्निमें जले हुए ईंधनकी तरह भस्म हो जाते हैं।'

सभी सद्ग्रन्थों और सन्तोंकी वाणियोंमें भगवन्नाम-की महिमा गायी है। श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोक मनन करने योग्य हैं। देवी देवहूतिजी भगवान् कपिलदेवसे कहती हैं—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(३।३३।७)

'अहो, जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान, वेदाध्ययन सब कुछ कर लिये।'

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशोऽब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

नहीं होता) मानना, ६—नामका सहारा लेकर पाप करना, ७—धर्म, व्रत, दान और यज्ञादिके साथ नामकी तुलना करना, ८—अश्रद्धालु, हरिविमुख और सुनना न चाहने-वालोंको नामका उपदेश करना, ९—नाममाहात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और १०—अहंकार, ममता तथा भोगादि विषयोंमें आसक्त रहना।

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

(१२।१२।४६-४७)

'कोई भी मनुष्य गिरते, पड़ते, छींकते और दुःखसे पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वरसे 'हरये नमः' पुकार उठता है तो वह सब पापोंसे छूट जाता है। जैसे सूर्य पर्वतकी गुफाके अन्धकारका भी नाश कर देता है, और जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको छिन्नभिन्न करके लुप्त कर देता है, इसी प्रकार अनन्त भगवान्‌का नाम-कीर्तन हृदयमें प्रवेश करके समस्त पापोंको धो डालता है।'

यह तो विवश होकर नाम लेनेका फल है। प्रेमसे लेनेपर तो कहना ही क्या है। इसीसे गुसाईं-जी कहते हैं—

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं।
जनम अनेक संचित अघ दहहीं॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं।
भवबारिधि गोपद इव तरहीं॥

अतएव भक्तिकी प्राप्तिके लिये नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम-गुण-यशका कीर्तन, श्रवण और चिन्तन निःसन्देह परम साधन है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपा-लेशाद्वा ॥ ३८ ॥

३८—परन्तु (प्रेमभक्तिकी प्राप्तिका साधन) मुख्यतया (प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होता है।

विषय और विषयासक्तिका त्याग करके अखण्ड भजन और श्रवण-कीर्तनका साधन बतलाया जानेके

बाद अब एक ऐसा साधन बतलाया जाता है, जिस एकके प्रतापसे ही पहले तीनों अपने-आप हो जाते हैं—वह साधन है 'महापुरुषोंकी कृपा'। महापुरुष तो कृपालु ही होते हैं परन्तु श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनका सङ्ग करना बड़ा कठिन है। महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर विषय तो आप ही छूट जाते हैं। उनके सङ्गसे श्रवण-कीर्त्तन भी करना ही पड़ता है और रातदिन जो कुछ सुनने, कहने और देखनेमें आता है, उसका स्मरण अनिवार्य है ही। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ जिन महापुरुषोंकी कृपा-मात्रसे ही फलरूपा प्रेमभक्तिकी प्राप्ति बतलायी है, वे महापुरुष केवल शास्त्रज्ञानी और सदाचारी ही नहीं होते, भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपसे जानकर उनमें अनन्य प्रेम करनेवाले भक्त होते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंके सङ्गकी बड़ी महिमा है। इसीसे यज्ञ-धूमसे जिनके शरीर धुमैले हो गये हैं, ऐसे कर्मकाण्डी विज्ञानविद् ऋषि भगवच्चरणकमलरसामृतका पान करानेवाले प्रेममूर्ति सूतजीसे कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(श्रीमद्भा० १।१८।१३)

'हे सौम्य! भगवत्सङ्गी प्रेमियोंके निमेषमात्रके सङ्गकी तुलना, स्वर्गादिकी तो बात ही क्या है, पुनर्जन्मका नाश करनेवाली मुक्तिके साथ भी नहीं की जा सकती, फिर मर्त्यलोकके राज्यादि सम्पत्तिकी तो बात ही क्या है? इसीके आधारपर रामचरित-मानसमें कहा गया है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सत्संग॥

यह उस सत्सङ्गकी महिमा नहीं है जो अन्तः-करणकी शुद्धि करके मोक्षप्राप्ति करवाता है। क्योंकि यहाँ तो मोक्षके साथ लवमात्रके ऐसे सत्सङ्ग-की तुलना करना भी असङ्गत बतलाया गया है। अतएव यहाँ उन भगवत्तत्त्वके ज्ञाता होकर भगवत्-प्रेमके रंगमें रँगे हुए मोक्षसंन्यासी भगवत्सङ्गी (सर्वैश्वर्यपूर्ण मधुरतम लीलाविहारी भगवान्‌के नित्य लीलासङ्गी) प्रेमी सन्तोंकी उस कृपाका उल्लेख है, जो केवल मुक्ति ही नहीं, भगवान्‌के प्रेमरूपी भक्तिकी प्राप्ति भी सहज ही करवा देती है। क्योंकि मुक्तिको तो ऐसे प्रेमी चाहते ही नहीं। वरं मुक्तिकी चाहको ही वे प्रेमरूपा भगवद्भक्तिकी उत्पत्तिमें बाधा देनेवाली पिशाचिनी समझकर उसका तिरस्कार किया करते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंकी कृपा जिनपर होती है, जो पुरुष ऐसे भक्तोंका सङ्ग प्राप्त कर लेता है, योग और ज्ञान आदिसे भी वशमें न होनेवाले भगवान् (सहज ही) उसके वशमें हो जाते हैं। इसीलिये स्वयं भगवान् अपने प्रेमी भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
(श्रीमद्भा० ११।१२।१-२)

'हे उद्धव! दूसरे समस्त सङ्गोंका निवारण करने-वाले 'सत्सङ्गसे' मैं जैसा वशीभूत होता हूँ वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम किसीसे नहीं होता।'

इसका कारण यह है कि अन्यान्य सब साधन, सकामभावसे होनेपर भोग और स्वर्गादिकी, और निष्कामभावसे होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि और मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। लीलाविहारी भगवान्‌को सीधा वशमें करनेवाला तो केवल एक

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, अनन्य और विशुद्ध प्रेम ही है, जो इन साधनोंमेंसे किसीसे नहीं मिलता, वह तो केवल भगवत्संगी प्रेमी महापुरुषोंकी महती कृपासे ही मिलता है ।

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥

हाँ, यदि श्रीभगवान् चाहें तो स्वयमेव अपना प्रेम दे सकते हैं, उनकी कृपाके लेशमात्रसे ही प्रेम मिल सकता है । गोसाईंजीने कहा है——

जाकी कृपा-लवलेसतें मतिमंद तुलसीदासहूँ ।
पायो परम बिस्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥

परन्तु नित्य कृपावर्षा करनेवाले भगवान्का कृपा-बिन्दु भी भगवदीय महात्माओंकी कृपासे ही जीवोंको मिल सकता है । अतएव ऐसे प्रेमी सन्तोंका सङ्ग ही प्रधान साधन है परन्तु ऐसा सङ्ग प्राप्त होना अपने वशकी बात नहीं ! इसीसे देवर्षि नारदजी अगले सूत्रमें महत्सङ्गको दुर्लभ बतलाते हैं——

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥३९॥

३९—परन्तु महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है ।

संसारमें स्वधर्मपरायण, सदाचारी, साधु स्वभाव, दैवी सम्पत्तिवान् पुरुषोंकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है । सच्चे हीरोंकी भाँति जमातों और उपदेशकोंमें सच्चे साधु थोड़े ही होते हैं पर खोज करनेपर संसारमें सदाचारी, कर्मकाण्डी और कुछ ज्ञानी पुरुष तो मिल भी सकते हैं । परन्तु ऐसे सच्चे प्रेमी महात्मा बहुत ही कम मिलते हैं जिनकी कृपामात्रसे परम दुर्लभ योगि-ज्ञानि-जनवाञ्छित भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती हो । इसीलिये ऐसे महात्माओंका मिलन बहुत दुर्लभ माना जाता है । यदि कहीं ऐसे महापुरुष मिल भी जाते हैं तो उनका पहचानना बहुत कठिन होता है । क्योंकि बाह्य आचार तो ढोंगी और नाटकके पात्र भी किसी अंशमें वैसा ही दिखला सकते हैं । आँखोंसे आँसुओंका बहना, रोना, हँसना और चिल्लाना ही प्रेमीके लक्षण नहीं हैं । अनेक बाह्य कारणोंसे भी ऐसा हो सकता है । फिर कोई-कोई सच्चे प्रेमी ऐसे भी हो सकते हैं, जो इन लक्षणोंवाली स्थितिसे भी आगे बढ़ चुके हों और जिनके बाह्य आचार साधारण समझसे बाहर हों । प्रेमीजन तो किसीको कहने जाते ही नहीं कि हमें प्रेमी मानो; और कहनेसे मानता भी कौन है । अतएव ऐसे निःस्पृही भगवज्जनोंकी पहिचान बहुत ही कठिन है, इसीसे उनके सङ्गको दुर्गम बतलाया गया है । परन्तु सौभाग्यसे यदि कहीं ऐसे महात्मा पुरुष मिल जाते हैं तो उनका बिना जाने मिल जाना भी कभी व्यर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि वह अमोघ है । जब साधारण सदाचारी, विद्वान् साधुओंका समागम ही अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण होकर पाप, ताप और दैन्यका निवारण करनेमें समर्थ होता है; तब जिनका हृदय भगवत्प्रेमसे छलकता है, जो प्रेम और आनन्दकी मूर्ति हैं, जिनके स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश होता है, उन भगवदीय प्रेमी महात्माओंके दर्शनका फल हुए बिना कभी रह ही नहीं सकता । इसीसे महत्सङ्गको अमोघ (अवश्य फलदायी) बतलाया गया है ।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥४०॥

४०—उसकी (भगवान्) कृपासे ही (महत्पुरुषोंका) सङ्ग भी मिलता है ।

भगवत्कृपा और महान् पुरुषोंका सङ्ग एक-दूसरेके आश्रित हैं । महत्पुरुषोंके सङ्ग बिना भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता, और भगवत्कृपा बिना ऐसे महापुरुष नहीं मिलते । श्रीविभीषणको भी श्रीहनूमान्-

जीके मिलनेपर ही भगवत्कृपाका अनुभव हुआ, इसीसे उन्होंने कहा—

अब मोहिं भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहि नहिं संता॥

अवश्य ही सन्तका मिलन हरि-कृपासे ही होता है। भगवान् जिसपर कृपा करके अपनाना चाहते हैं, उसीके पास, प्रेमपाशमें अपनेको बाँध रखनेकी शक्तिवाले, अपने स्वरूप प्रेमी भक्तको भेजते हैं।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१॥

४१—क्योंकि भगवान्में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।

भगवान्के भक्त भगवत्स्वरूप ही हैं। जो भक्तोंका सेवन करते हैं वे भगवान्का ही सेवन करते हैं। भक्त भगवान्के हृदयमें बसते हैं और भगवान् भक्तके हृदयमें। भगवान्ने कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भागवत ९।४।६८)

'साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर और किसीको नहीं जानता।' भरत रामको भजते हैं और राम भरतको—

भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥

श्रीभगवान्ने प्रेम-स्वरूपा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'हे अर्जुन! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं और कोई नहीं जानता।'

ऐसे प्रेमी भक्तोंमें और भगवान्में क्या अन्तर है? भगवान्ने कहा ही है—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९।२९)

'जो प्रेमसे मुझको भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।' ऐसे भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने बाह्य रूपको भूलकर साक्षात् भगवत्-स्वरूपका अनुभव करने लगते हैं। गोपियाँ भगवान्को ढूँढ़ती हुई ऐसी तन्मय हो गयीं कि वे उन्हींकी लीला करने लगीं—

मोहन लाल रसालकी लीला इनहीं सोहैं।
केवल तन्मय भईं कछु न जानैं हम को हैं॥
(नन्ददासजी)

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥४२॥

४२—(अतएव) उस (महत्सङ्ग) की ही साधना करो, उसीकी साधना करो।

अतएव भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये ऐसे भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके सङ्गकी ही प्रबल इच्छा करो। भगवत्कृपासे प्रेमी सन्त मिल जायँगे और सन्त-मिलनके प्रतापसे ही हम पाप-तापसे छूटकर निर्मल भगवत्प्रेमको प्राप्त कर सकेंगे। इसमें एक बड़ा रहस्य है। मान लीजिये—एक महान् प्रतापी राजा है और साथ ही वह बड़ा भारी प्रेमी भी है, परन्तु प्रेम हरेकके साथ नहीं होता। राजा राजसभामें और अपने राज्यमें अपना प्रभाव और ऐश्वर्य तो खूब दिखला सकता है, परन्तु अपने मुँहसे अपने प्रेमका रहस्य किसीके सामने नहीं कह सकता। हम प्रजाके रूपमें विधिके अनुसार उससे मिलकर विधिवत् बातें कर सकते हैं, परन्तु न तो प्रेमका रहस्य पूछ सकते हैं और न वह हमें बतला ही सकता है। उसके प्रेमका गुह्य रहस्य जानना या उसके प्रेमराज्यमें प्रवेश करना हो तो

उसके किसी अनन्य प्रेमीका—'जिसके साथ राजाका व्यक्तिगत प्रेमका निर्मल (राज्यविधिसे अतीत) सम्बन्ध है और जिसके साथ वह परस्पर खुली प्रेम-चर्चा करता है'—सङ्ग करना होगा, और उसके हृदयमें अपना विश्वास पैदा करके उसके द्वारा राजाके प्रेमका रहस्य जानना होगा और उसीके द्वारा राजाके निकट अपना प्रेमसन्देश पहुँचाना होगा तथा अपनी पात्रता सिद्ध करनी होगी। जब राजा हमें पात्र समझ लेगा तो हमें भी उसीकी भाँति प्रेमगोष्ठीमें शामिल कर लेगा। इसी प्रकार भगवान् भी अपने प्रेमका रहस्य अपने मुँहसे नहीं बतलाते। भगवान्ने उद्धवको प्रेमशिक्षा दिलानेके लिये गोपियोंके पास भेजा था। प्रियतमका प्रेमरहस्य और उसके प्रेमकी गुह्य बातें जैसे उसकी प्रियतमाके द्वारा ही उसकी विश्वस्त सखियोंको मिलती है इसी प्रकार भगवान्के प्रेमका रहस्य भी भगवत्प्रेमी भक्तोंके द्वारा ही साधकको मिलता है। और मिलता भी है उसीको, जिसको भगवान् पात्र समझकर कृपा करके अपने प्रेमका भेद देना चाहते हैं। क्योंकि प्रेमी भक्त प्रेमास्पद प्रियतम भगवान्की इच्छा या आज्ञा बिना उनके प्रेमका रहस्य किसीके सामने नहीं खोल सकते। पहले साधकको पात्र बनना होता है। जब भगवान्के निर्मल अत्युच्च प्रेमकी एकान्त आकांक्षा उसके मनमें उत्पन्न हो जाती है तब उसका हृदय भगवत्प्रेमके लिये रोने लगता है। उसके हृदयका आर्तनाद अन्तर्यामी आनन्दमय प्रभु सुनते हैं, और तब कृपा करके वे अपने किसी प्रेमी भक्तको आदेश या संकेत करके उसके समागममें भेज देते हैं। वहाँ उसके प्रेमकी परीक्षा होती है। यदि उसका प्रेम कामनाशून्य और अनन्य होता है, और वह अपने आचरण और व्यवहारसे उस प्रेमी भक्तके हृदयमें पात्रताका विश्वास पैदा कर देता है, तब वे उसका सन्देश भगवान्के पास पहुँचाते हैं और भगवान्की आज्ञा प्राप्त करके क्रमशः प्रेमका रहस्य उसके सामने खोलते हैं और धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों उसकी पात्रता बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों भगवान्की आज्ञासे वे उसे भगवान्के प्रेमराज्यमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ाकर ले जाते हैं और अन्तमें उसपर भगवान्की पूर्ण कृपा होनेसे वह भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लेता है। राजा या उसका प्रेमी तो अन्तर्यामी न होनेसे किसीके धोखेमें भी आ सकता है परन्तु भगवान्, और भगवान्की इच्छासे नियुक्त होनेवाले प्रेमी भक्त, कभी धोखा नहीं खाते। अतएव जिसको भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उसे देवर्षिके बतलाये हुए साधनोंमें तत्पर होकर पहले पात्र बनना चाहिये, जिससे उसपर भगवान्की कृपा हो, और वह भगवत्प्रेमी पुरुषोंके सङ्गका पात्र समझा जाय। साथ ही ऐसे भगवत्प्रेमी पुरुषोंके सङ्गकी इच्छा प्रबलरूपसे बढ़ानी चाहिये, क्योंकि इनके सङ्ग बिना भगवत्प्रेमकी प्राप्ति महान् कठिन है। इसीसे भगवान् अपने निर्मल प्रेमके प्रचारार्थ ऐसे भक्तोंको, मुक्तिके पूर्ण अधिकारी होनेपर भी, उनके मनमें प्रेमकी वासना जागृत रखकर उन्हें सायुज्य मुक्ति नहीं देते, और इसीसे प्रेमी भक्तगण इस प्रेम-लीला-सुखको छोड़कर मुक्तिकी कभी चाह नहीं करते। वे मुक्त होकर भी केवल प्रेम वितरणके लिये ही संसारमें आया करते हैं या निवास करते हैं। वे अहैतुक कृपालु होते हैं। हमारी तीव्र इच्छा पावेंगे तो भगवत्कृपासे भगवान्का संकेत प्राप्तकर अपने पुण्यमय दर्शन-स्पर्श-भाषण और अपनी महती कृपासे हमें अवश्य प्रेमदान करेंगे। क्योंकि वे तो प्रेमी जनोंकी खोजमें ही रहते हैं। उनका काम ही प्रेमदान करना है। अतएव उन्हीं भगवत्सङ्गी प्रेमी महानुभावोंका सङ्ग प्राप्त करो, उन्हींकी कृपाकी इच्छा करो! (क्रमशः)

श्रीश्रीराधासहस्रनाम

(मातृ-शरण)

'श्रीशक्ति-अङ्क'ने लुप्तप्राय परम प्रयोजनीय मातृतत्त्वका रहस्योद्घाटन करके वास्तवमें कल्याणका कार्य किया है। प्रत्येक वस्तुको—जड़ जगत्के प्रतीयमान प्रत्येक स्थूलतम भावको भी—शक्ति-संवित् चैतन्यकला और शाश्वत मातृदेवीकी जाग्रत् लीलायित राशिके रूपमें प्रतिष्ठित करना भारतवासीकी चिर अतीतकी साधना रही है। जड़वत् प्रतीत होनेवाला पाषाण भी वस्तुतः चैतन्य-घन है इस सत्यकी प्रत्यक्ष अनुभूति निर्मल भारतवासीने अनेक युगों पूर्व उपलब्ध कर ली थी। आद्याशक्तिके मातृत्वकी उपेक्षाका भाव इसके हृदयमें घुसने लगा बाह्य अपवित्र संसर्गसे, विपरीत पाश एवं विगुणोंके अनुकूल बन्धनसे। उन विदेशी भावोंसे कि जिनमें मातृत्वका किञ्चित् भी प्रकाश नहीं है—Fatherhood से ही उनके भाव पोषित हैं। भगवान्की शक्तिमत्ता तथा ऐश्वर्य मातृदेवी शक्तिके संयोगके कारण है। मातृरूपमें शक्तिपूजाका प्राण प्रत्येककी नस-नसमें जब प्रवाहित होता था, उस समय भारतवर्ष उत्तुङ्ग शिरशिखरको उठाये और वज्रवक्षःस्थलको आगे तानकर अनुपम ज्योतिके संदेश-स्फुलिङ्ग प्रत्याशीके प्राङ्गणमें प्रसारित करता था। उस समय यहाँ प्रत्येक कार्य सुव्यवस्था, संगठन-शक्ति, नियमन तथा तन्त्रकी अभ्रान्त निश्चिन्ततासे सम्पन्न हुआ करते थे। कालक्रमसे अधोगतिके मोहनास्त्रने यहाँकी समुज्ज्वल व्यवस्थापद्धति—तन्त्रशैलीपर बुरा आघात करके सुप्तप्राय अवस्थामें उसको डाल दिया और 'जीवन' के उपादेय सूत्रको भूलकर सुगुम्फित मणियोंको हम न जाने कहाँ-कहाँ खो बैठे।

महाशक्तिकी अपार दयालुतासे उस अत्यावश्यकीय लुप्त सूत्र–तन्तु–(तन्त्र) के एक छोरकी स्पन्दन-रेखाकी झलक-सी अब होने लगी है। बच्चेको तो माँकी निश्चिन्त गोद चाहिये। इस बातकी आवश्यकताका अनुभव अब हमको पुनः होने लगा है। माँकी करुणा और उसके अभय-वरद-हस्त समस्त आपदाओंसे और विघ्नबाधाओंसे हमारी रक्षा करते रहें। माँकी आनन्दरूपिणी प्रतिमा श्रीश्रीराधिकाके रसपूर्ण वैभव और प्रभावका आनन्द 'कल्याण' के पाठकगण उपलब्ध करें, इस अभिप्रायसे रसपरिप्लुत तन्त्रमेंसे नीचे 'श्रीश्रीराधासहस्रनाम स्तोत्र' यहाँ दिया जाता है। ऋष्यादिन्यास, श्रीराधामन्त्र (क्लीं क्लीं ऐं ऐं ह्रीं ह्रीं राधिकायै क्लीं क्लीं ऐं ऐं ह्रीं ह्रीं) के साथ राधिकाजीकी पूजा करके इस स्तोत्रके रसपूर्ण आनन्दका अनुभव श्रीराधा-कृष्णके प्रेमी सज्जनगण सहज ही लाभ कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त बाह्यरूपसे भी प्रस्तुत स्तोत्र विचित्र विशिष्टताओंसे परिपूर्ण है। 'राधा' के 'र' वर्णसे आरम्भ करके वर्णानुक्रमके अनुसार प्रहर्षण पद-प्रसूनोंसे प्रोत समस्त श्लोक शृङ्खलाबद्ध किये गये हैं। और इसके बाद तन्त्रशास्त्रके गुह्यरहस्य ककार विद्याके ककारादिक्रमसे स्तोत्र-शब्दावलि बड़ी ही सुन्दरताके साथ गुम्फित की हुई है। समाहित चित्त-पूर्वक पाठ करनेवाले प्रेमीजन चमत्कृतपूर्ण इस दिव्य स्तोत्रसे निर्झरित आनन्द एवं शान्तिकी शीतल फुहारोंसे अवश्य पुलकित हुए विना न रहेंगे। आनन्दपूर्ण जिस तन्त्रशास्त्रमेंसे प्रस्तुत स्तोत्र दिया गया है उसीमें श्रीश्रीराधाजीका एक बहुत ही स्फूर्तिपूर्ण कवच है जिसको भविष्यमें प्रेमियोंके समक्ष उपस्थित किया जा सकता है।

श्रीश्रीराधासहस्रनाम स्तोत्रम्

ॐ अस्य श्रीपद्मिनीसहस्रनामस्तोत्रस्य श्रीकृष्णऋषिर्महिषमर्दिन्यधिष्ठात्री देवता गायत्रीच्छन्दो महाविद्यासिद्ध्यर्थे विनियोगः। ॐ ह्रीं ऐं पद्मिन्यै राधिकायै। राधा रमणीरूपा निरुपमरूपवती वश्या वामा रजोगुणा सर्वलोकेशजननी तत्त्वातीता परमा माता॥

रक्ताङ्गी रक्तपुष्पाभा राध्या रासपरायणा ।
रम्भावती रूपशीला रजनी रञ्जिनी रतिः ॥

रतिप्रिया रमणीया रसपुण्ड्रा रसायना ।
रासमध्ये रासरूपा रसवेशा रसोत्सुका ॥

रसवती रसोल्लासा रसिका रसभूषणा ।
रसमालाधरी रङ्गी रक्तपट्टपरिच्छदा ॥

कमला कल्पलतिका कुलव्रतपरायणा ।
कामिनी कमला कुन्ती कलिकल्लोलनाशिनी ॥

कुलीना कुलवती कामिकामसन्दीपनी तथा ।
कौमारी कृष्णवनिता कामार्त्ता कामरूपिणी ॥

कामुकी कलुषघ्नी च कुलज्ञा कुलपण्डिता ।
कृष्णवर्णा कृष्णाङ्गी कृष्णवस्त्रपरिच्छदा ॥

कान्ता कामस्वरूपा च कामरूपा कृपावती ।
क्षेमा क्षेमवती चैव खेलत्खञ्जनगामिनी ॥

खस्था खगा खगस्थात्री खगणस्थविहारिणी ।
गरिष्ठा गरिमा गङ्गा गया गोदावरी गतिः ॥

गान्धारी गुणिनी गौरी गङ्गा गोकुलवासिनी ।
गन्धर्वी गानकुशला गुणा गुप्तविलासिनी ॥

घर्घरा घर्मदा घर्मा घनस्था घनवासिनी ।
घृणा घृणावती घोरा घोरकर्मविवर्जिता ॥

चन्द्रा चन्द्रप्रभा चैव चन्द्रमूर्तिपरिच्छदा ।
चन्द्ररूपा च चन्द्राख्या चञ्चला चारुभूषणा ॥

चतुरा चारुशीला च चम्पा चम्पावती तथा ।
चन्द्ररेखा चन्द्रकला चारुवेशाविनोदिनी ॥

चन्द्रचन्दनभूषाङ्गी चार्वाङ्गी चन्द्रभूषणा ।
चित्रिणी चित्ररूपा च चित्रमूर्तिधरा सदा ॥

छद्मरूपा छद्मवेशी श्वेतच्छत्रविधारिणी ।
छत्रातपा च छत्राङ्गी छत्रघ्नी छत्रपालिनी ॥

छुरितामृतधारौघा छद्मवेशनिवासिनी ।
छटाकृतमरालौघा छद्मकृतनिजामृता ॥

जयन्ती च जगन्माता जननी जन्मदायिनी ।
जया जैत्री च जरती जीवनी जगदम्बिका ॥

जीवा जीवस्वरूपा च जाड्यविध्वंसकारिणी ।
जगद्योनिर्जनश्रेष्ठा जगद्धेतुर्जगन्मयी ॥

जगदानन्दजननी जनयित्री जनसम्पदाम् ।
झङ्कारवाहिनी झञ्झा झर्झरी निर्झरावती ॥

टङ्कारटङ्किनी टङ्का टङ्किता टङ्करूपिणी ।
डम्बरा डम्भरा डम्बा डमडम्बा च डम्बुरा ॥

ढोकिताशेषनिर्घोषा ढलढोलितलोचना ।
तपिनी त्रिपथा तीर्थवारिणी त्रिदशेश्वरी ॥

त्रिलोकत्रयी त्रैलोक्यतरणी तरणे तरुः ।
तापहन्त्री तपा तापा तपनीया तपावती ॥

तापिनी त्रिपुरादेवी त्रिपुराज्ञाकरी सदा ।
त्रिलक्षा तारिणी तारा तारानायकमोहिनी ॥

त्रैलोक्यगमना तीर्णा तुष्टिता त्वरिता त्वरा ।
तृष्णा तरङ्गिणी तीर्था त्रिविक्रमविहारिणी ॥

तमोमयी तामसी च तपस्या तपसः फला ।
त्रैलोक्यव्यापिनी तुष्टा तृप्तिः स्तुत्या तुला तथा ॥

त्रैलोक्यमोहिनी तूर्णा त्रैलोक्यविभवप्रदा ।
त्रिपदी च तथा तथ्या तिमिरध्वंसचन्द्रिका ॥

तेजरूपा तपःपारा त्रिपुरा त्रिपदस्थिता ।
त्रयी तन्त्री तापहरा तापनाङ्गजवाहिनी ॥

तरिस्तरणिस्तारुण्या तपिता तरणीप्रिया ।
तीव्रपापहरा तुल्या तूर्णपापतनूनपात् ॥

दारिद्र्यनाशिनी दात्री दक्षा देया दयावती ।
दिव्या दिव्यस्वरूपा च दीक्षा दक्षा दया द्रवा ॥

दिव्यरूपा दिव्यमूर्त्तिर्दैत्येन्द्रप्राणनाशिनी ।
द्रुता च द्रुतरूपा च द्वन्द्वशोकविनाशिनी ॥

दुर्वारा दमयाद्या च देवकार्यकरी सदा ।
देवप्रिया देवयाज्या दैवा देवधिया सदा ॥

दिक्पालपददात्री च दीर्घाद्या दीर्घलोचना ।
दुष्टद्वेषकामदुघा दोग्ध्री दूषणवर्जिता ॥

दुग्धा द्युसदृशाभासा दिव्या दिव्यगतिप्रिया ।
द्युनदी दीनशरणा दिव्या देहविहारिणी ॥

दुर्गमा दरिमा दामा दुरघ्नी दूरवासिनी ।
दुर्विगाह्या दयाधरा दूरसन्तापनाशिनी ॥

दुराशया दुराधारा द्राविणी द्रुहिणस्तुता ।
दैत्यशुद्धिकरा देवी सदा दानवसिद्धिदा ॥

दुर्बुद्धिनाशिनी देवी सततं दानदायिनी ।
दानदात्री च देवेशी द्यावाभूमिविगाहिनी ॥

दृष्टिदा दृष्टिफलदा देवतागृहसंस्थिता ।
दीर्घव्रतकरी दीर्घा दीर्घधर्मा दयावती ॥

दण्डिनी दण्डनीतिश्च दोसदण्डधरार्चिता ।
दानार्चिता द्रव्यद्रव्या द्रवैकनियमापरा ॥

दुष्टसन्तापशाम्या च दात्री दवथुरोधिनी ।
देवी दिव्यबलवती दान्ता दान्तजनप्रिया ॥

दारिद्र्यादितटा दुर्गा दुर्गादैन्यप्रचारिणी ।
धर्मरूपा धर्मधुरा धेनुरूपा धृतिर्ध्रुवा ॥

धेनुदाना ध्रुवस्पर्शा धर्मकामार्थमोक्षदा ।
धर्मिणी धर्ममाता च धर्मधात्री धनुर्धरा ॥

धात्री ध्येया धरा धीयी धारिणी धृतकल्मषा ।
धनदा धर्मदा धन्या धान्यदा धन्यदा धना ॥

धन्या धान्यादिरूपा च धरणी धनपूरिता ।
धारणा धनरूपा च धर्माधर्मप्रचारिणी ॥

धर्मिणी धर्मतन्त्राख्या धर्मिन्नामलकेशिनी ।
धर्मप्रचारनिरता धर्मरूपा धुरन्धरी ॥

धनुर्विद्या धनी धात्री धनुर्विद्याविशारदा ।
निरानन्दा निरीहा च निर्वाणद्वारसंस्थिता ॥

निर्वाणपदवीदात्री नन्दिनी नाकनायिका ।
नारायणी निषिद्धघ्नी निजरूपप्रकाशिनी ॥

नमस्या निद्र्या नन्दनतनूतनरूपिणी ।
निर्मला निर्मलाभासा निरध्या निरपत्रपा ॥

नित्यानन्दमयी नित्या नित्यनूतनविग्रहा ।
निषिद्धा नीतिधैर्या च निर्वाणपददीपिका ॥

निःशङ्का च निरातङ्का निर्णाशितमहामनाः ।
निर्मला नन्दजननी निर्मलश्यामवेशिनी ॥

निरवद्यकुलश्रेष्ठा नित्यानन्दस्वरूपिणी ।
निर्णया निर्णयपिता निषिद्धकर्मवर्जिता ॥

नित्योत्सवा नित्यतृप्ता नमस्कार्या निरञ्जना ।
निष्ठावती निरातङ्का निर्लेपा निश्चलात्मिका ॥

निरवद्या निरीशा च निरञ्जनपुरस्थिता ।
पुण्यप्रदा पुण्यकरी पुण्यगर्भा पुरातनी ॥

पुण्यरूपा पुण्यदेहा पुण्यगीता च पावना ।
पूजा पवित्रा परमा परा पुण्यविभूषणा ॥

पुण्यदात्री पुण्यधरा पुण्यापुण्यप्रवाहिनी ।
पुण्यदेहा पुण्यवती पूर्णिमा पूर्णचन्द्रमाः ॥

पौर्णमासी परा पद्मा पद्मिनी पद्मगन्धिनी ।
पद्मिनी पद्मवस्त्रा च पद्ममालाधरा सदा ॥

पद्मोद्भवा पराख्या च परमानन्दरूपिणी ।
प्रकाश्या परमाश्चर्या पद्मगर्भनिवासिनी ॥

पावनी च तथा पूता पवित्रपरमाकला ।
पद्मार्चिता पद्मसंस्था पद्ममाता पुरातनी ॥

पद्मासनगता नित्या पद्मासनपरिच्छदा ।
पद्मशुक्लासनगता पद्मरक्तासना तथा ॥

पदार्थदायिनी पद्मवनवासपरायणा ।
पूर्णा प्रकाशिनी प्रेमा पुण्यश्लोका च पावनी ॥

फलहन्त्री फलहरा फलिनी फलरूपिणी ।
फुल्लेन्दीलोचना फुल्ला फुल्लकोरकगन्धिनी ॥

फलिनी फालिनी फेना फुल्लच्छादितपातका ।
विश्वमाता च विश्वेशी विश्वा विश्ववरप्रिया ॥

ब्रह्मण्या ब्राह्मणी ब्राह्मी ब्रह्मज्ञा विमलामला ।
बहुला बाहुला वल्ली बल्लवीवनदायिनी ॥

विक्रान्ता विक्रमामाला बहुभाग्यविलोचना ।
विश्वामित्रा विष्णुसखी वैष्णवी विष्णुवल्लभा ॥

विरूपाक्षप्रियादेवी विभूतिर्विश्वतोमुखी ।
वेदवादरता वाणी वेदाक्षरसमन्विता ॥

विद्या विद्यावती वन्द्या बृहती ब्रह्मवादिनी ।
वरदा विप्रहृष्टा च वरिष्ठा च वशोधिनी ॥

विद्याधरी वसुमती विप्रवृद्धा विशोधिता ।
व्योमस्थानावती वामा विधात्री विबुधप्रिया ॥

बुद्धिर्विनाशिनीचित्ता ब्रह्मरूपवरानना ।
वासिनी ब्रह्मजननी ब्रह्महत्यापहारिणी ॥

ब्रह्मविष्णुस्वरूपा च सदा विभववर्द्धिनी ।
विभाषिणी व्यापिनी च व्यापिका परिचारिका ॥

विपन्नार्त्तिहरा देवी विनयव्रतचारिणी ।
विपन्नशोकसंहर्त्री विपञ्चीवाद्यतत्परा ॥

वेणुवाद्यपरादेवी वेणुश्रुतिपरायणा ।
वर्चस्विनी बलकरी बलमूला विवस्वती ॥
विपाप्मा विशिखा चैव विकल्पपरिवर्जिता ।
बुद्धिदा बृहतीदेवी विधिविच्छिन्नसंशया ॥
विचित्राङ्गी विचित्राभा विच्छाविभववर्द्धिनी ।
विजया विनया वन्द्या वामदेवी वरप्रदा ॥
विषघ्नी च विशालाक्षी विज्ञानविन्धमानिनी ।
भद्रा भोगवती भव्या भवानी भयवासिनी ॥
भूतधात्री भयहरी भक्तवश्या भयापहा ।
भक्तिदा भयदा भेरी भक्तदुर्गप्रदायिनी ॥
भागीरथी भानुमती भाग्यदा भगनिर्हिता ।
भवप्रिया भूततुष्टिर्भूतिदा भूतभूषणा ॥
भोगावती भूतिमती भव्यरूपा भ्रमिर्भ्रमा ।
भूरिदा भक्तिसुलभा भाग्यवृद्धिकरी सदा ॥
भिक्षुमाता भिक्षुप्रिया भव्या भवस्वरूपिणी ।
महामाया मातृप्रिया महानन्दा महोदरी ॥
मतिर्मुक्तिर्मनोज्ञा च महामङ्गलदायिनी ।
महापुण्या महादात्री मैथुनप्रियलालसा ॥
मनोज्ञा मालिनी मान्या मणिमाणिक्यधारिणी ।
मुनिस्तुता मोहकरी मोहहन्त्री मदोत्कटा ॥
मधुपानरता मद्या मदाघूर्णितलोचना ।
मधुपानप्रमत्ता च मधुलुब्धा मधुव्रता ॥
माधवी मालिनी मान्या मनोरथपथातिगा ।
मोक्षैश्वर्यप्रदा मर्त्या महापद्मवनाश्रिता ॥
महाप्रभावा महती मृगाक्षी मीनलोचना ।
महाकाठिन्यसम्पूर्णा महाक्षी महतीकला ॥
मुक्तिरूपा महामुक्ता मणिमाणिक्यभूषणा ।
मुक्ताफलविचित्राङ्गी मुक्तारञ्जितनासिका ॥
महापातकराशिघ्नी मनोनयननन्दिनी ।
महामाणिक्यरचिता महाभूषणभूषिता ॥
मायावती मोहहन्त्री महाविद्याविधारिणी ।
महामेधा महाभूतिर्महामाया प्रियासखी ॥
मनोधरी महोपाया महामणिविभूषणा ।
महामोहप्रणयिनी महामङ्गलदायिनी ॥

यशस्विनी यशोदा च यमुनावारिहारिणी ।
योगसिद्धिकरी यज्ञा यज्ञेशवन्दितप्रिया ॥
यज्ञेशी यज्ञफलदा यज्ञनीया यशस्करी ।
योगयोनिर्योगमाया योगिनी योगबुद्धिदा ॥
योगयुक्ता यमाद्यष्टसिद्धिर्यज्ञैकधारिणी ।
यमुनाजलसेव्या च यमुनाजलविहारिणी ॥
यामिनी यमुना याम्या यमलोकनिवासिनी ।
लोकालोकविलासा च लोलत्कल्लोलमालिका ॥
लोलाक्षी लोकमाता च लोकानन्दप्रदायिनी ।
लोकबन्धुर्लोकधात्री लोकालोकनिवासिनी ॥
लोकत्रयनिवासा च लक्षलक्षणलक्षिता ।
लीला लोका च लावण्या लघिमा कमलेक्षणा ॥
वासुदेवप्रिया वामा वसन्तसमयप्रिया ।
वासन्ती वसुदा वज्रा वेणुवादपरायणा ॥
वीणा वाद्यप्रमत्ता च वीणानादविभूषणा ।
वेणुवाद्यरता चैव वंशीनादविभूषणा ॥
शुभाशुभरतिः शान्तिः शैशवा शान्तिविग्रहा ।
शीतला शोषिता शोभा शुभदा शुभदायिनी ॥
शिवप्रिया शिवानन्दा शिवपूजासु तत्परा ।
शिवस्तुत्या शिवसत्या शिवनित्यपरायणा ॥
श्रीमती श्रीनिवासा च श्रुतिरूपा शुभव्रता ।
शुद्धविद्याजपकरी शुभकर्त्री शुभाशया ॥
श्रुतानन्दा श्रुतिः श्रोत्री शिवप्रेमपरायणा ।
शोषणी शुभवार्ता च शालिनी शिवनर्तकी ॥
षड्गुणायुषदाक्रान्ता षडङ्गश्रुतिरूपिणी ।
सरसा सुप्रभा सिद्धा सिद्धसिद्धिप्रदायिनी ॥
सेव्या सङ्गा सती साध्वी मुक्तिरूपा मदप्रिया ।
सम्पत्प्रदा स्तुतिः स्तुत्या स्तवनीया स्तवप्रिया ॥
स्थैर्यदा स्थैर्यगा सौख्या स्त्रैणसौभाग्यदायिनी ।
सूक्ष्मासूक्ष्मा स्वधा स्वाहा स्वधालेपप्रमोदिनी ॥
स्वर्गप्रिया समुद्राभा सर्वपातकनाशिनी ।
संसारवारिणी राधा सौभाग्यवर्द्धिनी सदा ॥
हरप्रिया हिरण्याभा हरिणाक्षी हिरण्मयी ।
हंसरूपा हरिद्राभा हरिद्वर्णा हरिप्रिया ॥

क्षेमदा क्षालिता क्षेमा क्षुद्रघण्टाविधारिणी ।
अजवा अतुलानन्ता अनन्तामृतदायिनी ॥

अन्नदाना अशोका च अलका अमृतश्रवा ।
अनाथवल्लभा अन्ता अयोनिसम्भवा प्रिये ॥

अव्यक्तालक्षणाक्षुण्णाविच्छिन्ना चापराजिता ।
अनाथानामभीष्टार्थसिद्धिदानन्दवर्द्धिनी ॥

अणिमादिगुणाधारा अगण्या लोकहारिणी ।
अचिन्त्यशक्तिबलयाद्भुतरूपा च हारिणी ॥

अद्रिराजसुतादूती अष्टयोगसमन्विता ।
अच्युता अनवच्छिन्ना अक्षुण्णशक्तिधारिणी ॥

अनन्ततीर्थरूपा च अनन्तामृतरूपिणी ।
अनन्तमहिमापारा अनन्तसुखदायिनी ॥

अर्थदा अन्नदा अर्था सदा अमृतवर्षिणी ।
अविद्याजालशमनी ऽप्रतर्क्यगतिप्रदा ॥

अशेषविघ्नसंहन्त्री अशेषगुणगुम्फिता ।
अज्ञाननाशिनीदेवी अनन्तसिद्धिदायिनी ॥

अशेषपापसंहन्त्री अशेषदेवतामयी ।
अघोरा अमृतादेवी अज्ञानतिमिरप्रदा ॥

अनुग्रहपरादेवी अभिरामविनाशिनी ।
अनवद्यपरिच्छिन्ना अत्यनन्तकलङ्किनी ॥

आरोग्यदात्री आनन्दा अपर्णार्तिविनाशिनी ।
आश्चर्यरूपा आद्यस्था आप्तविद्या सदाप्रिया ॥

आप्यायिनी च आलस्या आपदाहामृतप्रदा ।
इष्टारतिरिष्टदात्री इष्टापन्नफलप्रदा ॥

इतिहासस्मृतिः श्वेता इहामुत्रफलप्रदा ।
इष्टा च इष्टरूपा च इत्यादिपरिवन्दिता ॥

इन्दिरा रचिताक्षी च इलङ्कार इधारिणी ।
इन्द्राणीसेवितपदा इन्द्रियप्रीतिदायिनी ॥
ईश्वरी ईशजननी ईशैश्वर्यप्रदायिनी ।
उत्तङ्कशक्तिसंयुक्ता उपमानविवर्जिता ॥
उत्तमश्लोकसंसेव्या उत्तमोत्तमरूपिणी ।
उक्षा ऊषा ऊधा राधा ऊर्मिला च शुचिस्मिते ॥
ऊहा ऊहवितर्का च ऊर्ध्वधारा च ऊर्ध्वगा ।
ऊर्ध्वधारा ऊर्ध्वयोनिरुपपापविनाशिनी ॥

ऋषिवृन्दस्तुता ऋद्धिर्ऋणत्रयविनाशिनी ।
ऋतम्भरा ऋद्धिदात्री ऋक्था ऋक्षस्वरूपिणी ॥

ऋतुप्रिया ऋक्षमाता ऋक्षार्चिर्ऋक्षमार्गगा ।
ऋतुलक्षणरूपा च ऋतुमार्गप्रदर्शिनी ॥

एषिताखिलसर्वस्वा एकैकायुतदायिनी ।
ऐश्वर्यतर्प्यरूपा च ऐतिरैन्द्रशिरोमणिः ॥

ओजस्विनी ओषधी च ओजोनादौजदायिनी ।
ॐकारजननीदेवी ॐकारप्रतिपादिता ॥
औदार्यप्रकरा भद्रे औपेन्द्रौषधिविग्रहा ।
अंश्ववस्था च अमृता अम्बा अम्बालिका तथा ॥

अम्बुजाक्षी च अन्धाना अम्बुस्निग्धाम्बुजानना ।
अंशुमाली अंशुमती अंशीत्यंशांशसम्भवा ॥

अन्धतामिस्रहा भद्रे अत्यन्तशोभनस्वरा ।
अर्थेशा अर्थदात्री च अर्णोरूपा अनाहता ॥

[शृणु नामान्तरं भद्रे ककारादि वरानने ।
अत्यन्तसुन्दरं शुद्धं निर्मलोत्पलगन्धिनि ॥]

कुटन्ता करुणा कान्ता कर्मजालविनाशिनी ।
कमला कल्पलतिका कलिकल्मषनाशिनी ॥

कमनीयकला कर्णा कपर्द्दिपूजनप्रिया ।
कदम्बकुसुमाभासा सदा कोकनदेक्षणा ॥

कालिन्दी केलिकलिता कणा कादम्बमालिका ।
कान्ता लोकत्रयकथा कन्थरूपा मनोहरा ॥

खड्गिनी खड्गधाराभा खगा खगेन्दुधारिणी ।
खेखेलगामिनी खड्गा खड्गेन्दुतलकाङ्छिता ॥

खेचरी खेचरीविद्या खगतिः ख्यातिदायिनी ।
खण्डिताशेषपापौघा खलबुद्धिविनाशिनी ॥

खातेनकन्दसन्दोहा खड्गखट्वाङ्गधारिणी ।
खरसन्तापशमनी खरमन्तनिकृन्तनी ॥
गुहागन्धगतिगौरी गन्धर्वनगरप्रिया ।
गूढरूपा गुणवती गुर्वी गौरवरङ्गिणी ॥
ग्रहपीडाहरा गुप्ता गदस्निग्धमनाः प्रिया ।
चाम्पेयलोचना चारुचार्वङ्गी चारुरूपिणी ॥
चन्द्रचन्दनसिक्ताङ्गी चर्वणीया चिरस्थिता ।
चारुचम्पकमालाढ्या चालिताशेषदुष्कृता ॥

चारिताशेषगुञ्जिना चारुताशेषमस्तुला ।
रक्तचन्दनसिक्ताङ्गी रक्ताङ्गी रक्तमालिका ॥
शुक्लचन्दनसिक्ताङ्गी शुक्लाङ्गी शुक्लमालिका ।
पीतचन्दनसिक्ताङ्गी पीताङ्गी पीतमालिका ॥
कृष्णचन्दनसिक्ताङ्गी कृष्णाङ्गी कृष्णमालिका ।
शुक्लवस्त्रपरीधाना शुक्लवस्त्रोत्तरीयणी ॥
रक्तवस्त्रपरीधाना रक्तवस्त्रोत्तरीयणी ।
पीतवस्त्रपरीधाना पीतवस्त्रोत्तरीयणी ॥
कृष्णपट्टपरीधाना कृष्णपट्टोत्तरीयणी ।
वृन्दावनेश्वरी राधा कृष्णकार्यप्रकाशिनी ॥
पद्मिनी नागरी गोपी कालिन्दीअवगाहिनी ।
गोपीश्वरप्रिया भृत्या सदा नगरमोहिनी ॥
त्रिपुरा त्रिपुरादेवी त्रिपुराज्ञाकरी सदा ।
त्रिपुरासन्निकर्षस्था त्रिपुराअनुचारिका ॥
त्रिपुरापुरसंस्था तु या राधा पद्मिनी परा ।
नानासौभाग्यसम्पन्ना नानाभरणभूषिता ॥
[स्तोत्रं सहस्रनामाख्यं कथितं तव भक्तितः ।
एतत्स्तोत्रञ्च मन्त्रञ्च कवचञ्च वरानने ॥
कल्पे कल्पे च देवेशि प्रपठेद्यदि मानवः ।
उपास्य राधिकां दिव्यां केवलं कमलेक्षणे ॥
बहुकालेन देवेशि उपविद्यापि सिद्ध्यति ।
पद्मिनी राधिका विद्या उपविद्या सुनिश्चिता ॥
महाविद्यां महेशानि उपास्य यत्नतः स्वयम् ।
प्रकटं परमेशानि राधामन्त्रेण सुन्दरि ॥

शृणु नामसहस्राणि प्रकटे यत्तु शस्यते ।
कृष्णस्तु कालिका साक्षाद्राधा प्रकृतिपद्मिनी ॥
'कृष्णराधेगोविन्द' इदमुच्चार्य यत्नतः ।
तदासौ वैष्णवो देवि सर्वत्रैव प्रकाश्यते ॥
गोविन्दो यस्तु देवेशि स्वयं त्रिपुरसुन्दरी ॥
विना मन्त्रं विना होमं विना पूजां विना बलिम् ।
विना गन्धं विना पुष्पं विना नित्योदितां क्रियाम् ॥
प्राणायामं विना ध्यानं विना भूतविशोधनम् ।
विना जापं विना दानं येन राधा प्रसीदति ॥
राधासहस्रनामाख्यस्तोत्रमार्गेण पार्वति ।
यो जपेद्वैष्णवं मन्त्रं राधिकामन्त्रमेव च ॥
स पतेन्नरके घोरे यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥
श्रुत्वा गुरुमुखान्मन्त्रं वैष्णवं भक्तितत्परः ।
ततः पुरश्चर्यां कुर्यादेकविंशतिसंख्यकाम् ॥
पूर्णाभिषेकसिक्तस्य ततो गुरुपदार्चनम् ।
विना पूर्णाभिषेकञ्च भवाब्धेः पारमिच्छति ॥
अज्ञस्य तस्य दुर्बुद्धेर्निरये पतनं भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुर्यात्पूर्णाभिषेचनम् ॥
कृत्वा पूर्णाभिषेकञ्च पठेद् राधास्तवं प्रिये ।
स्तवपाठान्महेशानि स भवेन्नवनन्दनः ॥
विमग्नानां यथा श्रेष्ठा भवेद्भागीरथी प्रिये ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः प्रकृतीनां यथा सती ॥
पुरुषाणां यथा विष्णुर्नक्षत्राणां यथा शशी ।
स्तवानाञ्च तथा श्रेष्ठं राधास्तोत्रमिदं प्रिये ॥]

नाथ !

अलग किया था नाथ ! निजसे तुम्हींने कभी, तबसे पड़े हैं भव-सिन्धुमें निहार लो ।
जीव हुए, हम हुए, हमसे हजारों हुए, कैसी हुई मधुर बिडम्बना बिचार लो ॥
जैसा हो घुमाते कर्म-चक्रपर घूमते हैं, विषम दशा है जो निहारो तो निहार लो ।
तरल तरङ्ग झोंके खा रहे हैं बेबश हैं, हाथमें तुम्हारे है डुबाओ या उबार लो ॥

मधुरप्रसाद 'कविरत्न'

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[गतांकसे आगे]

सल तो यह है कि शरणागत हो जानेपर हमारा सब भर-भार भगवान्‌हीपर हो जाता है। जहाँ हम भगवान्‌की शरणमें गये और मैं आपका हूँ यह निवेदन किया, वहींसे हमारी सब चिन्ताएँ भगवान्‌हीपर जा पड़ती हैं । हम निश्चेष्ट हो जाते हैं, हाथ-पैरतक नहीं हिलाते । सब कुछ हमारे लिये भगवान् ही करते हैं । चाहे हम अपने हृदयमें न भी सोचें, परन्तु भगवान्‌का यह व्रत है कि जो मुझमें आत्मार्पण कर देते हैं उनका योगक्षेम मैं करता हूँ । आप किसी सज्जनके यहाँ पाहुने होते हैं तब आप घरसे अधिक आरामकी आशा नहीं कर सकते । न अपने आरामके सब सामानकी चिन्ता ही करते हैं । दूसरेके स्थानपर जाकर हमें जैसा भी सुभीता मिल जाता है, हम सन्तोष कर लेते हैं, मुखसे नहीं कहते । परन्तु जैसे ही आपका डेरा उनके मकानमें हुआ कि उनको उसी समयसे आगे-से-आगे आरामका इन्तज़ाम करना पड़ता है । वह बेचारे सोते-सोते भी किसी बातकी याद आनेपर चौंककर उठ बैठते हैं, और नौकरको बुलाकर कहते हैं 'अरे भाई शामके लिये उनके वास्ते सवारीका प्रबन्ध करना मैं भूल गया । शायद वह 'रामनिवासबाग़' देखने जायँगे ।' कहिये, साधारण ज्ञान रखनेवाला आरामतलब मनुष्यतक अपने प्राघुणिककी इतनी चिन्ता रखता है कि अपना खाना, पीना, सोनातक किरकिरा कर देता है । बहुत-से इसी क्लेशके कारण किसी प्राघुणिकको अपने खास रहनेके स्थानमें नहीं ठहराते । दूसरे मकानमें टिकाते हैं, जिसमें कुछ कमी भी रह जाय तो अपनी इतनी ज़िम्मेवारी नहीं रहती; कुछ ज़रूरत होनेपर प्राघुणिक अपने-आप भी प्रबन्ध कर लेता है। और हमें यह कहनेका अवसर भी रहता है कि आपने कहलाया क्यों नहीं, तत्काल प्रबन्ध कर दिया जाता । आजकल तो खैर पाहुनोंके लिये होटल-का द्वार खुला है। केवल बिल चुका देना पड़ता है । किन्तु जिन आतिथेयोंके यहाँ अतिथिका पैंड-पैंडपर ध्यान रक्खा जाता है उनकी चिन्ता वही जानते हैं। फिर अतिथि तो कुछ कालके ही लिये आता है और सब बोझ हमपर रखना भी नहीं चाहता, परन्तु शरणागतका तो सब बोझ भगवान् अपने ऊपर समझते हैं । फिर आप ही देख लीजिये, सहसा ही इतना बड़ा अधिकार न तो हमें मिल ही सकता है और न बिना सोचे-समझे भगवान् ही हमें अभिमुख कर सकते हैं ।

साफ़ बात तो यह है कि यदि हमें भगवान्‌का माहात्म्य कुछ भी मालूम है, कुछ भी भक्ति है और हृदयमें कुछ भी प्रेम है तो लाख तकलीफ़ उठाकर भी हम भगवान्‌की भक्ति करेंगे । लोग विघ्न डालेंगे, हमें तकलीफ़ पहुँचायेंगे और हम उन विघ्न-बाधाओंको हटाकर तकलीफ़ोंको सहकर भी भगवान्‌की तरफ़ ही जायेंगे। हम अपने आरामको और उपायोंकी सरलताको नहीं देखेंगे । हम देखेंगे अपने ध्येयको । हमको भगवान्‌की तरफ भावना है और उनसे मिलनेकी चटपटी है तो लाख दुःख सहकर भी हम उनके मिलनेके उपाय करेंगे । इसके विरुद्ध—दूसरी तरफ जानेमें अनेक आरामके लालच भी दिये जाते होंगे तो भी हम उस ओर नज़रतक नहीं डालेंगे। जिसकी तरफ़ जिसकी लगन लग जाती है वह आरामको नहीं देखता । वह तो उसकी प्राप्तिपर लक्ष्य रखता है । किन्तु जो आराम देख रहा है उसकी लगन सच्ची नहीं, उसकी लगन तो सरलतापर है। मान लीजिये आपको सुवर्णकी जरूरत है, आप उसके लिये कहाँ-कहाँ जायँगे, कितने-कितने कष्ट उठायेंगे। हम कहेंगे, 'भाई ! इतना दुःख क्यों उठाते हो। लो उसके स्थानमें यह पत्थरका टुकड़ा ले लो।' तो क्या आप मान जायँगे ? पत्थरके मिलनेमें कोई श्रम नहीं परन्तु हम श्रम करके भी लेते हैं सोना। क्योंकि हमको जरूरत तो उसकी है ।

बस, इसी तरह जो सच्चे श्रेयःकामुक हैं वह अपने श्रेय और ध्येयकी ओर ही दृष्टि रखते हैं, उपायकी सरलता-

पर लट्टू नहीं होते । चाहे हमें कितनी ही तकलीफ़ें मिलें, कितना ही परिश्रम करना पड़े परन्तु हमें वास्तविक सत्य सुख, सच्चा जो हमारा प्राप्तव्य है वही मिलना चाहिये । उसकी प्राप्तिके लिये चाहे कठिन-से-कठिन जप, तप, यज्ञ, दान, उपवासादि करने पड़ें चाहे तीर्थ-तीर्थ घूमना पड़े परन्तु प्राप्त करना हमें वही है। हमारी दृष्टि हमारे प्राप्तव्य-पर है सरलतापर नहीं। जो यज्ञ, याग, तपस्यादिको कठिन समझकर सरलताको टटोलते हैं, मालूम होता है वह अपने प्राप्तव्यपर दृढ़ नहीं हैं । मजनूको अपनी प्रेयसी लैलापर इतना प्रेम था कि उसकी प्राप्तिके लिये उसे कोई कैसी भी कठिनाईका काम बताता तो वह उसकी प्राप्तिकी उमङ्गमें प्रसन्नचित्तसे करने लगता। किसी दुष्टने कुएँको दिखाकर कहा कि तुम्हारी लैला इसीमें छिपी हुई है, तुम उसे पा सकते हो, वह अपनी तकलीफ़ोंका वादावर्द किये बिना ही तत्काल उसमें कूद पड़ा ।

जो यह कहते हैं कि यह उपाय कठिन है, यह सरल है वह अपने लक्ष्यपर ही दृढ़ नहीं । यदि कोई उपाय सरल हो और उसके द्वारा उनकी चाही हुई चीज़से दूसरी चीज़ मिलेगी तो क्या वह ले लेंगे ? और यदि अपनी चाही चीज़के लिये उन्हें कठिन परिश्रम करना पड़ेगा तो छोड़ देंगे ? इसलिये सरलताकी बात तो विचारपूर्ण नहीं । सच्चे भक्त और भगवान्‌के प्रेमियोंको तो चाहे कितना भी कठिन उपाय और परिश्रम करना पड़े उन्हें इसकी कोई परवा नहीं, उन्हें तो प्रयोजन है भगवान्‌से । उनका प्राप्तव्य, उनका लक्ष्य, उनका प्रेष्ठ, जहाँ होगा उसी ओर वह अभिमुख हो जायँगे । परन्तु वह उसीके द्वारा उसे पाना चाहते हैं अर्थात् उनका उपेय भी वही और उपाय भी वही । अतएव उसको पानेके लिये वह उसीके शरण आते हैं दूसरी ओर चाहे कितनी ही सरलता हो उनकी नज़र नहीं जाती । बस, समझ लीजिये ऐसे ही भक्तोंकी यह बात है और वही 'प्रपत्ति' के अधिकारी भी हैं ।

अब रही यह कि जैसा लोग समझते हैं 'प्रपत्ति' क्या उतनी सरल है ? जो जन्मसे ही भगवान्‌का अनुराग लिये उत्पन्न होते हैं अथवा जिन भक्तोंको शापादिके कारण साधारण कुटुम्बमें जन्म मिला है उनके विषयमें तो पहले कह आये हैं, उनकी बात तो जाने दीजिये । किन्तु अन्य पुरुषोंका भगवान्‌के अभिमुख होना और उनकी भक्तिमें लीन हो जाना क्या सहज ही है ? शैशवसे ही संसारी प्रवाह एकके अनन्तर एक ऐसा चलता है कि मरते दमतक मनुष्यको अवकाश नहीं लेने देता। चौदह-पन्द्रह वर्षतककी बाल्यावस्था तो जानें अज्ञान दशा गिनी जाती है । परन्तु यौवनका आरम्भ जैसे ही होता है और मनुष्य विवाह करके गृहस्थाश्रममें जैसे ही प्रवेश करता है वैसे ही वह धनैषणा-पुत्रैषणादिके चक्करमें ऐसा पड़ता है कि इनके सिवा दूसरी ओर ताकनेका ही अवसर नहीं मिलता । प्रथम तो स्त्री और धन यही इतने आसक्तिकर्ता और प्रतिबन्धक हैं कि इनकी मायामें पड़कर मनुष्यको दूसरा ज्ञान ही नहीं रहता । दुनियाके वैज्ञानिकोंने जिसकी दृष्टिमें ही इतना भयंकर असर बतलाया है कि उसके पड़ते ही जादूकी तरह आदमी खिंच जाता है, उस स्त्रीके मोहसे अलग होना क्या सहज है ? अज्ञोंकी बात तो जाने दीजिये किन्तु जो लोक और शास्त्र दोनोंमें पण्डित हैं वह भी ऐसे सपाटेमें आते हैं कि दूसरोंकी क्या कथा, उनतकको अपना भान नहीं रहता । प्रत्युत लोगोंका तो यहाँतक कहना है कि समझदार लोग ही ज़्यादा चक्करमें पड़ते हैं । किसीने कहा है—

अज्ञास्तरन्ति पारं विज्ञा विज्ञाय मज्जन्ति ।
कथय कलावति ! केयं तव नयनतरङ्गिणीरीतिः ॥

'अजान आदमी चाहे पार उतर जायँ परन्तु विज्ञ लोग जानते हुए भी उसमें डूब जाते हैं । अतएव हे अद्भुत-कलाशालिनी ! बतलाओ तुम्हारी इस नयननदीकी यह क्या नयी रीति है [नदीमें उसकी थाह या तैरना नहीं जाननेवाले डूब जाते हैं और जानकार पार उतर जाते हैं किन्तु यहाँ विपरीत है]।'

साधारण ज्ञानियोंकी तो क्या चलायी, जगत्प्रसिद्ध प्रभावशाली विश्वामित्र आदि ऋषितक इस फन्देसे नहीं बच पाये । जो ऋषि सङ्गसे बचनेके लिये जङ्गलमें चले गये, इन्द्रियोंको क्षीणबल करनेके लिये केवल दर्भके अङ्कुरमात्र भोजन करते थे उन्हें भी इस जादूने ऐसा घड़ेमें लिया कि आजतक क़ैदसे नहीं छूटे । कालिदास कहते हैं—

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्ति-
श्चरन्मृगैः सार्द्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः
पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥

'दर्भाङ्कुरमात्र भोजन करके मृगोंके साथ विचरनेवाले शातकर्णि ऋषिको समाधिसे डरे हुए इन्द्रने पाँच अप्सराओं-के यौवनरूपी कूटयन्त्रमें क़ैद कर लिया।'

धनकी मायाको सब लोग जानते हैं। 'निन्यानवेका फेर' दुनियामें प्रसिद्ध है। यह वह मदिरा है जिसके हाथमें आते ही आदमी नशेमें बेहोश हो जाता है। बिहारी कहते हैं—

कनक कनकसों सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय॥

बात तो यह है कि कान्ता और कनक यह भवसागरके दो भयंकर भँवर हैं। इनमें पड़े पीछे आदमीकी तो क्या कथा बड़े-बड़े ज्ञानके जहाज़ भी डूब चुके हैं। ठीक ही तो कहा है—

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः॥

'विधाताने कान्ता और कनक दो प्रकारके भयानक चक्र बनाये हैं इनमें अनासक्त रहकर जो बच जाता है उसे नरके रूपमें साक्षात् शिव समझना चाहिये।' जब दो ही चक्रोंका यह हाल है तब मनुष्यके पीछे तो ग्यारह चक्रोंका सामान हरदम साथ रहता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और सबके नेता मनीराम, इस तरह ये ग्यारहों भयंकर रुद्र समयपर वह रौद्र रूप धारण कर लेते हैं कि मनुष्य सदाके लिये आपत्तियोंमें फँस जाता है। मनुष्यकी इन्द्रियलालसा और मस्ती थोड़े दिनकी होती है किन्तु उसका स्थायी परिणाम सदाके लिये उसे हीन कर डालता है। ज्ञानियोंने कहा है—

कतिपयदिवसस्थायिनि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः।
विदधति तथाऽपराधं जन्मैव वृथा यथा भवति॥

'चन्द दिनके पाहुने किन्तु नशीले इस यौवनमें अज्ञानी लोग वह अपराध कर बैठते हैं जिससे जवानी ही क्या, उनका सम्पूर्ण जन्म ही व्यर्थ हो जाता है।' एक आपत्ति हो तो उसका उपाय किया जाय परन्तु चारों तरफ़से जहाँ खींचा-तानी मची है वहाँ बेचारा मनुष्य क्या कर सकता है। परमहंसशिरोमणि भगवान् शुक कहते हैं—

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा-
च्छिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥

'एक ओर जिह्वा खींचती है तो दूसरी तरफ़ तृष्णा, इधर कामेन्द्रिय खींच ले जाना चाहती है तो कभी त्वचा और पेटका प्रश्न प्रबल हो उठता है। उससे बचता है तो कर्णेन्द्रियके द्वारा खींचा हुआ दूर बह जाता है। वहाँसे बचने भी नहीं पाता है कि थोड़ी ही देरमें सुगन्धकी डोरीसे दूसरी ही तरफ़ खिंच जाता है। इधरसे अभी छुटकारा भी नहीं हुआ कि ये चपल आँखें दूसरी ही ओर ढकेल ले जाती हैं। जिस तरह एक घरवालेके कई स्त्रियाँ हों और वे जिस तरह उसकी खींचातानीमें अच्छी तरह मरम्मत करती हैं वही दशा इस मनुष्यकी है।' महर्षि व्यास तो खींचातानी भी नहीं कहते, वह तो कहते हैं 'लुनन्ति'। एक शरीर हो और उसको खींचनेवाली दो-चार नहीं 'बह्व्यः' बहुत-सी। सो भी कौन? 'सपत्न्यः!' सौतें, जिनका बैर जगत्प्रसिद्ध है। बस फिर वहाँ छिन्न-भिन्न होनेमें क्या कसर है? प्रत्येक चाहती हैं कि समूचे गृहपतिको मैं ले जाऊँ। अतएव बड़े जोरके साथ चारों ओरसे 'रस्से खींचनेकी कसरत' हो रही है। अब कहिये, टुकड़े होनेमें कुछ बाकी रहेगा? इसी कारण तो व्यासजीके अक्षर हैं—'लुनन्ति'।

इस खींचातानीके मैदानमें दिमाग़को सही-सलामत रखकर भगवान्के आगे अभिमुख होना, सच कहिये, क्या सीधी बात है? यदि किसी तरह सत्सङ्गके कारण इस चक्करसे छुटकारा भी मिला और भगवत्प्राप्तिके लिये साधना भी आरम्भ की तो अनेक विघ्न ऐसे आते हैं कि जिनके कारण साधन होना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा हो जाता है। यदि उस घाटीको भी उलाँघकर साधनमें लगा ही रहा तो प्रथम नाना देवता ही उसकी मतिको व्यामुग्ध कर देते हैं जिससे वह स्वर्गादिके सुख, भोग, साम्राज्य, मन्वन्तरायु आदिके लालचमें पड़कर शरणागति-तक पहुँचता ही नहीं। बच्चेको हम जिस तरह चमकीले खिलौनोंसे भुला लेते हैं इसी तरह देवता लोग भगवच्छरणा-गतिके लिये दृढ़निश्चय हुए साधककी मतिको डुला देते हैं। और तो क्या, ध्रुव, प्रह्लाद सदृश भगवद्भक्तोंतक-पर ये देवता लोग अपनी करतूत चलानेमें नहीं चूकते।

भगवान्‌के अनुगृहीत बालभक्त ध्रुवतक देवताओंके प्रलोभनमें पड़ जाते हैं। वहतक पश्चात्ताप करते हैं कि 'हाय! महर्षि नारदने मुझे पहले ही चेता दिया था कि देवता तुम्हारी मतिको बिगाड़ेंगे परन्तु तुम दृढ़ रहना। भगवान्‌के सिवा कुछ मत चाहना। परन्तु हतभाग्य मैंने परात्पर नारायणके पास पहुँचकर भी 'अन्तवत्' जिनका कभी-न-कभी अन्त होता है ऐसे पदार्थ स्वीकार कर लिये!'

और तो और, स्वयं भगवान् पहले भक्तको चक्करमें डालते हैं। उसे यथेच्छ वरदान देकर अपनी भक्ति देना और अपनी शरणमें लेना बचा लेते हैं। महाभागवत प्रह्लादसे बढ़कर भगवत्कृपा किसपर हुई होगी जिनके वचनको सत्य करनेके लिये अचेतन—अस्थान—खम्भेमें भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। आपको अपने भक्तका अनिष्ट करनेवाले असुरपर इतना क्रोध आया कि ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवता, ऋषि, पित्रीश्वर आदि सभीने स्तुति करके आपका क्रोध शान्त करना चाहा परन्तु न हो सका। साक्षात् प्रेयसी श्रीलक्ष्मीजी भी भगवान्‌को अनुकूल न कर सकीं। हद हो गयी। जहाँ प्राणप्रिया श्रीलक्ष्मी भी अकृतकार्य हो रही हैं वहाँ उनसे बढ़कर भगवत्प्रिय भला कोई मिलेगा जो भगवान्‌को प्रसन्न करे? परन्तु ब्रह्मा प्रह्लादसे कहते हैं— 'तात! प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम्॥' 'हे तात! तुम्हारे पितापर कुपित हुए प्रभुको तुम्हीं प्रसन्न करो।' आहा! यहाँ 'प्रभु' पदसे कितना भाव सूचित किया गया है। हमलोग हजार प्रसन्न करनेके उपाय करते हैं परन्तु प्रसन्न करनेका यत्न हमारे अधीन है। प्रसन्न होना हमारे हाथकी बात नहीं क्योंकि वह प्रभु हैं। वह प्रसन्न होना चाहें तभी तो हमारे प्रयत्नोंको स्वीकार करेंगे।

प्रह्लाद भगवान्‌के चरणोंमें जा गिरते हैं। जैसे ही प्रह्लादको अपने चरणोंमें पड़ा हुआ देखते हैं, दयालु भगवान्‌की मनोवृत्ति दूसरी हो जाती है। कालाग्निकी तरह जो प्रचण्ड कोप चढ़ रहा था वह दूधके उफानकी तरह अतर्कित शान्त हो जाता है। अपने प्राणप्रिय भक्तको देखकर आपका हृदय गद्गद हो उठता है। बड़े प्रेमसे आप स्वयं अपने हाथसे प्रह्लादको उठाते हैं और प्रेममें मग्न होकर उसके मस्तकपर अपना श्रीहस्त धरते हैं, कैसा श्रीहस्त? जो 'कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम्॥' 'कालरूप सर्पसे जिनकी मति त्रस्त हो रही है उनको जिस हस्तने अभयदान दिया है।' प्रह्लादके इस अनुग्रहपर, उनकी इस भाग्यवत्तापर महर्षि व्यास गद्गद होकर धन्य-धन्य कह उठते हैं। वह उनकी भाग्यवत्ताका अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—'महाभागवतोऽर्भकः।'

भगवान्‌के इतने प्रिय होनेपर भी भगवान् पहले प्रह्लादकी परीक्षा करते हैं, नहीं-नहीं उन्हें भुलाते हैं। आप कहते हैं—'वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्॥' 'वत्स प्रह्लाद! तुमको जो चाहिये सो माँगो,' यह मत समझना कि बड़े-बड़े पुण्यलोक आदि मैं नहीं दे सकूँगा। 'कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्' 'मैं मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ।' किन्तु प्रह्लाद कौन हैं? 'महाभागवतोऽर्भकः।' वह कहते हैं—'मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः।' 'हे भगवन्! हम-सरीखे तो जन्मसे ही कामनाओंमें आसक्त हैं, फिर मुझको आप कामनाओंके प्रलोभनमें क्यों पटकते हैं?'

भला जहाँ प्रह्लाद-सरीखे महाभागवतोंतककी यह कठिनातिकठिन परीक्षा की जाती है वहाँ साधारण साधकोंकी क्या गिनती है? साधक अदृष्टवश या सत्संगादिके कारण काम्य विभूतियोंसे बचकर भगवान्‌के अभिमुख भी हुआ और भक्तिसाधना करते समय कठिन परीक्षा करनेवाले देवताओंके प्रलोभनमें आ गया तो भगवच्छरणागतिसे वञ्चित हो जाता है। ऊँचे-से-ऊँचे दिव्य लोक ही क्यों न मिल जायँ परन्तु 'गतागतं कामकामा लभन्ते' संसारमें यातायातके चक्करसे विमुक्ति नहीं होती। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' पुण्य क्षय होनेपर फिर इस कर्ममार्गमें आना पड़ता है। यदि इस चक्करसे भी निकलकर आगे बढ़ा और साक्षात् प्रभुकी की हुई वरदानसमयकी अन्तिम परीक्षामें हिचक गया, प्रभुके सिवा दूसरी चीज़ माँग बैठा तो भी 'तमारूढच्युतं विदुः' इतना ऊँचा पहुँचकर भी वह फेल समझा जाता है। भगवान् इन्द्र, वरुण, कुबेर आदिकी विभूति दे देते हैं, 'पारमेष्ठ्यम्' ब्रह्मा बना देते हैं, और तो क्या मोक्षतक दे देते हैं परन्तु अपना भक्तियोग—शरणागति सहज ही नहीं देते।

माता अत्यावश्यक गृहकार्यमें लगी हो, और बच्चा माँके पास आनेको रोता हो और मचलता हो उस समय माता बहलानेके लिये एक खिलौना दे देती है यदि वह

उससे राज़ी हो गया तो माँ निश्चिन्त हो जाती है। यदि बच्चा उससे भी नहीं माना तो और भी अधिक चमचमाते खिलौने उसके पास फेंकती है, उसे मनाती है, पुचकारती है। यदि इनसे बालक बहल गया तो फिर वह नहीं आती। किन्तु ऐसा हठी बालक हुआ कि वह कितने ही खिलौने दे, कितना ही पुचकारे परन्तु जबतक वह स्वयं पास न आवे और उसे छातीसे लगाकर स्तन नहीं पिलावे तबतक हठ न छोड़े तो अन्तमें पुत्रस्नेहवती उस माताको स्वयं आना पड़ता है और अपने वात्सल्यभाजनका अनुरोध रखना पड़ता है। बस, भगवान् भी भक्तको पहले इसी प्रकार विभूतियोंसे सन्तुष्ट करना चाहते हैं स्वर्ग—पारमेष्ठ्य—और तो क्या मोक्षतक दे देते हैं परन्तु आप अपने ऊपर उसका बोझ नहीं लेते। किन्तु यदि ऐसा हठी भक्त मिला कि—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस! त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

'मैं स्वर्ग, ब्रह्माधिकार, सार्वभौमता, सर्व रसातलकी स्वामिता, नाना तरहकी योगसिद्धियाँ, और तो क्या मोक्ष-तक आपको छोड़कर नहीं चाहता।' अपनेसे मुझे पृथक् कर दें और ये चीज़ें दें तो मैं इनको नहीं चाहता। आपके विरहमें, आपके बिना, मैं इनको लेकर क्या करूँगा? 'त्वाऽविरहय्य काङ्क्षे' हाँ, आपसे बियोग न हो तो यह चाहूँ। परन्तु जहाँ आप हैं वहाँ इनको माँगना केवल अहसानका बोझ बढ़ाना है या पुनरुक्ति है। आपके चरणोंके साथ तो यह चीज़ें स्वतः खिंची हुई चली आती हैं। अतः मुझे तो आप चाहिये, मैं और कुछ नहीं चाहता।' भक्तका जब इतना दृढ़ अध्यवसाय देख लेते हैं तब भगवान् भी प्रसन्न हो उठते हैं और उसको अपना कर लेते हैं, अपनी शरणमें ले लेते हैं। जब भगवान्‌की शरणमें आ गया फिर क्या भय है? 'मृत्युरस्मादपैति' साक्षाद्भयाधि-देवता कालतक उससे हाथ जोड़ता है। शरणागतिकी इसी महत्ताको दिखलाते हुए भगवान् यहाँ कहते हैं—'सकृदेव प्रपन्नाय'। जो 'प्रपत्ति' अङ्गीकार कर लेता है और मैं तुम्हारा हूँ यह एक बार भी कह देता है उसे मैं यावन्मात्र भयकारक पदार्थोंसे अभय दे देता हूँ। यहाँ अभय दे देना उपलक्षणमात्र है। सब कुछ दे देता हूँ। क्योंकि जब भगवान् उसकी शरणागति स्वीकार कर लेते हैं तब सब कुछ उसका अभीष्टपूरण, उसका योगक्षेम भगवान्‌को करना पड़ता है। वह जो चाहे सो तत्काल भगवान्‌को उपस्थित करना पड़ता है और तो क्या स्वयं भगवान्‌को यहाँतक लक्ष्य रखना पड़ता है कि किस समय उसे क्या आवश्यक है, फिर और कौन-सा पदार्थ बाकी रहा? अतः यहाँ उपलक्षणरूपसे ही कहा है कि 'सर्वभूतेभ्यः अभयं ददामि' 'प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ।'

'प्रपत्ति' का अर्थ आप सुन चुके हैं कि 'प्रकर्षेण अर्थात् सर्वभावेन पत्ति अर्थात् भगवत्सन्निधौ आगतिः।' अर्थात् चारों तरफसे अपना सब सम्बन्ध हटाकर 'सब कुछ मेरे अब भगवान् ही हैं' इस तरह अपना आत्मनिवेदन कर देना यही तो उसका सारांश है। अन्तर्यामी भगवान् विभीषणका भी यह भाव जान चुके हैं। विभीषणने आगे स्पष्ट अपने मुखसे ही कहा है—

परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।
भवद्गतं हि राज्यं मे जीवितं च सुखानि च॥

'मैं लङ्का, मित्र, धन, धान्य सबको छोड़ चुका हूँ। मेरा राज्य-सुख और तो क्या जीवनतक मेरे सब आप हैं।' जब शरणागत अपना अस्तित्वतक मिटाकर आपका ही हो चुका तो क्या भगवान् अब कुछ कमी रक्खेंगे? बस, जैसे वह अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर चुकता है वैसे भगवान् भी अपने हृदयमें उसके अधीन हो चुकते हैं। सब कुछ उसे दे चुकते हैं, अतएव अभय शब्दके अन्दर सर्वस्वका क्रोडीकार करते हुए आज्ञा करते हैं कि 'प्रपन्नाय अभयं ददामि।'

दुनियाके साधारण-से धनी और समर्थोंतकको देखा है कि कोई अपना सम्बन्धी या भृत्य जबतक अपना आत्मा-भिमान रखता है, या अपना और स्वामीका यह अलग भाव रखता है तबतक स्वामी भी उसके कार्योंमें नुकताचीनी और दूसरी दृष्टि रखता है। किन्तु जब वह यह कह देता है कि 'मैं अब आपका हूँ, मेरी लज्जा अब आपके अधीन है' तब उसी समयसे उसका भाव बदल जाता है। उसके कार्योंमें त्रुटि आनेकी सम्भावना भी हो तो भी वह उसकी

१ एक बात कही जाय और उसी तरहकी दूसरी बात स्वतः समझी जा सके ऐसे अवसरपर उपलक्षण समझा जाता है।

प्रतीक्षा न करके पहलेसे ही आप स्वयं पूर्ण कर देता है। उसको लज्जित करना या उसका अपमान होना उसको सह्य नहीं। उसकी लज्जा या अपमान अपनी समझता है। जब दुनियामें साधारण धनीतक अपना इतना महत्त्व रखना चाहता है तब त्रिलोकीके धनी भगवान् क्या अपनी प्रतिष्ठा-की ओर नहीं देखेंगे ? नहीं, जिस समय भक्तके मुखसे यह निकल चुकता है कि मैं आपका हूँ उसी समयसे भगवान् इतने लाचार हो जाते हैं कि उसके काममें हरदम खड़े रहते हैं। अतएव आप आज्ञा करते हैं कि 'प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते अभयं ददामि।'

'प्रपन्नाय' के पहले आया है 'सकृत्' अर्थात् एक बार भी जो 'प्रपन्न' शरणागत हो जाता है उसको मैं सब प्रकारका अभय दे देता हूँ। यहाँ 'सकृत्' (एक बार) कहनेसे क्या लाभ हुआ ? क्योंकि भगवान् आज्ञा कर रहे हैं कि शरणागत हो जानेपर यावन्मात्र जो भयकारण हैं उनसे मैं अभय दे देता हूँ, अभयका अर्थ है मोक्ष। अर्थात् उसे सांसारिक चक्र-की विडम्बनासे मुक्त कर देता हूँ। जैसे ही प्रथम बार 'प्रपन्न' हुए फिर हमारे पास दुःख और भय फटकने ही नहीं पायेंगे क्योंकि मोक्ष ही जब हो चुका तो फिर बाकी ही क्या रहा ? ऐसी हालतमें 'सकृत्' का क्या तात्पर्य ? ठीक है ! यही तो सूचित किया जा रहा है कि भगवत्प्रसादन-के जितने उपाय हैं उन सबमें आवृत्ति अर्थात् बारम्बार करनेकी आवश्यकता होती है। जप, कीर्तन, तीर्थाटन आदि सब ही पुनः-पुनः किये जाते हैं। 'अधिकस्याधिकं फलम्' के अनुसार जितना किया जाय उतना ही अधिक फल होता है। वहाँ शास्त्रकी आज्ञा ही यह अनुस्यूत रहती है कि जितना अधिक किया जाय उतना ही अच्छा। किन्तु 'प्रपत्ति'में आवृत्ति शास्त्रको अभीष्ट नहीं। वहाँ एक बार अनुष्ठान ही काफ़ी है। प्रपत्तिके लिये कहा है—

सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम्।'

'यह शास्त्रकी आज्ञा केवल एक बार ही करनेसे मनुष्य-का उद्धार हो जाता है।' 'सकृत्'के आगे 'एव' और दिया है उसका अर्थ है कि अधिकारीको 'प्रपत्ति' केवल एक बार ही लेनी चाहिये। जो इसके विपरीत करेगा वह शास्त्राज्ञा-को उल्लंघन करेगा। बस, शरणागतिका यही माहात्म्य सूचित करते हुए कि 'जो एक बार भी इस परम भागवत धर्मको स्वीकार कर लेता है फिर उसे कोई प्राप्तव्य नहीं रहता' भगवान् आज्ञा करते हैं—'सकृदेव'।

ठीक है। बहुत-से आचार्य यहाँ 'सकृत्' की यही योजना उत्तम मानते हैं परन्तु मेरे विचारसे एक शङ्का यों-की-यों बनी रही। वह यह कि आप शरणागतिका क्षेत्र बड़ा विस्तृत बता चुके हैं। शरणागतके भीतर 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' इत्यादि छः प्रकार आ जाते हैं। उनमेंसे आत्मनिवेदन जहाँ किया कि भगवान्के ऊपर हमारे समस्त योगक्षेम दुःखनिवृत्त्यादिकी चिन्ता जा पड़ती है। साधारण-सा स्वाभिमानी पुरुषतक जब अपने आश्रितसे यह कहला लेता है कि 'अब आप मालिक हैं। मेरी लज्जा आपके हाथ है।' उस समय उसका सम्पूर्ण भार वह आप वहन करता है। यावन्मात्र उसकी चिन्ताएँ मानों वह मोल ले लेता है। फिर जगदीश्वर भगवान् आत्म-निवेदनके अनन्तर कुछ बाकी रक्खेंगे ? विश्वभरमें भगवान्-की भक्तवत्सलताका डिण्डिम पिट रहा है। भगवान्का भक्त जहाँ हुआ और उसपर 'भगवान्का है' यह छाप जहाँ पड़ी कि मानों भगवान् उसके साथ-साथ रहने लगते हैं। मजाल क्या है कि उसमें कोई त्रुटि रह जाय। कोई उसका अनिष्ट करे यह तो सम्भव ही कहाँ है ? 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो' 'जो लोक-पाल सब संसारको दण्ड देकर शासित करते हैं उनके भी नायकोंके अग्रगण्य होकर तुम्हारे भक्त निर्भय विचरते हैं।' जब एक सिपाहीमात्रके भरोसेपर हमको बड़ी हिम्मत हो जाती है तब लोकपालोंके अग्रगण्योंके मस्तकपर रहनेवालोंके पास कभी भयसंकथा आ सकती है ? कारण यह है कि जब भक्त-के अधीन त्रिलोकीके नाथ भगवान् ही हो चुके तब उनके अधीन रहनेवाले लोकपालादि यावन्मात्र अधिकारियोंकी तो शक्ति ही क्या है कि भगवद्भक्तके विरुद्ध चलें वरं कई जगह तो यहाँतक देखा है कि भक्तके आगे भगवान्की भी नहीं चलती। स्वयं भगवान् ही लाचार होकर कह देते हैं कि 'भाई ! मैं इस समय विवश हूँ। भक्त जो चाहेगा वही होगा।' (क्रमशः)

कल्याणकारी स्वप्न

(लेखक—एक सज्जन)

द्यपि मैं एक पूर्ण संयमी छात्र था, किन्तु फिर भी बीमारीके चंगुलमें फँस ही तो गया। बीमारीका जोर दिनोंदिन बढ़ता ही गया। यही कारण था कि मेरी शक्ति दिनोंदिन (उत्तरोत्तर) क्षीण होती गयी। उस समय विद्यालय बन्द था। सभी लोग घर चले गये थे। छात्रावासमें केवल मैं ही अकेला रह गया था। इसीलिये ऐसी विकट परिस्थितिमें मेरा कोई सहायक और दवा-दर्पणका करनेवाला नहीं था।

शरीरकी पीड़ासे रह-रहकर छटपटाता, पड़े-पड़े आसमानसे आँखें लड़ाता, मन-ही-मन रोता और दुःखसे आँसू बहाता—इधर यह कारुणिक दृश्य था उधर असार संसारका नंगा चित्र आँखोंके सामने दिखायी देता था। विश्वनियन्ताकी अद्भुत, अलौकिक तथा सम्पूर्ण मनोमुग्धकारिणी कमनीय भोगसामग्रियाँ भी अन्तःकरणमें अपूर्व वैराग्य तथा दिव्य ज्ञानको उत्पन्न करती थीं—और करती थीं हृदयधाममें निष्काम भक्तिकी पूर्ण अविरलताका सञ्चार भी।

बीमारी भी इधर जोर पकड़ती ही गयी जिससे दिन वर्ष और रात युगके समान बीतने लगी। अशक्तता-से कमरमें चिलकन और शिरमें भीषण पीड़ा होती जिससे एक-ब-एक पागल हो उठता था। ऐसी दशामें 'निर्बलके बल राम' की शरण लेनेके सिवा आखिर दूसरा करता ही क्या ? धैर्य धारणकर हृदयको स्थिर किया और अपने हृदय-मन्दिरमें भक्त-भयहारी वृन्दावन-विहारीका ध्यानकर 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रका जप करने लगा। इससे पीड़ाकी मात्रा कम हुई। फिर तो निद्रा देवीकी गोदमें पड़ गया।

सोये-सोये स्वप्नमें, मैं देखता क्या हूँ कि—'मैं एक रमणीय नदीके तटपर खड़ा हूँ, जिसकी दूधके समान उज्ज्वल जल-तरंगें अपने कल-कल शब्दसे मेरे हृदयको मोह रही हैं। उसके बालुकामय प्रदेशमें तरह-तरहके मगर, सूँस, मच्छ, कच्छ तथा घड़ियाल लोट-पोटकर अपने शरीरकी खुजलाहटको शान्त कर रहे हैं।—और कर रहे हैं नाना प्रकारके कौतूहलपूर्ण खेल-कूद भी। उसकी प्रचण्ड और तीक्ष्ण लहरोंके बारम्बारके अभिघातसे नदीके दोनों कूल कट रहे हैं। बड़े-बड़े विशाल वृक्ष, भूमिखण्ड तथा पाषाणशिलाके टुकड़े टूट-टूटकर जलमें गिर रहे हैं जिससे प्रलयके समान महाभयंकर शब्द हो रहा है, और जिससे लाखों प्राणियोंकी जीवन-लीला समाप्त हो रही है।

यह दृश्य देखकर मैं बहुत ही भयभीत हो गया। तो भी धैर्य धारणकर मैंने नदीमें स्नान किया। तत्पश्चात् बालुकाके सुन्दर आसनपर पद्मासन लगा, आँखें बन्दकर शान्तचित्तसे ईश्वरका गुणगान करने लगा। अन्तमें जब मेरी अल्प बुद्धि प्रभुकी मायानिर्मित अपरम्पार लीलाके रहस्यको समझनेमें किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गयी, तब मैं फूट-फूटकर रोने लगा कि—'प्रभो! क्या इस दासपर आपकी दया नहीं होगी ? मैं ऐसा पतित प्राणी हूँ कि मुझमें भक्ति-भाव, ज्ञान-ध्यान, शील-दया, धर्म-कर्म, श्रद्धा-विश्वास तथा भक्ति-मार्गमें इस चञ्चल और दुर्दमनीय मनको मोड़नेके लिये पुण्यका सञ्चित कोष कुछ भी नहीं है।' इतनेमें बिजलीकी गड़गड़ाहटके साथ-साथ एक भयंकर डरावना शब्द हुआ। मैं एकाएक चौंक पड़ा, आँखें खुल गयीं तो देखता क्या हूँ कि—

दशों दिशाओंमें जल-ही-जल व्याप्त है, जिसकी उत्ताल तरंगें आकाशसे अठखेलियाँ कर रही हैं। मैं

डरा तो था ही, परन्तु शीघ्र अति आतुर भावसे प्रभुसे विनती करने लगा—

तुम ही सब कुछ नाथ ! हमारो ।
अगम उदधिके भँवर बीचमें नहिं कछु नाथ सहारो ॥
तुम ही मातु पिता गुरु स्वामी तुम ही सखा हमारो ।
जगके सब धन धाम असत नित देत महादुःख भारो॥
हेतु रहित अनुराग भगतिकी लगी चाह है प्यारो ।
पावन पतित नाम सुनि आयो क्यों तू 'राम' बिसारो ॥

डरसे काँपते-काँपते आँखें खोलीं तो मुझे जलनिधिमें एक सुन्दर रमणीय नौका देख पड़ी। जिसको एक दिव्य पुरुष पतवारसे खे रहा था । इधर तरंगमालाओंने बात-की-बातमें ही मेरे पैरकी भूमिको जलमग्न करके मुझे कमरभर पानीमें कर दिया । मैं कुछ साहस करके नौकाकी तरफ बढ़ा तो देखता हूँ कि वह चतुर नाविक यमुनाकूल-विहारी, वृन्दावन-विहारी मेरे प्राणाधार भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । वह अपनी मधुर मुसकानसे चराचर जीवोंको मोहते, बाँकी चितवनसे सबके दिलोंको घायल करते, अलौकिक सौन्दर्य तथा रूपलावण्यसे प्राणीमात्रके हृदयपर जादू फेरते, अपने अपूर्व तेजकी ज्योत्स्ना दिग्दिगन्तमें छिटकाते और 'हम भक्तनके भक्त हमारे' का रसीला गान गाते हुए मेरी ओर आ रहे हैं ।

इस मीठी तानके अन्दर प्रभुकी अपार दयालुता तथा विरदकी झाँकी कर अपने भाग्यपर प्रफुल्लित हो, मैं फूलकर कुप्पा हो गया और प्रेमोन्मत्त हो तीव्र वेगसे नौकाकी तरफ बढ़ा, झट प्रभुके चरणोंमें माथा टेक गद्गद कण्ठसे कहने लगा—

'नाथ ! मैं दीन, हीन, नीचातिनीच कुटिल, पामर प्राणी हूँ, मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि इस चञ्चल मनको मोड़कर तुम्हारे चरणोंमें लगाऊँ । मैं तो काम-क्रोध, लोभ-मोह तथा कामिनी-काञ्चनरूपी दलदलमें बेतरह फँसा हुआ जीव हूँ । अनन्त जन्मोंसे इस भवसागरमें डूब रहा हूँ । इससे उबारनेवाले तुम्हीं एकमात्र कर्णधार हो, तुम्हारी दयाके बिना किसी भी जीवका उद्धार नहीं । तुम्हारे ही निकाले निकल सकता हूँ । पतितपावन ! मुझे कोई भी मार्ग नहीं सूझता, इस पतित प्राणीपर दया करो तथा निष्काम कर्मके रूपमें ही भजन करनेकी शक्ति दो ।' इतना कह मेरी आँखें प्रभुके अलौकिक रूपमाधुरीका रसास्वादन करने लगीं ।

प्रभुने हँसते हुए जलनिधिकी ओर संकेत किया तो देखता क्या हूँ कि उसमें असंख्य प्राणी हाथ-पाँव पटकते तथा छटपटाते अति आर्त्त नादसे 'बचाओ ! बचाओ !!' के भयंकर चीत्कारसे आकाशको गुञ्जायमान कर रहे हैं, जिसे सुनकर हृदय काँप उठता है, रोंगटें खड़े हो जाते हैं, जावें हिल जाती हैं और जी सन्न हो जाता है । उस भवसागरकी उत्ताल तरंगोंमें धनी-गरीब, राजा-रंक, सेठ-साहूकार, पढ़-अपढ़, ज्ञानी-ध्यानी कहानेवाले सभी बड़े वेगसे बह रहे हैं । यही नहीं बल्कि माला-छापा, चन्दन-तिलक, जटा-मेखलाधारी तथा नाना प्रकारके नाम धारण करनेवाले साधु-सन्त उन तरंगोंके सामने तिनकेकी तरह टूट-टूटकर अपने अस्तित्वको गवाँ रहे हैं । सबके सरपर अपनी-अपनी मनोवाञ्छित पाप, कामना तथा माया-मोहकी भारी गठरी लदी हुई है जो उनको और भी बुरी तरहसे डुबानेका प्रयत्न कर रही है । इसके भारसे सभी बेचारे दाँत चिआरे 'आरे मैया आरे बप्पा'का भीषण आहो नाला कर रहे हैं । उनकी आँखें सावनकी काली घटाएँ बनकर बरस रही हैं । उनके करुणाक्रन्दनसे करुणा बेचारीका कलेजा भी चाक-चाक हो रहा है । प्राणविमोचनके लिये सारे-के-सारे नौकाकी शरणमें जाना चाहते हैं, किन्तु सारी कोशिशें बेकार हो रही हैं। बस इतना ही था कि दीनबन्धु करुणानिधान भगवान्ने अपने विरद—

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

—को याद करके उनमेंसे झट अपने चार डूबते हुए भक्तोंको भवसागरसे निकाल, हृदयसे लगा, नौकामें बैठा लिया और बाकी सभीने प्रचण्ड लहरोंके भीषण महाघातसे चूर्ण हो क्षणभरमें विकराल कालके भयंकर गालमें विलीन हो अपनी अन्तिम जीवनलीला समाप्त किये ।

प्रभुकी लीलाका इस प्रकार दिग्दर्शनकर गद्‌गद कण्ठसे मैंने प्रभुसे प्रार्थना की—भगवन् ! इस लीला-का रहस्य क्या है ? हम-जैसे पामर प्राणियोंका इस असार संसारसागरसे कैसे उद्धार होगा ? वह कौन-सा सुगम मार्ग है जिसके द्वारा सर्वसाधारणको सुलभतासे आपकी प्राप्ति होगी ?

जनार्दनने कहा—'यदि तुम लीलाका रहस्य पूछते हो तो सुनो, वह वास्तवमें रहस्य नहीं—बल्कि उन्हींके कर्मोंका फल था जिसने उन्हें भवसागरमें डुबो दिया । उनके जीवनमें मैंने उन्हें सुधारके लाखों बहुमूल्य अवसर दिये, किन्तु उन्होंने उनको विषय-भोगोंके भोगनेहीमें गँवा दिया, जिसका फल आज उनके सामने है । मेरा तो वही सच्चा भक्त है जो अपनेको मुझे समर्पितकर निष्कामभावसे संसारके सारे कर्त्तव्य-कर्मोंको मेरे लिये ही करता हुआ चलते-फिरते, उठते-बैठने, सोते-जागते, खाते-पीते हर घड़ी मुझे ही भजता है । सारे कर्मोंके मूलमें मेरी ही सेवाको अनुभव कर अपनेको उसमें जुटाये हुए अपूर्वानन्दका सुख उठाता है । जिसकी अपनी कहानेवाली कोई चीज़ नहीं होती, यहाँतक कि जो अपने शरीरको भी अपना नहीं समझता । ऐसे भक्तसे मैं कभी विलग नहीं होता । सदा छायाकी तरह उसका साथी बनकर पीछे-पीछे घूमनेमें अपना अहोभाग्य मानता हूँ । मैं तो केवल भावका भूखा हूँ न कि बाह्याडम्बरका । ऐसे सच्चे भक्तके लिये संसार-सागरका पार करना बायें हाथका खेल है । मेरी तो प्रतिज्ञा है कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

बस इतना ही सुना था कि—

सवेग उन्मीलन नेत्रका हुआ ।
अदृश्य हा ! हा !! वह दृश्य हो गया ॥

मैं अवाक् हो पंखहीन पखेरूकी तरह बिस्तरेपर पड़े-पड़े लगा छटपटाने और फूट-फूटकर रोने । मन-ही-मन ईश्वरसे प्रार्थना करने लगा कि भगवन् ! आपने मेरी आँखें खोल दीं, अब मैं कभी आपको नहीं भूलूँगा । मैं जल्द ही अच्छा हो गया । तुरन्त ही गीताप्रेस आया और 'कल्याण' का ग्राहक बना । उस समय 'कल्याण' का 'चौथा' वर्ष चालू था । इसके अलावे और भी अपने कल्याणके लिये उपयोगी नियम बनाये और उनपर चलने लगा, जिससे मेरे-जैसे पतितके जीवनमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया । मेरा तो अब यह अटल विश्वास हो गया है कि जो आदमी अपनी जीवन-नौकाको प्रभुके चरणोंमें बाँधकर संसारके कर्मोंको करता है, वह मानव नहीं देवता है । ऐसे ही नरपुंगवोंसे मनुष्य-जाति गौरवान्वित होती है और समाजका वास्तविक कल्याण हो सकता है । यह स्वप्न सदा मेरी आँखोंके सामने नाचता रहता है । मैं तो प्रत्येक भाई-बहिनोंसे सप्रेम आग्रह करता हूँ कि वे 'कल्याण' को एक पागलका प्रलाप समझकर भी पढ़ें और प्रचार करें तो उनका और मनुष्य-जातिका वास्तविक कल्याण होगा । इस मेरे स्वप्नसे पाठकोंका कुछ भी कल्याण हुआ तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा ।

दिव्य पथ

(लेखक—श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु')

संसारकी वर्तमान विभिन्न प्रकारकी अशान्ति, पारस्परिक विद्वेष, अपनेसे निर्बलका स्वत्वापहरण, एक राष्ट्रकी दूसरे राष्ट्रको हड़प करनेकी चाह, साम्प्रदायिक झगड़े, धर्मके नामपर घोर विवाद, स्वतन्त्रताकी घोषणामें निहित उच्छृङ्खलता आदिका एकमात्र कारण है वैयक्तिक (Personal) परिच्छिन्न 'अहं' मैं। यही मैं अपरिच्छिन्न होनेपर पारस्परिक प्रेमोत्पादक, सहानुभूति-प्रसारक, निर्बलोत्थापक, सम्प्रदाय और धर्मका समन्वय-कारक यथार्थ स्वतन्त्रता तथा विश्वकी शान्तिस्थापक है। इस 'मैं' का परिच्छिन्नत्व विनाश करनेके लिये परम उन्नत और सभ्यता-उत्पादक समझे जानेवाला आधुनिक विज्ञान (Science) आजतक किसी साधनका आविष्कार नहीं कर सका और न उससे भविष्यमें ही यह आशा की जा सकती है। परन्तु यह निर्विवाद है कि जबतक अमर्यादित स्वार्थकी माँग करनेवाला 'मैं' चाहे वह एक व्यक्तिका हो या एक राष्ट्रका मर्यादित स्वार्थपरक होकर व्यापक नहीं बनेगा तथा समाज शासनसूत्रकी इस नीतिपर प्रतिष्ठित होकर सञ्चालित नहीं होगा तबतक त्रिकाल-में भी मानवजाति या राष्ट्र मनुष्यत्वकी ओर अग्रसर होते हुए शान्ति-राज्यका स्थापन नहीं कर सकेगा। आजके प्रचण्डानलवर्षक गगनविकम्पी आग्नेयास्त्र (मशीन-गनें),एक कौतुकमें ही मनुष्योंका विनाश करनेवाली विषैली गैसें, वायरलेस टेलीग्राफ, वायुयान आदि आविष्कार तथा अन्तर्राष्ट्रीय-परिषद् (League of nations) मानवजीवनके ध्येय—प्रेमपूर्ण मुक्त जीवनको प्राप्त नहीं करा सकते। मैं तो कहूँगा कि कोई भी ऐसी शिक्षापद्धति या शासन जो मानवसमाजकी अन्तःशक्तिको प्रबुद्ध नहीं कर सकता, बाह्यरूपेण कड़े-से-कड़ा प्रयत्न कर लेनेपर भी उसको (मानवसमाजको) शान्ति-राज्यमें प्रविष्ट नहीं करा सकेगा। जो शिक्षा या शासन मनुष्यके मस्तिष्कको ज्ञानालोकित और हृदयको अनन्त प्रेमसे द्रवित नहीं कर सकता, वह अपूर्ण है, और मानवकी अन्तःपिपासा उससे कभी शान्त नहीं हो सकती। आज मानवका जीवन जिस शिक्षा और शासनसे अधिकृत है वह उसके अन्तरको स्पर्श भी कर नहीं पाता। तब क्या वह मनुष्य जिसके अन्तरमें मुक्ति, स्वातन्त्र्य और आनन्दकी तृषा अत्यन्त वेगसे भड़क रही है इस पिपासाकुल विचलित अवस्थामें ही आनन्द-वियोगाग्निसे जलता रहेगा ? क्या मनुष्य इस पतित अवस्थामें श्वानवत् अस्थि-खण्ड चूसते हुए ही पड़ा रहेगा, और प्रबुद्ध होकर अपने उस इन्द्रासनपर आसीन नहीं होगा जो अनादि कालसे उसके लिये नियत है ? क्या विश्वमें कोई ऐसा साधन नहीं जिससे वह अपने अभिलषित आनन्द-राज्यमें विहरण कर सके ? क्या आजसे पूर्वकी मानवजातिने उस साधनको अवगत कर उस आनन्द-राज्यमें कभी पदार्पण किया था ?

इसका उत्तर हमें पूर्वके दिव्य अतीतकालमें अपनी मनोवृत्तियोंको पहुँचानेपर ही मिल सकता है। हमारा मन-मयूर उस पावन उत्तरको अपने अन्तरीय कानोंसे सुनकर नर्तन कर उठता है। हमारी इन्द्रियाँ अपने सुरीले कल-कण्ठसे विश्व-विमोहन राग गाने लगती हैं और झंकृत हो उठता है हमारा हृत्-तन्त्र। परन्तु यह सब भाषा उन लोगोंके लिये कुछ अर्थ नहीं रख सकेगी जो लोटा, तवा, परात लेकर भौतिक सृष्टिमें ही अपना टाँडा फैलाये पड़े हैं। वे धन्य मानव ही उस दिव्य उत्तरको श्रवण कर सकेंगे जिनके कान ऐहिक कोलाहलसे बहरे नहीं हो गये हैं। और यदि इन भौतिक कानोंसे सुना भी तो क्या ? क्योंकि श्रवणसे वे ही यथार्थ लाभ उठा सकते हैं जो अपने अन्तरीय (मानसिक) कानोंसे सुनते हैं। अन्यथा कोई लाभ नहीं !

फिर, उस आनन्द-राज्यमें प्रवेश करनेका साधन भी बाहरसे नहीं अन्तरसे ही आरम्भ होता है। क्योंकि मानव-जीवनका विकास अन्तरसे ही होता है न कि बाहरसे। मनुष्यका बाहरसे बड़ी सुन्दर काट-छाँटवाले मनोरम वस्त्रों-से अलंकृत होना या सबल, गौर, पुष्ट शरीरका होना ही उसके अन्तःजीवनके विकास-पथानुसरणका प्रमाण नहीं है। वैसे तो उस साधन-पथपर गमन करता हुआ मनुष्य भी सर्वसाधारणकी तरह लौकिक काम करता हुआ ही

दिखायी देता है। परन्तु अन्तरसे वह उस आनन्द-राज्यमें प्रतिष्ठित होकर उसका (अच्युतानन्दका) रसपान करने लगता है। उस मानवकी बातोंमें सरसता और मधुरताका स्रोत बहने लगता है। उसके नेत्रोंमें प्रेम छलछला उठता है तथा उसकी संगतिमें मानवसमाज अलौकिक सुखका अनुभव करने लगता है। उसके शब्दोंमें होता है अमरत्व और जादू, और उससे होने लगता है शान्ति-सुधाका वर्षण। एकमात्र उससे ही गली, गाँव, नगर, प्रान्त, देश और राष्ट्र धन्य होते हैं। और वही इस पृथिवीपर ईश्वरीय राज्यकी स्थापना करता है। हाँ! वही इस प्रेम-पूर्ण विशाल वसुन्धराकी वात्सल्यमयी गोदमें निर्भय होकर शिशुवत् क्रीड़ा करता है। और वह, समस्त वह, उसको करती है स्नेहमयी लोरी देकर दुलार! तब वह एक व्यक्तिको या राष्ट्रको उस दिव्य राज्यमें प्रतिष्ठित करने-वाला साधन क्या है? हृदयको आनन्द-सिन्धुकी तरल-तरंगोंपर उतरानेवाला, प्रति रोममें आनन्द-विद्युत्का सञ्चालन करनेवाला, नेत्रोंमें आनन्दाश्रुके घन बरसानेवाला, उन्माद, प्रेमोन्मादकी अरुण वारुणीके प्याले ढलकानेवाला, अन्तःसाम्यवादका आलोकमय रँगीला फाग खिलानेवाला वह साधन है। भक्ति! भारतीय भक्ति!! भारतकी मूल-सम्पत्ति भक्ति!!!

उस पतितपावनी भक्तिका ही सबसे पहला और सबसे ऊँचा कार्य है कि 'वह' वैयक्तिक 'अहं' 'मैं' को विस्तृत करे। मनुष्यको पूर्ण होनेके लिये मिथ्या अहंकारका विनाश करना ही होगा। परन्तु इसका विनाश तबतक नहीं हो सकेगा जबतक कि वह दिव्य दैन्यभावको प्राप्त नहीं होगा। और वह 'दैन्यभाव' उस पावनी भक्तिकी उत्कण्ठा हुए बिना प्राप्त होना नितान्त असम्भव है।

दैन्य या दीनताका अर्थ उस गरीबीसे नहीं जो सांसारिक वैभवकी हीनता या धनाभावके कारण मनुष्यको प्राप्त होती है। वह दिव्य दैन्यभाव एक कौपीनधारी तथा एक स्वर्णसिंहासनासीन छत्रधारीके लिये समान ही साध्य है। वह दोनोंमें हो सकता है और वह (दैन्य) उस दिव्य पथपर जानेके लिये दोनोंके लिये धारण करने योग्य है। तब उसका स्वरूप क्या है?

वह मनुष्य जो अभिमानमें ऐंठा हुआ वैयक्तिक अहंकारवश दूसरोंको कुछ नहीं समझता, वह बलाभिमानी मनुष्य जो निर्बलोंको कुचलता रहता है, वह धनवैभवके मदमें चूर मानव जो कर्तव्याकर्तव्य कुछ न सोचते हुए मनमाना करता जा रहा है, वह मनुष्य जो महान् बननेकी कुपद्धतिपूर्ण चाहमें सत्यका तिरस्कार कर बढ़ता जा रहा है अपनी उत्पत्तिपर विचार करे। वैभवपूर्ण शोभन-वस्त्राभूषित मनुष्य मैं दूसरोंसे महान् हूँ, निर्बलोंको ठोकर लगानेका मुझे अधिकार है या जनता मेरे पीछे है, मैं चाहे जिस मार्गपर चला सकता हूँ। जहाँ वह यह खयाल करता है वहाँ यह भी सोचे कि मैं वहीं हूँ जो माँके गर्भमें सिर नीचा किये दुर्गन्धपूर्ण स्थानमें पड़ा रहा हूँ और मेरेसे पूर्व वे दिव्य पुरुष हो गये हैं जिन्होंने मानवकी मर्यादा और जीवनके प्रत्येक चक्रपर घूमकर मानवसमाजके लिये उस सत्यको प्रतिष्ठित किया है जो त्रिकालाबाधित है। उसको सोचना चाहिये कि प्रसवकी वायुके द्वारा मांसका लोथड़ा मैं अत्यन्त अपवित्र द्रवके साथ बाहर फेंक दिया गया तब मैं अपने मुँहपरसे भिनकती हुई मक्खियाँ भी नहीं उड़ा सकता था। पता नहीं, कितनी बार मैं मलमें सना पड़ा रहा हूँगा! विचार, ओ अहंकार और 'मैं' 'मैं' 'मैं' ऐंठनेवाले प्राणी! विचार, तेरी बुनियाद क्या है? और अगर आगे दुनियाँकी आँखोंमें पूर्ण आयुवाला भाग्यवान् हुआ तो अन्तमें आँख और कानकी शक्तिसे रहित दन्तहीन मुखवाला, खाँसी आदि रोगोंका शिकार, धनुष-सी कमर लेकर खटियापर पड़ा रहेगा। यह है तेरे आदि और अन्तका बाह्य रूप। विवश और दयाका पात्र! तब इस मध्यकाल यौवनमें जो न पहले था और न आगे रहेगा, अहंकार किस बातका? बस, इस प्रकारका चिन्तन ही दैन्य-भावके उत्पादनका बाह्य कारण है। तब मनुष्यको इस महान् विश्वके सम्मुख अपना अस्तित्व इतना तुच्छ अनुभव होता है कि वह सिंह-सा बलशाली और कुबेर-सा धनपति होते हुए भी विश्वके कण-कणके आगे झुक जाता है। और वह झुकना ही उसको वज्र-सा दृढ़ और हिमालय-सा उच्च बना देता है। परन्तु कब जब कि विश्वके कण-कणके प्रति हमारे हृदयसे भक्तिका स्रोत बह रहा हो और हमारी हृत्तन्त्रीसे मधुमयी विश्वमनरञ्जिनी ललित स्वरलहरी निकल रही हो यह—

सीय-राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(श्रीतुलसीदासजी)

और संसारका कार्य हो रहा हो इस दृष्टिसे—

यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

बस, यहींसे भारतीय भक्तिका आरम्भ होता है और यहींपर होता है उसका पूर्णत्व। भारतीय संस्कृतिमें नरकी दृष्टिसे नरकी भक्ति नहीं की जाती और न सुन्दर वन, पर्वत, सिन्धुकी दृष्टिसे प्रकृतिकी। वरं वह (भारत) विश्वके कण-कणमें पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि जड तत्त्वोंमें 'सच्चिदानन्द' का दर्शन करता है। वह 'सत्-चित्-आनन्द' है उसका ईश्वर, उसके महाप्रभु प्रियतम। सूर्य और चन्द्र उसकी भक्तिके प्रत्यक्ष प्रतीक हैं। अंशुमान्की रश्मियाँ उसके प्राणधन विश्व-नटनागरके किरीटका वृत्तालोक है और चन्द्र है उसके हृत्-निकुञ्ज-विहारी कृष्णचन्द्रके विश्वविमोहन मुखकी मधुर ज्योत्स्ना। वह नील जलधरके दर्शनमें अपने विश्वविहारीके दिव्य वर्णकी छविका अवलोकन करता है और देखता है सुमनोंके प्रस्फुटनमें उसकी मनोहर मुस्कान। वह (भारत) पवित्रतोया जाह्नवीकी कल ध्वनिमें उसकी त्रिभुवन-मोहन बाँसुरीकी तान सुनता है और हिमालयके उत्तुङ्ग शिखरपर देखता है उनका दिव्य सिंहासन। वह (भारत) निर्झरके झरझरित रवमें मिलकर गाता है यह मादक गान—

मैं 'मैं' को नाथ ! मिटाने पतनोन्मुख हो झरता हूँ।
खींचो निज शुचि किरणोंसे जगतीपर यों गिरता हूँ॥
हा ! तेरे दिव्य करोंसे ओ सूर्य ! स्वर्गमें जा लूँ।
आकाशजाह्नवी बनकर तव चरणकमल धो डालूँ॥

उसकी इस दृष्टिको न समझनेवाले अज्ञानी लोग उसको कहते हैं प्रतिमापूजक, पर वह है उस अप्रतिम महाप्रभुका भक्त ! उसकी दृष्टिमें नर है उस भवभयहारी नारायणका निवासगृह। और स्त्री है चिदात्मिका प्रेम-पूर्णा जगत्-सञ्चालिका नारायणी-शक्तिकी प्रतिमा ! यह है उसका सेव्य जिसका वह सेवक और भक्त है। यह ही भारतीय भक्तिका अति संक्षिप्त रूप है।

जब भारतकी यह दृष्टि थी तब बहती थीं उसमें आनन्दकी सरिताएँ और होता था प्रेमघनवर्षण। और तभी बाहरसे आनेवाले प्रेम-पिपासु भी उस आनन्द-पयस्विनी (भक्ति) में डुबकी लगाकर करते थे भारतका यशोगान !

परन्तु आज भारत अपनी संस्कृतिको भुलाकर जिस मार्गपर जा रहा है वहाँ पाश्चात्यके शान्ति और आनन्द-इच्छुक मानव स्वतः ही व्याकुल होकर तड़फड़ा रहे हैं। आज हम जिस साम्यवादकी प्रतिष्ठाके लिये अपना सर्वस्व स्वाहा कर रहे हैं वह साम्यवाद अन्तःसत्यकी दृष्टिसे नितान्त विरुद्ध है। क्योंकि अन्तःसाम्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा ही बाह्य साम्यकी प्रसारक है और यह बाह्य साम्य जो बाह्य स्वार्थवश बाह्य साधनोंसे स्थापित किया जाता है नींवहीन एक विशाल भवननिर्माण करनेकी चेष्टा-जैसा है। फिर स्वतः प्रकृति ही अपनी विभिन्नता और विचित्रतासे हमारे इस बाह्य साम्यके विरुद्ध घोषणा कर रही है। परन्तु हम निज आलोकसे हीन होनेके कारण इस सत्यकी प्रतिष्ठा करनेमें असमर्थ हैं। किन्तु साम्यवादकी अधिष्ठात्री देवी पावनी भक्तिके बिना साम्यवाद स्थापन करनेकी चेष्टा करना कोरा अज्ञान है। क्योंकि 'भक्ति' ही साम्यवादकी दिव्य जननी है और वह भक्ति है भारतीय संस्कृतिसे सिञ्चित उस सर्वव्यापक प्रेमार्णव पिताकी भक्ति !

जिस संगठनका कोलाहल आज किया जा रहा है उस संगठनकी यथार्थ सम्पादिका भी यही भक्ति है। परन्तु जिस पद्धतिसे संगठनका प्रयत्न किया जा रहा है वह (प्रयत्न) ऐसा है जैसे कि कोई स्वर्गकी कामना करता हुआ नरककी तैयारीके कर्म करे। आज जिस रूपमें जातिगत प्रेमका प्रश्न हल किया जा रहा है वह भी एक बाहरकी बनावट तथा निज-निज स्वार्थ-साधनपरक ढोंग है। ऐसे लोगोंको मुसलमानी राज्यका ही वह काल देखना चाहिये जब कि यहाँ (भारतमें) पावनी भक्तिकी गंगा बह रही थी। क्या उस कालके रहीम, जायसी, मुबारक, उस्मान, रसलीन, रसखान और शेख आदि यवन महानुभाव आज-जैसे किसी बाह्य स्वार्थसे हिन्दू संस्कृतिके भक्त बनकर विश्व-बन्धुत्वके भावमें बँधे थे ? क्या इससे सच्चा और पवित्र मन्त्र साम्यवाद और संगठनके लिये संसारमें मिल सकता है ? परन्तु आजके आर्य-संस्कृति-हीन हमलोग पाश्चात्य संस्कृतिमें पले होनेके कारण इस सत्य मन्त्रको न अपनाते हुए जिस रूपसे जातिगत प्रेमके प्रश्नको हल करना चाहते हैं वह बिल्कुल गलत है। कवि अकबरके कथनानुसार—

क्या हुआ यूँ मिल गये, साहब सलामत हो गयी।
दिल नहीं मिलता तो मिलनेका मजा मिलता नहीं॥

तब इस मिलनेसे क्या लाभ ? हृदय मिलानेवाली वस्तु है 'भक्ति' । यदि हिन्दू-समाजमें उस भक्तिका राज्य होता और हमलोग होते उस भक्तिसे पूर्ण तो कौन-सी विरोधिनी शक्ति थी जो उनका हार्दिक स्नेहपूर्ण सहयोग न करती ? हिन्दुओंके उस दिव्य भक्ति-कालमें हिन्दू और यवन-हृदयका मिलन कैसा था, वे (यवन) हिन्दुओंके आराध्यदेवको किस प्रकार अपने हृदयमें प्रतिष्ठित कर रहे थे, उसको 'रसखान' के ही शब्दोंमें सुनिये—

मानुस हौं तो वही 'रसखानि' बसौं व्रज गोकुलगाँवके ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंदकी धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरिको जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिंदी-कूल-कदंबकी डारन ॥

कैसा दैन्यभावपूर्ण आत्मसमर्पण है ! कितना अनुपम अनन्य प्रेम ! भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीके शब्दोंमें 'इन मुसलमान हरिजननपै कोटिन हिंदुन वारिये' यह है दो जातियोंके हृदयका मिलन, संगठन और साम्यवाद । परन्तु आज हमलोगोंकी बुद्धि इतनी स्थूलद्रष्टा हो गयी है कि हम अपने अन्तःस्थित उस दिव्य-शक्ति भक्तिकी गंगाको प्रस्रावित न कर केवल बाह्य साधनासे हिन्दू-मुस्लिम-मिलनका स्वप्न देख रहे हैं । हम आज स्वराज्यकी कामना-में लुब्ध हुए अपनी उस अन्तःशक्तिको प्रबुद्ध न कर एकत्रित होनेको ही संगठन और मिलन समझते हैं । आज हमारे ऊपर कोई नियम नहीं, हमारा कोई अपना शास्त्र नहीं, कोई मर्यादा नहीं । श्रीराम-कृष्ण भी काल्पनिक हैं ! हमारे पूर्वज असभ्य थे; बर्बर थे ! ऋषियोंका मत दुर्गन्ध-पूर्ण मवाद है ! पुरानी पुस्तकें वेद और उपनिषद्-पुराण आदिका काल समाप्त हो चुका, वे अब रद्दी हैं ! अब हमें सभ्य बनना है और दौड़ना है पाश्चात्योंके साथ ! फेंको उतारकर आर्योंका अवशिष्ट चिह्न यज्ञोपवीत और सम्बन्ध-विच्छेद करो उनके संस्कारोंसे !! ये बातें हैं आजके हम उन्नतिकामियोंकी, सुधरे हुए लोगोंकी ! परन्तु भारतको अपनी प्रतिष्ठा रखनी होगी और पाश्चात्य गम्भीर द्रष्टाओं-की उस भविष्यवाणीपर कि 'यदि विश्वका सभ्य मानव-समाज शान्तिपूर्ण आनन्द-राज्यकी कामना करेगा तो उसको भारतीय संस्कृतिको अपनाना ही होगा' ध्यान देकर भारतके 'अहं' को अपने लिये भी और दूसरोंके लिये भी व्यापक करना ही होगा । और अपने देशको ही नहीं वरं विश्वको उस विशाल आनन्द-राज्यकी छत्रछायामें संगठित करना होगा । तब सभी विश्व-बन्धुत्वके आनन्द-सिन्धुमें निमग्न होकर इस भूतलपर ही उस दैवी राज्यका उपभोग करेंगे । परन्तु कब ?

जब कि भारतकी आर्य-सन्तति स्वयं उस विश्व-मन-रञ्जिनी भक्तिके रंगमें रञ्जित होकर उसका सुललित दिव्य शंखनाद करेगी ।

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!
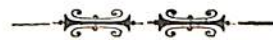
श्रान्त पथिक

(१)

ज्ञान अल्प, ज्ञाता अबल, है अज्ञेयाभास ।
चंचल मन जावै कहाँ, कैसे, किसके पास ?

(२)

बुद्धि पंगु, चित तिमिरयुत, अहंकारका पास ।
चंचल मन जावै कहाँ, कैसे, किसके पास ?

(३)

सांख्य, ज्ञान, अनुमान बन, होवै कैसे वास !
भेद निविड़-तम, शुष्क मग, तर्क-जालका पास !!

(४)

नित्य उदित विधु रुचिर मुख, ईषत् हास प्रकास ।
मन-कुमुदिनि ! खिलती रहो बनमालीके पास ॥

(५)

शील-शक्ति-सौंदर्ययुत, अतुल मनोहर हास ।
आश्रय-मन ! आश्रित रहो, नित-आलंबन पास ॥

(६)

जैमिनि, व्यास, कणादकी, अब छोड़ो तुम आस ।
चंचरीक-मन ! रमि रहो राम-कंज-पद पास ॥

× × × ×

—'चातक'

बद्ध और मुक्त

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

बद्धो हि को यो विषयानुरागी
का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः ।

श्यामा—हे बहिन ! संसारमें बद्ध और मुक्त दो प्रकारके बहिन-भाई देखनेमें आते हैं उनके शास्त्रोक्त लक्षण मैं तेरे मुखसे सुनना चाहती हूँ, तेरी समझानेकी रीति बहुत ही सरल है, तू जो बात कहती है वह शीघ्र ही समझमें आ जाती है। हे बहिन ! बद्ध कौन है और मुक्त कौन है ? यह बात संक्षेपसे मुझे दो-चार दृष्टान्त देकर समझा। जिससे पढ़े-बेपढ़े सभी बहिन-भाइयोंकी समझमें आ जाय, बद्ध पुरुष यहाँपर दुःखका अनुभव करता है और मरनेके पीछे अशुभ गति पाता है। और मुक्त पुरुष इस लोकमें जीते-जी सुखी रहता है और देह त्यागनेके पीछे विष्णुके अचल पदको पाता है। यह बात तो लोक और वेदमें प्रसिद्ध है ही।

कोकिला—हे बहिन ! तेरी बातका सरल-सीधा और संक्षेपसे उत्तर यह है कि विषयभोगोंमें प्रेम करनेवाला बद्ध यानी संसारमें बँधा हुआ है, और विषयभोगोंसे विरक्त पुरुष मुक्त है, यानी संसारके दुःखोंसे छूटा हुआ है। अब इसी बातको कुछ स्पष्ट करके समझाती हूँ।

हे बहिन ! विचारकर देखा जाय तो न कोई बद्ध है, न मुक्त है; क्योंकि आत्मा, स्वरूपसे एक, अद्वितीय और चेतनस्वरूप है, और शरीर अनेक और अचेतन हैं। चेतन और अचेतन रात-दिनके समान हैं, दोनोंका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। जैसे सूर्यमें अँधेरा त्रिकालमें नहीं है, इसी प्रकार आत्मामें तीनों कालमें अज्ञान नहीं है, फिर भी आत्माके अज्ञानसे यह मन बन्ध और मोक्षकी कल्पना करता है। मनसे ही बन्ध है और मनसे ही मोक्ष है। अशुद्ध मनसे बन्ध है और शुद्ध मनसे मोक्ष है अर्थात् अशुद्ध मनवाला मनुष्य बद्ध है और शुद्ध मनवाला मुक्त है। प्रायः सब भाई-बहिन बद्ध ही हैं, मुक्त तो कोई एक विरला ही होता है।

हे बहिन ! जिस बहिन या भाईके पूर्वके अनेक पुण्योंका जब उदय होता है, तब वह मुक्तिके लिये यत्न करता है, और मुक्तिके लिये यत्न करनेवालोंमेंसे भी कोई एक ईश्वर-प्राप्तिरूप मुक्तिके प्राप्त करनेके लिये योग्य होकर मुक्त होता है। सारांश यह कि मुक्ति थोड़े पुण्यका फल नहीं है, महान् पुण्यका फल है। जब बहुत दिनोंतक मनुष्य ईश्वरकी प्रीतिके लिये निष्काम कर्म करता है तब उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे विषय-भोगोंसे वैराग्य होता है और सच्चे सुखकी खोज होती है। सच्चा सुख अपने आत्मा—ईश्वरमें ही है। ईश्वर सामान्यरूपसे सर्वत्र होनेपर भी विशेष रूपसे सबके हृदयमें विराजमान है। जो बहिन-भाई बाह्य पदार्थोंका ध्यान छोड़कर अन्तर्मुखी होकर हृदयेशका ध्यान करते हैं, वे उसका साक्षात्कार करते हैं, फिर उन्हें सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा ईश्वर ही दिखायी देता है, उसके सिवा अन्य कुछ दिखायी नहीं देता। अथवा दिखायी देता है तो वन्ध्या-पुत्रके समान या मृगतृष्णाके जलके समान। फिर उनकी उसमें आस्था नहीं होती। ऐसे भाई-बहिन जीते-जी ही मुक्त होकर विचरते हैं। वे न कभी शोक करते हैं, न मोह। निःशोक, निर्मोह होकर विचरते हैं। ऐसे बहुत-से भाई-बहिन मैंने देखे हैं। उनमेंसे ऐसी दो बहिनोंकी

कथा मैं आज तुझे सुनाती हूँ, जिन्हें सुनकर तू मुक्तका स्वरूप समझ जायगी।

एक बार मैं और हमारे पड़ोसकी कई बहिनें हृषीकेशमें गङ्गा-स्नान करने गयीं और एक धर्मशालामें ठहरीं। दैवयोगसे वहाँपर खटमल बहुत थे, चारपाईपर तो कोई सो ही नहीं सकता था, हम सब पृथिवीपर ही सोते थे। वहाँ भी खटमल आ जाते थे, किसीको सोने नहीं देते थे, हम सब कभी ऊपर जाते थे, कभी नीचे। परन्तु कहीं भी चैन नहीं मिलता था, रातभर जागते थे। दिनमें कभी एक-आध घण्टे सो लेते थे। हमारी मण्डलीमें शान्ति नामकी एक बहिन थी, वह पड़ते ही सो जाती थी, रातभर उसे खटमल काटते थे, परन्तु वह करवटतक नहीं लेती थी। चार बजे सबेरेतक सोती रहती थी। उठते ही भजनमें लग जाती थी और सूर्य उदय होनेतक एक आसनसे सीधी बैठी रहती थी। उसके शरीरपर सबेरे ही ददोड़े देख हम उससे पूछते कि तुम्हें खटमल नहीं काटते? तब वह उत्तर देती--

'बहिनो! काटते क्यों नहीं हैं। अवश्य काटते हैं। जैसे तुम्हें काटते हैं वैसे ही मुझे भी काटते हैं; परन्तु काटनेको जानता कौन है? मन ही तो जानता है, मनके बिना तो काटनेका ज्ञान हो नहीं सकता, जागतेमें मेरा मन आत्मानुसन्धानमें लगा रहता है और सोते समय अज्ञानमें लीन हो जाता है, इसलिये मुझे काटनेकी खबर ही नहीं रहती, यह सब ईश्वर-भजनका प्रताप है, यदि तुम भी मेरे समान ईश्वर-भजनमें मन लगाये रहो तो तुमको भी उनके काटनेकी प्रतीति न हो, अथवा हो भी तो इतनी न हो कि तुम व्याकुल हो जाओ। मैं अपनी बड़ाई नहीं करती, मेरी बड़ाई है भी नहीं। ईश्वर-भजनकी बड़ाई है। तुम्हारे हितके लिये कहती हूँ कि तुम यदि ईश्वर-भजन करने लगो तो मेरे समान तुम भी सुखकी नींद सोया करोगी और तुमको सुख-दुःख, शीतोष्ण, मानापमान आदि द्वन्द्व व्याकुल नहीं कर सकेंगे।

शान्तिकी बातको सुन हमको बड़ा आश्चर्य हुआ और हमने विचार किया कि ईश्वर-भजन तो क्या करती होगी, नींदमें बेखबर सो जाती है इसलिये खटमलोंके काटनेकी इसे खबर नहीं रहती है। इसके ईश्वर-भजनकी परीक्षा लेनी चाहिये। ऐसा विचारकर हमने लड़क-बुद्धिसे जाड़ोंके दिनोंमें उस सोती हुईके ऊपर ठण्ढे पानीके छींटे डाल दिये, तो वह 'हरे राम हरे कृष्ण, हरे नारायण' कहती हुई उठ बैठी और इस प्रकार कहने लगी—

शान्ति–बादल तो हैं नहीं। तारे छिटक रहे हैं, बरसातका पानी नहीं है। किसी शिष्ट बहिन-भाईने मुझे ईश्वर-भजनसे रहित देखकर ईश्वर-भजन करनेको जगा दिया है। भाई जगानेवाले तुम्हारा भला हो, तुमने बहुत अच्छा काम किया है। जैसे दयालु सन्त-महात्मा अज्ञानी जीवोंको मोहनिद्रासे उठाकर तत्त्वमें जगा देते हैं, उसी प्रकार तुमने मुझ सोती हुईको नींदसे उठाकर ईश्वर-भजनमें लगा दिया, इसलिये मैं तुम्हारा बहुत ही उपकार मानती हूँ। हे भाई! मुझे रोज इसी प्रकार जगा दिया करो।

यह सुनकर हम सब खिलखिलाकर हँस पड़ीं और सामने आनेके बाद मैं उससे इस प्रकार कहने लगी।

हे बहिन! यथा नाम तथा गुण, सचमुच तुम शान्तिकी मूर्ति हो, क्या इस शान्तिका आनन्द अकेले-ही-अकेले ही लूटोगी? अथवा हमको भी थोड़ा-सा भाग प्रदान करोगी? यदि हमारा-तुम्हारा कुछ दिन सङ्ग रहा तो आशा होती है कि हमें भी बहुत नहीं तो कुछ तो शान्ति अवश्य प्राप्त होगी।

यह सुनकर शान्ति हँसने लगी, और हम सब चुपकी हो गयीं, बात गयी-आयी हुई। एक दिन शान्ति गङ्गा-स्नान करके बहुत देरमें आयी, हमने देरमें आनेका कारण पूछा तो कहने लगी।

शान्ति–हे बहिनो ! आजका दिन बड़ा शुभ है। गङ्गाजीकी मेरे ऊपर अपार कृपा है। आज मैंने तीन बार गङ्गा-स्नान किया है। बात यह है कि जब मैं स्नान करके आऊँ, तभी एक भङ्गिन टोकरा लिये हुए मार्गमें मिल जाय, बेचारी बहुत ही बचे फिर भी थोड़ी-सी धूल मेरे ऊपर आ जाय, अथवा नहीं आ जाय, किन्तु मुझे तो ऐसा ही मालूम हो कि धूल आ गयी। उस भङ्गिन बहिनका भला हो जिसने मुझे आज एक ही दिनमें तीन बार गङ्गा-स्नान करनेका सौभाग्य प्राप्त कराया।

कोकिला–मुक्त पुरुषके यही लक्षण होते हैं कि सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वोंमें समान रहे। ये लक्षण शान्तिमें घटते हैं। अब दूसरी बहिनका वृत्तान्त सुन।

एक गाँवमें एक सेठानी रहती हैं, उनके चार लड़के हैं और चार बहुएँ हैं, लखपती हैं। चार-पाँच हजार रुपये महीनेकी उनकी आमदनी है, सेठानीके पति कुछ दिन हुए परलोक सिधार गये हैं। फिर भी सेठानीकी आज्ञा घरभरपर चलती है, लड़के और बहुएँ तन, मन और धनसे उनकी सेवा करते हैं। हमेशा उनसे भय खाते रहते हैं। उनकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं करते। एक दिन उनके यहाँ चोरी हुई, और बीस-पचीस हजारका माल चोरी चला गया। सेठानीने चोरी होनेका कुछ सोच न किया। अपने पाससे सौ रुपयेका एक नोट निकालकर लड़कोंको दे दिया और ब्रह्मभोज करानेकी आज्ञा दी। लड़के और बहुओंने सेठानीकी आज्ञाका पालन किया। जब ब्राह्मण भोजन कर चुके तब एक पण्डितजी आकर सेठानीसे इस प्रकार कहने लगे।

पण्डितजी–हे दानशीले ! आप शुभ तिथियोंमें प्रायः ब्रह्मभोज कराया करती हैं। मैं समझता था कि आपके यहाँ धर्मकी कमाई आती है, धर्मकी आमदनी हो तो धर्मात्माको दान करना उचित ही है, परन्तु आज तो आपके यहाँ चोरी हो गयी। यदि धर्मसे कमाया हुआ धन चोरी चला गया है तो उसके लिये शोक करना चाहिये, उत्सव नहीं मनाना चाहिये। अधर्मकी कमाई चली जाय तो धर्मात्मा उत्सव मनाते हैं, अधर्मकी कमाई आपकी थी नहीं, फिर आज आपने उत्सव क्यों मनाया ?

सेठानी–(हँसकर) पण्डितजी ! जैसा आप समझते हैं वैसा नहीं है। धर्मकी कमाई हो या अधर्मकी, जो जानेवाला होता है वह चला ही जाता है। जो जानेवाला है वह अवश्य जायगा फिर मुझे सोच क्यों करना चाहिये ? मेरे चोरी हो गया है इसलिये मैंने उत्सव नहीं मनाया, उत्सव मनानेका कारण और ही है। मेरे लड़के मुझे सौ-पचास रुपये रोज कमाकर लाकर देते हैं, परन्तु मुझे कभी हर्ष नहीं होता है, आज मेरी चोरी हो गयी और बीस-पचीस हजार रुपयेका माल चला गया, तब मैंने अपने मनकी जाँच की, मैंने देखा कि मेरे मनमें किञ्चित् भी शोक नहीं है, वह जैसा हमेशा स्वस्थ रहता था, वैसा ही आज भी है, यह मैंने अपने मनके स्वस्थ रहनेका उत्सव मनाया है।

पण्डितजी–हे धर्मशीले ! जैसा धैर्य और विवेक आपमें है वैसा हम ब्राह्मणोंमें भी नहीं है, ब्राह्मण सबका गुरु है यह तो सामान्य बात है, परमार्थसे तो आप-सरीखी धीरा, वीरा, दानी और धर्मात्मा ही उपदेशक होनेके योग्य हैं। यदि आप-सरीखी दो-चार बहिनें और हों तो देशभरका कल्याण हो जाय और कलियुगका सत्ययुग हो जाय।

इतना कहकर पण्डितजी सब ब्राह्मणोंसहित मार्गमें सेठानीकी प्रशंसा करते हुए और मनमें प्रसन्न होते हुए चले गये।

हे बहिन ! इस दृष्टान्तसे तू मुक्तके लक्षण समझ गयी होगी। जिसके मनमें हर्ष-शोक न हो किन्तु जिसका मन सर्वदा समभावमें रहे, वही मुक्त है, चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो।

श्यामा–हे बहिन ! पहले तो तू बता आयी है कि जो विषयोंसे विरक्त हो, वह मुक्त है, अब कहती है कि जिसको हर्ष-शोक न हो वह मुक्त है। और रामायण आदि सत्-शास्त्रोंमें मैंने सुना है कि जो अपनेको, ईश्वरको और मायाको जानता है, यानी जो सम्यक् आत्मज्ञानी है वह मुक्त है। तेरे पहले और पिछले कथनमें विरोध है, और अन्य शास्त्रोंसे भी विरोध है। इनका क्या सम्बन्ध है?

कोकिला–हे बहिन ! जबतक मनुष्य भोगोंमें आसक्त रहता है तबतक करोड़ों जन्मोंमें भी मुक्त नहीं होता, और जब वह भोगोंमें दोष देखकर भोगोंसे विरक्त हो जाता है, तो उसके मुक्त होनेमें फिर देर नहीं लगती। इसी प्रकार जबतक मनुष्य हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व नहीं त्यागता तबतक मुक्त नहीं होता और जब हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व त्याग देता है तो शीघ्र ही मुक्त होनेके योग्य हो जाता है। भोगोंसे विरक्त होना और हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे दूर रहना यह साधकोंके तो साध्य लक्षण हैं, और सिद्ध पुरुषोंके यह लक्षण स्वाभाविक होते हैं। मुमुक्षुओंके लिये भोगोंकी आसक्ति छुड़ानेको और हर्ष-शोकसे बचनेको मुक्तके लक्षण कहे हैं। आत्मज्ञान हुए बिना कोई पूर्णरीति-से भोगोंसे विरक्त नहीं हो सकता। और हर्ष-शोकको भी सर्वथा नहीं त्याग सकता। इसलिये भोगोंसे विरक्त होना यह मुक्तका लक्षण ठीक ही है, और हर्ष-शोक न होना यह भी मुक्तका लक्षण उचित ही है। क्योंकि विरक्त ही हर्ष-शोकको पूर्ण-रीतिसे त्याग सकता है, इसलिये मेरे पहले और पिछले कथनमें कोई विरोध नहीं है। और अन्य शास्त्रोंसे भी विरोध नहीं है। पूज्यपाद भाष्यकारने भी प्रश्नोत्तरीमें बद्ध और मुक्तके यही लक्षण बताये हैं कि 'विषयानुरागी बद्ध है और विषयविरक्त मुक्त है।' सबका सार यह है—

कुं०—भोगोंमें आसक्त नर, मरते बारंबार।
विषयविरागी धीर नर, भवसे होते पार॥
भवसे होते पार, भोगमें प्रेम न रखते।
जागत सोवत नित्य, आत्मरस अद्भुत चखते॥
'देवी' करे कुपथ्य, फँसे सो ज्यों रोगोंमें।
त्यों ही पावे कष्ट, प्रीति कर नर भोगोंमें॥

आकांक्षा

परहित रत रहिबेकी बुद्धि धारि तीखे तपसों जराय मद लोभ मोह कोह काम।
मानको मिटाय ध्यान राखि परितोष बानि सहिहौं सकल सुख-दुख नीर शीत घाम॥
आइहै दिवस कब ऐसो अभिराम जब विमल बनाय हिय जाय ब्रज मंजु धाम।
गद-गद कंठसों निकुंजनमें धाय-धाय टेरहुँगो रातदिन राधेश्याम राधेश्याम॥

—बलदेवप्रसाद मिश्र

उपनिषद्-गाथा

(१)

उषस्तिका आपद्धर्मपालन
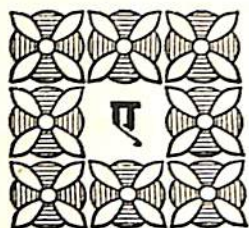
क समय कुरुदेशमें ओलोंकी बड़ी वर्षा होनेसे और उगते हुए अन्न-का नाश हो जानेसे भयानक अकाल पड़ गया । अकालसे पीड़ित नर-नारी अन्नके अभावसे देश छोड़कर भागने लगे । इसीलिये चक्रके पुत्र उषस्तिने भी अपनी अप्राप्तयौवना पत्नी आटिकीको साथ लेकर देश छोड़ दिया और भटकते-भटकते दोनों एक महावतोंके ग्राममें पहुँचे । भूखके मारे उस समय उषस्ति मरणासन्न दशाको प्राप्त हो रहा था । उसने एक महावतको उबले हुए उड़दके दाने खाते देखा और उसके पास जाकर कुछ उड़द देनेको कहा । महावतने कहा, 'मैं इस बर्तनमें रखे हुए जो उड़द खा रहा हूँ इन जूँठे उड़दोंके सिवा मेरे पास और उड़द नहीं है तब मैं तुम्हें कहाँसे दूँ ?' महावतकी बात सुनकर उषस्तिने कहा, 'मुझे इनमेंसे ही कुछ दे दो' तब महावतने उनमें-से थोड़े-से उड़द उषस्तिको दे दिये और जल सामने रखकर कहा कि 'लो, इनको खाकर जल पी लो ।' इसपर उषस्तिने कहा 'भाई ! मैं यह जल पी लूँगा तो मुझे दूसरेकी जूँठन खानेका दोष लगेगा ।'

महावतने अचरजसे पूछा, 'तो क्या तुमने जो उड़द मुझसे लिये हैं, ये जूँठे नहीं हैं, फिर जूँठे जलहीमें कौन-सा दोष है ?'

उषस्तिने उत्तर दिया, 'भाई ! यदि मैं यह उड़द नहीं खाता तो मेरे प्राण नहीं रहते (प्राण-सङ्कटमें आपद्धर्म समझकर ही मैं उड़द खा रहा हूँ) अब जल तो मेरी इच्छानुसार मुझे दूसरी जगह भी मिल जायगा । यदि उड़दकी तरह मैं तुम्हारा जूँठा जल भी पी लूँ तब तो वह स्वेच्छाचार ही होगा । आपद्धर्म नहीं रहेगा । इसलिये मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा ।' इतना कहकर उषस्तिने कुछ उड़द खा लिये और शेष स्त्रीको दे दिये । ब्राह्मणीको पहले ही कुछ खानेको मिल गया था, इसलिये पतिके दिये हुए जूँठे उड़द उसने खाये नहीं, अपने पास रख लिये ।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्तिने बिछौनेसे उठकर अपनी स्त्रीसे कहा, 'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहींसे खानेको मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह होने लायक कुछ धन प्राप्त कर सकता हूँ, यहाँसे समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्के काममें मेरा भी वरण कर लेगा ।'

यह सुनकर स्त्रीने कहा, 'मेरे पास कलके बचे हुए कुछ उड़द हैं, लीजिये, इन्हें खाकर यज्ञमें शीघ्र चले जाइये ।' भूखसे अशक्त हुए उषस्तिने उड़द खा लिये और कुछ स्वस्थ होकर वह राजाके यज्ञमें चले गये । वहाँ जाकर वे आस्तावमें (स्तुतिके स्थानमें) स्तुति करने-वाले उद्गाताओंके पास जाकर बैठ गये । और स्तुति करनेवालोंकी भूल देखकर उनसे बोले, 'हे प्रस्तोता ! आप जिन देवताकी स्तुति करते हैं वे देव कौन हैं ? आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना उनकी स्तुति करेंगे तो याद रखिये, आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा' इसी प्रकार उद्गातासे कहा कि 'हे उद्गीथकी स्तुति करनेवाले ! यदि आप उद्गीथ भागके देवताको जाने बिना उनका उद्गान करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा ।' तदनन्तर उन्होंने प्रतिहारका गान करनेवालेकी ओर भी मुड़कर कहा कि 'हे प्रतिहारका गान करनेवाले प्रतिहर्ता ! यदि आप देवताको बिना

जाने उसको प्रतिहार करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर जायगा।' यह सुनकर स्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता आदि सब ऋत्विजगण मस्तक गिरनेके डरसे अपने-अपने कर्मको छोड़कर चुप होकर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोंकी यह दशा देखकर कहा कि 'हे भगवन्! आप कौन हैं, मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा—'राजन्! मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा—'ओहो! भगवन्! उषस्ति आप ही हैं? मैंने आपके बहुत-से गुण सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विजके कामके लिये आपकी बहुत खोज की थी परन्तु आपके न मिलनेपर मुझे दूसरे ऋत्विज वरण करने पड़े। अब मेरे सौभाग्यसे आप पधारे हैं तो हे भगवन्! ऋत्विज-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा कीजिये।'

उषस्तिने कहा—'बहुत अच्छा! परन्तु इन ऋत्विजोंको हटाना नहीं, मेरी आज्ञानुसार ये ऋत्विज-गण अपना-अपना कर्म करें। और दक्षिणा भी जो इन्हें दी जाय, उतनी ही मुझे देना।' (न तो मैं इन लोगों-को निकालना चाहता हूँ, और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इनका अपमान करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमें ये सब कर्म करते रहेंगे) तदनन्तर प्रस्तोता, उद्गाता आदि समस्त ऋत्विजोंने उषस्तिके पास जाकर विनयपूर्वक उनसे पूछ-पूछकर सब बातें जान लीं और उषस्तिने उन लोगोंको सब समझाकर उनके द्वारा राजाका यज्ञ भलीभाँति पूर्ण करवाया।

(२)

गाड़ीवाला रैक्व

प्रसिद्ध जनश्रुत राजाके पुत्रका पौत्र जानश्रुति नामक एक राजा था, वह बहुत ही श्रद्धाके साथ आदरपूर्वक योग्य पात्रोंको बहुत दान दिया करता था। अतिथियोंके लिये उसके घरमें प्रतिदिन बहुत-सा भोजन बनवाया जाता था। वह महान् दक्षिणा देने-वाला था। वह चाहता था कि प्रत्येक शहर और गाँवमें रहनेवाले साधु, ब्राह्मण आदि सब मेरा ही अन्न खायँ, इसलिये उसने जहाँ-तहाँ सर्वत्र ऐसे धर्मस्थान, अन्नछत्र या छात्रावास खोल रक्खे थे जहाँ अतिथियों आदिके ठहरने और भोजन करनेका सुप्रबन्ध था।

राजाके अन्नदानसे सन्तुष्ट हुए ऋषि और देवताओं-ने राजाको सचेत करके उसे ब्रह्मानन्दका सुख प्राप्त करानेके लिये हंसोंका रूप धारण किया और राजा-को दिखायी दे सकें ऐसे समय वे उड़ते हुए राजाके महलकी छतके ऊपर जा पहुँचे। वहाँ पिछले हंसने अगले हंससे कहा, 'भाई भल्लाक्ष! इस जनश्रुतके पुत्रके पौत्र जानश्रुतिका तेज दिनके समान सब जगह फैल रहा है। इसका स्पर्श न कर लेना, कहीं स्पर्श कर लेगा तो यह तेज तुझे भस्म कर डालेगा।' यह सुनकर अगले हंसने कहा—

'भाई! तुम बैलगाड़ीवाले रैक्वको नहीं जानते, इसीसे तुम उस रैक्वसे इसका तेज बहुत ही कम होनेपर भी उसकी-सी प्रशंसा कर रहे हो।' पिछले हंसने कहा, 'वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है और कैसा है, यह तो बता।' अगले हंसने कहा, 'भाई! उस रैक्वकी महिमाका क्या बखान किया जाय। जैसे जुआ खेलनेके पासेके नीचेके तीनों भाग उसके अन्तर्गत होते हैं। यानी जब जुवारीका पासा पड़ता है तब वह तीनोंको जीत लेता है इसी प्रकार प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, वह सारे शुभ कर्म और उनका फल रैक्वके शुभ कर्मके अन्तर्गत है। अर्थात् प्रजाकी समस्त शुभ क्रियाओंका फल उसे मिलता है। वह रैक्व जिस जाननेयोग्य वस्तुको जानता है, उस वस्तुको जो जान जाता है उसे भी रैक्वके समान ही सब प्राणियोंके शुभ कर्मोंका फल प्राप्त होता है। मैं उसी विद्वान् रैक्वके लिये ही ऐसे कह रहा हूँ।'

महलपर सोये हुए राजा जानश्रुतिने हंसोंकी ये बातें सुनीं और रातभर वह इन्हीं बातोंको स्मरण करता हुआ जागता रहा। प्रातःकाल बन्दीजनोंकी स्तुति सुनकर राजाने बिछौनेसे उठकर बन्दीजनोंसे कहा कि 'हे वत्स ! तुम गाड़ीवाले रैक्वके पास जाकर उससे कहो कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ।' भाटने कहा, 'हे राजन् ! वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है ? और कैसा है ?' राजाने जो कुछ हंसोंने कहा था, सो उसे कह सुनाया। राजाकी आज्ञानुसार भाटोंने बहुत-से नगरों और गाँवोंमें रैक्वकी खोज की परन्तु कहीं पता नहीं लगा। तब लौटकर उन्होंने राजासे कहा कि 'हमें तो रैक्वका कहीं पता नहीं लगा।' राजाने यह विचार किया कि इन भाटोंने रैक्वको नगरों और ग्रामोंमें ही खोजा है, भला, ब्रह्मज्ञानी महापुरुष विषयी पुरुषोंके बीचमें कैसे रहेंगे ? उनसे कहा कि 'अरे जाओ ! ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंके रहनेके स्थानोंमें (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानोंमें) उन्हें खोजो।'

राजाकी आज्ञानुसार भाट फिर गये। और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी एक एकान्त निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए एक पुरुषको देखा। बन्दीजन उनके पास जाकर विनयके साथ पूछने लगे, 'हे प्रभो ! क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं ?' मुनिने कहा, 'हाँ, मैं ही हूँ।'

रैक्वका पता लगनेसे भाटोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे तुरन्त राजाके पास जाकर कहने लगे कि 'हमने अमुक स्थानमें रैक्वका पता लगा लिया।'

तदनन्तर राजा छः सौ गायें, सोनेका कण्ठहार और खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ आदि लेकर रैक्वके पास गया और वहाँ जाकर हाथ जोड़कर रैक्वसे बोला, 'भगवन् ! यह छः सौ गायें, एक सोनेका कण्ठहार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, ये सब मैं आपके लिये लाया हूँ। कृपा करके आप इनको स्वीकार कीजिये और हे भगवन् ! आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, उस देवताका मुझको उपदेश कीजिये।'

राजाकी बात सुनकर रैक्वने कहा, 'अरे शूद्र ! यह गौएँ, हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और विचारने लगा कि 'मुझको मुनिने शूद्र क्यों कहा। या तो मैं हंसोंकी वाणी सुनकर शोकातुर था, इसलिये शूद्र कहा होगा। अथवा थोड़ा धन देखकर उत्तम विद्या लेनेका अनुचित प्रयत्न समझकर भी मुनि मुझको शूद्र कह सकते हैं।'

यह विचारकर राजा अबकी एक हजार गायें, एक सोनेका कण्ठहार, खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर फिर मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा, 'हे भगवन् ! यह सब मैं आपके लिये लाया हूँ, इसको आप स्वीकार कीजिये और धर्मपत्नीके रूपमें मेरी इस पुत्रीको, और जहाँ आप रहते हैं इस गाँवको भी ग्रहण कीजिये। तदनन्तर आप जिस देवकी उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश कीजिये।'

राजाके वचन सुनकर, कन्याकी करुणाभरी स्थिति देखकर मुनिने उसको आश्वासन दिया और कहा कि, हे शूद्र ! तू फिर यही सब वस्तुएँ मेरे लिये लाया है ? (क्या इन्हींसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है ?)' राजा चुप होकर बैठ गया। कुछ समय बाद मुनिने उसको धनके अभिमानसे रहित हुआ जानकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। मुनि रैक्व जहाँ रहते थे उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया।

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)

तन्त्र

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

[गतांकसे आगे]

परन्तु साधारणतः कलिदूषित चित्तमें इस प्रकारके ज्ञानका उदय हो ही नहीं सकता। अतः कलिदोष-दूषित जनोंके लिये तन्त्रमें जो उपाय वर्णित हैं उनकी ही यहाँ आलोचना की जायगी। अब कलिकी अवस्था देखिये—

आयाते पापिनि कलौ सर्वधर्मविलोपिनि।
दुराचारे दुष्प्रपञ्चे दुष्टकर्मप्रवर्त्तके॥
न वेदा प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः।
तदा लोको भविष्यन्ति धर्मकर्मबहिर्मुखाः॥
उच्छृङ्खला मदोन्मत्ताः पापकर्मरताः सदा।
कामुका लोलुपाः क्रूरा निष्ठुरा दुर्मुखाः शठाः॥
स्वल्पायुर्मन्दमतयो रोगशोकसमाकुलाः।
निःश्रीका निर्बला नीचा नीचाचारपरायणाः॥
नीचसंसर्गनिरताः परवित्तापहारकाः।
परनिन्दापरद्रोहपरिवादपराः खलाः॥
परस्त्रीहरणे पापशंकाभयविवर्जिताः।
निर्धना मलिना दीना दरिद्राश्चिररोगिणः॥
विप्राः शूद्रसमाचाराः सन्ध्यावन्दनवर्जिताः॥

इत्यादि।

ब्राह्मण्यचिह्नमेतावत् केवलं सूत्रधारणम्।
नैव पानादिनियमो भक्ष्याभक्ष्यविवेचनम्।
धर्मशास्त्रे सदा निन्दा साधुद्रोहो निरन्तरम्॥

इत्यादि।

अतः इस प्रकारके कलियुगमें (१) दिव्यभाव (२) पशुभाव और (३) वीरभावकी साधना असम्भव है। कलिकालमें पशुभाव ही होना कठिन है—'पशुभाव कलौ नास्ति', फिर दिव्यभावकी तो बात ही क्या है ? दिव्यभावापन्न व्यक्तिको सदा देवताके समान शुद्ध अन्तःकरण, द्वन्द्वसहिष्णु, रागद्वेषवर्जित, क्षमाशील और समदर्शी होना चाहिये। इस कलियुगमें ऐसा होना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि लता-साधन आदिके द्वारा शीघ्र ही कुछ सिद्धि प्राप्त हो सकती है, किन्तु सदा अस्थिर-चित्त, निद्रालस्य और प्रमादग्रस्त कलिदोषदूषित जीवोंके लिये यह सब साधन अत्यन्त ही विघ्नमय हैं। वीर साधनके लिये पञ्चमकाररूपी पाँच तत्त्व अपरिहार्य हैं किन्तु कलिकालके शिश्नोदरपरायण लुब्ध जीव इन पञ्चतत्त्वोंको लेकर साधन तो करेंगे नहीं, उलटे लोभवश इनमें आसक्त होकर ज्ञानशून्य पापाचारपरायण हो जायँगे। पञ्चतत्त्वकी दुहाई देकर दुर्बलचेता, पापिष्ठ मनुष्य अगम्या-गमन करनेमें भी मुँह न मोड़ेंगे। इसी कारण कलियुगमें इस प्रकारके साधनका शिवजीने निषेध किया है। यह सारे साधन तीक्ष्णधार तलवारके साथ खेल करनेके समान हैं। एक बार गिर गये तो फिर कहीं भी खड़े होनेतकको जगह नहीं है। जिनके चित्त कलिदोष-दूषित नहीं हैं, जो अत्यन्त ही संयत और भगवद्भजन-शील, सत्यव्रत और सत्यपरायण हैं वे यद्यपि इन सब प्रणालियोंके द्वारा शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं तथापि इस युगके लिये, तो इस प्रकारकी साधना विषका काम करेगी। कलियुगमें द्रव्य, मन्त्र और ब्राह्मणशुद्धिके अभावमें श्रौत और स्मार्त कर्मादि भी पूर्वकी भाँति फलप्रद नहीं होते।

निर्वीर्याः श्रौतजातीया विषहीनोरगा इव।

समस्त वैदिक मन्त्र विषहीन सर्पके समान निर्वीर्य हो गये हैं। कलिकालमें वैदिक आचारोंकी रक्षा करनेमें प्रायः सभी असमर्थ हैं। इसका कारण द्रव्यादि शुद्धिका अभाव है। अतः पद-पदपर सबको आचारभ्रष्ट होना पड़ता है। और आचारभ्रष्ट होनेपर कोई वेदफल प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् मनु कहते हैं—

आचाराद्धि च्युतो विप्रः न वेदफलमश्नुते।

यही क्यों शूद्रराज्यमें बसनेपर ही वैदिक कर्मोंका पालन नहीं हो सकता। मनु भगवान् कहते हैं—

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते।

इन सब विषयोंका विचार करके कलिग्रस्त जीवोंके लिये शिवजी ब्रह्मदीक्षाका उपदेश करते हैं। महानिर्वाण-तन्त्रमें लिखा है—

कलौ पापयुगे घोरे तपोहीनेऽतिदुस्तरे।
निस्तारबीजमेतावद् ब्रह्ममन्त्रस्य साधनम्॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव सत्यं सत्यं मयोच्यते।
ब्रह्मदीक्षां विना देवि कैवल्याय सुखाय च॥

तपस्याविहीन, पापमय, अति दुस्तर इस घोर कलियुग-में ब्रह्ममन्त्रकी साधना ही एकमात्र निस्तारका उपाय है। हे देवि! मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि कलियुगमें सुख और मुक्ति प्रदान करनेवाला साधन ब्रह्मदीक्षाके अतिरिक्त दूसरा नहीं है।

अनेकों साधनोंकी बात तन्त्रमें होते हुए भी कलिके जीवोंके लिये शिव कहते हैं—'कलौ दुर्बलजीवानां असाध्यानि महेश्वरि!'—कलिके दुर्बल जीवोंके लिये अन्य समस्त साधन असाध्य हैं।

किसी बाह्य अनुष्ठानके बिना केवल ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासके द्वारा ब्रह्मसाधना सिद्ध होती है, केवल सत्यासत्य-निर्णयके चिन्तनद्वारा ही ब्रह्मसाधना अनुकूल होती है, इसी कारण अन्यान्य साधनोंकी अपेक्षा यह सुख-सम्पाद्य है।

परन्तु इस ब्रह्मसाधनाकी बात कहकर देवीके प्रश्नानुसार पुनः सदाशिव देवीकी उपासनाकी बात कहते हैं—यही कुलाचारसम्मत साधना है। ब्रह्मसाधनाके पश्चात् पुनः पञ्चतत्त्वोंके द्वारा साधना मुक्तिप्रदानकारिणी है, ऐसा क्यों कहा गया है, यह अवश्य विचारणीय विषय है। इसमें शिवजीका क्या उद्देश्य है, इसे बिना समझे तन्त्रोक्त साधनाका मर्म नहीं जाना जा सकता।

यह ठीक है कि ब्रह्मसाधना और भगवतीकी साधनामें तत्त्वतः वैसा कोई भेद नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसाधनामें जिसकी उपासना होती है, भगवती आद्याशक्तिकी साधना-में भी उसीकी उपासना होती है। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण ब्रह्मकी साधना होती ही नहीं। होती है मूलप्रकृतिसे उपहित निर्गुण ब्रह्मकी साधना अथवा निर्गुण ब्रह्म उपहित मूलप्रकृतिकी। इसमें प्रथम उपासना-का नाम है ब्रह्मोपासना और दूसरी उपासनाका नाम आद्याशक्ति या भगवतीकी उपासना। इसीलिये वस्तुतः ये दोनों ही उपासना ब्रह्मोपासना हैं। फल भी दोनोंका समान ही है। परन्तु दोनों उपासनाकी प्रणालियोंमें बड़ा भारी भेद है। ब्रह्मोपासना और मूलप्रकृतिकी उपासनाकी फल-साम्यताके विषयमें कुछ कहना नहीं है, क्योंकि सदाशिव कहते हैं—

शृणु देवि महाभागे तवाराधनकारणम्।
तव साधनतो येन ब्रह्मसायुज्यमश्नुते॥
त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे॥

हे देवि! तुम्हारी आराधना क्यों करनी चाहिये, तथा तुम्हारी आराधनाके द्वारा क्यों ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है—इसका कारण सुनो। साक्षात् ब्रह्म या परमात्माकी तुम्हीं परा प्रकृति हो अतः केवल तुम्हारे ही साथ उसका साक्षात् और नित्य सम्बन्ध है। हे देवि! तुमसे ही समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, अतएव तुम्हीं अखिल विश्वकी एकमात्र जननी हो।

यदि दोनोंकी उपासना एक ही है, तो विभिन्न प्रणाली क्यों प्रचलित हुई है? जो कुछ स्थूल-सूक्ष्म है सभी तो ब्रह्म और प्रकृतिविशिष्ट है, अतएव सब कुछ ब्रह्म-शरीर है। ब्रह्म नामसे जो पहले निर्गुण निराकार था उसे 'माँ' सम्बोधन करते ही मानों वह इन्द्रियबोधगम्य होने लगा। क्रमशः यह समझमें आने लगा कि जो स्थूल है वही सूक्ष्म है, तथा जो सूक्ष्म है, वही स्थूल है। जो निराकार और इन्द्रियोंके लिये अगम्य था वही साकार होकर इन्द्रिय-ज्ञानका विषय बन गया। जो वाष्पाकार था वह घन होकर जल और अन्तमें तुषाराकार हो गया। परन्तु इस साकार और निराकारमें तत्त्वतः कुछ भी भेद नहीं है। हम सोचते हैं कि वह हमें इन नेत्रोंसे नहीं दीख सकता, परन्तु इस विश्वरूपमें हमें किसकी मूर्ति दीखती है? क्या इस रूपमें कोई दूसरा है? क्या यह वही नहीं है? इस स्थूलरूपमें भी वही है। इसीसे कवि कहता है—

चोखे धूला आर माटी—
प्राण-रसनाय देख रे चेखे रसेर सँगे खाँटी।

जिसे इन नेत्रोंसे धूल-मिट्टी समझकर उपेक्षा करते हो, एक बार प्राणकी जीभसे उसे चखकर तो देखो, तुम्हें इन धूलके कणोंमें उसीका दिव्य रूप सुशोभित दीखेगा। इसीलिये श्रुति कहती है—'मधुमत्पार्थिवं रजः'—एक बार मधुका आस्वादन पा लेनेपर फिर समस्त ज्ञानद्वारोंसे केवल

मधु ही झरने लगता है, सारी वस्तुएँ मधुमय दीखने लगती हैं। परन्तु हमें दृष्टिदोषका संशोधन करना होगा, इसीका नाम साधना है। हिरण्यकशिपुने इस विश्वमें कहीं भगवान्‌को नहीं पाया, यह ठीक है, परन्तु ब्रह्मदृष्टिसम्पन्न प्रह्लादकी दृष्टिमें तो वह कहीं नहीं छिप सका, उसने सब जगह उसीको देखा। इसी देखनेको दिव्यदृष्टि या साधनदृष्टि कहते हैं। इस प्रकार भगवान् इन्द्रियोंके लिये अगोचर होते हुए भी ज्ञानियोंके ज्ञान-नेत्रमें और भक्तोंके शुद्धान्तःकरणमें—'रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्'—भगवान्‌की दिव्य कमनीय मनोमुग्धकारी दुःखनाशक मूर्ति प्रकट हो जाती है। यही बात महानिर्वाणतन्त्रमें भगवान् शिवजी कहते हैं—

उपासकानां कार्यार्थं श्रेयसे जगतामपि ।
दानवानां विनाशाय धत्से नानाविधास्तनूः ॥

उपासकोंकी कार्यसिद्धिके लिये, जगत्‌के मङ्गलके लिये तथा दानवोंके विनाशके लिये तुम समय-समयपर अनेकों प्रकारके शरीर धारण करते हो।

जब भाफ और बरफ एक ही वस्तु है, तब यदि बरफको देखकर ज्ञानकी स्पष्टता बढ़ती है तो फिर बरफ देखनेको नीचा क्यों माना जाय? जड़ जड़ नहीं है, वह भी चेतन है। जडभावापन्न अकवि पुरुष उसे साकार कहें या निराकार बतलावें, उनके चित्तमें कोई भावना नहीं जम सकती। क्योंकि वहाँ उस दिव्यदृष्टिका अभाव है। और जहाँ प्राण है, वास्तविक प्रेम है वहाँ परमात्मा बालिका कन्याका वेश धारणकर पिताके सांसारिक कार्यमें भी सहायता करने आते हैं। यह एक अपूर्व भावराज्यकी बात है, यह उपेक्षा करनेकी वस्तु नहीं है। रामप्रसादके जीवनमें इसका प्रमाण मिलता है।

देश, काल और अधिकार-भेदसे नाना प्रकारके आचार और भावके भेद दिखलायी देते हैं। इसलिये जो जिस प्रकारकी साधनाका अधिकारी है वह यदि उसी प्रकारके मार्गका अवलम्बन करे तो उससे ठीक फलका भागी होकर संसारसागरसे पार हो सकता है।

यह घोर कलिकालका समय है ऐसी अवस्थामें जो साधना सुगम है उसीका तन्त्रमें उपदेश दिया गया है। वह कौलाचार कहलाता है और वह ब्रह्मसाधनाके ही समान है। बहुतेरे इसपर सोचने लगेंगे कि तब क्या अन्यान्य साधना कलियुगमें निष्फल है? ऐसी बात नहीं है, यदि यही बात होती तो युगभेदसे होनेवाला साधनभेद भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें अवश्य बतलाते। यहाँतक कि, भगवद्गीताके परवर्ती भगवान्‌के उपदेश उत्तरगीता, देवीगीता तथा ज्ञानसङ्कलिनी-तन्त्रमें सर्वत्र ही ज्ञानका उत्कर्ष स्वीकृत किया गया है। एवं ज्ञानप्राप्तिके उपायस्वरूप योगादि यागोंका बारम्बार उल्लेख किया गया है। तन्त्रमें भी इसके विपरीत मार्गका अवलम्बन नहीं किया गया है। तन्त्रमें आध्यात्मिक मार्गके उपायरूपसे चार प्रकारके मार्गोंका उल्लेख किया गया है—

कौलाचार

(१) पश्वाचार (२) वीराचार (३) दिव्याचार (४) कौलाचार। इनमें वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचारमें उपदिष्ट आचारका अवलम्बनकर जो साधना की जाती है वही पश्वाचार है। अज्ञानपाशमें बद्ध जीवको पशु कहा गया है। अर्थात् ऐसे साधक अत्यन्त संसारासक्त, सकामी होते हुए भी आस्तिक्यबुद्धिसम्पन्न और आचारनिष्ठ होते हैं। इनकी पूजाका उद्देश्य नित्यक्रियाके अनुकूल परलोकमें स्वर्गफलकी प्राप्ति और इहलोकमें सांसारिक विषयोंमें उन्नतिलाभ करना होता है। इसमें आत्मा या आत्मज्ञानके सम्बन्धमें अथवा भगवान्‌को निज-बोध करनेमें तनिक भी उत्कण्ठा नहीं होती। यह देहाभिमानके पाशसे बद्ध संसारासक्त जीवकी संसारगति प्राप्तिका मार्ग है, अतएव यह बद्धभाव है—अज्ञान—मोहरूपी फाँसीसे बँधा भाव है। यह उत्कृष्ट मार्ग नहीं है, इसे विशेषरूपसे समझानेकी आवश्यकता नहीं। इसमें पञ्चतत्त्वोंके गौण-भावसे देवताकी आराधना होती है। पञ्चतत्त्वके मत्स्य, मांस, मुद्रा, मद्य और मैथुन—इन शब्दोंके आध्यात्मिक अर्थ अथवा मुख्यार्थ हैं। तथा इनके गौण अर्थ भी हैं। बहुतेरे यह समझनेमें बड़ी भूल करते हैं कि इन शब्दोंद्वारा जिन बाह्य विषयोंकी भावना होती है, वही इनके मुख्यार्थ हैं। परन्तु यह बात नहीं है, वह तो अपेक्षाकृत गौण है। क्योंकि इन वस्तुओंका सेवन करनेवाला निम्नाधिकारी साधन करनेके लिये बैठे तो अभ्यास न होनेके कारण उचित समयतक बैठकर साधन करनेमें वह समर्थ न होगा। इसी कारण गुरुके सम्मुख गुरुके आदेशके द्वारा इन गौण द्रव्योंका मर्यादित व्यवहार करके साधन करना होता है। इससे वृत्तिका संयम होता है और कुछ-न-कुछ फलकी प्राप्ति भी होती ही है। किन्तु जो लोग इन पदार्थोंको

लेकर अपनी जघन्यवृत्तिको चरितार्थ करनेकी इच्छा करेंगे, ऐसे शिष्यको गुरु गुरुचक्रसे दूर कर देंगे। यदि इसीकी मुख्यता स्वीकार की जाय तो महानिर्वाणतन्त्रगत देवीके मुखारविन्दसे निकले हुए इन व्याकुलतापूर्ण शब्दों-का क्या अभिप्राय होगा ? देवी कहती हैं—

कलिकल्मषयुक्तानां सर्वदाऽस्थिरचेतसाम् ।
निद्रालस्यप्रसक्तानां भावशुद्धिः कथं भवेत् ॥
वीरसाधनकर्माणि पञ्चतत्त्वोदितानि च ।
मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च ।
एतानि पञ्चतत्त्वानि त्वया प्रोक्तानि शङ्कर ॥
कलिजा मानवा लुब्धाः शिश्नोदरपरायणाः ।
लोभात्तत्र पतिष्यन्ति न करिष्यन्ति साधनम् ॥
इन्द्रियाणां सुखार्थाय पीत्वा च बहुलं मधु ।
भविष्यन्ति मदोन्मत्ता हिताहितविवर्जिताः ॥
परस्त्रीधर्षकाः केचिद् दस्यवो बहवो भुवि ।
न करिष्यन्ति ते मर्त्याः पापा योनिविचारणम् ॥

पापोंसे कलुषित, सर्वदा अस्थिरचित्त, निद्रालस्यपरायण कलिके जीवोंकी भावशुद्धि कैसे होगी ? वीरसाधनके विषयमें आपने पञ्चतत्त्वोंको अपरिहार्य बतलाया है, परन्तु कलिकालके मनुष्य लोभी और शिश्नोदरपरायण होते हैं। वे लोभवश होकर इन पञ्चतत्त्वोंमें पतित और आसक्त हो जायँगे, कुछ भी साधनादि न करेंगे। केवल इन्द्रिय-सुखके लिये अपरिमित मद्यपान करके मदोन्मत्त हो हिताहित-ज्ञानसे रहित हो जायँगे। उनमेंसे कोई-कोई मदोन्मत्त होकर परस्त्रीके सतीत्वको नष्ट करेंगे, तथा कोई-कोई दस्युवृत्तिमें प्रवृत्त होंगे। वे पापिष्ठ मत्त होकर गम्य और अगम्य योनिका विचार न करेंगे।

इससे समझा जा सकता है कि मद्यपान इस साधनाके उद्देश्यका साधक कदापि नहीं हो सकता, तथापि इनमें जो कुछ गौण उद्देश्य था उसे यहाँ व्यक्त किया गया है।

(क्रमशः)

प्राचीन आचार

आचाराल्लभते चायुराचाराल्लभते सुखम् ।
आचारात् स्वर्गमोक्षं च आचारो ह्यन्तलक्षणम् ॥
अनाचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
नरके नियतं वासो ह्यनाचारान्नरस्य च ।
आचाराच्च परं लोकमाचारं शृणु तत्त्वतः ॥
(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड)

यद्यपि वर्तमान युगके मनुष्य प्रायः प्राचीन आचार-की बातोंको बहुत ही क्षुद्र समझकर उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझते परन्तु खोज करनेपर उन छोटी-छोटी दैनिक व्यवहारकी बातोंमें बड़ा तत्त्व मिलता है। यदि आज हम उन सबका तात्पर्य न भी समझ सकें तो भी हमें उनका निरादर नहीं करना चाहिये। यह आचारपद्धति उन देवों और महर्षियों-द्वारा स्थापित हैं जो भूत-भविष्यसे तथा अन्तर्जगत्की रचना और सञ्चालनासे परिचित थे। अतएव उसे जानकर यथासाध्य श्रद्धापूर्वक तदनुसार आचरण करनेसे निःसन्देह बहुत लाभ हो सकता है। प्रायः सभी प्राचीन स्मृति और पुराणोंमें कुछ-कुछ न्यूना-धिकताके साथ आचारकी पद्धतियाँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे आज 'कल्याण' के पाठकोंके लिये पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें नारद-ब्रह्मा-संवादके रूपमें उल्लिखित आचारका वर्णन कुछ संक्षेप करके प्रकाशित किया जाता है। आशा है श्रद्धालु पाठक इसे अनावश्यक और छोटी बात समझकर इसकी अवहेलना नहीं करेंगे और यथासाध्य इसका पालन करके लाभ उठावेंगे। ब्रह्माजी कहते हैं—

द्विजको रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर प्रतिदिन भगवान्, देवता और पुण्यवान् व्यक्तियोंका स्मरण करना चाहिये। 'गोविन्द, माधव, कृष्ण, हरि, दामोदर,

नारायण, जगन्नाथ, वासुदेव, अज, विभु, सरस्वती, महालक्ष्मी, वेदमाता सावित्री, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्पालगण, ग्रहसमूह, शंकर, शिव, शम्भु, ईश्वर, महेश्वर, गणेश, स्कन्द, गौरी, भागीरथी गङ्गा, पुण्यश्लोक राजा नल, पुण्यश्लोक जनार्दन, पुण्यश्लोका जानकी, पुण्यश्लोक युधिष्ठिर और अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनूमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुराम इन सात चिरञ्जीवी पुरुषोंके नाम जो मनुष्य नित्यप्रति प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, वह ब्रह्महत्यादि पातकोंसे छूट जाता है।'*

तदनन्तर साफ जगह मल-मूत्रका त्याग करे, रात्रिको दक्षिणाभिमुख और दिनमें पश्चिमकी ओर मुख करके मलमूत्रका त्याग करना चाहिये। अङ्गोंमें मिट्टी लगाकर उन्हें शुद्ध करे। लिंगमें एक बार, गुदामें तीन बार, बायें हाथमें दस बार और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगावे। फिर 'हे मृत्तिके! मेरे सारे पूर्वसञ्चित पापोंको दूर करो†।' इस मन्त्रसे सारे अङ्गोंमें मिट्टी लगावे। तदनन्तर गूलर आदिके दांतनसे दन्तधावन करके नद, नदी, कुएँ या तालाबमें स्नान करे। प्रातःस्नान अत्यन्त ही स्वास्थ्यप्रद और पापनाशक है। स्नानके बाद संयत होकर सन्ध्या करे। प्रातःकाल रक्तवर्णा, मध्याह्नमें शुक्लवर्णा और सन्ध्या-समय कृष्णवर्णा गायत्रीका ध्यान करे। लोकान्तरगत पितृगणोंको उत्तम जल नहीं मिलता, इसलिये पितृव्रतपरायण शिष्य, पुत्र, पौत्र, दौहित्र, बन्धु और मित्र अपने मरे हुए सम्बन्धियोंकी तृप्तिके लिये नित्य तर्पण करें। तर्पण कुश हाथमें लेकर करना चाहिये। पितरोंको काले तिलसे बहुत तृप्ति होती है अतएव तिल मिले हुए जलसे तर्पण करे। स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने। धोबीसे धुला हुआ कपड़ा अपवित्र होता है, उसे पुनः स्वच्छ जलसे धोकर पहनना चाहिये। नित्य देवपूजन करे। विघ्ननाशके लिये गणेशकी, बीमारी मिटनेके लिये सूर्यकी, धर्म और मोक्षके लिये विष्णुकी, कामना-पूर्तिके लिये शिवकी और शक्तिकी पूजा करें। नित्य बलिवैश्वदेव और हवन करे। इस प्रकार सब देवों और सब प्राणियोंकी तृप्ति करनेके बाद स्वयं भोजन करे। स्नान, तर्पण, जप, देवपूजन और सन्ध्योपासना नियमपूर्वक नित्य करे। इनके न करनेसे बड़ा पाप होता है।

घरके आँगनको रोज गोबरसे लीपे; बर्तनोंको रोज माँजे। काँसेका बर्तन राखसे, ताँबेका खटाईसे, पत्थरका तेलसे, सोने-चाँदीका जलसे और लोहेका अग्निसे शुद्ध होता है। खोदने, जलाने, लीपने और धोनेसे पृथ्वी पवित्र होती है। बिछौने, स्त्री, शिशु, वस्त्र, उपवीत और कमण्डलु सदा ही पवित्र हैं, परन्तु अपने हों तो। दूसरोंके हों तो कभी शुद्ध नहीं हैं। एक कपड़ा पहनकर कभी स्नान या भोजन न करे। धोती और अँगोछा दोनों हों। दूसरेका स्नानवस्त्र कभी न पहने। रोज सबेरे बालोंको और दाँतोंको धोवे। गुरुजनोंको नमस्कार करे। दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख इन पाँचों अंगोंको गीले रखकर (धोकर)

---

* गोविन्दं माधवं कृष्णं हरिं दामोदरं तथा।
नारायणं जगन्नाथं वासुदेवमजं विभुम्॥
सरस्वतीं महालक्ष्मीं सावित्रीं वेदमातरम्।
ब्रह्माणं भास्करं चन्द्रं दिक्पालांश्च ग्रहांस्तथा॥
शङ्करञ्च शिवं शम्भुमीश्वरञ्च महेश्वरम्।
गणेशञ्च तथा स्कन्दं गौरीं भागीरथीं शिवाम्॥
पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको जनार्दनः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः॥
अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
एतान् यस्तु स्मरेन्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः।
ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः॥

† अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसञ्चितम्॥

भोजन करे। जो नियमित पञ्चार्द्र (इन पाँचोंको गीले रखकर) भोजन करते हैं वे सौ वर्ष जीते हैं। देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, ब्राह्मण और यज्ञादिमें दीक्षा लिये हुए व्यक्तिकी छायाको जान-बूझकर न लाँघे। गौ-ब्राह्मण, अग्नि-ब्राह्मण और दम्पति (पति-पत्नी) के बीचसे न जाय। अग्नि, ब्राह्मण, देवता, गुरु, अपना मस्तक, फूलोंका पेड़, यज्ञवृक्ष और अधार्मिक मनुष्य, इनका जूँठे मुँह स्पर्श न करे। सूर्य, चन्द्रमा और तारे इन तीनों तेजमय पदार्थोंको जूँठे मुँह ऊपरकी ओर ताक-कर न देखे। विप्र, गुरु, देवता, राजा, संन्यासी, योगी, देवकार्यमें लगे हुए मनुष्य और धर्मोपदेशक पुरुषको भी जूँठे मुँह न देखे। समुद्र और नदीके किनारेपर यज्ञ-(वट,पीपल आदि) वृक्षोंके नीचे, बगीचेमें, पुष्पवाटिकामें, जलमें, ब्राह्मणके घरमें, राजमार्गमें और गोशालामें शरीरका कोई भी मल न त्याग करे। मङ्गलवारको हजामत न करावे। रवि और मङ्गलवार-को तैल न लगावे, मुखमें नख न ले। अपने शरीर-को और आसनको न बजावे। गुरुके साथ एक आसन-पर न बैठे। श्रोत्रिय, देवता, गुरु, राजा, तपस्वी, पंगु, अन्धे और स्त्रियोंका धन किसी तरह हरण न करे। ब्राह्मण, गौ, राजा, रोगी, बोझ लादे हुए, गर्भिणी स्त्री और कमजोर मनुष्यके लिये रास्ता छोड़ दे। राजा, ब्राह्मण और चिकित्सक (वैद्य-डाक्टर) से विवाद न करे। पतित, कुष्ठरोगी, चाण्डाल, गो-मांसभोजी, समाजबहिष्कृत और मूर्खसे सदा अलग रहे। दुष्टा, बुरी वृत्तिवाली, अपवाद लगानेवाली, कुकर्म करनेवाली, कलहप्रिया, प्रमत्ता, अधिक अङ्गवाली, निर्लज्जा, बाहर घूमने-फिरनेवाली, खर्चीली और अनाचारिणी स्त्रियोंसे दूर रहे। मलिन अवस्थामें गुरु-पत्नीको प्रणाम न करे। गुरुपत्नीको भी बिना प्रयोजन न देखे। पुत्रवधू, भ्रातृवधू, कन्या तथा अन्य जो भी स्त्रियाँ युवती हों तो बिना प्रयोजन उनकी ओर न देखे, स्पर्श तो कभी न करे। स्त्रियोंके साथ व्यर्थ बात-चीत न करे, न उनके नेत्रोंकी ओर देखे, न कलह करे और न अमर्यादित वाणी बोले। तुष, चिनगारी, हड्डी, कपास, देवनिर्माल्य और चिताकी लकड़ीपर पैर न रक्खे। दुर्गन्धवाली, अपवित्र और जूँठी चीज न खाय। क्षणभरके लिये भी कुसङ्गमें न रहे और न जाय। दीपककी छायामें और बहेड़ाके पेड़के नीचे न रहे। अस्पृश्य, पापात्मा और क्रोधी मनुष्यसे बात न करे। चाचा और मामा उम्रमें अपनेसे छोटे हों तो उनका अभिवादन न करे परन्तु उठकर उन्हें आसन दे और कृताञ्जलि हुआ रहे। तेल लगाये हुए, जूँठे मुँहवाले, गीला कपड़ा पहने, रोगी, समुद्रमें उतरे हुए, उद्विग्न, यज्ञके कर्ममें लगे हुए, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करते हुए, बालकके साथ खेलते हुए, पुष्प या कुश हाथोंमें लिये हुए और बोझ उठाये हुए, इन मनुष्योंको अभिवादन न करे। क्योंकि बदलेमें इन्हें वैसा करने-में असुविधा होगी। मस्तक या दोनों कानोंको ढक-कर, चोटी खोलकर, जलमें अथवा दक्षिणमुखी होकर आचमन न करे। आचमनके समय पैर धोने चाहिये। सूखे पैर सोना और गीले पैर भोजन करना चाहिये। अँधेरेमें न सोवे, न भोजन करे, क्योंकि बिछौने या भोजनमें जीवजन्तु रह सकते हैं। पश्चिम और दक्षिण-की ओर मुँह करके दाँतोंको न धोवे। उत्तर और पश्चिमकी ओर सिर करके न सोवे। दक्षिण और पूर्वकी ओर सिर करके सोना चाहिये। दिनरातमें एक बार भोजन करना देवताओंका, दो बार मनुष्यों-का, तीन बार प्रेत-दैत्योंका और चार बार राक्षसों-का होता है।

स्वर्गसे आये हुए मनुष्योंकी चार पहचान हैं— खुले हाथों दान, मीठी वाणी, देवब्राह्मणोंका पूजन

और तर्पण ! नरकसे आये हुए जीवोंकी छः पहचान हैं—कंजूसी, मैला-कुचैला रहना, स्वजनोंकी निन्दा, नीच जनोंकी भक्ति, अत्यन्त क्रोध और कठोर वाणी। जो धर्मके बीजसे उत्पन्न हैं, उनकी प्रत्यक्ष पहचान है—नवनीतके समान कोमल वाणी और दयासे कोमल हृदय। और जो पापके बीजसे पैदा हुए हैं, उनके प्रत्यक्ष लक्षण हैं—हृदयमें दयाका अभाव और केवड़ेके पत्तों-जैसी कँटीली और तीखी वाणी ! *

भक्त-गाथा

निर्लोभी भक्त तुलाधार शूद्र

प्राचीन कालकी बात है, किसी गाँवमें तुलाधार नामक एक शूद्र रहते थे। ये बड़े ही सत्यवादी, निर्लोभी, वैराग्यसम्पन्न और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। घरमें साध्वी स्त्री थी। संसारसे वैराग्य होनेके कारण ये कोई भी काम नहीं करते थे। शिलोञ्छवृत्तिसे अपना निर्वाह करते थे। खानेको इन्हें भरपेट अन्न तथा पहननेको पूरे वस्त्र नहीं मिलते थे, तथापि इनके मनमें कोई क्षोभ नहीं होता था। अवश्य ही इनकी स्त्रीको दरिद्रताके कारण कुछ दुःख रहा करता था परन्तु वह पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली होनेके कारण कभी इनसे न तो कुछ कहती और न इनकी रुचिके विरुद्ध किसी दूसरे उपायसे ही पैसे कमाती। पतिकी रुचिके अनुसार चलना ही वह अपना परम धर्म मानती थी। भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं, वे घटघटकी जाननेवाले होनेपर भी भक्तकी महिमा बढ़ाने तथा भक्तका एक ऊँचा आदर्श जगत्‌के सामने रखनेके लिये भक्तकी परीक्षा-लीला किया करते हैं। अतएव यहाँ भी उन्होंने परीक्षा करनेकी ठानी !

तुलाधारजीके कपड़ोंमें एक धोती थी और एक गमछा, दोनों ही बिल्कुल फट गये थे। मैले तो थे ही। वे नाममात्रके वस्त्र रह गये थे, उनसे वस्त्रकी जरूरत पूरी नहीं होती थी। तुलाधार नित्य नदी नहाने जाते थे, इसलिये एक दिन भगवान्‌ने दो बढ़िया वस्त्र नदीके तीरपर ऐसी जगह रख दिये जहाँ तुलाधारकी नज़र उनपर गये बिना नहीं रहे। तुलाधार नित्यके नियमानुसार नहाने गये। उनकी नज़र नये वस्त्रोंपर पड़ी, वहाँ उनका कोई भी मालिक नहीं था, परन्तु इनके मनमें ज़रा भी लोभ नहीं पैदा हुआ। इन्होंने दूसरेकी वस्तु समझकर उधरसे सहज ही नज़र फिरा ली और स्नान-ध्यान करके चलते बने। दूर छिपकर खड़े हुए प्रभु भक्तका संयम देखकर मुसकरा दिये।

दूसरे दिन भगवान्‌ने गूलरके फल-जैसा सोनेका गोला उसी जगह रख दिया। तुलाधार आये। उनकी

* स्वर्गच्युतानामिह जीवलोके चत्वारि तेषां हृदये च सन्ति। दानं प्रशस्तं मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च ॥
कार्पण्यवृत्तिः स्वजनेषु निन्दा कुचैलता नीचजनेषु भक्तिः। अतीवरोषः कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य ॥
नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः। धर्मबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम् ॥
दयादरिद्रहृदयं वचः क्रकचकर्कशम्। पापबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम् ॥
(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड)

नज़र आज भी सोनेके गोलेपर गयी। क्षणके लिये अपनी दीनताका ध्यान आया, परन्तु उन्होंने सोचा, 'यदि मैं इसे ग्रहण कर लूँगा तो मेरा अलोभव्रत अभी नष्ट हो जायगा। फिर इससे अहङ्कार पैदा होगा। लाभसे लोभ फिर लोभसे लाभ, फिर लाभसे लोभ, इस प्रकार निन्यानवेके चक्करमें मैं पड़ जाऊँगा। लोभी मनुष्यको कभी शान्ति नहीं मिलती। नरकका दरवाजा तो उसके लिये सदा खुला ही रहता है। बड़े-बड़े पापोंकी पैदाइश इस लोभसे ही होती है। घरमें धनकी प्रचुरता होनेसे स्त्री और बालक धनके मदसे मतवाले हो जाते हैं, मतवालेपनसे कामविकार होता है और कामविकारसे बुद्धि मारी जाती है। बुद्धि नष्ट होते ही मोह छा जाता है और उस मोहसे नया-नया अहङ्कार, क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है। इनसे तप नष्ट हो जाता है और मनुष्यकी बुरी गति हो जाती है। अतएव मैं इस सोनेके गोलेको किसी प्रकार भी नहीं लूँगा।'

इस प्रकार विचार करके तुलाधार उसे वहीं पड़ा छोड़कर घरकी ओर चल दिये। स्वर्गस्थ देवताओंने साधुवाद दिया और फूल बरसाये!

इधर भगवान् भविष्य बतानेवाले ज्योतिषी बने, और पोथीपत्रा बगलमें दबाकर गाँवमें पहुँचे। आप घर-घर घूमने और लोगोंके हाथकी रेखाएँ देखकर भविष्य बतलाने लगे। तमाम गाँवमें बात फैल गयी। सब ओर ज्योतिषीजीकी पूछ हो गयी। चारों ओर भीड़ जमा हो गयी, सभी अपना-अपना भविष्य पूछने लगे। खबर पाकर अपने भाग्यका लेख पढ़ानेके लिये तुलाधारकी स्त्री भी अड़ोसिन-पड़ोसिनोंके साथ ज्योतिषीजीके पास पहुँची। ज्योतिषीजीने हँसकर उसके विषादका कारण दरिद्रता बतला दिया और कहा कि 'तेरे भाग्यमें दरिद्रता ही बदी है क्योंकि तेरा पति इतना मूर्ख है कि वह घर आयी लक्ष्मीका भी अपमान करता है। आज ही विधाताने उसे खूब धन दिया था, परन्तु वह मूर्खकी तरह उसे छोड़कर चला आया। तब धन कहाँसे मिलेगा। जबतक दोनों जीओगे, तबतक यह दरिद्रता ही रहेगी। हे माता! तू अपने घर जाकर अपने स्वामीसे पूछ तो सही कि आज वह मिले हुए धनको क्यों छोड़ आया?'

ज्योतिषीजीकी बात सुनकर तुलाधारकी स्त्री अपने घर लौट आयी और स्वामीसे सारा हाल कह सुनाया। तुलाधारने कहा, 'ज्योतिषीजीकी बात बिल्कुल सच है, परन्तु मैं धनका क्या करता।' साध्वी पत्नी कुछ नहीं बोली। तब कुछ विचारकर यह जाननेके लिये कि पण्डितको मेरी इस घटनाका पता कैसे लगा, तुलाधार अपनी स्त्रीको साथ लेकर ज्योतिषीजीके पास अकेलेमें गये और उनसे कहने लगे कि 'आप क्या कहना चाहते हैं, मुझसे कृपा करके कहिये।'

ज्योतिषीजी स्नेहभरे शब्दोंमें समझाते हुए-से बोले—'बेटा! तुम आँखोंके सामने पड़े हुए निर्दोष धनको सहज ही तृणके समान त्यागकर चले आये! अतएव अब तुम्हारा भाग्य कभी नहीं खुलेगा! तुम अपना अतुल ऐश्वर्य, शौर्य और मङ्गल सभी कुछ नष्ट हुआ समझो। तुमने अपने घर आयी लक्ष्मीका अपमान किया है। फिर तुम्हें धनका सुख कैसे मिलेगा? अब भी तुम मेरी बात मानो तो जाकर धन ले आओ और निष्कण्टक सुख भोग करो। संसारमें धन और ऐश्वर्य ही सार है इसीसे मनुष्यकी शोभा और सम्मान है।'

निःस्पृह तुलाधारने कहा—'भगवन्! धनमें मेरी रत्तीभर भी स्पृहा नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि धन जीवको फँसानेवाला बड़ा भारी जाल है। जिस मनुष्यकी धनमें आसक्ति है, उसकी मुक्ति कभी नहीं

हो सकती । धनमें मादकता है, मोह है, भय है, और है मिथ्यामें प्रीति ! धन आया कि चोर, जातिके लोग, राजा और राजपुरुषोंकी नज़र उसकी ओर लग जाती है । पशु-पक्षियोंमें भी परस्पर डाह रहा करता है फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है । धनीसे दूसरे धनी और निर्धन डाह करने लगते हैं जिससे प्राणसंकट उपस्थित हो जाता है । पापजनक अहंकार और कामादिका तो प्रिय निवासस्थल ही धन है, और है यह दुर्गतिका परम निदान । अतएव भगवन् ! मुझको धन नहीं चाहिये । निर्धन रहकर ही मैं परम सुखी हूँ ।'

ज्योतिषीजी कहने लगे—'तुम नहीं जानते, संसारमें जिसके पास धन है, उसीके सब कुछ है । धनी पुरुषके ही मित्र, बान्धव, कुल, शील, पाण्डित्य, रूप, सौभाग्य, यश और सुख है । स्त्री-पुत्र उसीका सत्कार करते हैं, निर्धनको कोई पूछतातक नहीं; धनहीन मनुष्यके न मित्र है, न धर्म है और न उसका जन्म ही सार्थक है । धनसे ही परोपकार, यज्ञ, दान आदि होते हैं, धनसे ही कुएँ-तालाब बनाये जा सकते हैं, धनसे ही होम-जप होते हैं, जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है । निर्धन मनुष्य इनमेंसे कुछ भी नहीं कर सकता । व्रत, तीर्थसेवन, जप, सन्तुष्टि, सिद्धि, आजीविका, भोग, तप सब धनसे ही होते हैं । धनसे ही रोगका प्रतीकार, पथ्य, औषध और आत्मरक्षा होती है । शत्रुजय, स्त्रियोंका विलास, भूत-भविष्य और वर्तमानका ज्ञान, यहाँतक कि सभी सुकृत और दुष्कृत धनसे ही होते हैं । सारांश यह कि जिसके पास धन है वही इच्छानुसार भोग भोग सकता है और वही दान-धर्म करके स्वर्गादिमें जा सकता है ।'

तुलाधार बोले—'भगवन् ! यहाँके भोग और स्वर्ग दोनों ही अनित्य हैं । भोगोंमें सुख मानना ही तो मोह है । आप मुझे क्यों मोहमें डाल रहे हैं—

अकामाच्च व्रतं सर्वमक्रोधात्तीर्थसेवनम् ।
दया जप्यसमा शुद्धं सन्तोषो धनमेव च ॥
अहिंसा परमा सिद्धिः शिलोञ्छवृत्तिरुत्तमा ।
शाकाहारः सुधातुल्य उपवासः परं तपः ॥
सन्तोषो मे महाभोग्यं महादानं वराटकम् ।
मातृवत्परदाराश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत् ॥
परदारा भुजङ्गाख्याः सर्वयज्ञ इदं मम ।
तस्मादेनं न गृह्णामि सत्यं सत्यं गुणाकर ॥
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥

अकाम ही सर्वव्रत है, अक्रोध ही तीर्थसेवन है, दया ही जपके तुल्य है, सन्तोष ही शुद्ध धन है । अहिंसा ही परमा सिद्धि है, शिलोञ्छा ही उत्तम वृत्ति है, शाकाहार ही मेरे लिये अमृत और उपवास ही परम तप है । यथालाभमें सन्तुष्टि ही महान् भोग्य है और कौड़ी ही महादान है । परदारा मातृवत् है और पराया धन लोष्ठवत् है । परस्त्रियाँ विषधर साँपके समान हैं; ऐसा भाव रखना ही मेरा सर्वयज्ञ है । अतएव हे ज्योतिषीजी ! मैं धन नहीं लूँगा, यह मैं आपसे सत्य-सत्य कहता हूँ । कीचड़ हाथोंपर लपेटकर उसे धोनेकी अपेक्षा तो कीचड़से दूर रहना ही उत्तम है ।'

नरश्रेष्ठ शूद्र तुलाधारके इस निर्लोभ वृत्तिपर देवताओंने उसका जयघोष किया, आकाशसे उसके मस्तक और शरीरपर देवताओंने फूल बरसाये । देव-दुन्दुभियाँ बजने लगीं । दिव्य लोकसे उसके लिये विमान उतर आया !

तुलाधारने मन-ही-मन सोचा, ये ज्योतिषी कौन हैं । इनकी चेष्टा, इनकी वाणी और इनका ज्ञान बड़ा ही आकर्षक है । क्या मेरे प्रभु साक्षात् हरि ही मुझे छलने आये हैं अथवा ये दूसरे कोई देवता हैं ? यों सोचकर तुलाधारने ज्योतिषीरूपी भगवान्के चरण पकड़कर उनसे कहा, 'प्रभो ! मालूम होता है

आप ही मेरे प्रियतम स्वामी हैं, फिर छद्मवेषी ज्योतिषी क्यों बने हुए हैं, कृपाकर प्रकट होइये और अपने विश्वविमोहन स्वरूपकी झाँकी दिखाकर दासको कृतार्थ कीजिये ।'

भक्तकी प्रार्थना सुनते ही भगवान् अपने विष्णु-स्वरूपमें बदल गये । चारों ओर सहस्रों सूर्योंका-सा परन्तु निर्मल सुशीतल प्रकाश छा गया । उसी प्रकाशमें भक्त तुलाधार और उनकी भाग्यवती पत्नीने नील-मणि-सदृश सुन्दर सुनीलवर्ण, शङ्ख, चक्र, गदा-पद्मधारी, वैजयन्ती माला, कौस्तुभमणि और श्रीवत्स तथा भृगुलताके चिह्न हृदयपर धारण किये हुए, मकराकृति कुण्डल और किरीट-मुकुटधारी, पीताम्बर-धर प्रभुको मन्द-मन्द मुसकराते हुए देखा । दोनों कृतार्थ हो गये । भगवान्की आज्ञासे दोनों दिव्य विमानपर सवार होकर दिव्य धामको पधारे !

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

जायसीकी प्रेमानुभूति

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०)

जायसी एक बहुत ही ऊँचे महात्मा हो गये हैं । वे सूफ़ी फकीर थे । एक कम्बल लपेटे रहते थे । जो कुछ किसीने दे दिया उसीमें मस्त रहते थे । कोढ़ीके रूपमें भगवान्ने जायसीको दर्शन दिये । इस दर्शनकी कहानी बड़ी विचित्र है । जायसी कभी अकेले भिक्षान्न भी नहीं खाते थे । जो कुछ मिलता था उसमेंसे दो-एक साधु-फकीरोंको भोजन करा लेते थे, फिर जो कुछ बचता था उसे ही प्रसाद-रूपमें ग्रहण करते थे । एक बार एक जंगलमें नदी-तटपर भिक्षाका अन्न लेकर जायसी बैठे थे । वे किसीकी बाट जोह रहे थे । इतनेमें एक कोढ़ी सामनेसे गुज़रा । जायसीने उसे पुकारा । पास आनेपर जायसीने देखा कि इसके शरीरसे रक्त-पीव बह रहा है और मक्खियाँ भन्ना रही हैं । परन्तु जायसीके मनमें तनिक भी घृणा नहीं हुई । उन्होंने भिक्षाके अन्नको 'अतिथि'के सामने रख दिया । रक्त और पीवसे आप्लावित शेषांशके पीनेकी बारी आयी तब जायसीने हठपूर्वक अपने-आप ही पीना चाहा । ज्यों ही उन्होंने उसको अपने मुँहसे लगाया उक्त कोढ़ी आँखोंसे ओझल हो गया । विस्मयसे भरे हुए जायसी बोल उठे—

> बुंदहि सिंधु समान, यह अचरज कासों कहौं ।
> जो हेरा सो हेरान, 'मुहमद' आपै आप महँ ॥

परमात्माके प्रेमको प्राप्तकर जायसी बस मस्त होकर जङ्गलोंमें घूमा करते थे । वे प्रेमकी पीरमें बेसुध रहते थे । उस समयकी उनकी स्थितिका पता नीचेकी कुछ पंक्तियोंमें मिल सकता है—

> सुख भा सोच एक दुख मानूँ । वहि बिन जीवन मरन कै जानूँ ॥
> नैन रूप सों गयेउ समाई । रहा पूर भर हिरदय छाई ॥
> जहँवै देखौं तहँवै सोई । और न आव दिष्टतर कोई ॥
> आपन देख देख मन राखौं । दूसर नाँव सो कासों भाखौं ॥

प्राणनाथके बिना यह जीवन मृत्युके समान है । मेरी आँखोंमें वह परमात्मज्योति अपनी अमित छबिके साथ समा गयी और हृदयको उसने छा लिया । अब जिधर भी दृष्टि जाती है वही वह दीखता है, मेरी दृष्टिकी सीमामें और कोई आता ही नहीं । 'उस' में अपना 'सर्वस्व' देख-देखकर मनमें ही जुगाये रखता हूँ फिर दूसरेका नाम क्यों लूँ, दूसरेकी चर्चा क्यों करूँ ?

जायसी बड़े ही कुरूप थे। उनकी एक आँख शीतलाके कारण चली गयी थी। एक बार अमेठीके राजाने जायसीका नाम सुनकर उन्हें अपने राज्यमें बुलवाया। जायसीकी कुरूपता देखकर वे हँस पड़े। इसपर जायसीने कहा—

मटियहिं हँससि कि कोंहरहि—

अर्थात् आप मेरी इस मिट्टी (शरीर) को हँस रहे हैं या इसके बनानेवाले कुम्हार (परमात्मा) को। राजा लज्जित हो गये।

जायसी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है एक पहुँचे हुए सूफ़ी फकीर थे। सूफ़ी मतमें परमात्माकी प्रियतमके रूपमें उपासना की जाती है। सूफ़ी मत और हमारे 'माधुर्यभाव' में बहुत अधिक समानता है। जायसीके लिये संसारकी सब वस्तुएँ, संसारके सारे व्यापार, परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध चरितार्थ कर रहे थे—यह समस्त प्रकृति उस 'परमपुरुष' से मिलनेके लिये अहर्निश व्याकुल है। जायसीने अपने हृदयके भीतर उस परमपुरुषकी अलौकिक रूप-आभाको देखा जिसकी ज्योतिसे अनन्त ब्रह्माण्ड जगमग कर रहे हैं—

देख्यों परमहंस परिछाहीं। नयन जोति सो बिछुरत नाहीं॥

मैंने परमहंस (परमात्मा) की अमर शीतल छायाको स्पर्श किया। अब वह ज्योति एक क्षणके लिये भी आँखोंसे बिछुड़ती नहीं। संसारमें जो कुछ भी 'सुन्दर' प्रतीत होता है वह परमात्माकी सुन्दरताकी छायामात्र है। 'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति'।

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

सरोवरमें चारों ओर जो कमल दिखायी पड़ रहे थे वे उस (परमपुरुष) के नेत्रोंके प्रतिबिम्ब थे; जल जो इतना स्वच्छ दीख पड़ता था वह 'उस' के स्वच्छ निर्मल शरीरके प्रतिबिम्बके कारण; उसके हासकी शुभ्र कान्तिकी छाया वे हंस थे जो इधर-उधर दिखायी पड़ते थे और उस सरोवरमें जो हीरे थे वे उसके दाँतोंकी उज्ज्वल दीप्तिसे उत्पन्न हो गये थे। इतना ही नहीं—

रबि ससि नखत दियहि ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, रत्न, पदार्थ, माणिक्य, मोती सभी कुछ उसी एककी ज्योतिके कारण ही प्रकाशमान हैं।

प्राणप्रिय हृदयमें ही बसता है परन्तु उसके दर्शन नहीं हो पाते। यह दुःख किससे रोया जाय?—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

विरहकी जो अधीर दशा है वह बहुत ही करुण और दारुण है—

बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातक भइउँ कहत पिउ पीऊ॥
जरिउँ बिरह जस दीपक बाती। पथ जोवत भइँ सीप सेवाती॥
भइउँ बिरह दहि कोइल कारी। डारि डारि जिमि कूकि पुकारी॥

कौन सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता जासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥

जायसी उस दिनकी तीव्र प्रतीक्षामें है जब प्राणाधार आकर स्वयं उसे गले लगा लेगा और वह दो टुक उससे बातें कह सकेगा, अपने हृदयकी व्यथाको सुना सकेगा। 'उस' के मिलनेपर तो—

तौं लौं रहौं झुरानी, जौ लौ आव सो कंत।
एहि फूलि एहि सेंदुर, होइ सो उठै बसंत॥

इसी फूल (शरीर) से जिसे तुम इतना कुम्हलाया हुआ कहते हो, और इसी सिन्दूरकी फीकी रेखसे जो रूखे सिरमें दिखायी पड़ती है फिर वसन्तका विकास और उत्सव हो सकता है यदि 'पति' आ जाय।

मङ्गल मिलनके मन्दिरमें प्रवेशकर जब जायसी

अपने हृदयधनसे मिलते हैं तो एक अपूर्व आनन्दकी विस्मृतिमें अपनेको खो देते हैं। अपनी स्थिति-का जब हलका-सा ज्ञान हो जाता है तो एक अपूर्व असमंजसका अनुभव करते हैं—

रहौं लजाइ तो पिउ चलै, कहौं तो कह मोहि ढीठ।

मिलनकी इस मधुर मङ्गलवेलामें यदि मैं लज्जित होकर घूँघट सरका लूँ तो पिय रूठकर चला जाय और मैं हाथ मलती रह जाऊँ, और यदि जरा घूँघटको उठाकर उसके चरणोंको जोरसे पकड़ लूँ तो मुझे वह ढीठ ही समझेगा। असमञ्जसकी यह मधुर स्थिति कितनी कोमल, कितनी जादूभरी है; जिसका थोड़ा-वहुत अनुभव प्रत्येक भक्तको होता होगा। वास्तवमें 'उसे' पकड़ते भी नहीं वनता, न छोड़ते ही बनता है।

'पति' के घर जानेमें पहले तो बड़ी झिझक, सङ्कोच और लज्जा होती है। परन्तु जब एक बार घूँघट हटकर 'पति' का साक्षात्कार हो जाता है तो समग्र हृदय वहां उसके चरणोंमें आप-ही-आप निछावर हो जाता है और फिर एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है। जबतक प्राणनाथ-से परिचय नहीं तभीतक मायकेसे प्रेम और ससुरालसे विराग है। इस मायकेमें रहना भी कैछन है ?

छाँड़िउ नैहर, चलिउँ बिछोई। एहि रे दिवस कहँ हौं तब रोई॥
छाँड़िउ आपन सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली॥
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपनेकर लेखा॥
मिलहु सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं॥
हम तुम मिलि एकै सँग खेला। अंत बिछोह आनि जिउ मेला॥

इस संसारसे जो हमारा अनुराग और आसक्ति है वह ठीक वैसा ही है जैसा कन्याओंका मायकेसे। परन्तु हमारा सच्चा और अपना देश तो 'साजनका घर' ही है। जब हम सच्चे रूपमें अपने 'हृदयधन' को पहचान लेंगे तो हमारी इस संसारमें जो आसक्ति है वह तो मिट ही जायगी, साथ ही हमें 'उस'के सिवा कुछ अच्छा लगेगा ही नहीं। यह भाव कबीर और दादू तथा अन्यान्य निर्गुणिये सन्तोंमें बहुत अधिक आया है।

यहाँ, इस पृथ्वीपर हमारा जितने दिनका रहना है वह 'प्रियतम' के विरहमें ही बीत रहा है। विरहका यह ताप बड़ा ही मधुर होता है। इसे जो 'दुःख' नामसे पुकारते हैं वे विरहके रससे परिचित नहीं हैं। विरहका ताप मधुर इसलिये है कि उसमें प्रीतमकी स्मृति है, उसमें स्वयं 'साजन' की मूर्त्ति विलसती रहती है। जायसीने इस माधुर्यको बड़े ही अनूठे ढङ्गसे रक्खा है—

लागिउँ जरै जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥

भाड़की तपती बालूके बीच पड़ा हुआ अनाजका दाना जैसे बार-बार भूने जानेपर उछल-उछल पड़ता है पर उस बालूसे बाहर नहीं जाना चाहता, उसी प्रकार इस प्रेमजन्य संतापके अतिरेकसे मेरा जी हट-हटकर भी उस संतापके सहनेकी बुरी लतके कारण उसीकी ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रियका ध्यान आते ही चित्त तापसे विह्वल हो जाता है फिर भी वह बार-बार उसीका ध्यान करता रहता है। प्रेमदशा चाहे घोर यन्त्रणामय हो जाय, पर हृदय उस दशासे अलग होना नहीं चाहता। विरहकी इस दारुण यन्त्रणामें—

हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

जो अणु-अणुमें व्याप्त है, जो हर समय हमें भीतर और बाहर दोनों ओरसे देख रहा है उससे मिलनेके लिये क्या शृङ्गार किया जाय ? फिर भी भक्तका मन तो मानता नहीं और इसी हेतु 'उस' के निमन्त्रणपर 'तन मन जोबन साजिकै, देइ चली लेइ भेंट' समागमकी उत्कण्ठा या अभिलाष इतना तीव्र है कि अपने शरीर, मन और यौवनको

सजाकर भेंटमें देनेके लिये भक्त चला। लेकिन तुरन्त ही अपनी बालबुद्धिपर दृष्टि जाती है और वह सोचता है—

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओही देखहुँ ठावहि ठाऊँ॥
जौ पिउ महँ तौ उहै पियारा। तन मनसौं नहिं होहि नियारा॥
नैन माँह है उहै समाना। देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना॥

शृङ्गार करके उसके पास क्या जाऊँ? उसे ही तो सर्वत्र देख रही हूँ। पिय तो प्राणोंमें बसा हुआ है। वह शरीर और मनसे भिन्न कैसे हो भी? आँखोंमें वही समाया हुआ है, जहाँ दृष्टि जाती है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ दीखता ही नहीं। उसके बाणोंसे समस्त संसार बिंधा हुआ है। कोई स्थान उससे खाली नहीं है।

जिस प्रकार हमारे यहाँ कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा सिद्धावस्था है उसी प्रकार सूफ़ी लोग भी साधककी चार अवस्थाएँ मानते हैं—शरीअत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारफत। सूफ़ी मतमें ब्रह्मकी भावना अनन्त सौन्दर्य और अनन्त गुणोंसे सम्पन्न प्रियतमके रूपमें करते हैं। सूफ़ियोंका 'अनलहक' हमारे 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही बोधक है। सर्वात्म-समर्पणके अनन्तर भक्तका भगवान्में लय हो जाता है, वह तद्रूप, तदाकार, एक और अभिन्न हो जाता है। इस प्रलयावस्थाका सूफ़ी धर्ममें बहुत विस्तारसे वर्णन मिलता है—

'फ़ना'—वह स्थिति है जिसमें साधक अपनी अलग सत्ताकी प्रतीतिसे परे हो जाता है। इसके बाद 'फ़क़द' की अवस्था है जिसमें अहंभावका सर्वथा नाश हो जाता है। 'सुक्र' अथवा प्रेममद-की स्थिति वह है जिसमें साधक अपनी निजी सत्ताको खोकर सर्वदा और सर्वत्र अपने 'प्रीतम' को ही देखता है और उसी अमर दिव्यप्रेममें माता-माता फिरता है। यह तो त्यागपक्षकी साधना-प्रणाली है। प्राप्तिपक्षसे इसी बातको दूसरे ढङ्गसे व्यक्त किया जाता है—'बक़ा'-वह स्थिति है जिसमें साधक परमात्मामें ही अखण्ड विश्वास और श्रद्धा रखते हुए उसी 'एक' में निवास करने लगता है। इसके बाद उसे परमात्माकी प्राप्ति होती है जिसे सूफ़ी लोग 'वज्द' कहते हैं और अन्तमें है 'शह्व' अर्थात् पूर्ण शान्ति।

प्रेमका यह पथ जितना ही सरल प्रतीत होता है वास्तवमें वह उतना ही कठिन है। यह तो सिरका सौदा है। यह पथ तो 'सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखे पाँव' का है इसमें 'मैं' और 'हरि' एक साथ नहीं रह सकते। हरिको पानेके लिये 'मैं' का लोप करना ही होगा।

आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥

अपनेको खोनेपर ही पिय मिलेंगे। यदि उस प्राणाधारको ही खो बैठे तो सब कुछ उसीके साथ गया! फिर मनमें समझ-बूझकर क्यों न अपनेको खोकर हरिको पा लें? परन्तु इस प्राप्तिके लिये मन और तनको दर्पणकी भाँति निर्मल कर लेना पड़ेगा। जब हमारा मन दर्पणके समान स्वच्छ हो जायेगा तो साईंकी छबि उसमें आप-ही-आप उतर आयेगी—

तन दरपन कहँ साजु, दरसन देखा जो चहै।
मन सौं लीजिय माँजि, 'मुहमद' निरमल होइ दिया॥

काम, क्रोध, तृष्णा, मद और मायाको जायसीने दर्पणकी मैल बतलाया है। इनके हट जानेपर अन्तस्तल ऐसा निर्मल हो जायगा कि उसमें स्वयं हरिजी आ विराजेंगे।

कमी तो अपनी ही ओर है। 'प्राणनाथ' को देखना तो हमें ही स्वीकार नहीं है। यदि सच्ची लगन हो तो एक क्षण भी उसके बिना रहना दूभर हो जाय। 'वह' तो स्वयं मिलनेके लिये राह रोके खड़ा है। हम बार-बार उसके अपार प्रेम और अमित आकर्षणको ठुकराकर उसकी ओर पीठ फेर लेते हैं। वह बार-बार प्रतिपल हमें

अपने आलिङ्गनपाशमें बाँध लेनेके लिये उत्सुक है परन्तु हम ही दुनियाको छातीसे चिपकाये हुए हैं और घूँघटके पटको हटाना नहीं चाहते । उससे मिलने, उसे रू-बरू देखनेकी उत्कट चाह तो हमारे हृदयमें पहले होनी चाहिये; उसे अपनानेमें क्या विलम्ब लगेगा ? मायाके घूँघटको हटाकर और हृदयकी ज्ञानरूपी आँखें खोलकर देखनेपर तो 'वह' यहीं और अभी मिल जाय, क्योंकि—

दूध माँझ जस घीउ है, समुद माँझ जस मोति ।
नैन मींजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति ॥

शक्ति और ब्रह्मकी समानता अर्थात् जानकी-विजय

(लेखक—श्रीसूरजमलजी गट्टानी)

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब युद्धमें राक्षसोंको मार पृथिवीको पवित्रकर अयोध्यापुरीमें सिंहासनपर श्रीसीताजीसहित सुशोभित हुए, उस समय उनकी स्तुति करनेके लिये शिव, ब्रह्मा, इन्द्र और ऋषि-मुनि आदि सब आये और उन्होंने अनेक प्रकारसे श्रीराम और सीताकी स्तुति की ।

सम सिय राम रूप जग जाना ।
ब्रह्म सक्र सब बिनय बखाना ॥

जब सब देवतागण स्तुति करके चले गये तब सप्त ऋषि वहाँ आये । इन्होंने श्रीरामचन्द्रको परब्रह्म परमेश्वर जान उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति की—

नाथ निरामय अगुन निरंजन ।
अज गो पार भगत-भय-भंजन ॥
हरन हेतु महिभार उदारा ।
लीन्ह कृपाकर नर अवतारा ॥
मुनि-मख राखि तमीचर मारी ।
निज-पद-रज गौतम-तिय तारी ॥
बरी बिदेह कुमारिकहँ, भंजि पिनाक-पुरारि ।
सुर-मुनि-हित तजि राज बन, रहे बरख दस-चारि ॥
बधि बिराध खर आदि सुरारी ।
मृग मारीच बालि भट सारी ॥
कीन्ह पखान जलधि जलजाना ।
गए सैन लंका भगवाना ॥
भुजबल दल बहु दनुज सँहारे ।
कुंभकरन रावन रन मारे ॥
अब खल दनुज न कोऊ रहेऊ ।
प्रभु प्रताप सब कर दुख गयेऊ ॥

इस प्रकार सप्रेम स्तुति करके सप्त ऋषियोंने श्रीरामकी महिमाका बखान किया । परन्तु सीताजीकी स्तुति नहीं की ।

मुनि मन राम ब्रह्म भगवाना ।
सियहि राजपुतरी करि जाना ॥

सीताजीको आदिशक्ति न समझ मनुष्य ही समझनेमें मुनियोंकी भूल देख श्रीसीताजी उनकी ओर लक्ष्य करके श्रीरामचन्द्रजीको कहने लगीं— "हे भगवन् ! सप्तर्षियोंने आपकी स्तुतिमें कहा है कि—

× × × ×

'कुंभकरन रावन रन मारे ।।
अब खल दनुज न कोऊ रहेऊ ।
प्रभु प्रताप सबकर दुख गयेऊ ॥

—तो क्या आपने सारे राक्षसोंको मार डाला है ? क्या अब कोई भी राक्षस नहीं बचा है ? आपने पृथिवीके भारको उतारनेके लिये अवतार धारण किया है । क्या आपका सम्पूर्ण कर्त्तव्य सम्पन्न हो गया है ?"

श्रीरामने कहा—'क्या तुम्हारी समझमें पृथिवीका भार सम्पूर्ण नहीं उतरा है ? क्या अब भी कोई राक्षस बाकी रह गया है ?'

श्रीसीताने कहा—हाँ।

श्रीरामने कहा—'क्या तुम्हारा तात्पर्य विभीषणसे है? विभीषण तो पृथिवीका भार नहीं है। क्योंकि इसने राक्षसोंके नगरमें रहकर भी सदा ईश्वरचिन्तनमें ही समय व्यतीत किया है। इसपर यह दूषण तुम दे नहीं सकती।'

श्रीसीताने कहा—नहीं, मैं विभीषणके लिये नहीं कहती। मेरा कहनेका तात्पर्य यह है कि आपने दस सिरवाले रावणको ही मारा है। अभी एक सहस्र सिरवाला रावण और भी मौजूद है उसे जबतक आप न मारें तबतक पृथिवीका लेश-मात्र भी भार उतरा नहीं समझा जायेगा।

यह सुन श्रीरामने विस्मित होकर पूछा—मैंने तो सहस्र सिरके रावणका नाम भी आजतक नहीं सुना। बताओ कि वह किस दिशामें रहता है और तुमको क्योंकर उसका पता मालूम हुआ?

श्रीसीताजी बोलीं—जब मैं बाल्यावस्थामें जनकपुरमें थी तब एक दिन एक मुनिने आकर मेरे पिता जनकजीको उसका हाल सुनाया था कि सात द्वीपपार एक श्वेतद्वीप है। उसमें एक लोकालोकपर्वत है। उसी पर्वतपर दुर्ग बनाकर वह सहस्र सिरका रावण सदलबल रहता है। जिस पर्वतपर वह रहता है वह अत्यन्त ऊँचा है। उसमें तरह-तरहकी मणियाँ लगी हुई हैं जिस मकानोंमें वहाँके लोग निवास करते हैं। उनकी प्रत्येक ईंट सोनेकी है। सारांश यह कि वह एक अलौकिक देश है। वह रावण महाबली है। तथा राक्षसोंकी अगणित सेना उसके पास है। हर समय वह युद्धके लिये कमर कसे रखता है। किन्तु उससे युद्ध करनेवाला कोई वीर इस भूमण्डलपर नहीं है। युद्ध करनेके लिये जब उसकी भुजाएँ फड़कने लग जाती हैं तो वह निरुपाय होकर जोश मिटानेके लिये पर्वतोंको उखाड़-उखाड़कर इस प्रकार उछालता है जिस प्रकार बालक गेंदको उछालता है।

श्रीराम—इस रावणका हाल तो मैंने अब सुना है। खैर, इस दुष्टको मारकर ही अब मैं अयोध्यामें राज्य करूँगा।

यह कहकर श्रीरामचन्द्रजीने अपने सारे सेना-पतियोंको ससैन्य बुलवा भेजा और युद्धकी यात्राके लिये तैयार होनेकी आज्ञा दी।

यथासमय सारी सैन्य आकर इकट्ठी हुई, स्वर्गसे इन्द्रदेव देवताओंसहित सशस्त्रास्त्र विमानों-पर आ उपस्थित हुए। पातालसे वासुकि और तक्षकनाग भी अपनी-अपनी भयंकर विषधर सेना लेकर आ पहुँचे। लंकासे विभीषण भी अपनी राक्षसी सेनासहित आ गये। जाम्बवन्त और सुग्रीव अपनी-अपनी भालू और वानरोंकी सेनाका सुदृढ़ संगठन कर आ धमके। इनके अलावा संसारके सारे राजागण अपने-अपने वीर योद्धाओं-को लेकर आ पहुँचे।

जहँ लगि अपर भूप भट भारी।
ब्रह्मसृष्टि ब्रह्मांड मँझारी॥
निज निज सेन समाज सुहाये।
सजि सजि सकल अवधपुर आये॥
जुरा कटक दल अखिल अपारा।
सकइ को पाइ तासुको पारा॥

यह सेना इतनी विशाल थी कि इसकी संख्या-का पता लगाना कठिन था। रावणको जीतनेके लिये जो सेना जुड़ी थी वह सेना इस सहस्र सिरवाले रावणको जीतनेके लिये जानेवाली सेनाके मुकाबिले किसी भी गिनतीमें न समझी गयी।

इस प्रकार सेनाको सजा भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नको प्रधान सेनाध्यक्ष बना श्रीरामचन्द्र-जीने सीताजीसहित पुष्पकविमानपर चढ़ युद्धके लिये प्रस्थान किया।

सेनामें जगह-जगह शंख, दुन्दुभि, निशान आदि बज रहे थे जिसके कारण अपना-पराया कुछ सुनायी ही नहीं देता था। घोड़ोंकी टापोंसे और पैदलोंके पैरोंकी धमकसे धूलिका इतना बड़ा बादल बना जिससे सारा भूमण्डल घटाच्छन्न हो गया। बड़े वेगसे सेनाके चलनेसे पृथिवी थरथर काँपने लगी।

इस बारकी यात्रामें नल और नीलको सेतु बाँधनेकी आवश्यकता न पड़ी क्योंकि महासमुद्र मिट्टीके साथ सनकर कीचड़की भाँति बन गया था। और इसपरसे सारी सेना बिना श्रम पार होकर सहस्र सिरवाले रावणके देशमें पहुँच गयी।

वहाँके राक्षसोंने यह खबर रावणको दी कि भारतखण्डके सम्राट् श्रीरामचन्द्र युद्धके लिये आये हैं। यह सुन सहस्रसिर बोल उठा—अहा! क्या मेरे सिवा और भी कोई सम्राट् है? आजतक तो मैंने नहीं सुना था। खैर, आज सुना तो सही। हर्ज ही क्या है? जब आप ही भोजन आ गया तो उसे क्यों न राक्षसगण मिलकर खा डालें?

यह कहकर उसने भी अपनी सेनाको सजानेकी आज्ञा दी। तदनुसार यथासमय राक्षसी सेना युद्धके लिये चली। इस सेनाकी संख्या मनुष्य तो क्या स्वयं शेषजी और सरस्वतीजी भी नहीं लगा सकते थे।

इसके आगे श्रीरामचन्द्रजीकी सेना ऐसी मालूम होती थी जैसे सागरके सामने बूँद। यदि कोई इसकी संख्याका अन्दाजा लगाना चाहे तो इतना कहना ही काफी होगा कि श्रीरामचन्द्रजीकी सेनामें जितने सैनिक थे उससे सोलह शंख गुने तो रावणके केवल ऐरावत ही थे। जिसपर युद्धके डंके बज रहे थे। जिस दलके बाजेकी संख्याका यह हाल है उसकी सारी सैन्यका हाल बतानेका साहस ही कौन कर सकता है?

रावणकी सुविशाल काली सेनामें श्रीरामकी सेना इस तरह मालूम देती थी मानों अँधेरी रातमें तारे चमक रहे हों।

श्रीरामकी आज्ञासे उनकी सारी सेनाने युद्ध शुरू कर दिया। किन्तु उसका राक्षसी सेनापर कोई असर नहीं हुआ। श्रीरामके नन्हे-नन्हे सैनिकोंको युद्ध करते देख रावण हँसकर बोला—

सलभ समान सकल यह सैना।
जुद्ध इन्है सन मोहि बनै ना॥
कीजै कछु अब बेगि उपाई।
जाइ सो बिनु स्रम सकल उड़ाई॥

यह विचारकर उसने एक बाण निकाला और धनुषपर चढ़ाकर प्रहार किया।

जब उसके बाणका प्रहार हुआ तो एक भयंकर शब्द हुआ। साथ-साथ बाणके चलनेसे ब्रह्माण्डभरमें बड़ी भारी हवा चली। ब्रह्मा, विष्णु, महेश चौंक उठे। साथ-साथ जो हुआ वह बड़ा ही अद्भुत और आश्चर्यजनक था। यानी वायुके वेगने श्रीरामकी सेनाको उड़ाना शुरू किया।

देवतागण उड़कर स्वर्गमें जा गिरे। नागोंकी सेना पातालमें धँस गयी। विभीषणकी सेना एकबारगी लङ्कामें जा पड़ी। भालू और वानरोंकी सेना भी अपनी-अपनी भूमि (वन और कन्दरा) में जा गिरी। ऐसा ही हाल शेष वीर योद्धाओंका भी हुआ।

प्रभु सँग जहँ लगि दल रहेउ, गयउ सो सकल उड़ाइ।
रहेउ न कोइ रनभूमि महँ, सिय रघुबीर बिहाइ॥
भरत लखन रिपुदमन निज, दल समेत तब जाइ।
अवधपुरी निज पुरी महँ, ततछन परे उड़ाइ॥

× × ×

गयउ जबहिं सब सैन उड़ाई।
लड़ै लाग रिपु सन रघुराई॥

श्रीरामचन्द्रजीने अकेले ही शत्रुसे लड़ना शुरू कर दिया किन्तु सहस्रसिरके सामने उनकी

एक भी न चली । जो बाण श्रीराम रावणपर चलाते थे वे सब कट-कटकर भूमिपर गिर पड़ते थे ।

देखते-देखते अल्प ही कालमें श्रीरामचन्द्रजीके सारे आयुध कट-कटकर गिर गये । जब श्रीरामचन्द्रजी निरस्त्र हो गये तब रावणने बड़ा भीषण रणहुंकार किया । उसके वीर योद्धा श्रीरामको बाँधनेको दौड़े । यह देख श्रीरामचन्द्रजी सीताजीकी ओर देखकर बोले—

परम सक्ति अतुलित बल माया ।
तव प्रभाउ निगमागम गाया ॥
सहजै तुम निज भृकुटि बिलासा ।
त्रिभुअन साजि पोखि पुनि नासा ॥
धरि यह सौम्य सरूप सुहावा ।
कत अब निज बल तेज दुरावा ॥
एहि बिधि अब एह खलु बलु भारा ।
कीजै अब याको संहारा ॥

यह सुन सीताजीने कौतुक कर अपनी लीलाका विस्तार किया । वे सौम्यरूप त्यागकर तुरन्त प्रचण्ड शक्तिके रूपमें प्रकट हो गयीं ।

पद पताल सिर सुरपुर पारा ।
तेहि करनी को बरनै पारा ॥
× × × ×
रोम रोम प्रति लोक अपारा ।
प्रगटी शक्ति अनेक प्रकारा ॥

प्रगटी जो शक्ति अनेक अतिबल सैन बहु बिधि को गनै ।
बाहन बिबिध बिधि ध्वजा आयुध बेख बरनत नहिं बनै ॥
ब्रह्मानि हंसासीन बहु सँग सैन बृंद बिराजहीं ।
पुनि बैष्णवी गरुड़ासनी अति अखिल रूप सुभ्राजहीं ॥
मृगराज राजति ईश्वरी धृत उग्र आयुध बहु अनी ।
करि लसत इंद्रानी सुभग बपु कुटिल भृकुटी रिससनी ॥
कौमारि सिखि आरूढ पुनि वाराहिनी आयुध धरे ।
चामुंड सब आरूढ कालो अमित रूप भयंकरे ॥

इस प्रकार विविध रूप धरकर शक्तियाँ प्रकट हुईं और अपने-अपने शस्त्र-अस्त्रोंसे राक्षसी दलका संहार करने लगीं ।

सब करत खल संहार । बहु अस्त्र-शस्त्र प्रहार ॥
× × × ×
खल दल हनेउ ततकाल । त्रयनेत्र अग्नि कि ज्वाल ॥
× × × ×
सोनित स्रवत चहुँ ओर । महि बहि चल्यो अति घोर ।
× × × ×
सब खल भये खैखान । उबरे न एकौ प्रान ॥

बिकट बेख तब मातु जानकी ।
सैन हर्नी अति जातुधानकी ॥
गजारूढ रावन ततकाला ।
गहेउ गरुड़ मानहु लघु ब्याला ॥
करिबर सह महि मरदन करेऊ ।
काटि चक्र सिर प्रानहि हरेऊ ॥
तजत प्रान रव कीन्ह प्रचंडा ।
पूरित भयो सकल ब्रह्मंडा ॥
× × × ×
प्रगटी अमित शक्ति गन जेती ।
भईं लीन सीता अँग तेती ॥

जब सीताजीने रावणको मार डाला तो उसकी देह निस्तेज होकर भूमिपर पड़ गयी । सीताजीके कोपसे ब्रह्माण्ड वायुवेगसे हिलते हुए पत्तेकी तरह हिल उठा ।

ब्रह्मादि भयभीत होकर प्रलयकी आशंका करने लगे । सप्तर्षि भी अपनी भूल समझकर और सीताजीको आदिशक्ति मानकर ब्रह्मा, विष्णु, महेशके साथ रणभूमिमें आये और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—

जय जै जगपावनि सीय सती ।
जय सृष्टि उपावन सरन गती ॥
तुम्हरे बल तेज तपै तरनी ।
तुम्हरे बल सेख धरै धरनी ॥
तुम्हरे बल सिंधु प्रबाह बहै ।
तुम्हरे बल पवन सुतेज लहै ॥

तव तेज बिराजति कोटि कला ।
रजनीचरको बल नाहिं चला ॥
तुम्हरी महिमा अवगाह महा ।
स्रुति सारद सेख न पार लहा ॥
तुममैं संसार सबै यह है ।
तुम्हरे बल बिश्व बिमोहि रहै ॥
तव माया नर भवकूप परै ।
सुबिखै मद मोह सरीर जरै ॥
करुना तव सों दुख फारन है ।
मद मोहउ लोभ निवारन है ॥
जननी जगपालनि हौ तुमहीं ।
भवसिंधु अधार कहै सबहीं ॥
हम हैं अघमूल भँडार भरै ।
सरनागत पाहि पुकार करै ॥
परसिद्धि पदांबुज प्रेम चहैं ।
करुना करिये जेहि भक्ति लहैं ॥

जब देवताओंने अनेक प्रकारसे स्तुति की तब सीताजी प्रसन्न हुईं । तदनन्तर उन्होंने सबको अभयदान दिया । और अपना विराट् रूप त्याग-कर सौम्य रूप धारण किया ।

उग्र रूप सो त्यागि तब, सौम्य सुभग तनु धारि ।
राम बाम दिसि बास लै, बहुरि बिदेहकुमारि ॥
सुर सब बरखे सुमन गन, बाजत ब्योम निसान ॥
चले अवध दिसि जान चढ़ि, जै जै होत बखान ॥

× × × ×

नित नव मंगल होत पुर, घर-घर उत्सव होत ।
रबिकुल रबि श्रीरामनृप, जबसे भयो उदोत ॥

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें सबको आनन्द था । उसका विस्तार स्वयं शेषजी भी नहीं बता सकते, मनुष्यकी तो बात ही क्या है ।*

एक बार बोलिये भगवान् श्रीराम और भगवती श्रीसीताजीकी जय !

श्रीकृष्ण-स्तुति

पीतपटधारी पटहारी पद-पंकजपै,
पावन प्रबल नेह नैननि सनी रहै ।
'व्रजदेव' विपिनविहारी छबिवारी रूप,
रावरी हियेमें निसिवासर बनी रहै ॥
जगसुखकारी बनवारी बाँसुरीकी तान,
सुखद सुरीली सुभ श्रवनन ठनी रहै ।
कंसमदहारी गिरधारी औ मुरारी मंजु,
अरज हमारी, नेक नज़र बनी रहै ॥

—लाल श्रीकण्ठनाथसिंह शर्मा 'व्रजदेव'

---

* यह लेख 'जानकी-विजय' नामके एक ग्रन्थके आधारपर लिखा गया है । इसके बीच-बीचमें जो अवतरण दिये गये हैं वे इसी 'जानकी-विजय' ग्रन्थके हैं । कहते हैं कि यह ग्रन्थ गोस्वामी तुलसीदासजीका रचा हुआ है । किन्तु जगह-जगहपर अत्युक्तियाँ-सी होने और इस ग्रन्थकी रामचरितमानसकी रचनाशैलीके साथ असमानता होनेके कारण इसकी यथार्थतामें सन्देह है ।

गीता-गुण-गान

(१)

भारतमैं पारथकों कृष्ण उपदेस्यौ ज्ञान,
पावन सुखद सो रहस्य सब गावती।
नासिनी कुमोह कोह ममता मदादि दोष,
ब्रह्म ही अगाध ताकी थाह को लहावती॥
छलकत जाके प्रति बचनमैं सांत-रस,
मारग परम निरबान को बतावती।
गीता सांतिदायिनी मुमुच्छुनके श्रौननमैं,
'पूरन' जू आनँद-पियूष बरसावती॥

(२)

सोई भ्रम-बात भूरि संकट करनहारो,
जोनिन अनेकमैं जो बासना भ्रमावती।
आतप-त्रैताप-धूरि ममता-जलाक पाइ,
बिषय-बिसूचिका त्रिकाल डरपावती॥
जरत बृथा ही भव-ग्रीषम बिषम दीन,
लहत न काहे जीव! सांति मन भावती।
'पूरन' प्रसिद्ध घनस्यामकी मधुर बानी,
गीता मेघ-माला है पियूष बरसावती॥

(३)

धर्मको बिसारि गति धारिकै तमीचरकी,
तामस-तिमिरमैं भ्रमत क्यौं बिहाला है?।
'पूरन' प्रकासमान पावन परम ज्योति,
ध्याव रे अनारी जग जासौं उजियाला है॥
बासना प्रबलतें न पैहै नतु पार कै हूँ,
मेटि बुद्धि जीवनकी देत जो कसाला है।
ग्रीषम प्रचंड घोर मारुत-झकोर आगे,
जैसे ठहराति नाहिं दीपनकी माला है॥

(४)

बासना प्रचंड पौन जीव ममतादि जामैं,
भयको पयोनिधि अगाध बिकराला है।
तरन चहै तू छुद्र प्राणी! तो रमेसै ध्याव,
ध्यान जल पान जाको 'पूरन' बिसाला है॥
खेवट-उपासना-सहारे पार लागनकों,
सबमैं बिसेस जो सुपास एक आला है।
मायाकी अँधेरीमैं कुपंथ की चटानपै हू,
गीताकी प्रकासमान दीपनकी माला है॥

(५)

भवके निदाघमैं जरत क्यौं अनारी जीव!,
पैहै सुख-धर्म-धाम सीतल सनातनमैं।
तीन-ताप-आतप तपत, चित लावै क्यौं न?,
ध्यान-सुख-सेज छाई भक्ति-कंज-पातनमैं॥
तृषना-तृषासौं रहै आकुल बृथा ही मूढ़!,
रीझ रस सीरे सांत-ग्रंथन पुरातनमैं।
लहु बिसराम खसखाने-गुरु-बातनमैं,
दुःख क्यौं सहत भ्रम घोर भ्रम-बातनमैं॥

(६)

भेद जीव-ईस को बतावै सरसावै ज्ञान,
प्रीति जो करावै ब्रह्म 'पूरन' सनातनमैं।
प्रकृतिकी संग्या दरसावै कै बिदित पंच-
तत्त्वको प्रबंध जौन जीवनके गातनमैं॥
सेत भव-सागरकी हेत परमानँदकी है,
पावन प्रसिद्ध जोई ग्रंथन पुरातनमैं।
पीजै सुधा-सांत-रस मनको लगाय ताही,
भगवतगीता परमातमाकी बातनमैं॥

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

श्रीगीता-जयन्ती

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को श्रीगीताजयन्तीका महोत्सव है। गीता साक्षात् श्रीभगवान्के श्रीमुखकी अमृतमयी दिव्य वाणी है, गीता श्रीभगवान्का हृदय है, गीता श्रीभगवान्का सिद्धान्त है, गीता श्रीभगवान्का निश्चित मत है और गीता श्रीभगवान्का गुह्यतम उपदेश है। जो मनुष्य गीताके एक भी वचनका आश्रय लेकर तदनुसार चलता है, वह अनायास ही भवबन्धनसे छूट जाता है। गीता-माताकी जयन्ती मनाना मनुष्य मात्रका धर्म है। जयन्तीके महोत्सवमें अपनी-अपनी सुविधाके अनुसार सब बातें गीताप्रेमी सज्जनोंको करनी चाहिये। परन्तु एक बात विशेषरूपसे होनी चाहिये, वह यह कि गीताभक्तोंको गीताके किसी भी एक या दो श्लोकोंको आधार मानकर तदनुसार अपना जीवन बनानेका निश्चय करना चाहिये, और हो सके तो हमें प्रण करना चाहिये कि आगामी वर्षकी गीता-जयन्तीतक यदि जीवन रहे तो वह उस श्लोकके अनुसार बन ही जायँगे। भक्तोंका ध्यान खींचनेके लिये तीन श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१६।१—३)

अभय (निडरपन), अन्तःकरणकी शुद्धि, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्त्तापनके अभिमानका त्याग, शान्ति, किसीकी निन्दा या चुगली न करना, सब प्राणियोंमें दया, विषयलोलुपताका अभाव, कोमलता, बुरे कामोंमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टा न करना, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, भीतर-बाहरकी शुद्धि, द्रोह न करना और अपनेमें बड़प्पनके अभिमानका अभाव, हे अर्जुन! दैवी सम्पत्तिको प्राप्त पुरुषके ये (२६) लक्षण हैं।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाई-बहिनसे सविनय प्रार्थना है कि सभी लोग जो गीताशास्त्रको मानते हों, चाहे वे किसी भी देश, वर्ण, जाति या श्रेणीके हों, उस दिन यथासाध्य निम्नलिखित कार्य करने-करानेका विनम्र प्रयत्न अवश्य करें।

(१) गीता-ग्रन्थकी पूजा।
(२) गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण और रचयिता श्रीव्यासदेवका पूजन।
(३) यथासाध्य गीताका पारायण।
(४) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान और गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार वितरण।
(५) गीतातत्त्वको समझने और गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीता-प्रवचन तथा व्याख्यान।
(६) गीताजीकी सवारीके जुलूस।
(७) लेखक और कवि लेखों और कविताओं-द्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें।

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १८×२२ इञ्चका बड़ा चित्र मूल्य ।)

ब्लाक-साइज १५ इञ्च चौड़ा, १६ इञ्च लम्बा

विश्वविमोहन श्रीकृष्ण (रंगीन)

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते हैं। एक मँगानेपर मूल्य, डाकव्यय, पैकिंगसहित ॥।-) लगता है, २ का १-), ३ का ११-), इकट्ठे मँगानेमें और भी सुभीता रहेगा।

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं

सुनहरी—दाम प्रत्येकका ।)
युगलछवि
रंगीन—दाम प्रत्येकका =)॥
श्रीनन्दनन्दन
श्रीवृन्दावनविहारी
श्रीविश्वविमोहन
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
श्रीविष्णुभगवान्
श्रीलक्ष्मीजी
श्रीध्रुव-नारायण
श्रीरामचतुष्टय
सावित्री-ब्रह्मा
रामदरबार
धनुष-भंग
राम-रावण-युद्ध
सिंहासनारूढ श्रीराम
श्रीविश्वनाथजी
श्रीशिवपरिवार
शिव-बरात
शिव-परिछन
शिव-विवाह
प्रदोषनृत्य
श्रीजगज्जननी उमा
श्रीचैतन्यका संकीर्तन-दल

१८×२२ और १५×२० के चित्रोंमें कमीशन ६ लेनेसे २५% (एक रुपयेमें चार आना), १२ लेनेसे ५०% (एक रुपयेमें आठ आना), पैकिंग, डाकखर्च आदि अलग। ६ चित्र मँगानेपर पैकिंगमें चोंगा लगाना पड़ता है, जिससे डाकखर्च बढ़ जाता है। सोचकर मँगाना चाहिये। १२ मँगानेसे डाकखर्च-कमीशनका सुभीता है।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं)

सुनहरी चित्र, दाम -)॥ प्रतिचित्र

युगलछवि
तन्मयता

बहुरंगे चित्र, दाम -) प्रतिचित्र

कौसल्या-नारायण
अहल्योद्धार
वृन्दावनविहारी
मुरली-मनोहर
गोपीकुमार
जगद्गुरु श्रीकृष्ण
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
व्रज-नव-युवराज
कौरव-सभामें विराट् रूप
श्रीकृष्णार्जुन
श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु
देवदेव भगवान् महादेव
शिवजीकी विचित्र बारात
शिव-परिछन
शिव-परिवार
ध्रुव-नारायण
पवन-कुमार
श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
श्रीश्रीमहालक्ष्मी
श्रीविष्णु भगवान्
पञ्चमुख परमेश्वर
श्रीरामचतुष्टय
कमलापति-स्वागत
लोककल्याणार्थ हलाहलपान
जगज्जननी उमा
राधाकृष्ण
देवी कात्यायनी
गौरीशंकर
लक्ष्मीनारायण

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, दाम -) प्रतिचित्र

श्रीरामपञ्चायतन
श्रीराम-सीता पुष्प-वाटिकामें
कंसका कोप
बँधे नटवर
वेणुधर
बाबा भोलेनाथ
युगलछवि

बहुरंगे चित्र, दाम)।।। प्रतिचित्र

श्रीरामचतुष्टय (भगवान् श्रीरामरूपमें)
सदाप्रसन्न राम
कमललोचन राम
श्रीरामके चरणोंमें भरत
भगवान् श्रीरामचन्द्र
श्रीश्यामसुन्दर
श्रीरामावतार
भगवान् श्रीरामकी बाललीला
भगवान् श्रीराम और काक-भुशुण्डि
अहल्योद्धार
गुरु-सेवा
परशुराम-राम
श्रीसीताराम
कौसल्या-भरत
कैकेयीकी क्षमा-याचना
अनसूया-सीता
श्रीराम-प्रतिज्ञा
राम-शबरी
श्रीसीताजीके गहने
सुबेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
राम-रावण-युद्ध
पुष्पकारूढ श्रीराम
सिंहासनारूढ श्रीराम
मारुति-प्रभाव
श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
श्रीश्यामसुन्दर
श्रीनन्दनन्दन
आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र

गोपीकुमार
व्रज-नव-युवराज
मोहन
भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
तृणावर्त-उद्धार
वात्सल्य
माखन-प्रेमी बालकृष्ण
गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
मनमोहनकी तिरछी चितवन
भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
बकासुर-उद्धार
अघासुर-उद्धार
कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
शिशुपाल-उद्धार
समदर्शी श्रीकृष्ण
शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
मोह-नाशक श्रीकृष्ण
भक्त (भीष्म) प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
अश्व-परिचर्या
श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
नृग-उद्धार
परमधाम-गमन
ध्यानमग्न शिव
पञ्चमुख परमेश्वर
मदन-दहन

शिव-विवाह
उमा-महेश्वर
शिव-परिवार
जगज्जननी उमा
प्रदोष-नृत्य
हलाहल-पान
पाशुपतास्त्रदान
श्रीहरि-हरकी जल-क्रीड़ा
श्रीकृष्णकी शिव-स्तुति
श्रीविष्णु
कमलापति-स्वागत
भगवान् मत्स्यरूपमें
भगवान् कूर्मरूपमें
भगवान् वराहरूपमें
भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
भगवान् वामनरूपमें
भगवान् परशुरामरूपमें
भगवान् बुद्धरूपमें
भगवान् कल्किरूपमें
भगवान् ब्रह्मारूपमें
भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
भगवान् सूर्यरूपमें
भगवान् गणपतिरूपमें
भगवान् अग्निरूपमें
श्रीगायत्री देवी
दास-भक्त हनुमान्जी
गुरु द्रोणाचार्य
भीष्मपितामह
अजामिल-उद्धार
सुआ पढ़ावत गणिका तारी
निमाई-निताई
प्रेमी भक्त सूरदासजी

गोस्वामी तुलसीदासजी
मीरा (कीर्तन)
मीराबाई (जहरका प्याला)
प्रेमी भक्त रसखान
श्रीश्रीमहालक्ष्मी
ऋषि-आश्रम
वसुदेवजी श्रीकृष्णजीको गोकुल ले जा रहे हैं
वर्षामें श्रीकृष्ण-बलराम
श्रीरामका रामेश्वर-पूजन
श्रीशिवकृत श्रीरामस्तुति
भगवान् विष्णुको चक्रदान
काशी-मुक्ति
सदाशिव
भक्त व्याघ्रपाद
शिव-ताण्डव
देवकीजी
लक्ष्मण-कोप
बिल्वमङ्गल
भिलनीके बेर
महासंकीर्तन
नारी शक्ति
देवी कात्यायनी
गौरीशंकर
भगवान् शक्तिरूपमें
ब्रह्मा-सावित्री
श्रीश्रीचैतन्य
महागौरी
मुरलीमनोहर
गोवंश प्रिय कन्हैया
नीलकान्तमणि
कालिका
राधाकृष्ण
कूष्माण्डा
लक्ष्मीनारायण

एकरंगे चित्र, दाम)। प्रतिचित्र नेट दाम

राम-विलाप
गोवर्धन-धारण
श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
श्रीकृष्ण-द्रौपदी

श्रीश्रीनित्यानन्द-हरिदासका नाम-वितरण
कर नवनीत लिये
श्रीलाड़लीलालजी
श्रीरामानुजाचार्य

सूरदास
यवन हरिदास
मदन-दहन
ब्राह्मण मुद्गलमुनि
निमाई-संन्यास

भक्तवर रामाजी प्रेममग्न नाच रहे हैं
मालीसे फूल फूलमें भगवान्
आदर्श शूद्र भक्त कणप्प

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, दाम)। प्रतिचित्र नेट दाम

श्रीविष्णु
शेषशायी
सदाप्रसन्न राम
कमललोचन राम
विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
गोपीकुमार
व्रज-नव-युवराज
श्यामसुन्दर
सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
अर्जुनको गीताका उपदेश
अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन
ध्रुव-नारायण
समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
पवन-कुमार
भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक
श्रीश्रीचैतन्य
भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
भक्त गोपाल चरवाहा
मीराबाई (कीर्तन)
भक्त जनाबाई और भगवान्
भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
भक्त बालीग्रामदास
भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
भक्त गोविन्ददास
ऋषि-आश्रम
भक्त मोहन और गोपाल भाई
परमेष्ठी दर्जी

विशेष सुभीता

१५×२० साइजके सुनहरे और रंगीन २२ चित्रोंकी कीमत ३॥)॥ पैकिंग)॥। डाकखर्च ॥≡) सब जोड़कर ४।)। होते हैं जिसके २।।) लिये जायँगे।

१०×१५ साइजके सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंकी कीमत २), पैकिंग -)॥।, डाकखर्च ॥-)। सब जोड़कर २॥≡) होते हैं, जिनके १।॥≡) लिये जायँगे।

७॥×१० के सुनहरे और रंगीन १३३ चित्रोंकी कीमत ६।-)॥, पैकिंग -)।, डाकखर्च ॥≡)॥ सब जोड़कर ७=)॥ होते हैं, जिनके ४।=) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ३२ चित्रोंकी नेट कीमत ॥) पैकिंग -) डाकखर्च।-) कुल ॥।=) लिया जायगा।

१५×२०, १०×१५, ७॥×१० और ५×७॥ की चारों सेट एक साथ लेनेवालोंको चित्रोंके मूल्यमें ५×७॥ को छोड़कर बाकीमें ५० % (रुपयेमें आठ आना) कमीशन दिया जायगा अर्थात् छोटे-बड़े २१८ चित्रोंका मूल्य १२।=), डाकखर्च-पैकिंग १।) कुल मिलाकर १३॥=) होता है जिसका ७॥≡) मात्र लिया जायगा।

कमीशन-नियम

१०×१५ और ७॥×१० साइजके सेट न लेकर खुदरा और बिक्रीके लिये एक साथ लेनेपर दो दर्जनसे १०० तक २५) सैकड़ा, १०० चित्रोंसे २५० तक ३७॥) सैकड़ा और २५० से ऊपर ५०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा। इसमें डाकखर्च ग्राहकका लगेगा। १००) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलेवरी दी जायगी। ५×७॥ का ५०० चित्र लेनेसे १०) हजार नेट दाम लिया जायगा। १०×७॥ के ५००० चित्र एक साथ लेनेसे नेट प्राइसपर २५) सैकड़ा कमीशन और दिया जायगा।

ये रेट हमारे स्टाकमें छपे हुए तैयार चित्रोंके हैं, किसीके लिये खास तौरपर उनके बताये अनुसार छापकर देनेके नहीं। तैयार चित्रोंमेंसे भी जब कोई चित्र समाप्त हो जाता है, तब हम भेज सकनेमें असमर्थ होते हैं।

(१) चित्रका नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय देख लें। समझकर मँगवावें। (२) एक ही चित्र १००० लेनेसे कुछ विशेष रियायत कर दी जायगी। (३) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये ३०) की पुस्तकोंके साथ नेट प्राइस यानी कमीशन काटकर कम-से-कम ७॥) का चित्र लेनेवालोंको चित्र फ्री डिलेवरी दिया जायगा, नहीं तो विशेष भाड़ा ग्राहकोंको देना होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १०×१५ का ॥=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≡) लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

दाम घटा दिया | जल्दी खरीदें | दाम घटा दिया

श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीकृष्ण-विज्ञान)

मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद

सचित्र, सुन्दर मोटा एण्टिक कागज, दाम १) से घटाकर ॥।), सजिल्द १।) से १) कर दिया है।

कुछ सज्जनोंकी सम्मतियाँ देखिये—

जयपुर कौंसिलके मेम्बर पुरोहितकुलभूषण रायबहादुर श्रीमान् पं० गोपीनाथजी एम० ए०, सी० आई० ई० की सम्मति।

श्रीकृष्ण-विज्ञानको पढ़ा। यह एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। गीताके अनेक हिन्दी-अनुवाद देखे गये। वे सब साम्प्रदायिक हैं और कृष्ण-विज्ञान पूर्णरूपसे पक्षपातरहित है और यही इसका उत्तम गुण है। अन्यान्य अनुवादोंमें यह भी देखा गया है कि अनुवादक जहाँपर मूल श्लोकके आशयतक नहीं पहुँचे वहाँपर अनुवाद या तो सर्वथा मूलके विरुद्ध या पूर्ण निरर्थक है। इसके अतिरिक्त बहुधा अनुवाद मूलसे न्यूनाधिक भी हैं। श्रीकृष्ण-विज्ञान इन त्रुटियोंसे रहित है। हिन्दीके पद्यमय अनुवाद अबतक जो मेरे देखनेमें आये हैं वे मिश्रित भाषामें हैं। केवल श्रीकृष्ण-विज्ञान ही आजकलकी खड़ी प्रचलित भाषामें देखा गया है। इस अनुवादको जहाँ-तहाँसे मैंने मूल ग्रन्थसे मिलाया है और सर्वथा याथातथ्य पाया है। एक श्लोकका अनुवाद एक ही छन्दमें किया गया है और जहाँतक हो सका है मूलसे न्यूनाधिक शब्दोंका प्रयोग कहीं नहीं किया है। मूलके छोटे श्लोकका अनुवाद आजकलकी खड़ी बोलीके छोटे छन्दमें और बड़े छन्दका बड़े छन्दमें बहुत सुन्दर और प्रशंसनीय रीतिपर किया गया है। मेरी सम्मतिसे प्रकृत हिन्दीके उत्तमोत्तम ग्रन्थभण्डारमें श्रीकृष्ण-विज्ञान भी एक अनुपम रत्न है। जिसके पठन, पाठन और मनन करनेसे मनुष्यमात्रके लिये धर्मार्थ-काम-मोक्षकी सिद्धि सुलभ हो जाती है।

हिन्दीके प्रसिद्ध आचार्य सरस्वतीके भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुत पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी सम्मति।

गीताके मुख्य भावार्थको बड़े सरल शब्दोंमें व्यक्त किया है। मूलका मतलब न छोड़ते हुए उन्होंने ऐसे शब्द प्रयोग किये हैं कि गीताका आशय समझनेमें कठिनाई नहीं होती। देखिये—

मर जानेसे स्वर्ग मिलेगा जय होनेसे भूतलराज। इससे निश्चय हो भारत ! तू हो जा खड़ा युद्धको आज ॥
विजय-पराजय, हानि-लाभ, सुख-दुःख सभीको जान समान। फिर प्रवृत्त हो जा तू रणमें पाप नहीं होगा मतिमान ! ॥

एक तो भाषा बोलचालकी, दूसरे सरल और सुन्दर शब्दोंका प्रयोग; फिर मूल ग्रन्थके मुख्यार्थका यथेष्ट सन्निवेश। बस, अनुवादमें और चाहिये क्या ? अतएव मेरी सम्मतिमें यह अनुवाद संग्रहणीय ही नहीं, आदरणीय भी है। हिन्दीमें किये गये जितने गीतानुवाद मेरे देखनेमें आये हैं उन सबकी अपेक्षा यह अनुवाद अधिक सरस, सरल और भावव्यञ्जक है।

स्व० पण्डितवर श्रीचन्द्रधर शर्माजी गुलेरी बी० ए० की सम्मति।

अनुवाद बहुत सुपाठ्य है, मूलके प्रकृत अर्थको ठीक-ठीक दर्शाता है। यह अनुवाद अपने गुणोंसे स्वयं प्रतिष्ठित है, जो यह है वह यही है। भाषामें सरसता और सरलता है, पढ़ते समय भाव कहीं अटकता नहीं जैसे कि कई अनुवादोंमें अटकता है। मूलसे मिलाकर भी पढ़ा और यों भी पढ़ा, फिर पढ़ा और फिर पढ़ा, बहुत ही भाया। प्रशंसनीय है। अनुवाद मूलके विरुद्ध न जावे, न घटे, न बढ़े, फिर सरसता हो, कविता हो, भाषा प्राञ्जल हो, जो स्वतन्त्र कविताके तरह पढ़ी जा सके—इन सब बातोंको बहुत अच्छी तरह निबाहा गया है।

रायबहादुर श्रीयुत पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझाकी सम्मति।

यह अनुवाद बड़ा ही मनोहर हुआ है, हिन्दीमें गीताके और भी छन्दोबद्ध अनुवाद छपे हैं परन्तु इसकी समता एक भी नहीं कर सकता, प्रत्येक हिन्दूके घरमें यह पुस्तक अवश्य रहनी चाहिये।

और भी अनेक सुन्दर-सुन्दर सम्मतियाँ आयी हैं।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ
कल्याण
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
गीता ९।३२-३३
B. K. Mitra
पौष
१९९१
भाग ९
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

[संस्करण २७५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

शक्ति-अङ्कका मूल्य
परिशिष्टांक स० ३)
विदेशमें ४।)
साधारण प्रति ।)
विदेशमें ।≡)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India)

* श्रीहरिः *

कल्याण पौष सं० १९९१ की

विषय-सूची

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह हर एक महीनेकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है ।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≋) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है । एक संख्याका मूल्य ।) है । बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता । नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है ।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते । ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं । एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते । कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये । देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये ।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये ।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(३) **ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं । कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते । इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं । रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं । खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है । जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है ।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये ।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजने चाहिये ।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये ।

गोकुल-गमन
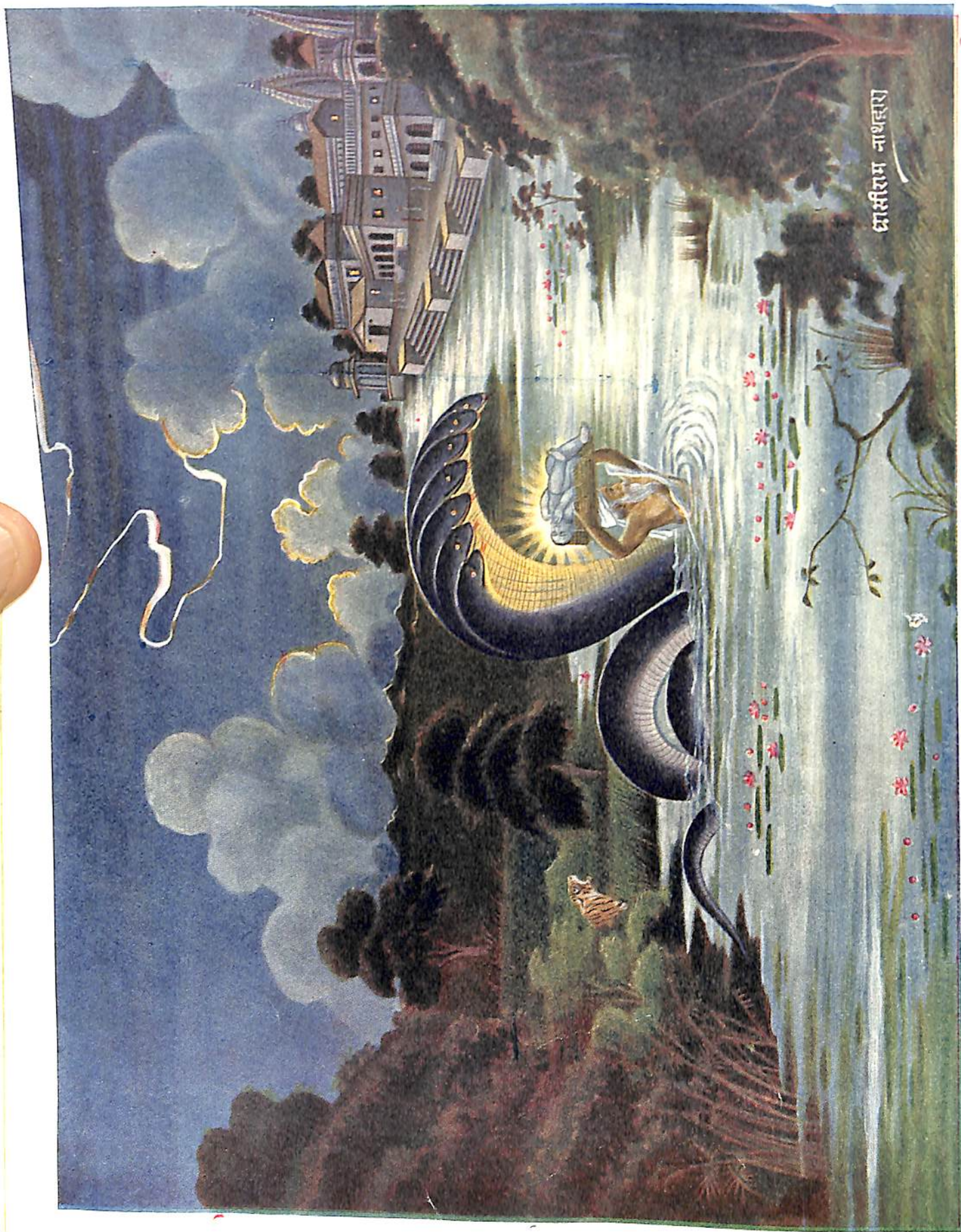
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रसिद्धान् सिद्धान् वा शिशुतरुणवृद्धानपि जनानुदारान् वा दाराननवरतमाराधनपरान् ।
चिदानन्दात्मेयं भुवनजननी संविदमला हरन्ती हृच्छल्यान्नयति किल कल्याणपदवीम् ॥

वर्ष ९ गोरखपुर, पौष १९९१, जनवरी १९३५ संख्या ६ पूर्ण संख्या १०२

रामचरण-अनुराग

विषय-रस पान-पीक-सम त्याग ।
बेद कहैं, मुनि-साधु सिखावैं बिषय समुद्री-आग ।
को न पान करि भो मतवाला यह ताड़ीको झाग ॥
बीतराग-पद मिलन कठिन अति काल कर्मके लाग ।
'केशी' एकमात्र तोहिं चाहिय रामचरन-अनुराग ॥

—मन्जुकेशीजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—श्रीरामसरनदासजी)
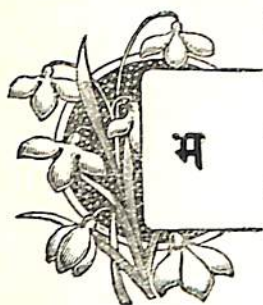
भगवान्‌के अनन्त नाम हैं, अनन्त शक्ति हैं, अनन्त रूप हैं, और अनन्त भाव हैं। किसी-किसी महानुभावने भगवान्‌के अनन्त नाम और अनन्त शक्ति यह दो ही माने हैं। इसलिये जब भगवान्‌के अनन्त नाम हैं तब भगवान्‌के श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव आदि नाम क्यों नहीं हो सकते ? जो भगवान्‌का श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव नाम नहीं मानते वे उक्त सिद्धान्तसे विरुद्ध हैं।

प्र०—भगवान् अवतार क्यों लेते हैं ?

उ०—भगवान् अपने भक्तोंकी प्रार्थनासे अवतार लेते हैं। पूज्य गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

अगुन अरूप अनाम एकरस। राम सगुन भये भक्त प्रेमबस॥

भगवान् भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं। भगवान्‌को कोई प्रियाप्रिय नहीं है, भगवान् समदृष्टि हैं। भगवान्‌को भक्तोंकी वाञ्छा पूरी करनेके लिये अवतार लेना पड़ता है। इसलिये भक्तोंके अनुभवमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् भगवान् हैं। दुष्टोंको साधारण ग्वाल-बाल प्रतीत होते हैं। तुलसीदासजी महाराजने निर्गुणको सुलभ कहा है और सगुणको दुर्विज्ञेय बतलाया है।

निरगुन रूप सुलभ अति सगुन न जाने कोय।

प्र०—भक्तोंके दर्शनसे क्या लाभ हैं ?

उ०—भगवद्भक्तोंके दर्शनसे पापके परमाणु नष्ट होते हैं। यह बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंका सिद्धान्त है। प्रत्यक्षमें भगवद्भक्तोंके दर्शनसे भगवान्‌का गुणानुवाद सुननेमें आता है, गुणानुवाद श्रवण करनेसे भगवान्‌में श्रद्धा और प्रीति बढ़ती है। सब महापुरुषोंका भी सिद्धान्त है कि ईश्वर जीवोंको सृष्टिसृजनद्वारा सुख-दुःख भोगाता है और जीव भोगते हैं। क्योंकि ईश्वर जगत्‌का कर्ता है। भगवद्भक्त संसारसे प्रेम छुड़ाकर भगवान्‌में प्रेम करा देते हैं।

प्र०—प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन किस उपायसे हो सकते हैं ?

उ०—संसार दुःखवत् प्रतीत होनेसे मनुष्य भगवद्भक्तोंकी शरणमें जाता है। भगवद्भक्तोंमें प्रेम होनेसे भगवान्‌में प्रेम स्वाभाविक हो जाता है। भगवान् और भक्तोंकी कृपा ही मुख्य साधन है।

प्र०—श्रीकृष्णकीर्तन क्यों करना चाहिये ?

उ०—श्रीकृष्णकीर्तन इसलिये करना चाहिये कि श्रीकृष्ण हमारे प्यारे हैं। प्यारेका नाम लेना हमारी न छूटनेवाली आदत है। इसलिये प्यारेका जप, नाम-कीर्तन, गुणानुवाद किये बिना रहा ही नहीं जाता। यह भक्तोंका मानों स्वभाव हो गया है। चाहे कोई निन्दा ही क्यों न करे। यह एक नियम भी है कि जिस प्रकार बनियेसे व्यापारके कीर्तन बिना नहीं रहा जाता, कामी मनुष्योंसे स्त्रीके कीर्तन बिना नहीं रहा जाता, किसानोंसे खेतीके कीर्तन बिना नहीं रहा जाता, इसी प्रकार भक्तोंसे श्रीकृष्णकीर्तन बिना नहीं रहा जाता।

प्र०—श्रीकृष्णकीर्तनसे क्या लाभ है ?

उ०—श्रीकृष्णकीर्तन करनेसे साधकको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। और उन सिद्धोंको कि जिनको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हो गये हैं अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम लेनेमें परम आनन्द आता है।

कल्याण

सेवा करना परम धर्म समझकर यथायोग्य तन-मन-धनसे सबकी सेवा करो, परन्तु मनमें कभी इस अभिमानको न उत्पन्न होने दो कि मैंने किसीकी सेवा या उपकार किया है। उसे जो कुछ मिला है सो उसके भाग्यसे, उसके कर्मफलके रूपमें मिला है, तुम तो निमित्तमात्र हो। दूसरेको सुख पहुँचानेमें निमित्त बनाये गये, इसको ईश्वरकी कृपा समझो और जिसने तुम्हारी सेवा स्वीकार की, उसके प्रति मनमें कृतज्ञ होओ।

× × ×

सेवा करके अहसान करना, सेवाके बदलेमें सेवा चाहना, अन्य किसी भी फल-कामनाकी पूर्ति चाहना तो प्रत्यक्ष ही सेवाधर्मसे च्युत होना है। मनमें इस इच्छाकी लहरको भी मत आने दो कि इसे मेरी की हुई सेवाका पता रहना चाहिये। सेवाके बदलेमें मान चाहना या बड़ाई और प्रतिष्ठाकी चाह करना तो मानके चाहकी चञ्चल लहर नहीं है, बहुत मोटी धारा है। यहाँ मनुष्य बहुधा भूल कर बैठता है। जब व्यक्ति (किसी जीव) या समष्टि (देश-जाति) की कुछ सेवा करता है, उस समय तो सम्भवतः सेवाके भावसे ही करता है परन्तु पीछेसे यदि उस सेवाके बदलेमें उसे कुछ भी नहीं मिलता अथवा उस मनुष्य या देशके द्वारा, जिसकी इसने सेवा की थी, किसी दूसरेको सम्मान मिलता है तो इसे दुःख-सा होता है, यह इसीलिये होता है कि इसने मन-ही-मन उनके द्वारा सम्मानित होनेका अपना स्वत्व या हक समझ लिया था। दूसरेके सम्मानमें इसे अपना हक छिनता-सा नज़र आता है। वास्तवमें यह एक प्रकारसे सेवाका मूल्य घटाना है। अतएव यह कभी मत चाहो कि मुझे कोई पुरस्कार या सम्मान मिले, न दूसरेको मान मिलता देखकर डाह करो। तुम तो अपना केवल सेवाका ही अधिकार समझो।

× × ×

कर्म या उसके फलमें आसक्त मत होओ, न ममता करो; और न विफलतामें विषाद करो। तुमने किसीकी सेवा की, और वह तुम्हारा उपकार न माने तो उसपर नाराज मत होओ, बल्कि अपनी सेवाको भूल जाओ, याद ही रहे तो पता लगाओ, कहीं उसमें दोष रहा होगा। सेवा करके तुमने गिनाया होगा, उसपर अहसान किया होगा, कुछ बदला चाहा होगा। जिस व्यक्ति या देशकी सेवा करते हो, उसका वह काम हो जानेपर उसमें अपना कोई अधिकार मत समझो। उस हालतमें अपनेको बहुत ही भाग्यवान् समझो जब कि तुम्हारी सेवाका बदला देनेके लिये, तुम्हारे सामने होते हुए भी तुम्हें कोई खोजकर न निकाल सके और वह बदला दूसरेको मिल जाय, और तुम उसमें मदद करो।

× × ×

सेवा या सत्कार्यके बदलेमें मरनेके बाद भी कीर्ति न चाहो। तुम्हें लोग भूल जायँ इसीमें अपना कल्याण समझो। काम अच्छा तुम करो, कीर्ति दूसरोंको लेने दो। बुरा काम भूलकर भी न करो, परन्तु तुमपर उसका आरोप लगकर दूसरा उससे मुक्त होता हो तो उसे सर चढ़ा लो। तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। तुम्हारा वह सुखदायी मनचाहा अपमान तुम्हारे लिये मुक्तिका और आत्यन्तिक सुखका दरवाज़ा खोल देगा।

× × ×

सेवा करके नेता, गुरु, सभापति, सञ्चालक, पथ-प्रदर्शक, राजा, शासक और सम्मान्य बननेकी कभी मनमें भावना ही मत आने दो; जो पहलेसे ही सम्मान और ऊँचा पद प्राप्त करनेके लिये किसीकी सेवा करना चाहते हैं, वे यथार्थ सेवा नहीं कर पाते; उनकी अपने साथियोंसे प्रतिद्वन्द्विता हो जाती है और सेवा करनेकी शक्ति प्रतिद्वन्द्वीको परास्त करनेमें खर्च होने लगती है। रागद्वेष तो बढ़ता ही है। सेवा करनेपर मनचाही चीज़ नहीं मिलती तब दुःख होता है।

इसके सिवा एक बात यह है कि जो ऊँचा बननेके उद्देश्यसे ही नीचा बनकर कार्य करता है, वह वास्तवमें नीचा बननेका—आज्ञा मानने या सेवा करनेका बहाना ही करता है, वह तो वास्तवमें दूसरोंको नीचा, आज्ञाकारी और सेवक बनानेकी नीयत रखता है। जिसकी नीयत ही ऐसी है, वह सेवा क्या कर सकता है ? अतएव सदा सबके सेवक बननेकी ही अभिलाषा रक्खो, स्वामी बननेकी नहीं। कोई ऊँचा बनावे तो उसे स्वीकार न करो। खयाल रहे, बहुधा ऊँचे मानका अस्वीकार भी बड़ाईके लिये ही किया जाता है। बड़ाईके मोहमें भी मत फँसो। मान-बड़ाईका त्याग करो और फिर इस त्यागकी स्मृतिका भी त्याग कर दो।

× × ×

तुम्हारेद्वारा किसीकी कुछ भलाई हो जाय तो यह मत समझो कि यह भलाई मैंने की है। उसकी भलाई भगवान्‌ने की है और उसमें उसका अपना पूर्वकृत कर्म कारण है। तुम्हारी दृष्टि बहुत दूरतक नहीं जा सकती। सम्भव है तुम जिसमें किसीकी भलाई समझते हो, उससे परिणाममें उसका अहित हो जाय। तुम्हारी बुद्धि परिमित है, तुम्हारा विचार सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। सद्विचारके लिये परमात्मासे प्रार्थना करो, और परमात्माकी सत्ता, स्फूर्ति और प्रेरणा समझकर ही किसीके उपकारका कार्य करो। याद रक्खो, तुम्हारी बाह्य चेष्टाओंकी अपेक्षा ईश्वर-प्रार्थनासे अधिक और निश्चित फल होगा। क्योंकि तुम्हारी चेष्टा तो तुम्हारी अदूरदर्शिताके कारण विपरीत फल भी उत्पन्न कर सकती है परन्तु भगवान्‌की प्रार्थनासे तो विपरीत फल होता ही नहीं।

× × ×

सेवा करनेके अभिमानमें ईश्वरकी भूल मिटानेका दम मत भरो। बहुत-से लोग ईश्वरके किये हुए विधानको पलटनेकी व्यर्थ कोशिश करके ईश्वरको निर्दयी, अशक्त या असत् सिद्ध करना चाहते हैं और अपने बलकी स्थापना करना चाहते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। ईश्वरके प्रत्येक विधानको न्याय और दयासे युक्त समझो। ईश्वर किसीको व्यर्थ कष्ट नहीं देता, वह जीवके कर्मका फल ही उसे सुख-दुःखके रूपमें भुगताता है। और उसमें भी उसकी दया रहती है। उसके विधानको मिटानेकी चेष्टा न करो। हाँ, कष्टमें पड़े हुए प्राणीका कष्ट दूर करनेकी चेष्टा अवश्य करो। इससे ईश्वर तुमपर वैसे ही प्रसन्न होगा, जैसे स्नेहमयी माता अपने बच्चेको दण्ड देती है और उसके रोने लगनेपर उसका रोना बन्द कराके खुशीसे हँसा देनेवालेपर प्रसन्न होती है।

× × ×

ईश्वरको दयालु और सर्वशक्तिमान् समझो। और उसके अस्तित्वमें कभी सन्देह न करो। जगत्‌का अस्तित्व ही उसके अस्तित्वको सिद्ध करता है। जगत्‌को स्वीकार करना और भगवान्‌को अस्वीकार करना वैसा ही है जैसा सोनेके गहनेको स्वीकार करते हुए सोनेको अस्वीकार करना !

× × ×

सर्वत्र सर्वदा ईश्वरकी सत्ता देखकर जगत्‌का व्यवहार करो, प्रत्येक सृजन और संहारमें उसके मंगलमय हाथोंके दर्शन करो, प्रत्येक रुदन और गायन-में उसके मधुर कण्ठस्वरका अनुभव करो, प्रत्येक दुःख और सुखमें उसके कोमल शरीरका स्पर्श करो, प्रत्येक रूपान्तर और कालान्तरमें उसके मुस्कराते हुए मुखड़ेको देखो, प्रत्येक गति और चञ्चलतामें उसके अरुण चरणोंकी नूपुर-ध्वनि सुनो, और प्रत्येक प्रवाहमें उसकी स्थिरा अचला प्रकाशमयी नित्या सनातनी सच्चिदानन्दमयी सर्वव्यापिनी रसमयी मूर्तिकी पूजा करो ! तुम धन्य हो जाओगे !

'शिव'

विषयसुखकी असारता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह बात प्रायः देखनेमें आती है कि भगवद्भजनकी आवश्यकताको समझ लेनेपर भी उस ओर वैसी प्रगति नहीं होती—सब बातोंको जान-बूझकर भी चित्त प्रायः भगवान्‌से दूर ही रहता है—इसका क्या कारण है? सो विचारना चाहिये। मेरे विचारसे इसमें मुख्य हेतु श्रद्धा-विश्वासकी कमी है, क्योंकि पूर्वसञ्चित पाप और अज्ञानके कारण लोग विषयोंमें आसक्त हो रहे हैं—प्रभुमें पूर्ण श्रद्धा और उनकी दयालुतामें पूरा विश्वास नहीं रखते। इसीलिये लोग प्रायः उनसे दूर ही रहते हैं। अज्ञानवश ही विषयी पुरुषोंको क्षण-क्षणमें बदलनेवाले, देश-कालसे परिच्छिन्न, अनित्य विनाशी और दुःखरूप तथा दुःखके हेतु इन विषयोंमें सुख प्रतीत होता है, इसीसे वे इनमें आसक्त रहते हैं। परन्तु जो बुद्धिमान् पुरुष विषयोंके यथार्थ स्वरूपको जान लेते हैं वे कदापि इनमें आसक्त नहीं होते। इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको भ्रमसे सुखरूप भासते हैं, परन्तु ये निःसन्देह दुःखके ही हेतु और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसीलिये हे कौन्तेय ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष इनमें नहीं रमता।'

अतएव विषयोंके स्वरूपको समझकर इनकी आसक्तिसे छूटनेके लिये हमें यह विचार करना चाहिये कि जिस सुखसे आकृष्ट होकर लोग विषयोंमें फँसते हैं, क्या वस्तुतः वह विषयोंमें है? यदि विषय ही सुखस्वरूप होते तो उनकी सन्निधिमें सर्वदा ही सुख होना चाहिये था। परन्तु यह बात देखी नहीं जाती। उनमें सुखकी तो केवल क्षणिक प्रतीतिमात्र ही होती है। वस्तुतः तो वे दुःखरूप ही हैं। रसनेन्द्रियके विषयको ही लीजिये। हमें लड्डू बहुत प्रिय है। परन्तु उसकी प्रियता जैसी भूखके समय जान पड़ती है वैसी तृप्त हो जानेपर नहीं रहती; यही नहीं, पूर्ण तृप्ति हो जानेपर तो वह हमें अरुचिकर हो जाता है और उसे खिलानेका आग्रह भी बुरा मालूम होने लगता है। इसी प्रकार भोगानन्तर-क्षणमें स्त्री आदि जो अन्य इन्द्रियोंके विषय हैं, वे भी नीरस हो जाते हैं।

अतः अब यह विचारना चाहिये कि वस्तुतः सुख कहाँ है? विचारपूर्वक देखनेपर यही निश्चय होता है कि सम्पूर्ण सुखका भण्डार एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है; जहाँ-जहाँ भी प्रियताकी अनुभूति होती है उसीकी सत्तासे होती है—सम्पूर्ण प्रिय पदार्थोंमें उसीकी प्रियता प्रतिफलित हो रही है।

एक मनुष्य समुद्रतटपर खड़ा हुआ है। उसके सामने अपार और अगाध जलनिधि उत्ताल तरङ्गोंमें उछल-कूद मचा रहा है। इतनेमें ही उसकी दृष्टि समुद्रतलमें टिमटिमाती हुई एक मणिपर जाती है। जल किनारेपर भी बहुत गम्भीर है, परन्तु मणि-प्राप्तिका प्रलोभन उसे अधीर कर देता है। वह कपड़े उतारकर सागरमें डुबकी लगाता है; परन्तु बार-बार बहुत गहरे पानीमें जानेपर भी मणि उसके हाथ नहीं आती; वह विफलमनोरथ ही रहता है। परन्तु मणिकी दिपती हुई चमचमाहट उसे बेचैन कर रही है; इसलिये वह बहुत क्लान्त

और दुखी हो जानेपर भी वार-वार डुबकी लगानेसे नहीं हटता। इस प्रकार उसे डूबते-उतराते बहुत समय हो गया।

इतनेमें वहाँ कोई अनुभवी महात्मा स्नान करनेके लिये आते हैं। वे देखते हैं कि एक मनुष्य वार-वार डुबकी लगाता है और हताश चित्तसे निकल आता है। उसकी आकृतिसे वह बहुत ही उद्विग्न और दुखी जान पड़ता है, मानो किसी वस्तुको पानेके लिये अत्यन्त व्यग्र है और वह उसे मिल नहीं रही है। उन्होंने उसके समीप जाकर पूछा—'क्यों भाई, तुम किसलिये इतने व्यग्र हो रहे हो और क्यों वार-वार समुद्रमें डुबकी लगाते हो?' किन्तु वह मनुष्य अपना भेद खोलना नहीं चाहता, क्योंकि उसे यह आशङ्का है कि कहीं बाबाजी ही उस मणिको न निकाल ले जायँ। अतः वह बातको टाल देता है।

किन्तु इतनेहीमें महात्माजीकी दृष्टि भी उस मणिपर पड़ जाती है। उसे देखकर वे उसकी व्यग्रताका मर्म समझ गये, और उससे बोले—'क्यों भाई! तू इस मणिको लेनेके लिये ही बारम्बार डुबकी लगाता है न?' अब भेद खुला देखकर उसे भी स्वीकार करना ही पड़ा। बाबाजीने कहा तुझे इस प्रकार डुबकी लगाते कितना समय हो गया?

उसने कहा—बहुत समय हो गया।

बाबाजी—तुमने कितनी डुबकियाँ लगायी होंगी?

मनुष्य—कुछ गिनती ही नहीं, मैं तो आया तबसे गोते ही लगा रहा हूँ।

बाबाजी—कुछ हाथ भी लगा?

मनुष्य—कुछ नहीं।

बाबाजी—तो फिर क्यों डुबकी लगा रहा है?

मनुष्य—इसीलिये कि डुबकी लगाते-लगाते कभी तो मणि मिल ही जायगी।

बाबाजी—भाई, इसी प्रकार तू सारी आयु भी गोते लगाता रहे तो भी तुझे यह मणि नहीं मिल सकती।

मनुष्य—क्यों?

बाबाजी—तुझे जो मणि दिखायी दे रही है वह वस्तुतः वहाँ है ही नहीं।

मनुष्य—यह आप कैसी बात कह रहे हैं, वह तो प्रत्यक्ष दिखायी दे रही है।

बाबाजी—(हँसकर) अच्छा कुछ देर ठहर, तुझे अभी सारा भेद ज्ञात हो जायगा। इसपर वह मनुष्य रुक गया। थोड़ी देरमें जब जल ठहर गया तो बाबाजीने कहा—क्यों भाई, जहाँ तुझे मणि दिखायी देती है वहाँ कुछ और भी है क्या?

मनुष्य—हाँ, एक वृक्ष तो दिखायी देता है।

बाबाजी—तो क्या वस्तुतः वह वहाँ है। और यदि है तो इतनी बार डुबकी लगानेपर क्या तेरे हाथ उसकी कोई डाली भी आयी?

मनुष्य—नहीं, डाली या पत्ता आदि तो कुछ भी हाथ नहीं लगा, परन्तु यदि वह वहाँ नहीं है तो फिर कहाँ है?

बाबाजी—अरे, यदि वहाँ वृक्ष होता तो तेरे हाथ अवश्य उसका कोई पत्ता तो लगता ही। वस्तुतः वहाँ कोई वृक्ष है नहीं। देख, यह किनारेका वृक्ष। यही जलमें प्रतिबिम्बित हो रहा है। ऐसा कहकर बाबाजीने किनारेके उस वृक्षकी एक टहनी हिलायी, उसके हिलनेसे जलमें प्रतिबिम्बित वृक्षकी टहनी भी हिलती देखकर वह मनुष्य सहम गया और उसने महात्माजीसे कहा—आपका कथन ठीक है, वस्तुतः यह इस वृक्षकी ही परछाईं है। कृपया अब इस मणिके मिलनेका उपाय भी बतलाइये।

बाबाजी—यदि तुझे यह मणि प्राप्त करनी है तो तू इस वृक्षपर चढ़कर देख। प्रतिबिम्बमें जहाँ

मणिकी प्रतीति होती है उसीकी बिम्बभूत डालीपर तुझे यह रत्न मिल सकता है।

तब उस मनुष्यने वृक्षपर चढ़कर देखा तो उसे वह अनुपम लाल उसकी सबसे ऊँची टहनीपर पड़ा मिला। वह लालको पाकर निहाल हो गया और महात्माजीके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने लगा।

[यहाँ संसार ही समुद्र है, विषय ही उसमें जल है, विषयसुख ही मणिकी परछाईं है, जीव ही डुबकी लगानेवाला मनुष्य है, बार-बार जन्मना-मरना ही डुबकी लगाना है, सद्‌गुरु महात्माजी हैं, साधन किनारेका वृक्ष है, और परमानन्दरूप परमात्माका स्वरूप ही उसपर स्थित सच्ची मणि है।]

इस प्रकार जलमें मणिकी परछाईंकी भाँति तुम्हें यहाँ विषयोंमें जो आनन्द प्रतीत होता है वह उस विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही प्रतिबिम्ब है। यदि उसे पानेकी इच्छा है तो इस संसार-समुद्रमें प्रतीत होनेवाले विषयोंकी आपातरमणीयतासे आकृष्ट न होकर किसी सद्‌गुरुके बतलाये हुए साधनसोपानपर चढ़कर उसे ढूँढ़ो। तभी तुम्हें उस विशुद्ध परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

एक मनुष्य किसी कमरेमें बैठा हुआ है। प्रातःकालका समय है। उस कमरेके बाहर वह देखता है कि प्रातःकालीन मन्द-मन्द घाम फैल गया है। इससे वह निश्चय कर लेता है कि सूर्योदय हो गया। यद्यपि इस समय सूर्य उसके सामने नहीं है, तो भी उस घामसे ही उसकी सत्ताका निश्चय हो जानेमें कोई त्रुटि नहीं रहती। प्रकाश तो उसके कमरेमें भी है परन्तु वह सूर्यसे सीधा न आकर उस घामसे ही प्रतिफलित हो रहा है। इसप्रकार सूर्य न दीखनेपर भी वह उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। यदि किसी प्रकार उस कमरेको गिरा दिया जाय तो वह वहाँ बैठे-बैठे ही सूर्यका दर्शन कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा भी अविद्याके कारण हमसे छिपा हुआ है। उसके परमानन्दका प्रकाशरूप जो सात्त्विक आनन्द है, उसीकी आभा इन विषयोंमें पड़ी हुई है और उसीके कारण ये सुखमय जान पड़ते हैं। यदि किसी प्रकार वह अविद्याका पर्दा हटा दिया जाय तो हमें उस आनन्दघनका स्फुट साक्षात्कार हो सकता है। परन्तु इस विषयानन्दसे ही उस परमानन्दघनका निश्चय हो जानेमें तो कोई बाधा नहीं रहनी चाहिये। जब हम स्पष्ट ही सर्वत्र अल्प सुखका अनुभव करते हैं, तो उसके अधिष्ठानभूत पूर्णानन्दघन परमात्माकी सत्ता निश्चय ही सिद्ध होती है। इसमें अविश्वास या अश्रद्धाके लिये तनिक भी अवकाश नहीं है।

परन्तु इस विषयानन्दकी अपेक्षा भगवान्‌में कितना अधिक आनन्द है, इसका परिचय उसी प्रकार नहीं कराया जा सकता, जिस प्रकार कि खद्योतोंके समूहसे सूर्यका। मानवबुद्धि उसका आकलन करनेमें सर्वथा असमर्थ है। भगवदानन्दकी बात तो दूर रही, विषयासक्त पुरुषोंके लिये तो शुद्ध सात्त्विक आनन्द भी अत्यन्त दुर्लभ है। प्रभुके परमानन्दको समझनेके लिये एक दृष्टान्तपर ध्यान देना चाहिये। एक दर्पण है। उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखायी देता है और उस सूर्यप्रतिबिम्बयुक्त दर्पणका चिलका दीवारपर पड़ रहा है, तथा उस चिलकेकी आभासे ही वह दीवार भी प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार दीवारपर जो सामान्य प्रकाश है वह सूर्यप्रकाशके प्रतिबिम्बके प्रकाशका भी आभास है। इसी प्रकार विषयानन्द भी भगवान्‌के परमानन्दके प्रतिबिम्बके प्रकाशकी केवल आभामात्र ही है। विषयानन्द दीवारपर पड़े हुए सामान्य प्रकाशके समान है, दीवारपर पड़ा हुआ चिलका सात्त्विक आनन्द है। दर्पणप्रतिबिम्बित सूर्य अथवा घाम मानो सात्त्विक आनन्दका पुञ्ज है और भगवान्

साक्षात् सूर्यदेव हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषयानन्दकी अपेक्षा प्रभुका परमानन्द असंख्य कोटि गुना अधिक बतलाया जाय तो भी उसकी उपमा नहीं बनती।

थोड़ी-सी विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो विषयोंकी असारता, अस्थिरता और तुच्छता स्पष्ट प्रतीत होती है। देखिये, आकाशमें उड़नेवाला वायुयान जब पृथिवीपर होता है तो पचीस-तीस फुट लम्बा होता है। आकाशमें उड़ते समय वह प्रायः चार-पाँच फुटका दिखायी देता है, और भी ऊँचा चढ़ जानेपर केवल एक पक्षीके समान दिखायी देता है, यदि और दूर चला जाय तो दिखलायी भी नहीं देगा। इसी प्रकार यह देखा जाता है कि संसारमें प्रत्येक वस्तु अवस्थाभेदसे भिन्न-भिन्नरूपसे दिखायी देती है, और अवस्था क्षणिक है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक पदार्थका भी क्षय हो रहा है। अभी एक सुगन्धित पुष्प तोड़ा गया है। वह घ्राणेन्द्रिय-को बड़ा ही प्रिय जान पड़ता है; परन्तु दो-चार बार सूँघनेपर वह उत्तरोत्तर अप्रिय होता जाता है। फिर वह सूखकर किसी कामका नहीं रह जाता और अन्तमें नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जब कि देश और कालके भेदसे प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है, और प्रतिपल क्षय होता है तो उसे सत्य कैसे माना जा सकता है? सत्य तो वही वस्तु मानी जा सकती है जो सदा-सर्वदा एकरस रहे और जिसमें कभी कोई विकार-व्यभिचार न होता हो। स्थानभेद अथवा कालभेदके कारण कुछ-की-कुछ प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ सत्य नहीं मानी जा सकतीं। जो सत्य है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका अभाव या क्षय होता है, वह सत्य नहीं हो सकता। भगवान्‌ने भी कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(गीता २। १६)

अर्थात् 'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है, और सत्‌का अभाव नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों-द्वारा इन दोनोंका ही तत्त्व देखा गया है।'

किसी न्यायाधीशके यहाँ एक अभियोग उपस्थित होता है। उसकी पुष्टिके लिये वादी पाँच गवाह उपस्थित करता है। उसका दावा है कि अमुक व्यक्तिको मैंने दस हजार रुपये दिये थे, जिन्हें वह अन्यायपूर्वक दबाना चाहता है। न्यायाधीश पूछता है—इसमें कोई गवाह भी है?

वादी—जी हाँ, अमुक-अमुक पाँच व्यक्ति गवाह हैं, मैंने उनकी उपस्थितिमें उसे दस सहस्र रुपये दिये थे। इनमेंसे एक तो मेरे गिने रुपयोंको दुबारा गिन-गिनकर उसे दे रहा था।

न्यायाधीश—तुमने रुपये दिये थे या नोट?

वादी—रुपये।

न्यायाधीश—कहाँपर दिये थे?

वादी—अमरूदों और फूलोंके बगीचेमें।

न्यायाधीश—किस समय दिये थे?

वादी—दोपहरके समय।

इसके पश्चात् उसे हटाकर न्यायाधीश एक-एक गवाहको बुलाकर पूछने लगा। उसने पहले गवाहसे पूछा—क्या इस मनुष्यने तुम्हारे सामने अमुक मनुष्यको कुछ रुपये दिये थे?

पहला गवाह—जी हाँ, आठ हजार रुपये दिये थे।

न्यायाधीश—उस समय और भी कोई था?

पहला गवाह—जी हाँ, तीन आदमी और थे।

न्यायाधीश—वह दिनका कौन समय था?

पहला गवाह—प्रातःकाल था।

न्यायाधीश—ठीक है, अच्छा, जाओ।

फिर दूसरे गवाहको बुलाकर पूछा—इस आदमीने अमुक मनुष्यको कितने रुपये दिये थे?

दूसरा गवाह—दस हजार।

न्यायाधीश—क्या तुमने स्वयं देखा था?

दूसरा गवाह—नहीं, मैंने सुना है।

न्यायाधीश–वह दिनका कौन-सा समय था।

दूसरा गवाह–सायंकालका समय सुना गया था।

न्यायाधीश–ठीक है, अच्छा जाओ।

फिर तीसरे गवाहसे पूछा।

न्यायाधीश–इस आदमीने अमुक मनुष्यको कितने रुपये दिये थे ?

तीसरा गवाह–बारह हजार।

न्यायाधीश–तुमने स्वयं देखा था ?

तीसरा गवाह–देखा क्या ! मैंने दुबारा गिन-गिनकर दिये थे।

न्यायाधीश–वह कौन-सा समय था ?

तीसरा गवाह–रातको भोजनके बाद।

न्यायाधीश–अच्छा जाओ।

इसी प्रकार चौथे और पाँचवें गवाहको भी बुलाकर पूछा गया। एकने कहा—मैं बगीचेमें बड़े तड़के फूल लेने जाया करता हूँ, मैंने रुपये देते नहीं देखा। दूसरेने कहा, मैं तो वहाँ जाकर अमरूद खाया करता हूँ, रुपयोंकी बात मैं नहीं जानता। इस तरह सबकी अव्यवस्थित और विषम बातें सुनकर न्यायाधीशने अभियोगको मिथ्या ठहराकर खारिज कर दिया। जब वादीने आकर अनुनय-विनय की और अभियोग खारिज करनेका कारण पूछा तो न्यायाधीशने कहा—तुम्हारा एक गवाह कहता है कि आठ हजार रुपये दिये गये थे।

वादी–जी सरकार, आठ हजार ही थे, मैंने भूलसे दस हजारकी नालिश की थी।

न्यायाधीश–दूसरा बारह हजार कहता है।

वादी–हुजूर ! उसे याद नहीं रहा होगा।

न्यायाधीश–गवाह कहते हैं रुपये नहीं नोट दिये गये थे।

वादी–जी हाँ, नोट ही दिये गये थे।

न्यायाधीश–गवाह कहता है, उस समय हम दो ही व्यक्ति थे।

वादी–जी।

न्यायाधीश–वह प्रातःकालका समय बतलाया जाता है।

वादी–जी हुजूर, प्रातःकाल ही था। मैं कहनेमें भूल गया।

इस प्रकार अपनी बातोंका ही खण्डन करते देख न्यायाधीशको निश्चय हो गया कि यह आदमी झूठा है और इसका अभियोग एक जाल ही है। इसी तरह इन विषयोंको ग्रहण करनेवाली—इनकी साक्षी हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमेंसे किसी भी एकका अनुभव दूसरीसे नहीं मिलता। कर्ण केवल शब्द ही ग्रहण करता है, घ्राणेन्द्रिय केवल गन्धका साक्षी है, रसना केवल रस बतला सकती है, त्वचा केवल स्पर्श ही जान सकती है और नेत्रोंसे बस रूपका ही ज्ञान होता है। इस प्रकार जब सभी गवाहोंका अनुभव एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है, तो उनमेंसे किसीकी भी बातको प्रामाणिक कैसे मान सकते हैं ?

इस तरह जो विषय न सबको एक-से दीखते हैं, न सबको उनमें एक-सा सुख-दुःख होता है, जो पल-पलमें बदलते रहते हैं, अभी हैं, दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाते हैं, ऐसे विषयोंको सत् मानकर उनमें आसक्त होना मूर्खताके सिवा और क्या है ?

अतएव विषयोंकी असारता, अस्थिरता और दुःखरूपतासे उनकी असत्ताका निश्चय कर एकमात्र परमात्माको ही सर्वाधिष्ठान, पूर्णानन्दघन और सत्पदार्थ समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निरन्तर उन्हींका भजन-चिन्तन करना चाहिये, उन्हींके भक्तोंका सहवास करना चाहिये और एकमात्र उन्हींकी कृपामें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। इससे अविद्या, आसक्ति आदि सब प्रकारके क्लेशोंका एवं पाप और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

भक्त-गाथा

दानवराज वृत्रासुर
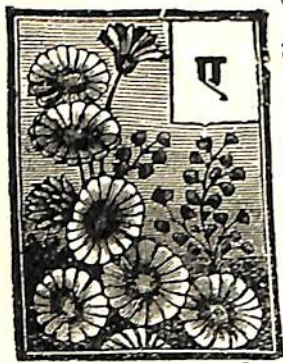
एक समय देवराज इन्द्रके अनम्र तथा उद्धत व्यवहारसे देवगुरु बृहस्पति नाराज हो गये, इन्द्रने पश्चात्ताप करके उनको तलाश भी किया परन्तु वह नहीं मिले; गुरुहीन देवताओंको दैत्योंने हरा दिया, तब ब्रह्माजीकी रायसे देवराज इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र अमित तेजस्वी विश्वरूपको अपना गुरु बनाया। विश्वरूप 'नारायणीकवच' जानता था, उस कवचके प्रभावसे इन्द्र बलवान् हो गया और देवताओंने पुनः दैत्योंपर विजय प्राप्त की। कुछ समय बाद इन्द्रको यह सन्देह हुआ कि विश्वरूपकी माता असुरवंशकी होनेके कारण वह गुप्तरूपसे असुरोंको यज्ञका हविर्भाग पहुँचाता है; इस प्रकारके सन्देहसे इन्द्रके मनमें असुरोंकी बलवृद्धिका भय हुआ और क्रोधावेशमें उसने विश्वरूपको मार डाला। पुत्रकी मृत्युसे शोकाकुल त्वष्टाने बदला लेनेके लिये इन्द्रका शत्रु उत्पन्न करनेकी इच्छा की और यज्ञ करके विश्वरूप-के शरीरमन्थनद्वारा अति उग्ररूप वृत्रको उत्पन्न किया। यह वृत्रासुर पूर्वजन्ममें भगवान्का परमभक्त राजा चित्रकेतुके नामसे प्रसिद्ध था, पार्वतीके शापवश इसे यह असुरशरीर प्राप्त हुआ था। परन्तु इस देहमें भी पूर्वाभ्यासवश इसकी भगवद्भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रही। अस्तु,

वृत्रासुरने साठ हजार वर्षतक कठिन तपस्या करके अमित शक्ति प्राप्त की और सबको जीतकर वह निर्भयरूपसे जगत्में अपार ऐश्वर्यका भोग करने लगा। यद्यपि वृत्र असुर था, उसका शरीर भी आसुरी चिह्नोंवाला था, परन्तु उसके हृदयमें भगवान्की ओर आकर्षण था, जगत्की नश्वरताको वह खूब जानता था, भगवान्के प्रति उसके मनमें भक्ति थी। इन्द्रके साथ शत्रुता करनेके लिये ही वह उत्पन्न हुआ था, इसलिये बाहरी दिखावेमें वह अवश्य ही महान् इन्द्र-शत्रु था, सारे देवता उसके नामसे काँपते थे, परन्तु मनमें उसका किसीसे भी वैर नहीं था, वह सबमें अपने भगवान्को देखकर अपने स्वाँगके अनुसार घोर कर्म करता हुआ जगत्में विचरता था। एक बार वह भगवदिच्छासे देवताओंसे हार गया, तब असुरगुरु शुक्राचार्य उसके पास आये। शुक्राचार्यने आकर देखा कि वृत्रके चेहरेपर उदासीका कोई चिह्न नहीं है, वह जैसा राज्य करनेके समय प्रफुल्लित था वैसा ही राज्यसे भ्रष्ट होनेपर भी है। तब शुक्राचार्यने उससे पूछा—

'हे वृत्र! तुम हार गये हो, राज्यसे च्युत हो, क्या इससे तुम्हें कोई दुःख नहीं होता?' वृत्रने कहा—'भगवन्! मैं सत्य और तपके प्रभावसे जीवोंके आने-जाने और सुख-दुःखके रहस्यको जान गया हूँ, इससे मुझको किसी भी अवस्थामें हर्ष या शोक नहीं होता। जीव अपने-अपने कर्मवश कालभगवान्की प्रेरणासे नरक या स्वर्गमें जाकर नियत समयतक पाप या पुण्यका फल भोगकर फिर बचे हुए पाप-पुण्यके कारण मनुष्य पशु, या पक्षीयोनिमें जन्मते-मरते हैं। मरकर पुनः नरक या स्वर्गमें जाते हैं, इस प्रकार उनका आवागमन हुआ करता है। मैंने भगवत्कृपासे अदृष्ट परमात्माको देख लिया है, इसलिये मुझको जीवोंके आने-जानेमें और भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें कोई विकार नहीं होता। आप जानते हैं, मैंने पहले विजयकी इच्छासे दीर्घकालतक बड़ा तप किया था

और तपोबलके प्रभावसे त्रैलोक्यविजयी होकर परम ऐश्वर्यवान् बन गया था। अब मैंने अपने कर्मोंसे ही उस ऐश्वर्यका नाश कर दिया है, अतएव मुझे उस गये हुए ऐश्वर्यके लिये कोई शोक नहीं है। पहले जिस समय युद्धकी इच्छासे इन्द्र मेरे सामने आया था, उस समय मैंने अपने स्वामी भगवान् श्रीहरि-नारायणके दर्शन किये थे; वे श्रीहरि ही वैकुण्ठ, पुरुष, अनन्त, शुक्ल, विष्णु, सनातन, मुञ्जकेश, हरिश्मश्रु और समस्त भूतोंके पितामहके नामसे प्रसिद्ध हैं। मैं समझता हूँ, जिस तपसे मुझे श्रीभगवान्के दर्शन हुए थे उस तपका कुछ अंश अभी मेरे अन्दर वर्त्तमान है, इसीसे मैं अन्य किसी विषयकी इच्छा न करके आपसे यह जानना चाहता हूँ कि किस कर्मसे और किस ज्ञानसे परब्रह्म भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। हे गुरो! आप कृपाकर मुझे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये।' वृत्रके इन असुरभावोंको नष्ट करनेवाले परमार्थप्रद वचनोंको सुनकर तथा उसे सृष्टि-स्थिति-संहारके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान्के प्रति दृढ़ भक्तिपरायण जानकर शुक्राचार्य बोले—

नमस्तस्मै भगवते देवाय प्रभविष्णवे।
यस्य पृथ्वी तलं तात! साकाशं बाहुगोचरः॥
मूर्धा यस्य त्वनन्तञ्च स्थानं दानवसत्तम।
तस्याहं ते प्रवक्ष्यामि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम्॥

(महा० शान्ति० २८०। १, २)

'हे प्रिय! यह भूमण्डल जिसका अधोभाग है, आकाश-सहित ऊपरके लोक जिसकी भुजाओंका मध्य-भाग है और मोक्षधाम जिसका मस्तकरूप है, उस भगवान् नारायणको मैं नमस्कार करके तुझे उन श्रीविष्णुका माहात्म्य सुनाता हूँ।'

वृत्रासुर और शुक्राचार्यमें इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि धर्मात्मा महामुनि सनत्कुमार उनका सन्देह नाश करनेके लिये वहाँ पधारे। असुरराज वृत्र तथा मुनिवर शुक्राचार्यने उनकी यथोचित पूजा की। वह उत्तम सिंहासनपर विराजित हुए। तदनन्तर शुक्राचार्यके अनुरोध करनेपर सनत्कुमार भगवान् विष्णुका माहात्म्य कहने लगे—'हे दैत्येन्द्र! मैं तुमसे भगवान्का माहात्म्य कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो! यह समस्त विश्व भगवान् विष्णुमें स्थित है, वह परमपुरुष भगवान् ही कालके द्वारा चराचर भूत-प्राणियोंको रचते और उनका संहार करते हैं। यह समस्त भूत उन्हींसे उत्पन्न होकर उन्हींमें लय हो जाते हैं। शास्त्रज्ञान, बाह्य तप और यज्ञद्वारा उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल इन्द्रियसंयमसे अर्थात् मनसहित समस्त इन्द्रियों-को विषयोंसे हटाकर उनमें लगानेसे ही वह मिलते हैं। जो दृढ़तर अध्यवसायके साथ निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्मरूपी यज्ञ और शमदमादि साधनोंद्वारा चित्तकी शुद्धि करते हैं वही परलोकमें मोक्षको प्राप्त होते हैं। जैसे सुनार चाँदी-सोने आदि धातुको बार-बार अग्निमें तपा-तपाकर शुद्ध करते हैं, इसी प्रकार जीव भी बार-बार जन्म लेकर प्रयत्न करता हुआ शुद्ध होता है। हाँ, महान् प्रयत्न करनेवाला साधक पुरुष एक ही जन्ममें शुद्ध हो जाता है। शरीरका मैल उतारनेके समान यत्नपूर्वक अन्तःकरणका मल भी दूर करना चाहिये। जैसे सरसोंके तेलमें थोड़े-से पुष्पोंकी सुगन्धि देनेसे ही तेलकी गन्ध नहीं मिटती, इसी प्रकार थोड़े-से प्रयत्नसे दोष दूर नहीं होते परन्तु जैसे बार-बार बहुत-से पुष्पोंकी सुगन्धि देनेसे तेलकी गन्ध नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार बुद्धिसे विषयासक्तिके दोष भी बार-बार महान् प्रयत्न करनेसे और सत्यके सेवनसे ही नष्ट होते हैं।

हे दानवराज! अज, अविनाशी भगवान् नारायण ही इस चराचर विश्वकी सृष्टि करते हैं, वही समस्त भूतोंमें देहरूपसे और जीवरूपसे विराजित हो रहे हैं। वही मनसहित ग्यारह इन्द्रियोंके रूपमें होकर जगत्-का उपभोग करते हैं। उन जगद्रूप परमात्माका चरण यह पृथ्वी है, स्वर्ग मस्तक है, दिशाएँ चार भुजा हैं, आकाश कान हैं, सूर्य नेत्र हैं, चन्द्रमा मन

है, ज्ञान बुद्धि है, जल जिह्वा है, आकाशमें रहनेवाले ग्रह उनकी भ्रुकुटिका मध्य भाग है। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण भी वही नारायण हैं। वह सब आश्रम, कर्म और संन्यासके फलस्वरूप हैं। वेदके छन्द उनके रोम हैं, प्रणव उनकी वाणी है। वह सभी आश्रमोंके आश्रय हैं, उनका मुख सब ओर है। वही ब्रह्म हैं, वही परम धर्म हैं, वही तप हैं, वही सत्-असत् हैं, वही मन्त्र, शास्त्र, यज्ञपात्र, सोलह ऋत्विक्युक्त सर्व-यज्ञरूप हैं। वही ब्रह्मा, विष्णु, अश्विनीकुमार, पुरन्दर, मित्र, वरुण, यम और कुबेर हैं। ऋत्विक्गण उन्हें इन्द्र, वैश्वानर आदि भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखते हुए भी यह जानते हैं कि वह सनातन परमात्मा एक ही हैं। यह समस्त जगत् उन एक अद्वितीय भगवान् नारायण-के ही वशमें है। वेद उन्हींको विविध भूतोंका एक-मात्र कारण बतलाते हैं। जब मनुष्य दिव्य ज्ञानदृष्टिसे सबको एक नारायणमय देखते हैं, तभी ब्रह्मका स्वरूप प्रकट होता है अर्थात् वह ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

जीव जन्म लेकर अपने-अपने कर्मोंके अनुसार निर्दिष्ट लोकमें रहते हैं और अन्तमें प्रलयकालमें प्रकृतिके साथ ब्रह्ममें प्रवेश कर जाते हैं। ब्रह्मविद् महात्मा पाँचों इन्द्रियोंका संयम करके सुख-दुःखमें सम रहते हैं। उनके अन्दर ब्रह्मविद्या और वेदविद्या रहती हैं। जो पुरुष निर्मल मनसे परम पवित्र गतिको जानना चाहता है, वह ब्रह्मका साक्षात्कार कर नितान्त दुर्लभ मोक्षस्वरूप सनातन अविनाशी परब्रह्मको प्राप्त होता है।'

सनत्कुमारके इन वचनोंको सुनकर वृत्रासुरको बहुत ही आनन्द हुआ। वह अब परम दृढ़ निश्चयके साथ सबमें, सब ओर सर्वथा भगवान्का अनुभव करने लगा। उसकी धार्मिकता, उसका ज्ञान और उसकी भगवद्भक्ति ऐसी पवित्र और महान् हो गयी कि किसी के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। वह राज्यहीन होकर भी आसक्ति छोड़कर निर्भयतापूर्वक शत्रुओंमें रहने लगा। इन्द्रने देवताओंसहित उसके वधका बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। तब सब देवताओंने मिलकर भगवान्की ज्ञानमयी स्तुति की। और उनसे शीघ्र ही वृत्रासुरको वध करनेका वरदान माँगा! भगवान्ने उनकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर मार्मिक शब्दोंमें उनसे कहा—

किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः।
मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित्॥
न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक्।
तस्य तानिच्छतो यच्छेद्यदि सोऽपि तथाविधः॥
स्वयं निःश्रेयसं विद्वान्न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः॥

(श्रीमद्भा० ६।९।४८—५०)

'हे देवताओ! मेरे प्रसन्न होनेपर क्या नहीं मिल सकता? तथापि जिसकी बुद्धि मुझमें अनन्यरूपसे लग जाती है वह मेरे तत्त्वको जाननेवाला पुरुष मुझको छोड़कर और किसी भी वस्तुको नहीं चाहता। परन्तु विषयोंको ही यथार्थ तत्त्व समझनेवाला पुरुष अपने कल्याणको नहीं जानता, इसीलिये वह अकल्याण-कारी विषय ही माँगता है; उस विषयकी इच्छा करने-वाले मनुष्यको वह विषय दे देना भी एक प्रकारसे अज्ञानका ही कार्य होता है। जैसे सद्वैद्य रोगीके चाहनेपर भी उसे कुपथ्य नहीं देता, इसी प्रकार कल्याणको जाननेवाला विद्वान् भी अज्ञानी पुरुषको बन्धनमय भोग प्रदान करनेवाले कर्मका उपदेश नहीं करता।'

भगवान्ने इन शब्दोंमें जो कुछ कहा उससे यही आशय लेना चाहिये कि तुमलोगोंने स्तुति तो बहुत विद्वत्तापूर्ण की, परन्तु ऐसी स्तुति करके भी अन्तमें मुझसे माँगी सांसारिक विजय और भोगराशि ही। बड़े ही दुःखकी बात है कि तुमने मूर्खोंकी भाँति

अपने यथार्थ कल्याणकी ओर ध्यान नहीं दिया, मुझको पाकर भी मुझसे दुर्लभ भक्ति न माँगकर विषय-भोगोंकी ही इच्छा करते हो। अब भी मैं तुम्हें सचेत करता हूँ। यदि तुम मेरे तत्त्वको जानते हो तो अबोध शिशुकी भाँति मुझपर ही निर्भर हो जाओ, फिर जैसे स्नेहमयी माता माँगनेपर भी बच्चेको जहर न देकर, उसे कल्याणकारी वस्तु ही देती है, वैसे ही मैं भी तुम्हें भोगोंसे हटाकर अपनी ओर खींच लूँगा। तुम मुझे सद्वैद्य समझकर अपने-आपको मुझे समर्पण कर दो, किस औषधसे तुम्हारा रोग मिटेगा, यह मैं जानता हूँ और स्वयं तुम्हें वही दूँगा। वृत्रासुरको मारने न मारनेकी चिन्ता छोड़ दो, निर्वैर हो जाओ। देखो, वह वृत्र असुर होकर भी कैसा मेरी कृपापर निर्भर कर रहा है, वह इस समय हारा हुआ है तथापि मुझसे कुछ भी नहीं चाहता। तुम भी वैसा ही कर सकते हो।

देवता भगवान्‌के वचन सुनकर चुप रहे—भगवान्‌ने समझ लिया यह देवता विषयोंके ही अभिलाषी हैं। इन्हें अपने श्रेयकी अभी इच्छा नहीं है, उधर भक्त वृत्रासुरको भी असुरदेहसे छुड़ाकर शीघ्र परम धाममें ले जाना है, अतएव उसके देहत्यागका साधन कर देनेमें ही दोनों पक्षको सुभीता है। यह सोचकर भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्‌ने कहा—अच्छा, तुम यही चाहते हो तो यही सही, 'हे इन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम महान् तपस्वी दधीचि ऋषिके पास जाओ और विद्या, व्रत तथा तपके द्वारा दृढ़ हुए उनके शरीरको उनसे माँग लो। हे इन्द्र! वह 'अश्वशिरस्' नामसे प्रसिद्ध शुद्ध ब्रह्मको दधीचि ऋषि जानते हैं, जिसका उन्होंने अश्विनीकुमारोंको उपदेश दिया था, और जिससे अश्विनीकुमार जीवन्मुक्त हुए थे।* इसके सिवा वह दधीचि ऋषि मेरे स्वरूपभूत अभेद्य नारायणकवचको भी जानते हैं, उन्हींसे यह कवच विश्वरूपके पिता त्वष्टाको मिला था, त्वष्टाने विश्वरूपको दिया था और विश्वरूपसे उसको पाकर तुमने दानवोंपर विजय प्राप्त की थी। इस प्रकारकी विद्याओंसे दृढ़ उनके शरीरको तुम माँग लो, वह धर्मात्मा तुम्हें दे देंगे, और फिर उनकी अस्थियोंसे विश्वकर्माके द्वारा वज्र नामक शस्त्र बनवा लो। उस वज्रसे ही वृत्रासुरका वध होगा।'

इन्द्रने दधीचिके पास आकर सब बातें कह सुनायीं। दधीचिने शरीर त्याग दिया, तब उनकी अस्थियोंसे वज्र बना और उसे लेकर इन्द्रने देवताओंकी विशाल सेनासहित अपने शत्रु वृत्रासुरपर चढ़ाई कर दी। जुझाऊ बाजे बजने लगे और भयङ्कर गर्जना होने लगी। विशाल देवसेनासहित इन्द्रको अपने सामने देखकर भी वृत्रासुरकी मानसिक

* एक समय दधीचि ऋषिके पास अश्विनीकुमार ज्ञानका उपदेश लेने गये, उस समय ऋषि नित्यकर्म कर रहे थे, अतएव उन्होंने किसी दूसरे समय आनेको कहा। अश्विनीकुमारोंके चले जानेपर इन्द्रने ऋषिके पास जाकर कहा कि अश्विनीकुमार वैश्य हैं, उन्हें आप ब्रह्मविद्याका उपदेश न कीजियेगा। आप यदि करेंगे तो मैं आपका सिर उतार लूँगा। इन्द्र चला गया। फिर अश्विनीकुमार आये तब ऋषिने इन्द्रकी बात उन्हें सुनायी। अश्विनीकुमारोंने कहा, 'आप चिन्ता न करें। हम पहले ही आपका यह मस्तक उतारकर इसकी जगह आपके धड़पर अश्व (घोड़े) का सिर लगा देते हैं। उसी सिरसे आप हमें उपदेश कीजिये। इसके बाद जब इन्द्र आकर आपका वह सिर काट डालेंगे, तब हम आपके असली सिरको धड़से जोड़कर आपको जीवित कर देंगे।' यह सुनकर असत्यसे डरनेवाले ऋषिने ऐसा ही किया। तभीसे अश्वके सिरसे ब्रह्मविद्याका उपदेश होनेके कारण उस ब्रह्मविद्याका नाम भी 'अश्वशिरस्' पड़ गया। यहाँ श्रीभगवान् इन्द्रको उस घटनाकी याद दिलाकर कहते हैं कि तुमने जिनका सिर उतार लिया था, वे राग-द्वेष-हीन ऋषि तुम्हारे माँगनेपर तुम्हें अपना शरीर दे देंगे!

स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ा । भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं—

अथ वृत्रस्य कौरव्य दृष्ट्वा शक्रमवस्थितम् ।
न सम्भ्रमो न भीः काचिदास्था वा समजायत ॥
(महाभारत शान्तिपर्व २८१ । १२)

हे युधिष्ठिर ! इन्द्रको अपने सामने देखकर वृत्रासुरको न सम्भ्रम हुआ, न भय लगा और न उसने युद्धके लिये कोई यत्न ही किया । वह निर्भय निश्चल वीर हँसता हुआ इन्द्रसे लड़ने लगा । इन्द्र घबड़ा गये । तब वशिष्ठने आकर इन्द्रको उत्साह दिलाया । भगवान् विष्णुने इन्द्रके शरीरमें प्रवेश किया और भगवान् शङ्करके तेजःस्वरूप ज्वरने वृत्रासुरके अन्दर प्रवेश करके उसे शिथिल कर दिया । इतनेपर भी भगवान्में अटल विश्वास रखनेवाले वृत्रासुरका बल इन्द्रसे बढ़कर ही रहा । उसने इन्द्रके वाहन ऐरावतपर एक ऐसी गदा मारी कि वह चक्कर खाकर खूनकी उलटी करता हुआ अट्ठाईस हाथ पीछे हट गया । तब हँसकर वृत्रासुर कहने लगा—'इन्द्र ! तुम घबराओ नहीं, अपने इस अमोघ वज्रका मुझपर प्रहार करो, तुम्हारा यह वज्र कभी खाली नहीं जायगा । और मैं भगवान्को इस शरीरकी बलि देकर कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्के परमपदको प्राप्त करूँगा । हे इन्द्र ! तुम्हारा यह वज्र श्रीहरिके तेज और महान् तपस्वी दधीचि ऋषिके तपसे तीक्ष्ण हो रहा है, अतएव इस वज्रसे अपनी विजय होनेमें तुम सन्देह न करो, क्योंकि जिधर श्रीहरि होते हैं उधर ही विजय, श्री और समस्त गुण होते हैं । 'यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः ।' पर यह याद रक्खो कि भगवान्का सच्चा कृपापात्र तो मैं ही हूँ । तुमको तो मुझे जीत लेनेपर सिर्फ भौतिक सुख और अनित्य राज्यसिंहासन ही मिलेगा परन्तु मैं तो अपने स्वामी भगवान्के आदेशानुसार उनके पवित्र चरणकमलोंमें मनको स्थित करके तुम्हारे इस वज्रसे विषय-भोगरूपी पाशसे कट जानेपर शरीरको त्यागकर मुनिजनदुर्लभ परम धामको प्राप्त करूँगा । हे इन्द्र ! जिन भक्तोंने अपनी बुद्धि केवल प्रियतम भगवान्में ही लगा दी है, उन अपने परायण भक्तोंको भगवान् स्वर्ग, पृथ्वीलोक और पातालकी सम्पत्तियाँ कभी नहीं देते, क्योंकि यह सम्पत्तियाँ राग-द्वेष, उद्वेग-आवेग, आधि-व्याधि, मद-अभिमान, व्यसन-विवाद और परिश्रम-क्लेश आदि दोषोंसे भरी होती हैं । भला, माता कभी अपने ऊपर निर्भर करनेवाले शिशुको अपने हाथसे जहर दे सकती है ? इसी प्रकार मेरे प्रभु श्रीनारायण भी अपने भक्तको विषय-सम्पत्तिरूप विष न देकर उसके धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी प्रयत्नका ही नाश कर देते हैं । जब भगवान् ऐसा कर दें तभी भगवान्की मुझपर कृपा हुई ऐसा अनुमान करना चाहिये । मुझपर भगवान्की यह कृपा हुई है, इसीसे तुम वज्रहस्ता मुझे मारनेके लिये मेरे सामने खड़े हो । परन्तु तुम तो अभी धर्म, अर्थ और कामके ही प्रयत्नमें लगे हो, इससे तुम इस कृपाके पात्र नहीं हो । इसीसे तुमको स्वर्गादि सम्पत्तियाँ ही प्राप्त होंगी । भगवान्के इस कृपा-प्रसादका रहस्य उनके अकिञ्चन भक्त ही जानते हैं, दूसरे नहीं जानते ।' इतना कहकर आप्तकाम शरणागत अनन्य भक्त असुरराज वृत्रासुर अपने स्वामी भक्तवत्सल भगवान्से कहने लगा—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतरा क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥
(श्रीमद्भा० ६। ११। २४—२७)

'हे हरे! मैं मरकर भी फिर, तुम्हारे चरण ही जिनका आश्रय हैं, उन तुम्हारे दासोंका भी दास बनूँ। हे प्राणनाथ! मेरा मन तुम्हारे गुणोंका स्मरण करता रहे, मेरी वाणी तुम्हारे गुण-कीर्त्तनमें लगी रहे, मेरा शरीर तुम्हारी सेवा करता रहे। हे सर्वसौभाग्यनिधे! मैं तुमको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौम राज्य, पातालका आधिपत्य, योगसिद्धि—अधिक क्या पुनर्जन्मका नाशक सायुज्य मोक्ष भी नहीं चाहता। जिनके पाँख नहीं जमे हैं वे पक्षियोंके बच्चे जैसे क्षुधासे अथवा दूसरे पक्षियोंसे पीड़ित होनेपर माताके आनेकी व्याकुलतासे बाट देखते हैं, जैसे रस्सीसे बँधे हुए भूखे छोटे-छोटे बछड़े गौका स्तन्य दूध पीनेके लिये उतावले रहते हैं और जैसे पतिव्रता स्त्री दूर देशमें गये हुए पतिको देखनेके लिये व्यग्र रहती है, हे कमललोचन! वैसे ही मेरा मन तुम्हारे दर्शनके लिये व्याकुल है। मैं अपने कर्मोंके द्वारा संसार-चक्रमें भ्रमण कर रहा हूँ, तुम पुण्यकीर्त्ति हो, तुम्हारे भक्तोंके साथ मेरी मैत्री हो। तुम्हारी मायाके वश होकर मेरा यह चित्त पुत्र-स्त्री, शरीर और घर आदिमें आसक्त हो रहा है। हे नाथ! अब ऐसा करो कि जिसमें यह चित्त तुम्हारे सिवा और किसीमें आसक्त न हो।'

अहा! कैसी निष्काम कामना है। न मोक्षकी इच्छा है, न संसारचक्रमें घूमते रहनेकी चिन्ता है, बस, है तो यही कामना है कि आत्मा, मन, वाणी, शरीर सदा केवल तुम्हारी सेवामें लगे रहें। इससे बढ़कर भक्तकी और क्या चाह हो सकती है?

प्रार्थना करते-ही-करते वृत्रासुर पुलकित होकर कुछ कालके लिये ध्यानमग्न हो गया। त्रिभुवनसुन्दर भगवान्की छबि उसके सामने प्रकट हो गयी और वह मन-ही-मन उन्हें नमस्कार कर शीघ्र ही अपने समीप खींच लेनेकी अन्तर्प्रार्थना करने लगा। इन्द्र वृत्रासुरकी दशा देखकर चकित रह गया।

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी शायद इसी भावनासे कहा है—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई ॥

× × ×

कुटिल करम लै जाहिं मोहिं जहँ जहँ अपनी बरियाई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िये कमठ अंडकी नाई ॥

अस्तु! वृत्रासुर भयानक त्रिशूल उठाकर इन्द्रकी तरफ दौड़ा। इन्द्रने त्रिशूलसहित उसकी भुजाको काट डाला। इसपर वृत्रासुरने बड़े जोरसे अपना परिघ इन्द्रकी ठोडीपर मारा, परिघ लगते ही इन्द्रके हाथसे वज्र नीचे गिर पड़ा। इन्द्र लज्जित हो गया। वृत्रासुरने हँसकर कहा—'हे इन्द्र! यह समय खेद या लज्जा करनेका नहीं है। क्या हुआ जो वज्र गिर पड़ा, उसे उठाकर तुम मुझपर प्रहार करो! सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु ही हैं, उनके अधीन पुरुषोंकी स्वेच्छासे सभी जगह विजय नहीं होती। सब लोग जालमें फँसे हुए पक्षियोंके सदृश विवश होकर जिन परमात्माके अधीन हुए अपनी-अपनी चेष्टा कर रहे हैं वह सबके सञ्चालक कालभगवान् ही जय-पराजयके एकमात्र कारण हैं। ओज, साहस, शक्ति, प्राण, अमृत और मृत्युके रूपमें

स्थित भगवान् काल ही सबके कारण हैं । लोग मोह-वश ही जड शरीरको कारण समझते हैं । हे इन्द्र ! कठपुतली और कलके बने हुए हरिणकी भाँति सब जीव भगवान्‌के वशमें हैं । उस ईश्वरके अनुग्रहके बिना पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्च सूक्ष्म महाभूत, इन्द्रियाँ और मन—ये सब भी विश्वकी सृष्टि करनेमें असमर्थ हैं । जो लोग इस रहस्यको नहीं जानते वही पराधीन शरीरको स्वाधीन मानते हैं । हे इन्द्र ! वस्तुतः भगवान् ही प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंको उपजाते हैं और प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंका विनाश करते हैं । हे इन्द्र ! जैसे इच्छा न होनेपर भी कालकी प्रेरणासे अकीर्ति, ऐश्वर्यकी हानि और दरिद्रता प्राप्त होती है ऐसे ही भाग्यवश आयु, श्री, कीर्ति और ऐश्वर्य प्राप्त होता है । जब सब कुछ ईश्वरके अधीन है तब कीर्ति, अकीर्ति, जय-पराजय, सुख-दुःख और जीवन-मरणके लिये हर्ष-विषाद न रखकर द्वन्द्वमात्रमें समदृष्टि रहना चाहिये । सुख-दुःखादि सब गुणोंके कार्य हैं और सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं, अतएव जो इन तीनों गुणोंका अपनेको साक्षी समझता है वह शोक-हर्षादिमें कभी लिप्त नहीं होता ।'

वृत्रासुरके निष्कपट दिव्य भाषणको सुनकर इन्द्र उसकी प्रशंसा करते हुए हँसकर कहने लगे—'हे दानवेन्द्र ! अहो ! तुम्हारी इस प्रकारकी बुद्धि देखकर यह जान पड़ता है कि तुम सिद्धावस्थाको प्राप्त हो गये हो । तुम सबके अन्दर एक ही आत्माको देखते हो, सबके सुहृद् हो और जगदीश्वरके परम भक्त हो । तुम आसुरी भावको त्यागकर महापुरुषत्वको प्राप्त हो गये, इससे जान पड़ता है कि भगवान् विष्णुकी सबको मोहित करनेवाली मायासे तुम पार हो चुके हो । अहो ! यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि तुमने स्वभावसे ही रजोगुणी होकर भी बुद्धिको इस प्रकार दृढ़ताके साथ शुद्ध सत्त्वमय भगवान् वासुदेवमें लगा रक्खा है । इसलिये स्वर्गादि सुखोंमें तुम्हारा अनासक्त होना उचित ही है । क्योंकि जो पुरुष मुक्तिके अधीश्वर भगवान् श्रीहरिका भक्त है वह सदा ही आनन्दपूर्ण अमृतके सागरमें विहार करता है, वह गढ़ैयामें भरे हुए थोड़े गँदले जलके समान स्वर्गादि भोगोंमें क्यों आसक्त होगा ?'

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद शीघ्र युद्ध समाप्त होनेकी इच्छासे दोनों भीषण युद्ध करने लगे । वृत्रासुर यों ही विशालकाय था । अब उसने मुँह फैलाकर, जैसे बड़ा भारी अजगर महाकाय हाथीको निगल जाता है इसी प्रकार ऐरावतसहित इन्द्रको निगल गया । परन्तु निगल लेनेपर भी अभेद्य नारायण-कवचके सुरक्षित होनेके कारण वृत्रासुरके पेटमें इन्द्रकी मृत्यु नहीं हुई और वह अपने तीक्ष्णधार वज्रसे उसके पेटको चीरकर बाहर निकल आये तथा उसके पर्वत-जैसे विशाल मस्तकको काटकर धड़से अलग कर दिया । सब लोगोंके देखते-देखते ही वृत्रके शरीरसे एक दिव्य ज्योति निकली और वह भगवान्‌के स्वरूपमें जाकर लीन हो गयी ! वज्रसे विदीर्ण किये जानेके समय उस महायोगी महासुर वृत्रका चित्त भगवान्‌में अनन्यभावसे लगा था, इससे वह अपार तेजवाले विष्णुभगवान्‌के परमधामको चला गया ।

दारितश्च स वज्रेण महायोगी महासुरः ।
जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः ॥

(महाभारत शान्तिपर्व २८३ । ६०)

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि १०]

याज्ञवल्क्य–हे शाकल्य ! जैसे तू विना कारण द्वेष करता है, इस प्रकार तेरे बड़े बूढ़े किसीसे द्वेष नहीं करते । अन्य ब्राह्मण, ब्रह्मचारी तथा क्षत्रिय आदि भी तेरे समान बिना कारण किसीसे द्वेष नहीं करते । उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर तू विना कारण मुझसे क्यों द्वेष करता है ? मेरे साथ द्वेष करनेसे कहीं तेरा मृत्यु न हो जाय ! मैं तेरा मरण नहीं चाहता। जैसे मेरे माता-पिताओंको, पुत्रोंको, स्त्रीको तथा अन्य बान्धवोंको मेरे शरीरमें प्रेम है, इसी प्रकार तेरे माता-पिता, स्त्री, पुत्र तथा बान्धवोंका तेरे शरीरमें प्रेम है, इसलिये तेरे मरणसे तेरे माता-पिता आदि सम्बन्धियोंको दुःख न हो, ऐसा मैं चाहता हूँ। यह वेदविद्या मैंने सूर्यभगवान्‌से प्राप्त की है, इसलिये मेरी विद्याका तेज दुःसह है, तू मेरी विद्याकी अवज्ञा मत कर। यदि तू अहङ्कारसे मेरी विद्याकी अवज्ञा करेगा तो क्षणमात्रमें मेरी विद्या तुझे भस्म कर देगी। जब सूर्यभगवान्‌से विद्या अध्ययन करके मैं पृथिवीपर आने लगा तो सूर्यभगवान्‌ने प्रसन्न होकर मुझसे कहा था कि 'हे याज्ञवल्क्य ! मेरी दी हुई विद्याको जो पुरुष नहीं मानेगा मैं उसे उसी क्षण भस्म कर दूँगा।'

जब सूर्यभगवान्‌ने इस प्रकार कहा तो मैं उनसे प्रार्थना करने लगा कि 'हे भगवन् ! मेरी विद्यासे किसीका नाश न हो, ऐसा वरदान मुझे दीजिये।' तब सूर्यभगवान्‌ने कहा कि 'हे याज्ञवल्क्य ! जो पुरुष दुराचारसे तेरे सामने बीस प्रश्न करेगा, उस दुरात्माको तेरी जीभमें बैठकर मैं सूर्यभगवान् शाप दूँगा, उस शापसे वह पुरुष शीघ्र ही भस्म हो जायगा।'

जब इस प्रकारके वचन सूर्यभगवान्‌ने मुझसे कहे, तो मुझे भय हुआ, भयके कारण मैंने और कुछ प्रार्थना नहीं की, किसी पापरूप प्रतिबन्धके कारण तू मेरे गुरु सूर्यभगवान्‌को नहीं जानता, इससे ऐसा समझमें आता है कि कालभगवान्‌ने तुझे मोहित कर दिया है, सूर्यभगवान्‌के वचन स्मरण करके मुझे तेरी बहुत चिन्ता होती है, क्योंकि मुझसे द्वेष करनेसे तेरी बहुत ही बुरी गति होगी। यद्यपि तू सर्वदा मुझसे द्वेष करता रहा है किन्तु मैंने तुझसे कभी द्वेष नहीं किया है, क्योंकि जो आनन्दस्वरूप आत्मा मेरे शरीरमें स्थित है, वही आनन्दस्वरूप आत्मा तेरे और अन्य स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंके शरीरमें स्थित है, इसलिये मैं आनन्दस्वरूप सबमें स्थित हूँ, अतएव मुझ आनन्दस्वरूप आत्मासे जगत् भिन्न नहीं है, मुझ आनन्दस्वरूप आत्मासे सब जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं, इसलिये मुझे किसीसे द्वेष नहीं है। सुख-दुःख, हर्ष-शोक तथा भूख-प्यास इत्यादि द्वन्द्व-धर्म मेरे स्वरूपमें तीनों कालमें भी नहीं है। जैसे घटरूप उपाधिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयसे घटाकाशकी उत्पत्ति, स्थिति और लय नहीं होता, इसी प्रकार शरीररूप उपाधिकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होनेपर भी मुझ अद्वितीय आत्माकी उत्पत्ति, स्थिति और लय नहीं होता। जो क्रियावाला होता है, वही किसीको मारता है। मैं आनन्दस्वरूप निष्क्रिय हूँ, इसलिये मैं किसी भी प्राणीको नहीं मारता । मैं आनन्दस्वरूप

आत्मा निराकार हूँ, इसलिये कोई भी प्राणी मुझे नहीं मारता। जैसे कृमि आदि क्षुद्र जन्तुओंका आत्मस्वरूप ज्ञान अज्ञानसे ढका रहता है, इसी प्रकार तेरा भी आत्मस्वरूप ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसलिये सर्वात्मदर्शी मुझ आत्मज्ञानी याज्ञवल्क्यको तू पापीके समान देखता है। ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुषके साथ द्वेष करना, अग्निसे द्वेष करना है। द्वेषरूप अग्निसे तुझे भस्म हुआ देखकर, ये सब लोग तेरा शोक करेंगे। इसलिये ऐसा न हो तो अच्छा! तेरे मरणसे तेरी स्त्री विधवापनको प्राप्त होकर अत्यन्त दीन होकर रुदन न करे! तेरे मरणसे तेरे पुत्रादि सब बान्धव शोकरूपी समुद्रमें न पड़ें! तेरे मरणसे तेरे शत्रु आनन्दको न प्राप्त हों, और तू प्रेतशरीरको प्राप्त होकर क्षुधा-पिपासासे पीड़ित होकर तथा दुःखसे व्याकुल होकर यमराजकी पुरी न देखे तो अच्छा! मरणके अनन्तर तेरे पुत्रोंका दिया हुआ बलिदान तथा तिलोदक काकके समान तू भक्षण न करे, तेरे कोमल शरीरको अग्नि तथा श्वान न खायँ तो अच्छा! सब शिष्योंको छोड़कर तू अकेला ही परलोकको न जाय तो अच्छा! जैसे मल्लात नामके वृक्षका फल जीवका नाश करता है, इसी प्रकार तेरे चित्तरूप भूमिमें दीर्घकालसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञानीका द्वेषरूपी वृक्ष तुझको मृत्युरूप फलकी प्राप्ति न करे, तो अच्छा! मरणके पीछे तेरी अस्थियोंको चोररूप चाण्डाल स्पर्श न करें तो अच्छा! जैसे पतंगे अग्निको प्राप्त होकर भस्म हो जाते हैं, इसी प्रकार सूर्यभगवान् जिसकी जीभमें हैं, ऐसे मुझ अग्निरूपमें तू भस्म न हो, तो अच्छा! जैसे अन्नको पकानेवाली भट्ठीमें प्रज्वलित अग्निको अपने हाथसे कोई स्पर्श नहीं करता, किन्तु दीर्घ काष्ठरूपी दण्डवाले लोहेकी छड़से अग्निका सब स्पर्श करते हैं, इसी प्रकार सभारूपी यह भट्ठी है, मैं याज्ञवल्क्य काष्ठके समान हूँ, मेरे गुरु सूर्य-भगवान् अग्निरूप हैं, तुझे विवाद करनेमें प्रेरणा करनेवाले ब्राह्मण अन्नको भूननेवाले पुरुषके समान हैं और तू छड़के समान है। ये सब ब्राह्मण बुद्धिमान् हैं, इसलिये अपनी रक्षा करनेके लिये तुझ मूढ़बुद्धिको छड़के समान सूर्यरूप अग्निमें प्रवेश कराते हैं। भाव यह है कि जो ब्राह्मण तुझे विवाद करनेकी प्रेरणा करते हैं, वे ब्राह्मण भी तेरे मरणमें प्रसन्न हैं, किन्तु कालभगवान्से मोहित हुआ तू अपने मरणको नहीं जानता, यह मुझे बहुत ही आश्चर्य है।

जब याज्ञवल्क्यने इस प्रकार शाकल्यसे कहा, तो कालके वश हुआ शाकल्य उन वचनोंको विपरीत मानकर उनसे और भी अधिक द्वेष करने लगा। जिस रोगीका मरण समीप होता है, वह हितकारी वैद्यके साथ जैसे द्वेष करता है। जैसे राज्यसे भ्रष्ट होनेवाला राजा हितकारी मन्त्रीके साथ द्वेष करता है, जैसे भाग्यहीन पुरुष राजाके साथ द्वेष करता है, और जैसे पापी पुरुष सत्यका उपदेश करनेवाले गुरुसे द्वेष करता है, इसी प्रकार शाकल्य याज्ञवल्क्यके साथ द्वेष करता हुआ, मनमें विचारने लगा—

शाकल्य—(मनमें) जैसे कोई पुरुष मूढ बालकको भय दिखलाता है, इसी प्रकार यह मन्द-बुद्धि याज्ञवल्क्य मुझे भय दिखाता है। सर्वज्ञता और निर्भयताको यह मन्दबुद्धि नहीं जानता। कृषि करनेवाले मूढपुरुषोंके ग्राममें अथवा पहाड़ी ग्राममें रहनेवाले बालक, स्त्रियों तथा काष्ठादि पदार्थोंके बीचमें बैठकर जैसे निर्लज्ज और निःशङ्क होकर मिथ्या भाषण करते हैं, इसी प्रकार यह याज्ञवल्क्य सब विद्वानोंकी सभामें निःशङ्क होकर मिथ्या भाषण करता है। क्योंकि यदि याज्ञवल्क्यका गुरु सूर्यभगवान् मुझ द्वेष करनेवाले शाकल्यको भस्म करनेमें समर्थ होता तो इससे पूर्व ही मुझ द्वेष करनेवालेको क्यों नहीं भस्म कर देता। क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा तथा इन्द्र इत्यादि शब्दोंके नाम

देवरूप हैं, अथवा सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्र इत्यादि शब्दोंके अर्थ देवरूप हैं। शब्द तथा अर्थके सिवा देवोंका कोई स्वरूप नहीं है, यदि सूर्य शब्दको सूर्यदेवरूप मानें तो सूर्य शब्द आकाशका गुण है, इस शब्दमें जड़ता सब लोगोंके अनुभवसिद्ध है। यदि सूर्य शब्दके अर्थको सूर्यदेव मानें तो भी तेजोमय मण्डल सूर्य शब्दका अर्थ है। इस तेजोमय मण्डलमें भी जडता प्रसिद्ध है, यदि सूर्य शब्दसे और तेजोमय मण्डलसे भिन्न कोई चैतन्यरूप सूर्य शब्दका अर्थ मानें, तो सूर्यदेव पापकर्म विना किसीको भस्म नहीं करते, जीवके पापकर्मकी अपेक्षा लेकर ही उसको भस्म करते हैं। यह पापकर्म मुझमें है नहीं, इसलिये सूर्य मुझको मार नहीं सकते। और 'सूर्यसे मैं विद्या पढ़ा हूँ' यह भी याज्ञवल्क्यका वचन मिथ्या है, क्योंकि याज्ञवल्क्य भूमिपर रहता है और सूर्य अत्यन्त दूर आकाशमें रहते हैं। इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

इस प्रकार विपरीत चिन्तन करता हुआ शाकल्य पहलेसे भी अधिक द्वेष करता हुआ क्रोध-युक्त होकर याज्ञवल्क्यसे इस प्रकार कहने लगा—

'हे याज्ञवल्क्य! कुरु तथा पाञ्चालादि देशोंमें रहनेवाले ब्राह्मणोंको तूने पराजित किया है, और सब ब्राह्मणोंकी गौओंको और सुवर्णको तू ले गया है। इस पापकर्मसे तुझे निर्जन वनमें अनेक बार राक्षसके शरीरकी प्राप्ति होगी। यदि ब्रह्मविद्याके अभिमानसे तूने इन सब महात्मा ब्राह्मणोंको पराजित किया है, तो उस ब्रह्मविद्याको मेरे सम्मुख कह।'

जब शाकल्यने इस प्रकारके वचन कहे तो याज्ञवल्क्य अपना ब्रह्मवेत्तापना दिखानेके लिये शाकल्यसे कहने लगे—

याज्ञवल्क्य—हे शाकल्य! देवों तथा देवोंके कारणसहित सब दिशाओंको मैं जानता हूँ।

शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य! पूर्वादि दिशाओंके देव कौन हैं, उन देवोंका कारण क्या है? और उन देवोंके देवोंका कारण क्या है?

याज्ञवल्क्य—हे शाकल्य! पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व, इन पाँच दिशाओंके क्रमसे आदित्य, यम, वरुण, सोम तथा अग्नि ये पाँच देव हैं। ये देव मुझ आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं हैं, किन्तु आनन्दस्वरूप मैं आत्मा ही आदित्यादि देवरूपसे स्थित हूँ। यह आदित्य चक्षुरूप कारणमें रहते हैं, यम देवता श्रोत्र-इन्द्रियरूप कारणमें रहते हैं, वरुण देवता रसन-इन्द्रियरूप कारणमें रहते हैं, सोमदेव मनरूप कारणमें रहते हैं और अग्निदेव वाक्-इन्द्रियरूप कारणमें रहते हैं। भाव यह है कि हिरण्यगर्भकी उपासनासे हिरण्यगर्भ-रूपको प्राप्त होनेवाले पुरुषकी चक्षु आदि इन्द्रिय अध्यात्मरूप हैं। ये चक्षु आदि अध्यात्म सूर्य आदि अधिदैवके परिणामको प्राप्त होती हैं, इसलिये चक्षु आदि इन्द्रियाँ सूर्य आदि देवोंकी कारणरूप हैं। रूपादि विषय अपना प्रकाश करनेकी चक्षु आदि इन्द्रियोंका आरम्भ करते हैं इसलिये चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादि विषयोंमें रहती हैं अर्थात् चक्षु-इन्द्रिय शुक्ल, नील तथा पीत आदि रूपोंमें रहती है, और श्रोत्र-इन्द्रियसे वेदका अर्थ ग्रहण किया जाता है। श्रोत्र-इन्द्रियसे ग्रहण करनेयोग्य कर्मकाण्डरूप वेदके दो अर्थ हैं—एक मन, वाणी तथा शरीरको क्लेश देनेवाला यज्ञ, दान तथा व्रतादि अर्थ है, और दूसरा श्रद्धारूप अर्थ है। इनमें-से श्रोत्र-इन्द्रिय यज्ञदानादि कर्ममें रहता है, और यज्ञ, दान तथा व्रतादिरूप कर्म श्रद्धामें रहता है। इस-लिये अश्रद्धासे किये हुए यज्ञ, दान तथा व्रतादि कर्म फल नहीं देते किन्तु श्रद्धासे किये हुए ही फल देते हैं। और जलरूप रसन-इन्द्रिय रेतरूप कारणमें रहती है, दोषसे रहित मन सत्यरूप अर्थमें रहता है, इसी प्रकार वाक्-इन्द्रिय भी सत्यरूप अर्थमें रहती है, क्योंकि 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति'

अर्थात् पुरुष मनसे जिस अर्थका ध्यान करता है, उसी अर्थका वाणीसे कथन करता है। इस मन्त्रमें मन तथा वाणीका एक ही विषय कहा है। जैसे सब जलकी उत्पत्ति तथा स्थितिका कारणरूप समुद्र है, इसी प्रकार सूर्यादि देव, नेत्रादि इन्द्रिय तथा रूपादि विषय, इन सबकी उत्पत्ति और स्थितिका कारण हृदय है। यहाँ हृदय शब्दसे मायाविशिष्ट अन्तर्यामी परमात्माका ग्रहण है। जैसे दीवारमें प्रथम रेखामात्र देवादि मूर्तियोंके चित्र होते हैं और उन रेखारूपी चित्रोंमें श्वेत, पीत, नील तथा रक्त आदि वर्ण होते हैं। इन श्वेतादि वर्णोंमें देवोंके मुखमें दूध होता है, नेत्रमें अञ्जन होता है, मस्तकपर मुकुट होता है और हाथमें धनुष-बाणादि होते हैं। इस प्रकार चित्रादि पदार्थ एक दूसरेके साथ आश्रित होकर सब लोगोंको प्रतीत होते हैं परन्तु विचारकर देखा जाय तो सब चित्रादि पदार्थ एक दीवारके आश्रित रहते हैं, इसी प्रकार पूर्वादि दिशा, अग्नि आदि देव, नेत्रादि इन्द्रियाँ तथा रूपादि विषय इत्यादि सब जगत् साक्षात् अथवा परम्परासे एक परमात्मारूप हृदयमें रहता है। उसमेंसे वृत्तिसहित अन्तःकरण साक्षात् हृदयमें रहता है और दूसरा जगत् अन्तःकरणद्वारा परम्परासम्बन्धसे हृदयमें रहता है। जैसे जब चित्रके आधाररूप दीवारको मृत्तिकासे लीपते हैं, तब वे चित्र लयभावको प्राप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानरूपी मृत्तिकाके लेपनसे यह जगत्रूपी चित्र लयभावको प्राप्त हो जाता है। जैसे नीचे तथा ऊँचेपनेसे रहित समान दीवारमें कोई चित्र ऊँचा और कोई नीचा प्रतीत होता है, वस्तुतः ऊँचा-नीचापना यथार्थ नहीं है, कल्पित है, इसी प्रकार सर्वत्र समान परमात्मारूपी हृदयमें इन्द्रादि देव उत्कृष्ट और वृक्षादि निकृष्ट प्रतीत होते हैं किन्तु यह उत्कृष्टता तथा निकृष्टता परमात्मारूप हृदयमें वस्तुतः नहीं है, कल्पित है। जिस प्रकार चित्रकार नील, पीतादि अनेक प्रकारके वर्णोंसे दीवारमें चित्र रचता है, इसी प्रकार अनेक प्रकारकी वासनाओंसे बुद्धिरूप चित्रकार 'अहं' 'मम' अभिमानरूप वर्णोंसे परमात्मारूप हृदयमें जगत्रूपी चित्र रचता है। इसलिये मायाविशिष्ट परमात्मा तथा बुद्धि ये दोनों जगत्के कारणरूप हैं। जैसे दीवारके चित्रोंके ऊपर जब बारम्बार मृत्तिकाका लेप किया जाता है तब वे चित्र लेशमात्र दीवारपर रहनेपर भी बाह्य स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, इसी प्रकार प्रारब्ध कर्मकी समाप्तिपर्यन्त परमात्मारूप हृदयमें आभासमात्र रहनेपर भी जगत्रूपी चित्र ब्रह्माकार वृत्तिरूपी मृत्तिकाके लेपसे समाधिकालमें प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसे बारम्बार मृत्तिकाके लेपसे चित्रकी निःशेष निवृत्ति नहीं होती, किन्तु चित्रका अदर्शनरूप लय हो जाता है, दीवारकी निवृत्ति होनेसे ही चित्रकी निःशेष निवृत्ति होती है, इसी प्रकार ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त होनेपर भी जबतक प्रारब्ध कर्म निवृत्त नहीं होता तबतक निःशेष प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं होती किन्तु जीवन्मुक्त पुरुषको विचारकालमें प्रपञ्चका अदर्शन हो जाता है। प्रारब्ध कर्म निवृत्त होनेपर ही निःशेषसे प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है इसलिये जीवन्मुक्तको आभासमात्रसे जगत्का भान होता है। जैसे मायावी ऐन्द्रजालिक पुरुषरूप कारणसे आकाशमें अनेक प्रकारकी सेना प्रतीत होती है, इसी प्रकार बुद्धिरूपी कारणसे परमात्मारूप हृदयमें अनेक प्रकारका प्रपञ्च प्रतीत होता है। जैसे मायावी पुरुषरूप कारणका नाश होनेपर सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होनेपर अथवा किसी दूसरे कार्यमें आसक्त होनेपर आकाशमें रही हुई सेना प्रतीत नहीं होती, इसी प्रकार किसी रोगादि कारणसे बुद्धिके नाश होनेपर, सुषुप्ति प्राप्त होनेपर अथवा आत्मामें एकाग्र होनेपर परमात्मारूप हृदयमें रहा हुआ प्रपञ्चरूप चित्र प्रतीत नहीं होता। जैसे मायावीके आकाशमें उत्पन्न किये हुए अनेक प्रकारके पदार्थ मायावी पुरुषसे भिन्न नहीं

हैं, वे मायावी पुरुषके स्वरूप ही हैं, इसी प्रकार परमात्मारूप हृदयमें बुद्धिद्वारा कल्पित यह जगत् बुद्धिसे भिन्न नहीं है किन्तु बुद्धिस्वरूप ही है। इस अभिप्रायसे वेदान्तशास्त्रमें दृष्टि-सृष्टिवादका निरूपण किया है। जैसे आकाशमें रहा हुआ अन्धकार अन्धकार-से प्रतीत होता है, सूर्यादि प्रकाशसे अन्धकार प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार परमात्मा-रूप हृदयमें रही हुई बुद्धि बुद्धिसे ही प्रतीत होती है। जैसे सूर्यादि प्रकाशसे अन्धकार निवृत्त हो जानेसे विशुद्ध आकाशमें दोषरहित नेत्रवाले पुरुषको अन्धकार दिखायी नहीं देता, इसी प्रकार आत्मज्ञानसे अज्ञान निवृत्त होनेपर विशुद्ध आत्मामें कारणसहित बुद्धि विद्वान्‌को दिखायी नहीं देती। इसलिये आत्मासे भिन्न बुद्धि आदि जड़ पदार्थ प्रमाणसे सिद्ध नहीं होते, किन्तु भ्रान्तिसे सिद्ध हैं।

शाकल्य—यदि बुद्धिमें प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञानका विषय नहीं मानेंगे तो प्रमाणजन्य यथार्थका जो विषय होगा, वह शशश्रृंगके समान असत्य हो जायगा और ऐसा होनेसे बुद्धि भी असत्य हो जायगी। जो पदार्थ असत्य होता है, वह पदार्थ किसी कार्यके करनेमें समर्थ नहीं होता, इसलिये असत्य बुद्धिसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होनी चाहिये।

याज्ञवल्क्य—यद्यपि शशश्रृंग तथा वन्ध्यापुत्र असत्य हैं, तो भी वे शशश्रृंग तथा वन्ध्यापुत्र, इस प्रकारके शब्दसे स्वविषयक विकल्परूपी ज्ञान उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार कार्यकारणसहित बुद्धि यद्यपि असत्य है, तो भी वह बुद्धि अनेक प्रकारके भ्रान्तिरूप ज्ञानको उत्पन्न करती है। इसलिये शशश्रृंगके समान असत्य बुद्धिमें भी अनेक प्रकारके व्यवहारकी कारणता सम्भव है।

शाकल्य—बुद्धि असत्य होनेपर भी बुद्धिका कारणरूप अज्ञान सत्य क्यों नहीं है? यदि अज्ञानको असत्य माना जायगा, तो असत्य वस्तु किसी अनर्थकी प्राप्ति नहीं कर सकती। अनर्थकी प्राप्ति न होनेसे असत्य ज्ञानमें जन्ममरणादिरूप अनर्थकी कारणता नहीं होनी चाहिये।

याज्ञवल्क्य—जैसे बुद्धि असत्य है, वैसे ही बुद्धि-का कारण अज्ञान भी असत्य है। और असत्य वस्तुमें भी अनर्थकी कारणता लोकमें देखनेमें आती है। जैसे मक्षिका नहीं भक्षण होनेसे भी जिसको इस प्रकारकी भ्रान्ति हो जाती है कि मैंने मक्षिका भक्षण कर ली है, उसको वमन हो जाता है। अथवा जैसे सर्पके नहीं काटनेपर भी जिसको यह भ्रान्ति हो जाती है कि मुझे सर्पने डस लिया है और उस सर्पका विष मेरे शरीरमें चढ़ गया है, वह पुरुष मर जाता है इसलिये जैसे असत्य मक्षिकाका भक्षण वमनरूप अर्थका कारण है, तथा असत्य सर्प मृत्युरूप अनर्थका कारण है इसी प्रकार अत्यन्त असत्य अज्ञान भी भ्रान्त पुरुषके जन्म-मरणादि अनर्थका कारण सम्भव है। जैसे एक ही स्वप्नद्रष्टा पुरुष असत्य अज्ञानसे हस्ती, अश्व आदि अनेक प्रकारके रूप धारण कर लेता है, इसी प्रकार एक ही परमात्मा असत्य अज्ञानके कारण प्रपञ्चरूप धारण करता है। समान विद्वान् पुरुषकी दृष्टिसे यद्यपि अज्ञान तीनों कालमें असत्य है तो भी तेरे समान अविवेकी पुरुषको अज्ञान वज्रके पर्वतके समान दुर्भेद्य है। इसी कारणसे तेरे सदृश मूढ़, अविवेकी पुरुष अत्यन्त समीप हृदयमें स्थित आत्माको नहीं जानते। जैसे कि नेत्रोंसे रहित अन्धा पुरुष हाथसे स्पर्श करनेपर भी किसीको नहीं पहचान सकता, इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष हृदयमें स्थित आत्माको जान नहीं सकते। इसलिये हे शाकल्य! सर्व-प्रपञ्चरूप चित्रका आश्रय परमात्मारूप हृदय है। यह तेरे प्रश्नका उत्तर है। इस परमात्मारूप हृदयसे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है, इसलिये यदि तुझे अपना प्राण प्यारा है, तो आगे कुछ मत पूछ!

जब इस प्रकार याज्ञवल्क्यने कहा तो भी मूढ़-बुद्धि शाकल्य प्रश्न करनेसे निवृत्त नहीं हुआ, किन्तु कालसे मोहित हुआ मेंढक जैसे कृष्ण सर्पको बुलानेके लिये बारम्बार टर्र-टर्र करता है, इसी प्रकार पापकर्मसे प्रेरणा किया हुआ शाकल्य भी कालरूपी सर्पको बुलानेवाली प्रश्नरूपी वाणी बोलने लगा। ऐसा देखकर याज्ञवल्क्य करुणासे अत्यन्त दुःखी होकर कहने लगे—

याज्ञवल्क्य–हे शाकल्य! बड़े खेदकी बात है कि अब तेरा मरण-काल समीप आ पहुँचा है क्योंकि जिनके रक्तवर्णवाले नेत्र हैं, ऋक्, यजुष् तथा साम जिनका स्वरूप है, ऐसे सूर्यभगवान् अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेको अब मण्डलपरसे उतरकर मेरी जिह्वापर आवेंगे और मेरी जिह्वा परवश होकर तुझको शाप देगी, उस शापसे तू क्षणमात्रमें भस्म हो जायगा। इसलिये हे शाकल्य! मैं चाहता हूँ कि तेरी किसी प्रकार मृत्यु न हो तो अच्छा है।

याज्ञवल्क्य करुणायुक्त होकर इस प्रकार कहने लगे। उनके कथनको मिथ्या मानकर मृत्युके समीप प्राप्त हुआ शाकल्य फिर प्रश्न करने लगा—

शाकल्य–हे याज्ञवल्क्य! सर्वप्रपञ्चरूपी चित्रका आधाररूप हृदय किसके आश्रित रहता है?

जब इस प्रकारका प्रश्न शाकल्यने किया तो याज्ञवल्क्य 'हे अहिल्लक!' इस प्रकारका सम्बोधन देकर शाकल्यसे कहने लगे।

अहिल्लक शब्दका अर्थ पाँच प्रकारसे होता है। जैसे (१) दिनमें जो लयभावको प्राप्त हो और रात्रिमें प्रादुर्भावको प्राप्त हो, उसको अहिल्लक कहते हैं। ऐसा प्रेतशरीर होता है, यह शाकल्य भी मरनेके बाद प्रेतभावको प्राप्त होगा। (२) दिवसके समान प्रकाशवाले अर्थमें जो संशयरूपी लयको प्राप्त हो, उसको अहिल्लक कहते हैं, याज्ञवल्क्यके कहे स्पष्ट अर्थमें शाकल्यको संशय है, इसलिये अहिल्लक कहा है। (३) सूक्ष्म अर्थको निश्चय करनेवाले हृदयसे जो रहित हो, उसको अहिल्लक कहते हैं। स्पष्ट किये हुए अर्थमें कोई बुद्धिमान् फिर प्रश्न नहीं करता, किन्तु शाकल्य स्पष्ट अर्थमें भी बारम्बार प्रश्न करता है। इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्म अर्थके निश्चय करनेवाले हृदयसे शाकल्य रहित है। यदि शाकल्य-की बुद्धि सूक्ष्म अर्थको ग्रहण करती होती, तो यह बारम्बार प्रश्न न करता। (४) याज्ञवल्क्यके कहे हुए प्रपञ्चरूप चित्रके आधाररूप परमात्मारूप हृदयको शाकल्य नहीं जानता किन्तु मरणके अनन्तर पृथिवीपर रहे हुए जिस समय हृदयको श्वान आदि भक्षण करते हैं, इस मांसमय हृदय-को ही शाकल्य जानता है। (५) दिवसके करने-वाले सूर्यभगवान् इस सभामें शाकल्यका नाश करेंगे इसलिये याज्ञवल्क्यने शाकल्यको अहिल्लक कहा। पीछे उत्तर देने लगे—

याज्ञवल्क्य–प्रपञ्चरूप चित्रके धारण करनेवाले परमात्माको ही मैं हृदयरूप कहता हूँ किन्तु तू उसको जानता नहीं है, प्रसिद्ध मांसके टुकड़े-को तू हृदय जानता है इसलिये तेरे अभिप्रायके अनुसार ही मैं तेरे प्रश्नका उत्तर देता हूँ। यह हृदय मुझमें है यानी मेरे सूक्ष्म शरीरका आश्रय किये हुए है क्योंकि सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर नहीं रहता और स्थूल शरीर बिना सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता। जब सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरसे पृथक् होता है, तब मांसमय हृदयसहित स्थूल शरीरको श्वानादि भक्षण करते हैं और काक आदि पक्षी टुकड़े-टुकड़े करके ले जाते हैं। इस अभिप्राय-को लेकर सूक्ष्म शरीरका आधार हृदयसहित स्थूल शरीर कहा है।

याज्ञवल्क्यने प्रथम शाकल्यको हृदय शब्दसे परमात्माका निरूपण किया किन्तु वह न जानकर जैसे शाकल्यने पूर्वमें हृदयका आधार पूछा था, इसी प्रकार फिर भी आधार पूछने लगा—

प्रश्न—हे याज्ञवल्क्य! परस्पर आश्रित जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं, वे स्थूल-सूक्ष्म शरीर किसके आश्रित रहते हैं?

उत्तर—स्थूल-सूक्ष्म शरीर प्राणके आश्रित रहते हैं।

प्र०—प्राण किसके आश्रित रहता है?
उ०—प्राण अपानके आश्रित रहता है।
प्र०—अपान किसके आश्रित रहता है?
उ०—अपान व्यानके आश्रित रहता है।
प्र०—व्यान किसके आश्रित रहता है?
उ०—व्यान उदानके आश्रित रहता है।
प्र०—उदान किसके आश्रित रहता है?
उ०—उदान समानके आश्रित रहता है।

देवी—हे वत्स! शाकल्यने ये जो प्रश्न किये हैं, वे याज्ञवल्क्यके अभिप्रायको न जानकर किये हैं, क्योंकि सब प्राणियोंकी बुद्धिमें साक्षीरूपसे सर्वदा अपरोक्षरूपसे परमात्मारूप हृदय स्थित है। इस अभिप्रायको लेकर 'हृदय' शब्दसे याज्ञवल्क्यने परमात्मा कहा किन्तु शाकल्यने हृदय शब्दसे अन्तःकरणके निवासस्थानका तथा मांसमय हृदयका ग्रहण किया। यदि शाकल्यने 'हृदय' शब्दसे परमात्मा जाना होता तो ऐसा प्रश्न न करता कि हृदय किसके आश्रय रहता है क्योंकि 'स भूमा कुत्र प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' अर्थात् व्यापक परमात्मा किसमें रहता है? इस प्रकारकी शङ्का हो तो उसका उत्तर यह है कि वह अपनी महिमामें रहता है। इस श्रुतिमें परमात्माका कोई दूसरा आश्रय नहीं कहा है। ऐसा शाकल्यने ग्रहण नहीं किया, किन्तु मांसमय हृदयका ग्रहण किया। हृदय मुझमें रहता है, इस उत्तरके वचनमें याज्ञवल्क्यने 'मुझमें' इस अस्मद् शब्दसे अहं प्रतीतिमें भासनेवाले आत्माका ही कथन किया। मन्दबुद्धि शाकल्यने अस्मद् शब्दसे सूक्ष्म शरीरका ग्रहण किया। फिर याज्ञवल्क्यने प्राण, अपान, व्यान, उदान इन चार शब्दोंकी लक्षणावृत्तिसे प्राणादि प्रवर्तकरूप मायाविशिष्ट परमात्माका ही निरूपण किया किन्तु शाकल्यने प्राणादि शब्दोंसे वाच्यार्थभूत वायुका ही ग्रहण किया, इसलिये उसने प्राण किसमें रहता है? अपान किसमें रहता है? इत्यादि प्रश्न किये। अन्तमें सब भूतोंका आधारभूत समान याज्ञवल्क्यने कहा, इस समानको भी शाकल्यने वायुरूप समझा किन्तु याज्ञवल्क्यने समान शब्दसे वायुका निरूपण नहीं किया था, सबमें आत्मारूप परमात्मा देवका याज्ञवल्क्यने समान शब्दसे निरूपण किया था। यह आत्मा आनन्दस्वरूप है। 'नेति-नेति' यह श्रुति दो नकारोंसे स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चका निषेध करके परमात्माका बोधन करती है, अथवा तो अज्ञानकालमें विद्यमान भावाभावरूप दो प्रकारके जगत्का निषेध करके 'नेति-नेति' यह श्रुति परमात्माका बोधन करती है। यह परमात्मा सजातीय-विजातीय तथा स्वगतभेदसे रहित है। यह परमात्मा निर्गुणरूप होनेसे बुद्धि आदिसे जाना नहीं जा सकता, जैसे वस्त्र बहुत कालमें जीर्ण भावको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह आनन्द-स्वरूप आत्मा कालसे जीर्णभावको नहीं प्राप्त होता, इसलिये आनन्दस्वरूप आत्मा अशीर्य है। जैसे जलादि पदार्थोंके साथ आकाशका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये आकाश असङ्ग है। इसी प्रकार बुद्धि आदिके साथ आत्माका वस्तुतः सम्बन्ध नहीं है, इसलिये आनन्दस्वरूप आत्मा भी असङ्ग है। यह आनन्दस्वरूप आत्मा अबद्ध है, इसलिये दुःखके सम्बन्धरूप व्यथाको प्राप्त नहीं होता।

यह आत्मा विनाशसे रहित है, इसलिये हिंसाको प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार जब शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे बहुत-से प्रश्न किये तो सूर्यभगवान् अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेको याज्ञवल्क्यकी जिह्वामें आ बैठे। प्रथम शाकल्यने देवोंकी संख्या पूछी थी। याज्ञवल्क्यने उसका इस प्रकार समाधान किया था।

याज्ञवल्क्य—विस्तारसे देव अनन्त है किन्तु संक्षेपसे एक प्राणदेव है। इस प्राणदेवकी आठ विभक्तियाँ हैं। जैसे कि शारीर पुरुष, काममय पुरुष, आदित्य पुरुष, श्रौत पुरुष, छायामय पुरुष, प्रतिबिम्ब पुरुष, जलस्थ पुरुष, तथा पुत्र पुरुष। इनमेंसे पृथिवीरूप स्थूल शरीरमें मातासे उत्पन्न हुए (१) त्वक्, मांस तथा रुधिर ये तीन कोश शारीर नामके पुरुषके आश्रयरूप हैं। (२) स्त्री-के भोगकी इच्छारूप काम काममय नामके पुरुष-का आश्रयरूप है। (३) शुक्ल, नील, पीतादि अनेक प्रकारके रूप आदित्य नामके पुरुषके आश्रयरूप हैं। (४) प्रतिध्वनिरूप शब्दमें विशेष करके अभिव्यक्तिवाला श्रौत नामका पुरुष है, इस पुरुषका आश्रयरूप आकाश है। (५) अन्धकार-रूप तम छायामय नामके पुरुषका आश्रयरूप है। (६) प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेयोग्य दर्पणादि स्वच्छ पदार्थोंमें स्थित प्रतिबिम्ब नामका पुरुष है। इस पुरुषका आश्रयरूप भास्कर है। (७) जल जलमें रहे हुए पुरुषका आश्रयरूप है और (८) उपस्थ इन्द्रिय पुत्र नामके पुरुषका आश्रयरूप है। यानी शारीरका चक्षु अग्नि, काममय पुरुषका चक्षु हृदय, आदित्य पुरुषका चक्षु चक्षु, श्रोत्र-पुरुषका चक्षु श्रोत्र, छायामय पुरुषका चक्षु हृदय, प्रतिबिम्ब पुरुषका चक्षु चक्षु, जलस्थ पुरुषका चक्षु हृदय और पुत्र पुरुषका चक्षु हृदय, इस प्रकार आठ पुरुषोंके आठ चक्षु हैं। अग्नि, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, हृदय, चक्षु, हृदय तथा हृदय ये आठ शारीरादि आठ पुरुषोंके क्रमसे चक्षुरूप हैं। यहाँ हृदय शब्दसे बुद्धिका ग्रहण है, तथा अन्नादिके परिणामरूप अमृत शारीर पुरुषका कारणरूप है। स्त्री काममय पुरुषका कारणरूप है। चक्षु इन्द्रिय आदित्य पुरुषका कारणरूप है। दिशा श्रोत्र पुरुषका कारणरूप है। मृत्यु छायामय पुरुषका कारणरूप है। प्राण प्रतिबिम्ब पुरुषका कारण-रूप है, वरुण जीवस्थ पुरुषका कारणरूप है, प्रजापति पुत्र नामके पुरुषका कारण है। इस प्रकार आठ पुरुष, पुरुषके आठ आश्रय, पुरुषके आठ चक्षु तथा पुरुषके आठ कारण, इस अष्टकमें कारणरूपसे प्रवेश करके परमात्मा उनको अपना-अपना व्यवहार करनेमें समर्थ करता है। जैसे तन्तु-रूप कारण पटरूप कार्यमें प्रवेश करके शीतकी निवृत्ति आदि कार्य करता है, इसी प्रकार परमात्मा सर्व कार्य-प्रपञ्चमें प्रवेश करके अनेक प्रकारके व्यवहार सिद्ध करता है। जैसे तन्तुरूप कारण पट-रूप कार्यको कार्यपनेसे रहित करके केवल कारण-रूपसे रहा हुआ होता है, इसी प्रकार यह परमात्मा प्रपञ्चके संहारकालमें पूर्वादि दिशाओंसे लेकर समानपर्यन्त सब कार्यका उपसंहार करके कार्य-भावसे रहित एक अद्वितीयरूपसे स्थित होता है। भाव यह है कि पूर्वादि दिशाओंमें रहे हुए पदार्थोंसहित पूर्वादि दिशाओंको सूर्य आदि देवोंमें, सूर्यादि देवोंको चक्षु आदि इन्द्रियोंमें, चक्षु आदि इन्द्रियोंको रूपादि विषयोंमें, रूपादि विषयों-को हृदयमें, हृदयको स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें, स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंको प्राणमें, प्राणको अपानमें, अपान-को व्यानमें, व्यानको उदानमें और उदानको समान-में उपसंहार करता है। इस प्रकार परमात्मा सृष्टिकालमें जगत्को उत्पन्न करता है, प्रलय-कालमें सर्व जगत्का संहार करके बुद्धि आदि उपाधियोंसे तथा सुख-दुःखादि धर्मोंसे रहित होकर कार्य-कारण-भावसे रहित शुद्धस्वरूपमें स्थित होता है। दृष्टान्तरूपसे जैसे घट-मठादि

उपाधियोंमें रहा हुआ आकाश आन्तर तथा बाह्य-भावको प्राप्त होता है और जब आकाश घटादि उपाधियोंका त्याग करता है तब आन्तर-बाह्यपनेसे रहित होकर वह आकाश अपने पूर्ण स्वभावमें स्थित होता है, इसी प्रकार शरीरादि उपाधियोंके सम्बन्धसे परमात्मामें आन्तर-बाह्यपना प्रतीत होता है। जब परमात्मा शरीरादि उपाधियोंका त्याग करता है तब आन्तर-बाह्यपनेसे रहित होकर अपने पूर्ण स्वभावमें स्थित होता है। जैसे मधुरादि रस केवल रसन-इन्द्रियसे जाने जा सकते हैं, रसन-इन्द्रियके सिवा अन्य किसी इन्द्रियसे जाननेमें नहीं आते, इसी प्रकार परमात्मा केवल उपनिषद्-के प्रमाणसे जाना जा सकता है, उपनिषद्-प्रमाण-के सिवा अन्य किसी प्रमाणसे जाननेमें नहीं आता, ऐसे परमात्मादेवका स्वरूप मैं तुझसे पूछता हूँ। यदि तू परमात्माका स्वरूप जानता हो, तो मुझसे कह। तेरे बहुत-से प्रश्नोंका उत्तर मैंने दिया है। अब तू मेरे एक प्रश्नका उत्तर दे। यदि तू मेरे प्रश्नका उत्तर नहीं देगा, तो तीर्थसे रहित तथा मनुष्योंके समूहवाले जनकपुररूप अशुभ देशमें तथा दक्षिणायनके कृष्णपक्षकी अमावस्याकी रात्रि-रूप अशुभ कालमें तू शाकल्य मृत्युको प्राप्त होगा, मुझ ब्रह्मवेत्ता पुरुषके साथ द्वेष करनेवाले तुझ शाकल्यके मरणके पीछे तेरी अस्थियाँ भी घर न जायँगी किन्तु चोररूपी चाण्डाल धनके लोभसे अर्धमार्गमेंसे उन अस्थियोंको ले जायँगे। जगत्-की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करनेवाले सूर्यभगवान् अत्यन्त क्रोधित होकर याज्ञवल्क्यकी जिह्वामें स्थित होकर इस प्रकारके वचन शाकल्यसे कहने लगे।

शाकल्य आत्मज्ञानसे रहित था, प्रश्नका कुछ भी उत्तर न दे सका, पश्चात् सूर्यभगवान्‌के शाप-से शाकल्यका मन तथा वाक् आदि इन्द्रियाँ शरीरमेंसे बाहर निकलने लगीं। पश्चात् अशुभ देश तथा कालमें शाकल्यका मस्तक शीघ्र ही भूमि-पर गिर पड़ा। जैसे देवोंको जीतकर स्वर्गमें निवास करनेवाले नमुचिका मस्तक वज्र लगनेसे भूमिके ऊपर गिरा था, उसी प्रकार शाकल्यका मस्तक भूमिपर गिर पड़ा। जब इस प्रकार शाकल्यकी मृत्यु हुई तो सर्वत्र हाहाकार मच गया। समस्त राजमण्डली शोकको प्राप्त हो गयी। शाकल्यके शिष्य तथा बान्धव सब रुदन करने लगे। शाकल्यको भूमिपर पड़ा हुआ देखकर सभामें आये हुए ब्राह्मण, बालक तथा स्त्री समस्त सभासमाज शाकल्यको धिक्कार देने लगे। (क्रमशः)

हे भगवन् !

कैधौं भूल गये आप अपनी पुरानी चाल,
कैधौं जान-बूझकर सुरति बिसारी है।
कैधौं घबराय गये पापियोंकी भीर लखि,
कैधौं त्रिपुरारि कैसी लगा लई तारी है॥
कैधौं पूँजी गमा बैठे भक्तनके तारिबेमें,
कैधौं बिपताकी नग्न नृत्य-कला प्यारी है।
कैधौं पाप-घट भरिबेमें अभी और शेष,
आरत-गिरा न याते सुनते हमारी है॥

—घनूसिंह 'वीरेन्द्र'

उपनिषद्-गाथा

अग्निद्वारा ब्रह्मोपदेश

कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके पास जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर रहने लगा। उसने पूरे बारह वर्षतक गुरुके अग्नियोंकी सेवा की। गुरुने अपने दूसरे शिष्य ब्रह्मचारियोंका समावर्तन कर (वेदाध्ययन पूर्ण करवाकर) उन्हें अपने घर जानेकी आज्ञा दी, परन्तु उपकोसलको आज्ञा नहीं दी।

उपकोसलके मनमें कुछ विषाद हो गया, यह देखकर गुरुपत्नीके मनमें दया उपजी। उसने स्वामीसे कहा, 'इस ब्रह्मचारीने ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन किया है और श्रद्धापूर्वक विद्याध्ययन किया है और आपके अग्नियोंकी भलीभाँति सेवा की है, अतएव इसका समावर्तन करके इसकी कामना पूर्ण कीजिये। नहीं तो ये अग्नियाँ आपको उलाहना देंगे।' सत्यकामने बात सुनी-अनसुनी कर दी और वह बिना ही कुछ कहे यात्राके लिये घरसे चले गये।

उपकोसलको इससे बहुत दुःख हुआ। वह मानसिक व्याधियोंसे दुखी हो गया और अन्न छोड़-कर अनशन व्रत करने लगा। दयामयी गुरुपत्नीने कहा—'हे ब्रह्मचारी! तू भोजन कर! किस लिये भोजन नहीं करता है?' उसने कहा—'मेरे मनमें अनेकों कामनाएँ हैं, मैं अनेक प्रकारके मानसिक दुःखोंसे ग्रस्त हूँ, अतः मैं कुछ भी नहीं खा सकूँगा।' गुरुपत्नी चुप हो गयीं।

अग्नियोंने विचार किया कि 'इस तपस्वी ब्रह्मचारी-ने मन लगाकर हमारी बहुत ही सेवा की है, अतएव इसकी कामनाको हमलोग पूर्ण करें।' यह विचारकर अग्नियोंने उसे अलग-अलग ब्रह्मविद्याका यथोचित उपदेश किया! उपदेशके अनन्तर सब अग्नियोंने मिलकर उससे कहा—'हे सौम्य उपकोसल! हमने तुझको अग्नि तथा आत्माका यथार्थ उपदेश दिया है, अब तेरा आचार्य आकर तुझे इस विद्याके फलका उपदेश देंगे।'

कुछ दिनों बाद गुरु यात्रासे लौट आये, उन्होंने शिष्यको पुकारा 'उपकोसल!' उसने कहा 'भगवन्!'

उपकोसलका मुख ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था, उसकी समस्त इन्द्रियाँ सात्त्विक प्रकाशको प्राप्त थीं, यह देखकर आचार्यने हर्षमें भरकर पूछा—'बेटा उपकोसल! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानियोंकी तरह चमक रहा है, बता, तुझको किसने ब्रह्मका उपदेश किया?' किसी मनुष्यसे उपकोसलको उपदेश नहीं मिला था इससे उसने स्पष्ट न कहकर साङ्केतिक भाषामें कहा—'भगवन्! आपके बिना मुझे कौन उपदेश करता? यह अग्नियाँ पहले मानों दूसरे-से थे, अब आपको देखकर मानों डर-से रहे हैं।' संकेतका अर्थ समझकर आचार्यने कहा—'वत्स! अग्नियोंने तुझे क्या उपदेश किया।' उपकोसलने अग्नियोंसे जो कुछ प्राप्त किया था, सब कह सुनाया। सुनकर गुरु बोले—'वत्स! इन अग्नियोंने तो तुझे लोकसम्बन्धी ही उपदेश किया है। मैं तुझको उस ब्रह्मका उपदेश करूँगा, जिसका साक्षात् हो जानेपर जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं टिकता, वैसे ही उसपर पापका स्पर्श नहीं हो सकता। शिष्यने कहा—'भगवन्! आप उपदेश करें।'

इसके बाद आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मका रहस्यमय सम्पूर्ण उपदेश किया। और उसका समा-वर्तन करके घर जानेकी आज्ञा दी।

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

[गतांकसे आगे]

कुसंगका त्याग

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

४३-दुःसङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये ।

सत्सङ्गका महत्त्व बतलाकर अब देवर्षि दुःसङ्गका निषेध करते हैं । जिस प्रकार सत्सङ्गसे भगवत्कथा, भगवच्चर्चा, भगवन्नाम, भगवत्प्रीति, सदाचार, शास्त्र, विवेक, वैराग्य, सत् अभ्यास, सेवा, सरलता, नम्रता, क्षमा, तितिक्षा, शौच, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निरभिमानिता और शान्ति आदिके प्रति प्रवृत्ति होती है और मनुष्य सदाचारपरायण परमभक्त बन सकता है । इसी प्रकार इसके विपरीत दुःसङ्गसे विषयवार्ता, जगच्चर्चा, लोकनिन्दा, भोगप्रीति, दुराचार, उच्छृङ्खलता, अविवेक, विषयलोलुपता, दुष्ट अभ्यास, मान, दम्भ, घमण्ड, क्रोध, असहिष्णुता, अपवित्रता, निर्दयता, हिंसा, असत्य, इन्द्रियलम्पटता, अभिमान और अशान्ति आदिके प्रति प्रवृत्ति होकर मनुष्य पापपरायण और अत्यन्त विषयासक्त हो जाता है । दुःसङ्गसे आसुरी सम्पत्तिके सभी दुर्गुण और दुराचारोंका विकास और विस्तार होता है । दुःसङ्गसे मनुष्यके समस्त सद्गुणोंका विनाश होकर उसका सर्वनाश हो जाता है । परम सुशीला, स्नेहमयी, प्रेमप्रतिमा कैकेयी देवी मन्थराकी कुसङ्गतिके कारण ही महाराज दशरथके, भरतके, अपने और तमाम अयोध्यावासियोंके परम शोकका कारण बनी थीं और इसीसे उन्हें अन्तमें दुःखप्रद वैधव्यका सहन करना और प्राणप्रिय भरतका अप्रीतिभाजन होकर रहना पड़ा था । शकुनिकी कुसङ्गति ही महाभारतके भयानक संहारमें एक प्रधान कारण हुई । श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥
(३ । ३१ । ३३-३५)

'जो मनुष्य शिश्नोदरपरायण (स्त्री और धनमें ही आसक्त) नीच पुरुषोंका सङ्ग करके उनके अनुसार बर्ताव करने लगता है वह उन्हींकी भाँति अन्धकारमय नरकोंमें जाता है । क्योंकि दुष्टसङ्गसे सत्य, पवित्रता, दया, मननशीलता, बुद्धि, लज्जा, श्री, कीर्त्ति, क्षमा, मनका वशमें रहना, इन्द्रियोंका वशमें रहना और ऐश्वर्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं । अतएव उन अशान्तचित्त, मूर्ख, स्त्रियोंके हाथके खिलौने बने हुए, शोकग्रस्त, असाधु दुष्ट मनुष्योंका संग कभी नहीं करना चाहिये ।'

अतएव दुःसङ्गका त्याग तो सभीके लिये आवश्यक है, पर भगवत्प्रेमकी इच्छा करनेवालोंको तो दुःसङ्गका त्याग बड़ी ही सावधानीसे करना चाहिये । भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देहि बिधाता ॥

हे विभीषण ! नरकमें रहना अच्छा है परन्तु विधाता कभी दुष्टका सङ्ग न दे । दुष्ट-सङ्गसे केवल

दुराचारी मनुष्योंका ही सङ्ग नहीं समझना चाहिये । इन्द्रियोंका कोई भी विषय, जो हमारे मनमें असत् विचार तथा विषयोंकी लालसा उत्पन्न करे और भगवत्प्राप्तिके मार्गसे हमारे चित्तको चलायमान कर दे, दुःसङ्ग हो सकता है। हमें न कोई ऐसी चेतन वस्तु या जड दृश्य देखना चाहिये, न ऐसी बात सुननी चाहिये, न ऐसी चर्चा करनी चाहिये, न वैसे स्थानमें जाना चाहिये, न वैसी पुस्तक या पत्रिका पढ़नी चाहिये, न वैसा चित्र देखना चाहिये, न वैसी वस्तु खानी, सूँघनी या स्पर्श करनी चाहिये और न वैसा विचार ही करना चाहिये, जिससे हमारे चित्तमें विषयचिन्तनकी प्रबलता हो जाय । याद रखना चाहिये कि मनुष्यमें अच्छे और बुरे भावोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें कम-से-कम ये दस बातें प्रधान कारण होती हैं—स्थान, अन्न, जल, परिवार, अड़ोस-पड़ोस, दृश्य, साहित्य, आलोचना, आजीविकाका कार्य और उपासना । यदि ये सब सात्त्विक होते हैं तो इनके सेवनसे सात्त्विकता बढ़ती है। इन्हींका सेवन सत्सङ्ग है। और यदि ये राजस या तामस हैं तो इनका सेवन दुःसङ्ग है और उससे अज्ञानकी वृद्धि होकर तमाम दोषोंका विकास हो जाता है । अतएव दुःसङ्गका सब प्रकारसे सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

४४—क्योंकि वह (दुःसङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण है ।

भगवत्-सम्बन्धी तत्त्वरहस्य तथा लीलाकथाओंको छोड़कर इन्द्रियोंको भोगके समय तृप्ति देनेवाले लौकिक विषयोंका चिन्तन ही सर्वनाशकी जड़ है। चित्त निरन्तर या अधिक समयतक जिस विषयका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति होती है । दुःसङ्गसे—सांसारिक विषयों, और विषयी पुरुषोंके शरीर, वाणी और मनद्वारा किये हुए संगसे स्वाभाविक ही विषयासक्ति बढ़ती है । आसक्तिसे कामना होती है, यह कामना ही समस्त पापोंका मूल है; कामनाकी तृप्तिसे अधिक प्राप्तिके लिये लोभ उत्पन्न होता है और अतृप्तिसे वही कामना क्रोधके रूपमें परिणत हो जाती है । इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने राग या आसक्तिरूपी रजोगुणसे उत्पन्न कामको ही पापोंके होनेमें प्रधान कारण बतलाया है । अर्जुनने पूछा कि 'भगवन् ! मनुष्य न चाहता हुआ भी जबर्दस्ती पकड़ा-सा जाकर किसकी प्रेरणासे पाप करता है ?' इसके उत्तरमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, इस महापापी कामका पेट कभी नहीं भरता, इस विषयमें तुम इस कामको ही (पाप करनेवाला) अपना शत्रु मानो ।' यद्यपि कामसे लोभ और क्रोध दोनों ही उत्पन्न होते हैं परन्तु संसारमें मनमानी थोड़ी ही कामनाओंकी पूर्ति होती है, अधिकांशमें तो विफलता ही प्राप्त होती है । विफलतामें क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोधकी उत्पत्ति हो जानेपर मनुष्य विवेकविचारशून्य हो जाता है । उसे हिताहित कुछ भी नहीं सूझता, वह पिशाचकी भाँति केवल विनाशका ही प्रयत्न करता है। इस मोहमें उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, और स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धि मारी जाती है । बुद्धिके नष्ट होनेपर वह इसलोक और परलोकके कल्याण-पथसे गिर जाता है—उसका सर्वनाश हो जाता है । ठीक यही बात श्रीभगवान्ने भी गीताके अध्याय २ श्लोक ६२-६३ में कही है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

'विषयोंके चिन्तनसे मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, (कामकी तृप्तिमें बाधा होनेसे) उस कामसे ही क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे सम्मोह होता है, सम्मोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे (पुरुषका) सर्वनाश हो जाता है।'

सर्वनाशके कारणभूत विषयोंका चिन्तन होनेमें विषय और विषयी पुरुषोंका संग ही प्रधान है, यही दुःसंग है, अतएव इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

४५–ये (कामक्रोधादि) पहले तरङ्गकी तरह (क्षुद्र आकारमें) आकर भी (दुःसंगसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं।

जबतक दोषोंका समूल विनाश न हो जाय, तबतक तनिक-से दोषसे भी डरते ही रहना चाहिये; जैसे ईंधनमें दबी हुई जरा-सी चिनगारी हवाके जोरसे विशाल अग्निका रूप धारण कर लेती है, इसी प्रकार दबा हुआ जरा-सा भी दोष कुसंग पाते ही पनपकर विशाल रूप धारण कर लेता है। पहले-पहले जब मनमें काम-क्रोधका विकार उत्पन्न होता है तो उसकी एक लहर-सी ही आती है, परन्तु कुसंग पाते ही वह लहर समुद्र बन जाती है, फिर चारों ओरसे सारे हृदयपर उसीका अधिकार हो जाता है। सद्विचारके प्रवेशकी भी गुंजाइश नहीं रह जाती; उससे सर्वनाश ही होता है। अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि हमारे अन्दर सद्गुण अधिक हैं और दोष कम है, इससे कुसंगसे हमारी क्या हानि होगी! वरं सदा-सर्वदा अत्यन्त सावधानीके साथ सब प्रकारसे कुसंगका त्याग ही करना चाहिये।

मायासे कौन तरता है ?

कस्तरति कस्तरति मायां ? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥४६॥

४६–(प्रश्न) कौन तरता है ? (दुस्तर) मायासे कौन तरता है ? (उत्तर) जो सब संगोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है और जो ममतारहित होता है।

नदीमें तैरनेवाले मनुष्यके लिये सबसे अधिक आवश्यक काम होता है—हाथों और पैरोंसे नदीके जलको फेंकते जाना, निरन्तर जलको काटते रहना, तभी नया तैराक नदीके पार जा सकता है। जलको फेंकना छोड़ दे तो तत्काल डूब जाय। इसी प्रकार इस महाभयावनी दुस्तर मायानदीको तैरकर जो उस पार जाना चाहते हैं, उन्हें अहंकार और विषयासक्तिरूपी जलको बराबर अलग फेंकते रहना चाहिये। अहङ्कार और आसक्तिरूपी जलसे ही यह मायानदी भरी है; जो अहङ्कार और आसक्तिको दूर नहीं फेंक सकता, इनका त्याग नहीं करना चाहता वह इस मायानदीके जलमें रमकर अतल तलमें डूब जायगा। इसलिये संगत्याग अवश्य करना चाहिये, परन्तु हाथ-पैर मारते-मारते भी उनके थक जानेकी अथवा श्वास टूट जानेकी सम्भावना है, अतएव बीच-बीचमें ऐसा अवलम्बन चाहिये जहाँ कुछ देर ठहरकर वह विश्राम ले सके। इस माया-नदीमें भी केवल संगत्यागसे काम नहीं चलता, इसमें भी विश्रामस्थल चाहिये, वे विश्रामस्थल सन्तोंके सुधामय वचन ही हैं, जिनके सहारेसे नवीन बल प्राप्त होता है और उस बलसे मनुष्य मायासमुद्रसे

पार पहुँच जा सकता है। वस्तुतः सन्तसेवी साधकको अपने बलसे तैरना पड़ता ही नहीं, वह तो सन्त महानुभावोंकी कृपारूपी सुदृढ़ जहाजपर सवार होकर अनायास ही तर जाता है। इसीलिये देवर्षि महानुभावोंकी सेवा करनेको कहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
(११।२६।३२)

'जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ़ नौकाके समान इस भयङ्कर संसारसागरमें गोते खानेवालोंके लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं।'

महानुभाव सन्तोंकी सेवासे पाप-ताप और मोह अनायास ही दूर हो जाते हैं।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा॥
(११।२६।३१)

'जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनोंका नाश हो जाता है, इसी प्रकार सन्त पुरुषोंके सेवनसे पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय और अज्ञानरूपी अन्धकार ये कोई भी नहीं रहते।'

निर्मल हरिभक्तिकी प्राप्तिके लिये ही तो महापुरुषोंकी चरणसेवा ही प्रधान है। श्रीमद्भागवतमें भक्तराज प्रह्लाद और ज्ञानिप्रवर अवधूतशिरोमणि जडभरतके वचन हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥
(७।५।३२)

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(५।१२।१२)

प्रह्लाद कहते हैं कि 'हे पिता! जिन भगवान् श्रीहरिके चरणोंका स्पर्श समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति करनेवाला है, उन श्रीहरिचरणोंमें तबतक प्रेम नहीं होता, जबतक कि अकिञ्चन (सब कुछ भगवान्को अर्पण कर चुके हुए) साधु महान् पुरुषोंकी चरण-धूलिसे मस्तकका अभिषेक न किया जाय।'

महात्मा जडभरत राजा रहूगणसे कहते हैं—

'हे रहूगण! यह भगवत्तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्रेम तप, यज्ञ, दान, गृहस्थाश्रमद्वारा परोपकार, वेदाध्ययन और जल, अग्नि एवं सूर्यकी उपासनासे नहीं मिलता। यह तो महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिमें स्नान करनेसे अर्थात् उनकी चरणसेवासे ही मिलता है।'

परन्तु इतना स्मरण रहे कि महापुरुषोंकी सेवाका अर्थ केवल उनके समीप रहना या करना ही उनके शरीरकी सेवा नहीं है। उसकी भी यथायोग्य आवश्यकता और सार्थकता है, परन्तु जबतक हम उनकी आज्ञानुसार क्रिया नहीं करते, उनके इशारेपर नहीं चलते एवं उनकी रुचिके अनुसार अपना जीवन निर्माण नहीं करते तबतक सेवामें त्रुटि ही समझनी चाहिये। अतएव इस बातको समझकर सर्वदा और सर्वथा महानुभावोंकी सेवा करनी चाहिये।

परन्तु इसमें ममता एक बड़ी बाधा है। ममताके बन्धनसे सन्तसेवा ही नहीं हो सकती। घर मेरा, शरीर मेरा, परिवार मेरा, धन मेरा, सम्बन्धी मेरे, मकान मेरा, जमीन मेरी—इस प्रकार मेरे-मेरेके अनगिनत बन्धनोंमें जीव बँधा है, इन ममताके बन्धनोंको तोड़ना होगा। अवश्य ही सत्संग और सन्तोंकी सेवा-

रूपी दिव्य मणिदीपकके प्रकाशसे ममतारूपी अन्धकार-मयी रात्रिका अन्धकार बहुत कुछ कम हो जाता है, तथापि पहले सन्त-संगमें जानेके लिये भी तो ममताको कम करनेकी आवश्यकता है। अतएव संसारके इन ममत्वके विषयोंको दुःखरूप, अनित्य और अज्ञानमूलक समझकर इनके प्रति मेरे भावको सर्वथा त्याग करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि संसारमें मेरा कुछ भी नहीं है। जिस शरीरको मनुष्य मेरा ही नहीं वरं 'मैं' कहता है वह भी नष्ट हो जाता है, तब फिर अन्य वस्तुओंमें मेरापन समझना तो मूर्खता ही है। मायासे तरनेके लिये इस मेरेपनका नाश जरूर करना चाहिये। जो ऐसा करता है वह मायासे तर जाता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥

४७—जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है और जो योग तथा क्षेम-का परित्याग कर देता है।

मायासे तरनेके लिये पूर्वसूत्रमें तीन उपाय बतलाये गये हैं, अब इस सूत्रमें चार उपाय बतलाये जाते हैं और अगले दो सूत्रोंमें क्रमशः पाँच उपाय या लक्षण और बतलायेंगे।

ममताका त्याग दिन-रात ममत्वकी वस्तुओंकी बीचमें रहनेसे नहीं होता, संगसे तो ममता उलटी बढ़ती है, अतएव साधकको एकान्त सेवन करना चाहिये। श्रीभगवान्ने भी गीतामें—

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
(१३।१०)

—'एकान्त स्थानमें रहने और मनुष्योंकी भीड़भाड़में प्रीति न रखनेकी आज्ञा दी है।' मनुष्य कितना भी साधन करनेकी चेष्टा करे परन्तु जबतक वह विषय-वासनासे जकड़े हुए जनसमुदायमें और मोहक विषयोंसे भरे हुए स्थानोंमें रहेगा तबतक भगवान्में उसका मन लगना बहुत कठिन है, इसीलिये साधक-को एकान्त देशमें रहकर भक्तिका साधन करना बतलाया गया है। साथ ही भगवान्के साथ प्रेमका बन्धन बाँधनेके लिये लोकबन्धनको तोड़ना आवश्यक है। एकान्तदेशसेवनसे लोकसंग छूट जानेके कारण लोकबन्धन स्वयमेव ही ढीला हो जायगा। इसके अतिरिक्त भगवान्के रहस्य, प्रभाव और तत्त्वके साथ मृत्युमय और दुःखालय इस लोककी तुलना करके बारम्बार विचार करनेपर लोकबन्धन आप ही टूट जाता है।

इसके बाद भक्तिके साधकको सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे परे होना पड़ेगा। संसारका प्रकाश इन गुणोंसे ही होता है। गुणोंका ही कार्य यह संसार है, अतएव इस संसारके पदार्थोंमें अनासक्ति या विरक्ति होना ही निस्त्रैगुण्य या असंसारी होना है। जो मनुष्य विषयासक्त और विषयकामी है, वही गुणबद्ध है, और जो भगवदासक्त और भगवत्प्रेमी है वही निस्त्रैगुण्य है। जो निस्त्रैगुण्य होगा वह योग-क्षेमकी चिन्ता क्यों करने लगा? संसारमें तो उसका कोई प्रलोभन ही नहीं है, क्योंकि वह निस्त्रैगुण्य है, और मोक्षकी सिद्धिसे भी वह निःस्पृह है, क्योंकि वह भगवान्का प्रेमी है। अप्राप्तकी प्राप्तिको 'योग' और प्राप्तके संरक्षणको 'क्षेम' कहते हैं। इसमें केवल भोजनाच्छादनका भाव ही नहीं है, पारमार्थिक अर्थमें तो योगका अर्थ है, भगवद्प्राप्ति या भगवत्-प्राप्तिका सफल साधन, और क्षेमका अर्थ है भगवत्-प्राप्तिके साधन-का संरक्षण। प्रेमी भगवद्भक्त इन दोनों ही अर्थोंमें योग-

क्षेमकी परवा नहीं करता, वह तो भगवत्-प्रेममें ही मस्त रहकर भगवत्-प्रेरणासे सदा-सर्वदा भगवदनुकूल स्वाभाविक कर्म करता रहता है। भक्तका योगक्षेम स्वयं भगवान् ही चलाते हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें स्वयं कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(९। २२)

'जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी निष्काम उपासना करते हैं उन नित्य मुझमें लगे रहनेवाले भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'*

भोजनादिकी चिन्ता तो साधारण विश्वासी भक्तको भी नहीं करनी चाहिये, जो भोजनादिके लिये भगवान्-का भरोसा न रखकर न्याय और सत्यमार्गका तथा सदाचारका त्यागकर पापकी शरण लेते हैं वे तो एक प्रकारसे नास्तिक ही हैं। कहा है—

भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
विश्वम्भरो गुरुर्येषां किं दासान् समुपेक्षते ॥

'वैष्णव आहारादिके लिये व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। जो भगवान् समस्त विश्वके सब जीवोंका भरण-पोषण करते हैं वे क्या अपने सेवकोंको कभी भूल सकते हैं?'

---

* श्रीजगन्नाथपुरीमें एक सरल हृदयके सदाचारी ब्राह्मण सपरिवार रहते थे। उनको गीतासे बड़ा प्रेम था, वह दिन-रात गीताका अध्ययन और मनन किया करते थे। अवश्य ही उनका सकाम भाव अभी दूर नहीं हुआ था। परन्तु थे वे बड़े विश्वासी। एक दिन वे गीताके प्रत्येक शब्दका क्रियात्मक अर्थ देखना चाहते थे। पाठ करते समय जब उपर्युक्त श्लोकका 'वहाम्यहम्' शब्द आया तब ब्राह्मण सोचने लगे कि क्या भगवान् अपने भक्तके लिये आवश्यक वस्तुएँ स्वयं ढोकर उसके घर पहुँचा आते हैं; नहीं, नहीं! ऐसा नहीं हो सकता, भगवान् किसी दूसरे साधनसे संग्रह करा देते होंगे। यह विचारकर ब्राह्मणने 'वहाम्यहम्' का अर्थ ठीक न बैठते देख गीताके उक्त पदको काटकर उसकी जगह ऊपर 'करोम्यहम्' लिख दिया। ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीवननिर्वाह करते थे। भगवान्की अपार माया है; एक दिन मूसलाधार वृष्टि होने लगी। ब्राह्मणदेवता उस दिन घरसे न निकल सकनेके कारण दिनभर सपरिवार भूखे ही रहे। दूसरे दिन वर्षा बन्द होनेपर ब्राह्मण भीखके लिये चले। उनके घरसे जानेके थोड़ी ही देर बाद एक खूनसे लथ-पथ अत्यन्त ही सुन्दर बालक ब्राह्मणके घरपर आकर ब्राह्मणीसे बोला—'पण्डितजी महाराजने यह प्रसाद भेजा है।' ब्राह्मणी बालकके मनोहर वदनको देखकर और उसके मीठे वचन सुनकर मुग्ध हो गयी, परन्तु उसके शरीरसे खून बहता देखकर उसे बहुत ही दुःख हुआ, उसने आँसूभरे नेत्रोंसे पूछा 'तुमको किस निठुरने मारा है?' बालक-ने ब्राह्मणीके पतिका नाम लेकर कहा कि 'मुझको ब्राह्मणदेवताने मारा है।' ब्राह्मणी तो अचरजमें डूब गयी; कहने लगी 'वह तो बड़े सीधे-सादे, अक्रोधी और परम भागवत हैं, तुम-सरीखे नयनमनलुभावन बालकको वह क्यों मारने लगे?' बालकने कहा—'मैं सच कहता हूँ माँ! उन्होंने ही एक सूलसे मेरे वदनको काट डाला है, उन्होंने क्यों ऐसा किया, इस बातको तो वही जानें।'

इतना कहकर और प्रसाद रखकर बालक वहाँसे चल दिया; ब्राह्मणीको अन्यमनस्क होनेके कारण उसके जानेका पता नहीं लगा। वह कुछ भी न समझकर अति दुःखित चित्तसे स्वामीके घर आनेकी बाट देखने लगी। समयपर ब्राह्मण घर आये। ब्राह्मणीने विनयके साथ किन्तु रोष और विषादभरे शब्दोंमें सारा वृत्तान्त ब्राह्मणको कह सुनाया। पण्डितजी गृहिणीकी बात सुनकर अवाक् हो गये। गीताके श्लोकपर हरतालकी कलम फेरनेकी घटनाको स्मरण कर वह व्याकुल हो उठे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। ब्राह्मण अब समझे कि सचमुच ही भगवान् अपने विश्वासी भक्तके लिये स्वयं सिरपर ढोकर आहारादि पहुँचाते हैं। गीता श्रीभगवान्का अंग है। गीताका श्लोक काटनेसे भगवान्के शरीरपर चोट लगी है। ब्राह्मण अपनी करनीपर पश्चात्ताप करते-करते मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। भगवान्ने उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। कुछ समय बाद उठकर वे भगवान्से क्षमा-प्रार्थना करने लगे और भावविह्वल होकर गीताके चारों ओर 'वहाम्यहम्' 'वहाम्यहम्' लिखने लगे!

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्न्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥४८॥

४८—जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है और तब सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

योगक्षेमकी चिन्ताका त्याग करनेवाला कर्मफलका त्यागी होता ही है अथवा योगक्षेमके त्यागके लिये भी कर्मफलके त्यागकी आवश्यकता होती है। वस्तुतः अब यहाँसे प्रेमी भक्तके लक्षणोंका आरम्भ हो गया है। ये भक्तिके साधकोंके लिये आदर्श साधन हैं और सिद्ध प्रेमी भक्तोंके स्वाभाविक गुण! भक्त जो कुछ करता है वह भगवान्‌के लिये ही करता है, उसे उसका अपने लिये कुछ भी फल नहीं चाहिये। न उसकी कर्ममें आसक्ति है, और न उसके फलमें। वह तो यन्त्रवत् कर्म करता रहता है, परन्तु जहाँतक उसे यह स्मरण रहता है कि मैं यन्त्र हूँ, भगवान्‌के लिये कर्म करता हूँ, वहाँतक वह कर्मफलका ही त्यागी कहा जा सकता है, कर्मका त्यागी तो तब होगा जब उसे यह भी पता नहीं रहेगा कि मैं भी कुछ करता हूँ। जब मन-बुद्धिके पूर्ण समर्पणसे भगवान् उसके अहङ्कारको सर्वथा हरण करके स्वयं ही उसके हृदयमन्दिरमें बैठकर कर्म करने-कराने लगेंगे तब वह कर्मोंका सम्पूर्ण त्यागी होकर सर्वथा निर्द्वन्द्व हो जायगा। फिर उसे सुख-दुःख, हानि-लाभ, अपना-पराया, मैं-तू, आदि द्वन्द्वोंसे कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा। परन्तु जबतक ऐसी स्वाभाविक स्थिति न हो तबतक साधनरूपसे कर्मफलत्याग और भगवत्-विरोधी अथवा अनावश्यक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके निर्द्वन्द्व होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(गीता २। ४५)

'हे अर्जुन! वेद तीनों गुणोंके प्रकाशरूप संसारको प्रकाश करनेवाले हैं, अतएव निस्त्रैगुण्य अथवा असंसारी (निष्कामी), सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, योगक्षेमकी इच्छा न करनेवाला, नित्य सत्त्वमें स्थित और परमात्मपरायण हो जाओ।'

वेदानपि सन्न्यसति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ ४९ ॥

४९—जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।

साधनकी दृष्टिसे उपर्युक्त श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक (२। ४५) के अनुसार तीनों गुणोंके प्रकाशरूप संसारको प्रकट करनेवाले वेदोंके त्यागसे, निष्कामी बननेका अर्थ बहुत ही ठीक है। सकाम भावका त्याग ही वेदत्याग है। परन्तु देवर्षि नारद यहाँ जिस प्रेमावस्थाका वर्णन कर रहे हैं, इस अवस्थामें तो भक्त केवल एक अविच्छिन्न अखण्ड भगवत्प्रेमके महान् सागरमें डूबकर तन्मय हो जाता है, इससे वेदोंका आश्रय स्वयमेव ही छूट जाता है, उससे फिर लौकिक-वैदिक कोई-सी क्रिया ही यथाविधि नहीं हो सकती। सारे नियमोंका अपने-आप टूट जाना ही इस प्रेमका एक नियम है। यह भी शास्त्रविधि ही है। इस स्थितिमें वेद अपने अनुयायीको वेदोंका परमफल प्राप्त करते देखकर स्वयं तृप्त होकर उसे छोड़ देते हैं। यह वेदत्याग तिरस्कारमूलक नहीं है, वरं तृप्तिमूलक है। वह जान-बूझकर वेदोंको नहीं छोड़ता, वेद ही उसे पूर्णकाम समझकर अपना आधिपत्य उसपरसे उठा लेते हैं। इस अवस्थामें वह प्रेमी भक्त विधिनिषेधमय वेदोंको लाँघकर

बस, केवल एक अनिर्वचनीय हरिप्रेममें ही मतवाला रहता है; वह भगवत्प्रेमकी एक जीती-जागती मूर्ति होता है। स्वयं भगवान् ही उसके शरीरमें दिव्य प्रेमके रूपमें प्रकट होकर लीला करते हैं—

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ५०

५०—वह तरता है, वह तरता है, वह लोगोंको तार देता है।

देवर्षि नारद आनन्दमें भरकर पुकार रहे हैं कि जो इस प्रकार भगवान्के प्रेममें मतवाला हो जाता है, वह तो तर ही गया, वह समस्त लोकोंको भी तार देता है। वही सच्चा तरन-तारन होता है। भगवान्ने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है—'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति' ऐसा मेरा भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।

छियालिसवें सूत्रमें मायासे कौन तरता है यह प्रश्न करके यहाँतक उसका उत्तर दिया गया। चार सूत्रोंमें प्रेमके साधन और प्रेमियोंके लक्षण बतलाये गये। अब आगे उस प्रेमका रूप बतलाया जायगा, जिसको पाकर प्रेमी महानुभावगण इस दुर्लभ स्थितिको स्वाभाविक गुणोंके रूपमें अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। (क्रमशः)
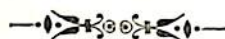
श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वती

(लेखक—शास्त्रवाचस्पति पं० श्रीहरिहरस्वरूपजी शर्मा शास्त्री, बी०ए०)

सदाशिवेन्द्र सरस्वती उन महात्माओंमेंसे हैं जिनके कारण भारतभूमि तीर्थरूप मानी जा सकती है। माया-मोहमें फँसे हुए प्राणियोंके उद्धारके हेतु भगवान्की अपार करुणामयी आज्ञासे प्रत्येक युग और अवान्तर युगमें एक-न-एक अलौकिक शक्तिशाली महापुरुष इस लोकमें आता रहता है जो अपने चरित्र और तपके प्रभावसे ईश्वरकी सत्ताका विश्वास दृढ़ करा जाता है। ऐसे ही चमत्कारी महापुरुषोंमें सदाशिवेन्द्र सरस्वती आदरपूर्वक गिने जानेके योग्य हैं।

छात्रावस्था

आजसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व चोलमण्डलमें कावेरी नदीके पवित्र तटपर स्थित करूर नामके ग्राममें आपका जन्म हुआ था। उस समय स्कूल-कालेजोंका प्रचार नहीं हुआ था। पाठशालाओंमें लोग अपने बालकोंको संस्कृत पढ़नेको भेज देते थे। इसी तरह सदाशिवेन्द्रजीकी शिक्षा-दीक्षा संस्कृतकी एक पाठशालामें हुई। कावेरीके तटपर 'तिरूविशनल्लूर' नामके गाँवमें आपका पवित्र गुरुकुल था। उस समय इस पाठशालामें अच्छे-अच्छे कुशाग्रबुद्धि विद्यार्थी इकट्ठे हो गये थे। इनमें तीन व्यक्ति तो दक्षिणमें खूब प्रख्यात हुए। पहले रामभद्र दीक्षित थे, जो 'जानकीपरिणय' नामक नाटकके प्रणेता हुए। दाक्षिणात्य कवियोंको दृश्य काव्य नहीं बनाना आता इस अपवादको रामभद्र दीक्षितकी लेखनीने दूर किया है। दूसरे सहपाठी श्रीवेंकटेश थे जिन्होंने 'आख्याषष्ठि', 'दयाशतक' आदिकी रचना करके अध्यात्मवेत्ताका सम्मानित आसन पाया था। तीसरे

महावैयाकरण गोपाल शास्त्री थे। जिनकी यही रटन्त थी कि 'महाभाष्यं वा पठनीयम्, महाराज्यं वा पालनीयम्।' ऐसे सहपाठियोंमें चौथे भविष्यके यतीन्द्रशिरोमणि सदाशिवेन्द्र सरस्वती थे जिनके कारण सारे दक्षिण-प्रान्तका मस्तक ऊँचा हुआ। ये चारों विद्यार्थी चार वेद, चार मुक्तिके भेद और सनकादि चार बालब्रह्मचारियोंके समान विद्या, विनय और तपसे सम्पन्न होकर संसारको आनन्दित करते हुए दूजके चाँदकी तरह प्रतिपल उन्नत हो चले।

गृहस्थका त्याग

सदाशिवेन्द्र प्रायः सभी शास्त्रोंके अच्छे ज्ञाता हो गये। न्यायमें तो आप धुरन्धर माने जाने लगे। आपका विवाह बचपनमें ही हो गया था। कुटुम्बियोंके आग्रहसे आपको गुरुकुल छोड़कर घर आना पड़ा और अपनी इच्छाके प्रतिकूल गृहस्थधर्ममें चित्त लगाना पड़ा। परन्तु आपके जीवनका लक्ष्य कुछ और ही था। घरमें नयी दुनिया और नया ही समारम्भ देखा। आप बहुत शीघ्र गृहस्थके जंजालसे घबरा उठे; वैराग्यका तरुणारुण तरणि उनके निर्मल हृदय-गगनमें अद्भुत कान्तिके साथ उदित हुआ। 'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्'—वेद पुरुषकी इस आज्ञाको यथार्थरूपमें पूरा करनेके लिये सदाशिव अनायास ही भाई-बन्धुओंसे नाता तोड़ घरसे निकल खड़े हुए। वर्ण और आश्रमकी औपाधिक सीमाको पारकर आप शीघ्र ही परमहंस दशामें पहुँचे और खाने-पीनेमें समताका व्यवहार कर देहयात्रा निर्वाह करने लगे। आपकी उन्मत्त और निरीह दशाको देख लोग आपको पागल और ढोंगी भी कह देते थे। रिन्दोंको अल्पज्ञजन ऐसा कहा ही करते हैं। पर सदाशिव-जैसे पक्के आत्मनिष्ठपर ऐसी बातोंका क्या असर हो सकता था।

योगकी शिक्षा

सदाशिवको योग सीखनेकी धुन सवार हुई। आप इस इच्छाको पूरा करनेके हेतु बहुत दिनोंतक अच्छे गुरुकी तलाशमें मारे-मारे फिरते रहे। अन्तमें आपको योगिराज परम शिवेन्द्र मिल गये। योगिराजने आपकी दशाको पहचान लिया और उन्हें विद्याका पात्र समझकर बड़े प्रेमसे योगविद्याका रहस्य समझा दिया। सदाशिवेन्द्रने थोड़े कालमें ही यम, नियम, आसन, धारणा, ध्यान, समाधि आदिके द्वारा आत्म-साक्षात्कारका आनन्द प्राप्त किया। आपने योगकी कलामें बहुत शीघ्र पूर्णता प्राप्त कर ली और सद्गुरुकी कृपासे हृदयकमल-कोशका उद्घाटन करके परं ज्योतिका साक्षात्कार कर सिद्ध-दशाको पहुँचे। आपका साधन समय पाकर इतना बढ़ा कि आपके लिये वर्ष मास, मास दिन और दिन पलोंके समान हो गये। आप 'संयमिसार्वभौम' कहलाने लगे। बासठ आर्या छन्दोंमें आपने एक छोटा-सा 'आत्मविलास' नामक काव्य लिखा है, जिसके अक्षर-अक्षरसे आपकी मस्ती टपकती है और यह पता चलता है कि बनावटी नहीं, किन्तु सच्चे साधुका दिल कैसा होता है।

मौनव्रत

सदाशिवके गुरु परम शिवेन्द्र स्वामीके पास अच्छे-अच्छे विद्वान् दूर-दूरसे दर्शनोंके लिये आते रहते और उनसे कुछ योगविद्यासम्बन्धी बातें पूछा करते थे। सदाशिव उनसे शास्त्रचर्चा छेड़कर अनेक प्रकारके प्रश्न कर बैठते थे, जिनका उत्तर देनेमें वे प्रायः असमर्थ रहते थे। सदाशिवका यह कुसंस्कार बढ़ता गया। कुछ असहिष्णु पण्डितोंने परम शिवेन्द्रजीके पास इस व्यवहारकी शिकायत पहुँचायी। उनको सदाशिवका ऐसा सभ्यतासे गिरा हुआ व्यवहार अनुचित जँचा। आपने सदाशिवको बड़े क्रोधसे डाँट बतलायी और कहा—'योग तो सीखते हो पर

इसका अपने जीवनमें भी तो उपयोग करो। अपनी निरंकुश वाणीको क्या संयमका व्रत नहीं सिखा सकते हो ?' सदाशिवके सच्चे हृदयपर इन शब्दोंका विचित्र प्रभाव हुआ, ये शब्द हृदयमें स्थान कर गये। गुरुभक्त सदाशिवने गुरुजीको श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी। इसीपर बस न करके निर्मलहृदय सदाशिवने गुरुकी आज्ञाका आदर करते हुए यह भीष्म-प्रतिज्ञा कर डाली कि मरणपर्यन्त अब मौनव्रतमें ही बिता दूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा सुन गुरुजी बड़े दुखी हुए। सदाशिवको बहुत समझाया, प्रतिज्ञा त्यागनेको कहा। परन्तु वहाँ ज़बानबन्दी हो चुकी थी; ज़बानपर प्रतिज्ञाका ताला पड़ चुका था। अन्तमें आचार्यने मौन-योगी होनेकी आज्ञा दी और सदाशिव मौन-दशामें अरि-षड्वर्गका दमन करते हुए करतलभिक्ष और तरुतल-निलय हो सुखसे समय बिताने लगे। अपने शिष्यकी ऐसी उन्नत दशा देखकर परम शिवेन्द्र योगी प्रसन्न होते थे, किन्तु इस बातका उन्हें खेद रहता था कि वे अपने शिष्यकी तरह संयम करनेमें समर्थ न हुए। उनकी ऐसी ही दशाका द्योतक यह पद्य है—

उन्मत्तवत् सञ्चरतीह शिष्य-
स्तवेति लोकस्य वचांसि शृण्वन्।
खिद्यन्नुवाचास्य गुरुः पुराहो
ह्युन्मत्तता मे न हि तादृशीति ॥

× × × ×

तीन मासकी समाधि

मौनी होनेपर सदाशिवेन्द्रपर मस्ती और निरीहताका रंग दिनोंदिन गहरा होता गया। आप वनों और विजन स्थानोंमें रहना अधिक पसन्द करने लगे। ऐसे स्थानोंमें रहकर वे अपनी समाधिका अभ्यास अधिकाधिक बढ़ाने लगे। एक बारकी कथा है, आप कोडिमुडि नगरके पास कावेरीकी धारामें स्थित एक टीलेपर कुछ दिनसे पड़े थे। ऋतु वर्षाकी थी। दैववशात् नदीमें भयंकर बाढ़ आ गयी, जिससे किनारेके वृक्ष उखड़ गये और आसपासके छोटे गाँव बह गये। सदाशिव नदीके प्रवाहमें पड़े ही थे, वे भी इससे न बचे और प्रवाहके थपेड़े खाते हुए नदीकी सतहमें जा पहुँचे। आसपासके गाँवोंके लोगोंको इसका बड़ा खेद हुआ कि वे सदाशिवेन्द्र स्वामीको इस आपत्तिसे बचा न सके। तीन मासके बाद नदीका प्रवाह सूख गया और गाँवके लोग अपनी खेतीके कामके लिये कच्ची कुई खोदने लगे। खोदते समय एक व्यक्तिका कुदाल किसी कठिन वस्तुसे टकराया। उसी क्षण कुदालको निकालकर देखा गया तो वह खूनमें रँगा हुआ था। सब लोग आश्चर्यमें डूब गये। बड़ी साव-धानीसे धीरे-धीरे सबने मिलकर उस स्थानकी मिट्टी हाथोंसे दूर की। वहाँ प्रायः तीन मासके बाद सबके श्रद्धाभाजन स्वामी सदाशिवेन्द्रके दर्शन हुए। आप आनन्दसे हाथ-पाँव फैलाये, बालूका लिहाफ ओढ़े, पृथ्वी माताकी गुदगुदी गोदमें सो रहे थे। देखनेवाले सहम गये; एक दूसरेका मुँह ताकने लगे। सबने मिलकर योगिराजके समाधिस्थ शरीरको पृथ्वीके गर्भसे बाहर ला रक्खा। इतने परिश्रमके कारण योगिराजकी समाधि खुल गयी और वह ठीक सोकर उठेकी तरह आँख मलते खड़े हो गये और यथेच्छ दिशाको चल दिये।

× × × ×

कुछ असाधारण घटनाएँ

सदाशिवेन्द्रका जीवन अद्भुत और असाधारण घटनाओंसे परिपूर्ण है। उनमेंसे कुछका उल्लेख पाठकोंके कुतूहलके अर्थ संक्षेपमें किया जाता है। आजकलके युक्तिवादके जमानेमें ऐसी घटनाओंको स्वीकार करते हुए बहुत लोगोंको पसोपेश होता है, परन्तु सदाशिव-सदृश पहुँचे हुए योगीके लिये ऐसी

बातें कर दिखाना सम्भावनाकी सीमासे बाहरकी बात नहीं कही जा सकती ।

(१)

करूर गाँवके पासकी बात है । धान्य पक चुके थे और सिट्टे काटकर खेतोंमें इकट्ठे किये जा चुके थे । रातको घर जाते समय खेतके मालिक अपने हिस्सेदारोंमेंसे दो-एकको अनाजकी देख-भालके लिये छोड़ गये थे । समस्त जगत् निद्रा देवीकी गोदमें प्रमोद-निद्राका अनुभव कर रहा है । परन्तु—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

—के अनुसार सदाशिव आधीरातके समय आत्म-चिन्तनकी मस्तीमें घूम रहे हैं । घूमते-फिरते थककर अनाजके ढेरमें आकर लेट गये । खेतके रक्षक चोर समझकर लाठियाँ लेकर सदाशिवपर आ टूटे । योगिराज अविचलभावसे अनाजके ढेरमें लेटे रहे । पहरेवालोंकी मारपीटकी चेष्टाका उनपर ज़रा भी असर न हुआ । पहरेदारोंने बहुत चेष्टा की, किन्तु धन्य योगबल ! सब चित्रमें लिखेके समान खड़े रहे, दिन निकल आया, मारना-छेड़ना तो एक ओर रहा, पहरेदार लोग अपने स्थानसे हिल भी न सके । दिन निकलनेपर बहुत-से किसान आसपाससे इकट्ठे हो गये । खेतके रखवालोंको सदाशिवद्वारा दण्डित देख बहुत चकित हुए और स्वामीजीकी महिमाका बखान करने लगे । लोगोंकी बातोंके शब्दसे योगिराजकी समाधि खुल गयी और वे चुपचाप उठकर यथेष्ट दिशाको चल दिये ।

× × × ×

(२)

कभी-कभी आप मस्तीमें झूमते हुए आबादीमें भी आ जाते थे । गली-कूचोंसे जब आप गुज़रते तो बालक उनके चारों तरफ हिरावल डाल देते थे । उनके बालोंको, हाथ-पाँवकी अँगुलियोंको खींचकर और अन्य अनेक उपद्रव करके उनसे खेलते थे । जो भिक्षा योगिराज माँगकर लाते, वह बच्चोंमें बाँट देते थे । एक बार दो-तीन बालकोंने आपसे आग्रहपूर्वक कहा कि 'बाबा, आज रातको मदुरामें वृषभवाहनका उत्सव हो रहा है, आप हमें वह उत्सव दिखा दीजिये ।' सदाशिवने शायद यह सोचकर कि बालकोंकी बात हँसीमें ही न उड़ जाय, उनके भक्तिभावसे प्रसन्न होते हुए उन्हें आँख बन्द करनेका इशारा किया और दोनों कन्धोंपर उन्हें बिठा लिया । आँखें खोलनेपर बालकोंने नृत्य-गीत-वाद्यसे गूँजते हुए, भक्तोंसे परिपूर्ण भगवान् सुन्दरनाथके मन्दिरमें अपने आपको देखा । बात-की-बातमें करूरसे मदुरामें अपने आपको देखकर सब बालक चकित हो गये । इसे स्वप्न, माया या चित्तविभ्रम—इनमेंसे कुछ भी न ठहरा सके । सदाशिवने सबको प्रसाद ला दिया और सूर्योदयसे पहले वापस घर पहुँचा दिया । सबने अपने घरवालोंको, जो घबराये हुए थे, यह आश्चर्यकथा कह सुनायी और प्रमाणस्वरूप प्रसाद दिया ।

सुनते हैं महाशिवरात्रिकी रातको ये शिवभक्त योगिराज काशी, मदुरा, रामेश्वर आदि दिव्य क्षेत्रोंमें एक ही रात्रिमें भगवान् शङ्करके दर्शन करते हुए वहाँ-वहाँके निवासियोंद्वारा देखे गये हैं । आपकी महिमाका वर्णन करनेवाले यहाँतक कहते हैं कि आप योगबलसे यूरोपमें टर्कीपर्यन्त घूम आये थे ।

× × × ×

(३)

एक महामूर्ख ब्रह्मचारी जिसके लिये 'काला अक्षर भैंस बराबर' था सदाशिवकी तनमनसे सेवा करने लगा । उसकी सच्ची श्रद्धासे आशुतोष सदाशिव स्वामी प्रसन्न हो गये । ब्रह्मचारीने प्रार्थना की कि बालकोंकी भाँति उसे भी बिना यात्राकष्ट उठाये श्रीरङ्गनाथजीके दर्शन कराये जावें । स्वामीने आँखें बन्द करनेका

सङ्केत किया, ब्रह्मचारीने वैसा ही किया । आँखें खोलनेपर सदाशिवसहित अपने आपको भगवान् रङ्गनाथके मन्दिरमें खड़ा पाया । कुछ ही क्षणोंके बाद सदाशिव अन्तर्धान हो गये, ब्रह्मचारीने मन्दिर और उसके प्रकारोंके कोने-कोने छान डाले । लाचार पैदल ही करूरकी ओर चला और कुछ दिनमें पहुँचा । वहाँ समाधिस्थ यतीन्द्रको देखकर आनन्दित हुआ और इस विद्याके सीखनेकी भिक्षा माँगी । दया-परवश सदाशिवने धूलिमें मन्त्र लिख दिये । उनके अभ्याससे ब्रह्मचारीमें अद्भुत चमत्कार दीख पड़ने लगा और उस प्रान्तके लोगोंमें उसका सिद्धके रूपमें मान होने लगा ।

× × × ×

कटा हुआ हाथ फिरसे जुड़नेकी एक अत्यन्त अद्भुत घटनाका सम्बन्ध भी आपके जीवनकी आश्चर्य घटनाओंमेंसे है । कहा जाता है–रिन्द सदाशिव कभी किसी मुसलमान ज़मींदारके ज़नानखानेकी तरफ घूमते-फिरते जा निकले । असूर्यम्पश्या, पर्दानशीन बीबियोंमें एक अवधूतको घूमते देख नवाब साहब जामेसे बाहर हो गये । आपने क्रोधमें अन्धे होकर सदाशिवपर तलवारसे वार किया । जिससे उनके एक हाथकी अँगुली कट गयी । परन्तु इस घटनासे सदाशिवकी मौनवृत्तिमें कोई विकार नहीं आया । वे उसी प्रकार मत्त गजराजकी भाँति निर्विकारभावसे शनैः-शनैः वहाँसे चले गये । इनकी इस मजज़ूब हालतको देख नवाब साहबके हवास बाखता हो गये और वे अपनी भूलपर हाथ मलने लगे । मनमें यह धार लिया कि यह सच्चा ख़ुदादोस्त फ़क़ीर है, इससे अपना गुनाह मुआफ़ कराओ, वरना इसकी बद-दुआ ख़ातमा कर देनेको काफ़ीसे ज़्यादा है । यह सोच छायाकी तरह योगिराजका पीछा किया । इस तरह कई दिनसे निरन्तर पीछे घूमते देख योगिराजने इशारेसे इस व्यवहारका कारण पूछा । नवाबने दण्डवत् प्रणाम करके अपने अपराधकी क्षमा चाही । नवाबसे अपने हाथकी अँगुली कटी सुनकर योगिराज-ने उधर ध्यान दिया और दूसरे हाथसे कटे हुए अङ्गको धोकर कटी हुई अँगुली उसके स्थानपर जोड़ दी । यह अद्भुत घटना देखकर नवाब साहब क्षमाके लिये बुरी तरह गिड़गिड़ाये । अन्तमें योगीन्द्रने उसे क्षमाका दान दिया और यथेच्छ दिशाको चल दिये ।

यह आश्चर्यजनक घटना इतनी प्रसिद्ध है कि इसका वर्णन शृङ्गेरीमठके विद्वान् शङ्कराचार्य श्रीनृसिंह भारती स्वामीने स्वनिर्मित 'सदाशिवेन्द्रस्तुति' में इस प्रकार किया है——

योऽनुत्पन्नविकारो बाहौ म्लेच्छेन च्छिन्नपतितेऽपि ।
अविदितममतायास्मै प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय ॥

पुरा यवनकर्त्तनस्रवदमन्दरक्तोऽपि यः
पुनः पदसरोरुहप्रणतमेनमेनोनिधिम् ।
कृपापरवशः पदं पतनवर्जितं प्रापयत्
सदाशिवयतीट् स मय्यनवधिं कृपां सिञ्चतु ॥

उसी सदाशिव-महिम्नमें आगे इस प्रकार स्तुति की गयी है——

न्यपतन् सुमानि मूर्द्ध्नि येनोच्चरितेषु नामसूत्रस्य ।
तस्मै सिद्धवराय प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय ॥
निजगुरुपरमशिवेन्द्रश्लाघितविज्ञानकाष्ठाय ।
निजतत्त्वनिश्चलहृदे प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय ॥

जिस प्रकार सदाशिवेन्द्र शङ्कराचार्यकी सबसे बड़ी गद्दीके आचार्यके भक्तिभाजन बने वैसे ही दाक्षिणात्यके राजाओंद्वारा भी आप बहुत सम्मानित हुए थे । नवसाल-राज्यके अधीश्वर महाराज विजय रघुनाथ तोण्डमान्ने तो प्रायः आठ वर्षतक आपकी अपूर्व श्रद्धासे सेवा की । योगिराजने प्रसन्न होकर राज्यपालन और प्रजारञ्जनके कुछ उपाय बालूमें लिख दिये और बाकी बातें जाननेको अपने सहपाठी

गोपाल शास्त्रीके नामका सङ्केत कर दिया। उक्त महाराजने उक्त शास्त्रीजीको एक गाँव देकर राजगुरुका सम्मान दिया। उनके वंशज अबतक राजगुरु हैं। इस राज्यमें सदाशिवके उपदेशानुसार ही शारदा-नवरात्रमहोत्सव, दक्षिणामूर्तिपूजा आदि बड़े समारोहके साथ मनाये जाते हैं। दक्षिणामूर्तिके पास ही पूजाके प्रधान द्रव्योंमें वह बालुका, जिसपर योगिराजने उपदेश लिखा था, प्रतिष्ठाके साथ रक्खी है और उसकी पूजा होती है।

आजकलकी शिक्षा-दीक्षाके प्रकाशमें योगिराजका चमत्कारयुक्त जीवन असम्भव घटनाओंसे पूर्ण दिखायी देता है। इस समयका महावाक्य है—'प्रकृतिरेव परं ब्रह्म।' परन्तु सदाशिवका जीवन 'नेचर-स्टडी' की कसौटीपर कसनेकी वस्तु नहीं है। यह तो भारतके योगबलका एक ऐसे कालका नमूना है जब कि यह देश अपना सर्वस्व और सारी विशेषताएँ प्रायः खो चुका था। सिद्ध लोग अन्तर्मुख हैं। उनके सब रहस्योंको हम संसारकी दृष्टिवाले लोग कैसे जान सकते हैं। वे आत्माराम; हम इन्द्रियोंके क्रीत दास। वे अपने अन्तःकरणमें देदीप्यमान परंज्योतिको योगकलासे प्रत्यक्ष देख प्रसन्न होते हैं; हम गली-कूचोंमें चमकती हुई बिजलीकी रोशनीकी चकाचौंधमें साइन्सकी उन्नति समझकर सन्तुष्ट हो रहते हैं। वे सात्त्विक आहार और यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि दुष्कर साधनोंसे इन्द्रियोंका दमन करते हैं; हम तमोगुणी और मादक वस्तुओंका सेवन करके बुरी वासनाओंके इशारेपर नाचते हैं। जहाँ इतना प्रत्यक्ष अन्तर है वहाँ ऐसी बातोंके लिये विशेष आश्चर्यका स्थान नहीं है। ऐसे ही आत्माराम सिद्ध पुरुषोंमें योगिराज सदाशिव अग्रगण्य थे। इसमें कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती।

इस प्रकार परमात्मध्यानमें रत मौनव्रती योगीने चिरकालतक संसारको योगविद्याका अद्भुत चमत्कार दिखाकर लीलाका उपसंहार करनेकी इच्छा प्रकट की। नेरूर गाँवके ब्राह्मण बुलाये गये और उनसे कह दिया कि 'ज्येष्ठ शुक्ला दशमीको इस पाञ्चभौतिक शरीरको त्याग मैं ब्रह्मसायुज्यकी प्राप्ति करना चाहता हूँ। उसी दिन काशीसे वाणलिंग लेकर एक ब्राह्मण आवेगा। इस लिंगको मेरी समाधिके समीप एक मन्दिरमें स्थापना कर देना।' नियत तिथिको काशीसे वाणलिंग आ गया और सबके देखते मौनयोगी श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वतीने अन्तिम समाधि ले ली। जीवन्मुक्त योगिराजने नेरूर गाँवमें ही नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न तीन स्थानोंमें, एक ही कालमें उन-उन स्थानोंके निवासियोंके देखते समाधि लेकर शरीर त्याग दिया। इस बातका समर्थन नृसिंह भारती स्वामीके इस श्लोकसे भी होता है—

त्रिविधस्यापि त्यागं वपुषः कर्तुं स्थलत्रये य इह।
अकरोत् समाधिमस्मै प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय॥

परन्तु इनमें नेरूरकी ही समाधि दक्षिणमें प्रसिद्ध है। इस स्थानमें आजतक भी नवसालके राजाकी तरफसे नित्य-नैमित्तिक पूजा, पक्षोत्सव, मासोत्सव और वार्षिकोत्सव आदि धूमधामसे होते हैं।

वास्तवमें आपके जन्मसे दक्षिण प्रान्तका मस्तक ऊँचा हुआ है। इनका नाम दाक्षिणात्य लोग बड़ी प्रतिष्ठासे लेते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्यकी प्रधान गद्दी श्रृंगेरीके परम विद्वान् शंकराचार्य श्रीसच्चिदानन्द नृसिंह भारती स्वामी योगीन्द्रके बड़े भक्त थे जैसा कि आपके ऊपर उद्धृत पद्योंसे प्रकट है। सदाशिवेन्द्रकी महिमाका यह उज्ज्वल उदाहरण है।

श्रीसदाशिवके रचित ग्रन्थ

आपके रचे हुए अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें 'ब्रह्मतत्त्व-प्रकाशिका' नामकी ब्रह्मसूत्रोंपर लिखी गयी वृत्ति बहुत उत्तम हुई है। इसमें प्रत्येक सूत्रके साथ पूर्वपक्षका निरूपण करनेके बाद सूत्रसंगति, अधिकरणसंगति,

पादसंगति इत्यादि विविध विषयोंका निरूपण किया गया है, जिनसे भगवान् शंकरके भाष्यके निगूढ़ अर्थोंका भी विशदरूपसे प्रकाश होता है ।

आपने योगसूत्रोंपर 'योगसुधाकर' नामकी वृत्ति रची है, जिससे योगशास्त्रके अनेक रहस्योंका ज्ञान सहजहीमें हो सकता है । इन दोनों वृत्तियोंके कारण स्वामी सदाशिवेन्द्र केवल सिद्ध ही नहीं वरं वैज्ञानिक और परम दार्शनिक भी कहे जा सकते हैं ।

इनके अतिरिक्त उपनिषद्दीपिका (बारहों उपनिषदोंपर), आत्मविद्याविलास, अद्वैतरसमञ्जरी, बोधार्य, सिद्धान्तकल्पवल्ली आदि अनेक वेदान्त-विषयक छोटे-बड़े ग्रन्थरत्न योगिराजकी गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण लेखनीसे निकले हैं । इनकी सम्पूर्ण सूक्तियाँ ब्रह्मानन्दके मधुर स्रोत हैं । पढ़नेवालोंके हृदयोंमें उनके पाठमात्रसे पार्थिव भोगोंसे अरुचि, आत्मतत्त्वका साक्षात्कार और अपूर्व रसका आविर्भाव हो उठता है । हम अपने सहृदय पाठकोंको इन महात्माके दो-तीन सुभाषित भेंट करके यह पवित्र कथा समाप्त करते हैं—

सन्त्यज्य शास्त्रजालं संव्यवहारञ्च सर्वतस्त्यक्त्वा ।
आश्रित्य पूर्णपदवीमास्ते निष्कम्पदीपवद् योगी ॥
वैराग्यविपुलमार्गं विज्ञानोद्दामदीपकोद्दीप्तम् ।
आरुह्य तत्त्वहर्म्यं मुक्तया सह मोदते यतिराट् ॥
आशावसनो मौनी नैराश्यालङ्कृतः शान्तः ।
करतलभिक्षापात्रस्तरुतलनिलयो मुनिर्जयति ॥
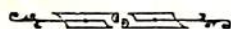
तन्त्र

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

[गतांकसे आगे]

साधनके गौणरूपमें सहायक इन वस्तुओंके ग्रहणकी जो विधि है, उससे यह समझ लेना ठीक न होगा कि तन्त्रमें इन्हीं वस्तुओंको साधनका एकमात्र मुख्य उपाय माना गया है । साधन करना ही साधकका लक्ष्य है, उस साधनामें कुछ सहायता करनेके उद्देश्यसे ही पञ्चतत्त्व गृहीत हुए हैं, परन्तु जिस साधककी साधनामें ये सहायता न करके विघ्न उत्पादन करते हैं, उस साधकके लिये ये सर्वथा अस्पृश्य और उपेक्षणीय हैं ।

वीर साधकोंके लिये ये साधनाके अङ्गरूपमें क्यों गृहीत हुए हैं; इसपर तनिक स्थिरभावसे विचार करनेपर इसका उद्देश्य समझमें आ सकता है । वीर साधकका वीरत्व ही यही है कि वह तेजधार तलवार लेकर खेलका कौशल दिखलावे, परन्तु कहीं उससे तनिक भी चोट न खा जाय । तलवारको लेकर खेल करते-करते जिसने अपने सारे शरीरको ही लहू-लुहान कर दिया, फिर वह वीर ही कैसा ? उसका तो इन वस्तुओंको लेकर खेल करना मूर्खता ही है । जिसमें सामर्थ्य है, जो वीर है उसीके लिये इस प्रकारका खेल दिखलाना शोभाजनक है । तन्त्रोक्त वीर साधकको भी जब ये पञ्चतत्त्व तनिक भी विचलित नहीं कर सकें तभी समझना चाहिये कि वह वीर है, और इस प्रकारकी साधना उसे कभी पथभ्रष्ट या लक्ष्यभ्रष्ट नहीं कर सकती । जब ये सारी उन्माद पैदा करनेवाली वस्तुएँ भी मनुष्यके चित्तको विक्षिप्त और उन्मत्त नहीं कर सकें तभी समझा जा सकता है कि वह यथार्थ वीर है, तथा उसकी साधनाका उपकरण भी यथार्थ वीरके समान ही होगा ।

साधारणतः ये वस्तुएँ मनुष्यको उन्मत्त करती हैं, इसीलिये साधारण मनुष्यके लिये इनका अस्पृश्य होना विचारसंगत है । परन्तु सदा ही यदि ये मनुष्यको आकर्षण करके मोहकूपमें गिराती रहें, तथा सदा ही मनुष्य इनके भयसे यदि अधीर रहे; तो वह कभी भी इन प्रवृत्तियोंसे ऊपर नहीं उठ सकेगा । यदि मनुष्य यथेष्ट साधन-भजन करनेपर भी इन वस्तुओंके देखते ही इनके लिये लोलुप हो उठता है, तो साधनाकी उच्चावस्था प्राप्त

करनेकी सम्भावना उसके लिये कैसे हो सकती है ? तब तो शिक्षा, दीक्षा, साधना सभी वृथा हो जायगी। अपनेमें जो कच्चापन था, वह तो बना ही रहा, जल लगनेमात्रसे हम गल गये। इस प्रकारसे तो काम नहीं चलेगा। इसीलिये जब साधक पक्के हो जाते हैं, तब ये तत्त्व उनको आकर्षण नहीं कर सकते, वरं इनके द्वारा वे कितने ही सामयिक कार्योंको सिद्ध कर सकते हैं। अतएव जिनका चित्त इन तत्त्वोंके संसर्गमें आकर गल नहीं जाता, उन्हें ही वीर साधक समझना चाहिये। किन्तु केवल मुँहसे वीर कहने-मात्रसे ही काम न चलेगा, परीक्षा देनी पड़ेगी।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

—यदि साधककी चित्तवृत्ति विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी विकृत न हो तभी उन्हें धीर कहा जा सकता है।

कापुरुषके समान कोई-कोई कह सकते हैं कि जिस पथमें भय है, उसमें जानेका प्रयोजन ही क्या है ? निश्चय ही भयके मार्गमें न जानेसे स्थूल भयके दर्शनसे तो हम वञ्चित रह जाते हैं, परन्तु मनकी भयशून्यतारूप अभय-भावको तो प्राप्त नहीं होते; हमारे मनसे भयका संस्कार तो दूर नहीं हो जाता। हम यदि सदा ही माता-पिताकी गोदपर चढ़े रहें तो इसमें आराम अवश्य मिलेगा, पैदल चलनेमें गिरनेका डर है इस भयसे चलनेका अभ्यास न करनेपर गिरनेसे तो हम बचेंगे परन्तु इससे हम सदाके लिये पंगु ही बने रह जायँगे। चलनेलायक कभी नहीं होंगे।

इस पंगुत्वसे, इस विभीषिकासे जीवको अभय करनेके लिये ही तन्त्रकी इस अद्भुत साधनाका आविष्कार हुआ है। तन्त्रके अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्र-ग्रन्थोंमें भी वीर साधककी प्रशंसा दिखलायी देती है। शास्त्रान्तरमें लिखा है—

पुङ्खानुपुङ्खविषयानुपसेवमानो
धीरो न मुञ्चति मुकुन्दपदारविन्दम्।
संगीतवाद्यपरिनृत्तवशं गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥

धीर व्यक्ति बारम्बार विषय सेवन करते हुए भी मुकुन्दपदारविन्दसे पृथक् नहीं होते। जिनका मन गोविन्द-चरणारविन्दमें रत हो गया है, उनका मन बाह्य विषयोंके उपभोगकालमें भी भगवान्के चरणाम्बुजमें लगा ही रहता है। वह सहस्रों कर्मोंमें लगे रहनेपर भी मुख्य लक्ष्यको कभी नहीं भूलते। जिस प्रकार नटी यद्यपि घड़ा मस्तकपर रखकर अनेकों हाव-भावसे नृत्य करती है तथा उसके सङ्गीतका तान भी अनवरत अटूटभावसे चलता है, तथापि सिरके घड़ेके ऊपर उसका अटल लक्ष्य बना रहता है—वैसा न होनेसे उसका घड़ा सिरसे गिर जाता। इसी प्रकार जो साधक संसारके सब कर्मोंमें लिप्त रहते हुए भी गोविन्दको कभी नहीं भूलते, वही यथार्थ धीर हैं और यही धीर यथार्थ वीर साधक हैं। ये वीर साधक इस प्रकार मस्तकपर अग्नि लेकर, दोनों हाथोंमें तलवार लेकर जिस प्रकार अपने विविधरूपसे अङ्ग-सञ्चालनके द्वारा खेल दिखलाते हैं, तन्त्रोक्त वीर साधक भी उसी प्रकार विमुग्धकारिणी वस्तु लेकर साधन करते हैं, तथापि वे वस्तुएँ उन्हें कभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं करतीं। समय-समयपर युग-युगमें अनेक वीर साधकोंके चरणस्पर्शसे यह धरणी पवित्र हुई है। विचारपूर्वक देखनेसे मालूम हो जायगा कि हमारे पुराणोंमें वर्णित ध्रुव-प्रह्लाद आदि सभी वीर साधक थे। प्रह्लादके सामने सहस्रों प्रलोभन आये, ध्रुवके सम्मुख कितने भीषण दृश्य आये—तथापि उनको अच्युत-चरणसे विच्युत करनेका सामर्थ्य किसीमें न हुआ। यदि वे इन सब भयङ्कर और मोहक द्रव्योंमें परीक्षा देनेका अवसर न पाते, तो क्या उनकी सात्त्विक शक्तिका परिचय जगत्को कभी मिलता ?

दिव्याचार—जो दिव्य भावके साधक हैं वे इसकी अपेक्षा भी उच्चावस्थासम्पन्न पुरुष हैं, उनको नीचा दिखला सकने-की शक्ति किसी सांसारिक वस्तुमें नहीं है। कोई भी प्रलोभन उन्हें मुग्ध या विचलित नहीं कर सकता। दिव्य भावापन्न साधक नरदेव हैं। वे निरन्तर सन्तोषी, द्वन्द्वसहिष्णु, रागद्वेष-विवर्जित, क्षमाशील और समदर्शी होते हैं। गीताके बारहवें अध्यायके उच्चतम भक्तके लक्षणोंके साथ उनके सारे लक्षण मिल जाते हैं। वीर साधकोंके समान उनको अपनी असाधारण शक्ति प्रदर्शन करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वे अपने शत्रुओंको सहज ही अपने ऐसे सेवक बना लेते हैं मानों वे उनके घरके सदासे जाने-पहचाने हुए पुराने नौकर ही हों।

बाघको दबाकर उसे पराक्रम प्रकाशित न करने देना, अथवा उसके दोनों पैरोंको पकड़कर चक्रवत् घुमाकर तमाशा दिखलाना असाधारण शक्तिका परिचायक अवश्य

है, परन्तु वह व्यक्तिविशेषका वीरत्वमात्र है, उसे देवत्व नहीं कह सकते। जब देवभाव विकसित होता है तब बाह्य बल-विक्रम या योगशक्तिका प्रभाव दिखलानेका प्रयोजन नहीं रह जाता। वह तो सर्वदा उसे दिव्य शक्ति-द्वारा विमण्डित कर रखता है, इसीसे उसका हृदय सर्वदा प्रशान्त रहता है, उसमें लेशमात्र भी उद्वेग या आशङ्का नहीं रहती। उसमें एक ऐसा अपनेको भुला देनेवाला भाव रहता है, समस्त विश्वको अपना लेनेका एक ऐसा स्वाभाविक प्रेम उसके अन्तरमें उत्पन्न होता है जिससे व्याघ्र-सिंह आदि जीव भी उसे देखकर अपने स्वाभाविक हिंस्र-भावको भूलकर देवभावमें निमग्न हो जाते हैं। यही समाधि-मग्न योगीका परम दिव्य भाव—आत्मसाक्षात्कार ज्ञानीकी अपरोक्षानुभूतिकी चरम सीमा है। इसकी साधना कौला-चारकी मानसपूजामें प्रारम्भ होती है, तथा दिव्य समरसमें निमज्जित हो जाना ही इसका अवसान है। यहाँ उसी दिव्याचारकी प्रारम्भिक मानसपूजाकी विधि शास्त्रानुसार उद्धृत की जाती है।

हृत्पद्ममासनं दद्यात् सहस्रारच्युतामृतैः।
पाद्यं चरणयोर्दद्यान् मनस्त्वर्घ्यं निवेदयेत्॥
तेनामृतेनाचमनीयं स्नानीयं तेन च स्मृतम्।
आकाशतत्त्वं वस्त्रं स्याद् गन्धः स्याद्गन्धतत्त्वकम्॥
चित्तं प्रकल्पयेत्पुष्पं धूपं प्राणान्नियोजयेत्।
तेजस्तत्त्वञ्च दीपार्थे नैवेद्यं स्यात्सुधाम्बुधिः॥
अनाहतध्वनिर्घण्टा वायुतत्त्वञ्च चामरम्।
सहस्रारं भवेच्छत्रं शब्दतत्त्वञ्च गीतकम्॥
नृत्यमिन्द्रियकर्माणि चाञ्चल्यं मनसस्तथा।
सुमेखलां पद्ममालां पुष्पं नानाविधं तथा॥
अमायाद्यैर्भावपुष्पैरर्चयेद्भावगोचरम्।
अमायमनहङ्कारं अरागममदं तथा॥
अमोहकमदम्भञ्चाद्वेषाक्षोभकौ तथा।
अमात्सर्यमलोभञ्च दशपुष्पं विदुर्बुधाः॥
अहिंसा परमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
दया पुष्पं क्षमा पुष्पं ज्ञानपुष्पञ्च पञ्चमम्॥
इति पञ्चदशैर्भावपुष्पैः सम्पूजयेच्छिवम्।
कामक्रोधौ छागवाहौ बलिं दत्त्वा प्रपूजयेत्॥

इस मानसपूजापर विचार करनेसे समझमें आ जा सकता है कि दिव्य भावद्वारा परिपूर्ण पुरुषके लिये मांसाहार करने या मदोन्मत्त होनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। मुखसे केवल यह कहकर कि 'अपने हृदयपद्मको तुम्हारे आसनरूपमें मैंने दिया' मन्त्र पढ़ देनेसे ही आसन देना नहीं बनता। साधकको अनुभव करना पड़ेगा कि हमारे हृदयासनपर भगवान् बैठे हैं। हृदयमें दूसरी कोई झलक न उठे, और न दूसरी कोई आशा ही जाग्रत हो। जो अपने हृदयके अधीश्वर हैं, भक्त केवल उन्हींको हृदयमें अनुभव करते हैं। इसी अवस्थामें हृदयासन उनके लिये अर्पित होता है। उसी प्रकार सहस्रारच्युत अमृत पाद्यरूपमें देना पड़ता है। किन्तु इसकी केवल मनमें कल्पना कर देनेसे ही काम न चलेगा। जब यथार्थरूपसे साधकके सहस्रारसे सुधा स्रवित होती है, तब उसके द्वारा साधक भगवान्के चरण प्रक्षालन करता है। वे चरण भी अद्भुत हैं, और उनका प्रक्षालन भी एक अद्भुत रहस्य है। तत्पश्चात् मनको अर्घ्य बनाकर उन्हें समर्पण करना होगा। जो वस्तु दे दी जाती है, वह फिर अपनी नहीं रह जाती—इस मनको अर्घ्यरूपमें निवेदन कर देना होगा, जिससे वह फिर हमारे सङ्कल्पोंका वाहक नहीं रह जायगा। तब मन सदाके लिये विष्णुके परमपदमें अपने आपको लीन कर देगा। फिर इस पूजाके लिये पुष्प भी कितने सुन्दर हैं! दयापुष्प, क्षमापुष्प, ज्ञानपुष्प, अहिंसा, इन्द्रियनिग्रहरूप परम पुष्प—और भी अनहङ्कार, अनासक्ति, अमद, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य, अलोभ आदि कितने सुन्दर-सुन्दर पुष्प हैं! इन पुष्पोंका चयन किये बिना इस पूजाका आयोजन ही कैसे होगा? इसीलिये सर्वत्र चरित्रबल, साधनबलकी प्राप्ति होनेपर इस पूजाका पुजारी बना जा सकता है। यही दिव्याचारका मार्ग है।

कौलाचार—यह कौलाचार एक बड़ा ही जटिल विषय है। परन्तु तन्त्रमें इसकी बड़ी प्रशंसा पायी जाती है। इसकी साधना वीराचारके ही समान है। परन्तु इसमें वीरता दिखानेकी अपेक्षा वीर बननेकी साधनाकी ओर ही विशेष लक्ष्य रक्खा जाता है। वीराचारकी साधनामें पहलेसे ही कुछ वीर होना, कुछ प्रकृत वीरत्वका होना परमावश्यक है, नहीं तो पतन अवश्यम्भावी हो जायगा। कुलाचारकी प्रणालीमें भी पञ्चतत्त्वोंका व्यवहार प्रचलित है अवश्य, परन्तु वह मत्स्य-मांसासक्त व्यक्तिको संयम-पथमें लानेकी एक चेष्टामात्र है। जो साधनहीन पुरुष इन पञ्च मकारोंमें डूबे हुए हैं, उनके उस घोर नशेको उतारनेके लिये, उन्हें और भी उच्चतर श्रेष्ठतर दिव्य मदका मार्ग दिखलानेके लिये

जीवोंके प्रति भगवान् सदाशिवकी अद्भुत करुणा इस साधनामें प्रकाशित होती है।

भोगोंके पीछे पागल हुए मनुष्योंको भोगोंसे छुड़ाकर मोक्ष-सुखका स्वाद चखानेके लिये ही ऐसी व्यवस्था की जाती है।

भोग-वारुणीके साथ मोक्षकी शान्त सुधा मिला दी जाती है, इसी कारण कौलाचारको भोगमोक्षपथके नामसे पुकारते हैं। लक्ष्य तो केवल मोक्ष है, और भोग केवल उपलक्ष्य-मात्र है; मोक्ष लक्ष्य या उपेय है और भोग उसका उपाय या साधन है। जो बालक ओषधि नहीं खाना चाहता, उसे जिस प्रकार वैद्यराज खाँड या लड्डू का लोभ दिखलाकर ओषधि लेनेके लिये प्रलुब्ध करते हैं—यह भी प्रायः वैसी ही बात है। मोक्षकी इच्छामें भोगके उपकरणद्वारा भोगको संयत करना ही इसका उद्देश्य है। तन्त्रमें कुलाचारके सम्बन्धमें लिखा है—

यत्रास्ति भोगबाहुल्यं तत्र योगस्य का कथा।
योगेऽपि भोगविरतः कौलस्तूभयमश्नुते॥

जहाँ भोगबाहुल्य है, वहाँ फिर योगप्राप्ति सम्भव नहीं है, फिर जहाँ योगानुष्ठान है, वहाँ भोग नहीं रह सकता। परन्तु कुलाचारमें प्रवृत्त होनेपर साधक भोग और योग दोनोंको प्राप्त करते हैं। इसी कारण यह पथ अपेक्षाकृत सहज और इस युगके लिये उपयोगी माना जाता है। इसमें पञ्चतत्त्वोंका स्थूलभावमें ग्रहण करनेपर भी इनके व्यवहारके जो नियम हैं (अर्थात् पञ्चतत्त्व शोधन करके व्यवहार करनेकी प्रणाली) तथा उसकी शोधनप्रणाली भी इस प्रकार साधनाङ्गके साथ जोड़ दी गयी है कि उसमें भोगका नाम-मात्र ही रह जाता है—भोगवासना तृप्त करनेका अवसर ही नहीं रह जाता। पहले यह बात कही जा चुकी है कि इन तत्त्वोंके द्वारा जो साधनाका अनुष्ठान है वह भोगार्थ नहीं है, इन प्रवृत्तियोंसे छूट जाना ही इस साधनका उद्देश्य है। महानिर्वाणतन्त्रमें लिखा है—

कुलाचारगता बुद्धिर्भवेदाशु सुनिर्मला।
तदाद्याचरणाम्भोजे मतिस्तेषां प्रजायते॥

'कुलाचारके अनुवर्ती होनेपर बुद्धि शीघ्र ही निर्मल हो जाती है, तथा बुद्धिकी निर्मलतासे जगज्जननी आद्याके चरण-कमलमें स्थिरबुद्धि अर्थात् दृढ़मति उत्पन्न होती है।'

इससे समझा जा सकता है कि बुद्धिको निर्मला और ब्रह्ममुखी करनेके लिये ही भोगके द्वारा मोक्षका द्वार खोलना इस साधनाका उद्देश्य है। परन्तु इन तत्त्वोंका इच्छानुसार व्यवहार नहीं करना होगा। उपयुक्त गुरुके सम्मुख बैठकर यह अनुष्ठान करने पड़ते हैं। उपयुक्त गुरुके न मिलनेपर साधकको इन वस्तुओंको लेकर खेल नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर उससे लाभकी जगह हानि ही होगी। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या इन कुपथ्योंके द्वारा कभी भवरोग नष्ट हो सकता है ? उत्तर यह है कि हाँ हो सकता है। भगवान्ने इस जगत्की प्रत्येक वस्तुको इस कुशलतासे बनाया है कि उनके व्यवहारका यथार्थ ज्ञान होनेसे उनसे अमृतकी प्राप्ति हो सकती है, और व्यवहारदोषसे उन्हींसे विष भी उत्पन्न हो सकता है।

येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तवः।
तेनैव विषखण्डेन भिषग् नाशयते रुजम्॥

'जिस विषके खानेसे जीवकी मृत्यु होती है उसी विषके द्वारा वैद्य रोगीका रोग नाश करते हैं।'

इसलिये गुरु ऐसा होना चाहिये जो यथार्थ भव-रोगका वैद्य हो। कुलाचार जीवोंके भवबन्धन नष्ट करनेकी ही चेष्टा करता है। जीवको मद्यपी या लम्पट बनानेके उद्देश्यसे शास्त्रविधिकी रचना नहीं हुई है।

स्त्रीके द्वारा कुलाचारका साधन होता है, परन्तु उस स्त्रीको भोगकी वस्तु नहीं समझना होगा, उसे साक्षात् इष्टदेवीस्वरूपिणी समझे बिना कोई तन्त्रोक्त साधनामें सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। चण्डीमें भी लिखा है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

'हे देवि ! सारी विद्याएँ तुम्हारा अंशमात्र हैं। संसारकी सारी स्त्रियाँ तुम्हारा ही रूप हैं। एकमात्र तुम्हीं मातृरूपमें इस जगत्के बाहर-भीतर व्याप्त हो रही हो।'

अतएव तन्त्र इन तत्त्वोंको साधारण दृष्टिसे नहीं देखता। बुद्धि मलिन होनेके कारण ही हम पवित्रभावसे तन्त्रोंको नहीं देख सकते। महानिर्वाणके सप्तमोल्लासके अन्तमें इसी कारण इसके व्यवहारके सम्बन्धमें सावधान कर दिया गया है—

असंस्कृतञ्च यत्तत्त्वं मोहदं भ्रमकारणम्।
विवादरोगजननं त्याज्यं कौलैः सदा प्रिये॥

ये पञ्चतत्त्व विधिपूर्वक शोधित न होनेपर केवल मोह और भ्रमका कारण बनते हैं, विवाद और रोग भी उत्पन्न करते हैं—अतः कौलोंको असंस्कृत तत्त्वोंका सर्वतोभावेन त्याग करना चाहिये ।

तन्त्रोक्त साधनामें बहुत शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है । जो सिद्धिलाभके लिये समुत्सुक हैं वे ही तन्त्रोक्त प्रणालीसे साधन करनेमें अग्रसर हो सकते हैं । परन्तु इससे साधन-सिद्धि जैसे थोड़े ही दिनोंमें हो जाती है, इसी प्रकार इसमें उसी परिमाणमें साधनाकी उत्कटता भी अत्यन्त अधिक होती है । यह उत्कटभावकी साधना क्यों गृहीत हुई, इसपर विचार नहीं करना है, क्योंकि यह किसी मनुष्य-विशेषके चिन्तनका फल नहीं है । यह साधकोंके साधनसे प्राप्त अनुभवके द्वारा आविष्कृत हुआ है—जिस अवस्थामें उन साधकोंको इसका ज्ञान हुआ है, उसको सदाशिवकी उक्तिके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? तन्त्रोक्त साधनाके स्थान और कालके विषयमें विचार करके देखिये। वह जीवके साधारणभावमें स्थित चित्तके द्वारा हो ही नहीं सकता । पहले सोचिये, साधनाका स्थान ही कैसा भयङ्कर है, वहाँ दिनमें भी जानेमें भय होता है । जहाँ नरकंकाल, नरमुण्ड और विच्छिन्न कंकालराशि इधर-उधर बिखरे पड़े हों, निर्जन, दुर्गन्धसे परिपूर्ण, सियारोंकी चिल्लाहट-से विभीषिकामय बने हुए श्मशानक्षेत्रमें अमावास्याके घोर अन्धकारमें मृतदेहके वक्षःस्थलपर बैठकर साधन करना होता है ! बतलाइये, इसमें साधकके लिये कितने असीम साहसकी आवश्यकता है । इसीके लिये इसीके उपयोगी तत्त्वोंका भी प्रयोजन होता है ।

जिनका इस मार्गमें अनुराग नहीं है, जिन्हें इन वस्तुओंसे यथेष्ट घृणा है, जानना चाहिये कि उनके लिये यह मार्ग कदापि नहीं है । क्योंकि शास्त्र जीवोंकी प्रकृतिकी विचित्रताका विचार करके ही नाना प्रकारके मार्गोंका उल्लेख करते हैं । जीवके रुचिभेदसे भिन्न-भिन्न भावमय उपास्य देवता और उनकी साधनप्रणालीमें भेद होते हुए भी चाहे जिस मार्गका अवलम्बन किया जाय, साधकके लिये लक्ष्यस्थानपर पहुँचनेमें असुविधा नहीं होती, तथा सब साधनाओंके चरम लक्ष्य भगवान् भी पृथक्-पृथक् नहीं हो जाते । अतएव साधनाकी प्रणाली चाहे जो हो भगवत्-प्राप्तिके विषयमें कोई वैलक्षण्य नहीं घटता । पद्मपुराणमें लिखा है—

> **सौराश्च शैवगाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।**
> **मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा ॥**

पुनः यह भी विचार रखना होगा कि समस्त शास्त्र ऋषिप्रणीत हैं । हमारे-जैसे अज्ञ पुरुष शास्त्ररचना नहीं कर सकते, इसलिये साधनके पथ भिन्न हों, विकट हों, या बीभत्स हों, हम उनकी निन्दा या उपहास नहीं कर सकते। जीव जिस प्रकार त्रिगुणान्वित है उनकी साधनपद्धति भी उसी प्रकार गुणभेदसे विभिन्न प्रकारकी होगी । ऋषिप्रोक्त शास्त्रोंकी यथार्थ महिमा ही यही है कि साधनपथ बाह्य दृष्टिसे चाहे जितना विकट और बीभत्स हो, साधक यदि यथार्थमें भगवान्को लक्ष्यकर अकपट भावसे साधनामें अग्रसर होता है, तो अन्तमें साधनाका अन्तिम फल भगवत्प्राप्ति उसे होगी ही । स्थूल दृष्टिसे किसी-किसी तन्त्रोक्त साधनप्रणालीको चाहे हम कितना ही हेय क्यों न समझें, प्रकृत साधकके निकट वह हेय नहीं हो सकती ।

यहाँतक तन्त्रोक्त स्थूल अनुष्ठान पद्धतिकी ही आलोचना की गयी है अब इसके परम रमणीय आध्यात्मिक साधनके विषयमें कुछ लिखा जाता है। (क्रमशः)

रामकी रीति

शरणागत शत्रु-सहोदरको लखना उनकी नृप-नीति नहीं।
निज दासके द्रोहीको मारनेमें उनको अपगीतिकी भीति नहीं ॥
सबरीके चखे बदरीफलकी क्या करी थी उन्होंने प्रतीति नहीं ।
कर प्रीति जिसे अपनाया उसे तजना यह रामकी रीति नहीं ॥

—विश्वनाथ मिश्र

स्वार्थी असुर

(अ०—श्रीबालमुकुन्दजी वर्मा)

सन्ध्याके समय बालक पाठशालासे आकर असुरके उद्यानमें खेला करते थे ।

यह उद्यान अत्यन्त मनोहर था । इसकी हरी-हरी मखमली घास चित्ताकर्षक थी । इस घासमें इधर-उधर हर तरफ अति सुन्दर पुष्प आकाशमें तारागण-की भाँति चमक रहे थे । इसी उद्यानमें आडू, आम, सेव, नासपाती आदिके पेड़ खड़े लहलहा रहे थे और उनकी टहनियोंके साथ फलोंके गुच्छे लटक रहे थे । पेड़ोंके ऊपर रंग-बिरंगे पक्षी बैठे चहचहा रहे थे । उनके मधुर संगीतको सुननेके लिये बालक अपना खेलकूद बन्द करके मन्त्रमुग्धकी नाईं खड़े-के-खडे रह जाते और पुकार उठते, 'अहा ! कैसा सुहावना बगीचा है ।'

असुर महाराज अपने एक मित्र असुरके साथ मुलाकात करनेके लिये बाहर गये हुए थे । श्रीमान् असुरजीको अपने मित्रके साथ कुछ बातें करनी थीं, इसीमें उनके सात वर्ष व्यतीत हो गये । इस बीच बालक उस उद्यानमें आकर निष्कण्टक खेलते रहे ।

श्रीमान् असुरजी मुलाकात समाप्त करनेके अनन्तर एक दिन अपने महलमें लौटे, देखा कि बालक उद्यान-में खेल रहे हैं । उनके क्रोधका वारापार न रहा । आँखोंमें खून भर आया । बालकोंका स्वच्छन्द नटखट नाच और खेल-कूद उन्हें एक आँख भी न भाया, भयानक स्वरमें वे गूँज उठे, 'अरे, यहाँ क्या कर रहे हो ?' बालक दौड़ चले !

'मेरा महल, मेरा उद्यान, ये वृक्ष तथा यह हरी-हरी घास, ये वृक्षोंके फल मेरी मिलकियत हैं । मेरी मिलकियतमें दूसरेका क्या हक है । अपनी मिल-कियतमें मैं ही खेल-कूद सकता हूँ—दूसरा नहीं ।' यह सोचकर असुर महाराजने एक ऊँची दीवार अपने बगीचेके इर्दगिर्द बना दी और एक नोटिसबोर्ड लगा दिया—

'अन्दर आनेवाला सज़ा पायेगा ।'

ग्रामके बालकोंके खेलनेके लिये और कोई रमणीक स्थान न था, बेचारे सड़कपर ही खेलने-कूदने लगे । सड़ककी मिट्टी, सड़कके कंकड़ उनको कष्ट देने लगे । सड़कको छोड़कर वे गरीब बालक बगीचेकी दीवारके बाहर ही टहलते रहते और उद्यानकी रमणीयताके गीत गाते रहते और बड़ी उत्सुकताके साथ आपसमें यही कहते, 'अहा ! दीवारके भीतर कैसा रमणीक उद्यान है ।'

शीत ऋतुका अन्त हुआ । बसन्त फूली । प्रान्तमें हर जगह, हर तरफ वृक्ष फूले, कलियाँ फूटीं, फूल खिले और पेड़ोंपर बैठे पक्षी अपना-अपना मधुर राग अलापने लगे ।

केवल असुर महाराजके उद्यानमें अभीतक शीत ऋतुका ही दौर-दौरा था । पक्षियोंकी चहचहाहट बन्द थी, क्योंकि उद्यानमें बालक तो नज़र ही न आते थे । वृक्ष भी फूलना भूल गये । कदाचित् फूलकी एक कली घासमेंसे फूट निकली परन्तु नोटिसबोर्डको देखते ही कलीका कोमल हृदय बैठ-सा गया और वह भी चुपकेसे घासके भीतर ही अन्तर्धान हो गयी ।

हाँ, कुछ व्यक्तियाँ ऐसी थीं जो उजड़े हुए उद्यान-को देखकर प्रसन्नचित्त थीं, वह थीं 'बरफ़' और 'कोहरा' 'बसन्त इस उद्यानको भूल ही गयी है—अब वह यहाँ नहीं आवेगी । अब इस उद्यानमें सर्वथा और सर्वदा हमारा ही आधिपत्य रहेगा' बरफ़ और कोहरेने कहा !!

हरी-हरी घास सूखकर काँटा बन गयी। रुण्ड-मुण्ड पेड़ोंकी सूखी हुई टहनियोंपर भी सफेद कोहरा जम गया। बर्फ और कोहरा दोनों मित्रोंने अपनी सहेली 'उत्तरी हवा'को निमन्त्रण भेजा। वह भी आ पहुँची!

वह महामाया इतने वेगसे चलने लगी कि असुर महाराजके महलकी खिड़कियाँ और दरवाज़े घोर नाद करने लगे। वृक्षोंकी सूखी हुई टहनियाँ कड़कड़ाकर गिरने लगीं।

उद्यान तथा महलको तहस-नहस करनेके लिये अब केवल 'ओला' महाशयकी ही कसर थी, तीनों मित्रवरोंने परामर्श करके उनको भी न्योता भेज दिया, वह भी दलबलसहित आ विराजे। दिन-रातमें तीन घण्टे असुर महाराजकी नौकरी बजानेका निःस्वार्थ भार अपने कन्धोंपर उठा लिया। छतों, दीवारों, खिड़कियों और दरवाज़ोंपर लगातार खटखटाहटकी आवाज़ने असुर महाराजके लिये एक अपूर्व संगीतका समा बाँध दिया, शीशे टूट-टूटकर उद्यानमें गड़ गये, छतोंकी स्लेटें चकनाचूर हो गयीं, बगीचेके पेड़ सूख गये।

असुर महाराज अपने महलके दीवानखानेके एक झरोखेमें बैठकर अपने बगीचेकी दशा निहारने लगे और कहने लगे, 'ओह! उद्यानमें बसन्तका नामोनिशान नहीं, सब तरफ़ सफेदी-ही-सफेदी है, शीतसे हर चीज़ ठिठुरी हुई पड़ी है। आह! कभी यहाँ भी बसन्त आवेगी?' परन्तु बसन्त नहीं आयी। ग्रीष्म ऋतुका तो कहना ही क्या। दूसरे स्थानोंमें फल लगे, डालियाँ उनके बोझसे झुक-झुककर अपने फल सब छोटे-बड़ोंके लिये सुलभ कर रही थीं, लेकिन असुर महाराजके उद्यानके पेड़ अकड़े खड़े थे। बसन्तने स्वार्थी असुरके आँगनमें सज़ाके डरसे पदक्षेप नहीं किया। उस उद्यानमें निरन्तर शीत, बरफ़, उत्तरी हवा, कोहरा और ओलोंका ही दमदमा लगा रहा।

एक दिन प्रातःकाल असुर महाशयको बिस्तरमें पड़े हुए एक अपूर्व संगीत सुनायी दिया। उसने समझा कि राजकीय संगीतमण्डली उसके महलके पाससे जा रही है। वस्तुतः एक कोयल उसकी खिड़कीके पास अलाप रही थी। उसको ऐसा गाना सुने इतना अधिक समय बीत गया था कि वह उस कोयलके अलापको ही तानसेनी संगीत मान बैठा। फिर उसने अनुभव किया कि अति शीतल उत्तरी हवा जो रोज़ उसके उद्यानमें चला करती थी, बन्द है और खिड़कीके बीचमेंसे उसे भीनी-भीनी पुष्प-सुगन्ध आने लगी। असुर महाशयने अनुभव किया कि बसन्त आ गयी। वह बिस्तरसे कूदकर खिड़कीमेंसे बाहरकी ओर झाँकने लगा।

बाहर देखते ही वह चकित-सा रह गया। उसकी बनायी हुई दीवारमें एक सूराख हो गया था और उस सूराखमेंसे घुसकर आये हुए बालक वृक्षोंकी टहनियोंपर बैठे हुए थे। वृक्ष बालकोंके आनेसे प्रसन्न-चित्त होकर फूलोंसे लदे हुए थे और बालकोंपर अपनी टहनियोंकी छत्रछाया किये हुए प्रफुल्लित हो रहे थे। घास हरी-भरी हो रही थी और उसके बीचमेंसे बहुरंगे फूल निहार रहे थे। पक्षीगण अपना मधुर अलाप अलाप रहे थे। चारों दिशाओंमें आनन्द और उल्लास छा रहा था।

यह दृश्य अति मनोहर था, परन्तु उद्यानका एक कोना अभी जैसे-का-तैसा ही ठिठुरा हुआ मूक पड़ा था। उस कोनेमें एक छोटा-सा बालक अकेला ही खड़ा था। वह इतना छोटा था कि वृक्षोंकी शाखाओंतक नहीं पहुँच पाता था। वह वृक्षके इर्द-गिर्द ज़ोरोंसे घूम रहा था और साथ-ही-साथ रोता भी जाता था और सिसकियाँ भर रहा था। इस वृक्षपर बरफ़का जमाव अभी ज्यों-का-त्यों ही था। उत्तरी हवाके ज़ोरके धक्के इसे लग रहे थे। वृक्षने बालकसे कहा—'बेटा,

चढ़ आओ' और अपनी टहनियोंको इतना नीचा कर दिया जितना कि सम्भव था, परन्तु फिर भी बालक बहुत नन्हा होनेके कारण वहाँतक नहीं पहुँच सका!

यह देखकर असुरका हृदय पसीजा, उसने कहा—'हा, मैं कैसा स्वार्थी हूँ। अब मुझे माळूम हुआ कि मेरे उद्यानमें क्यों बसन्त ऋतु आती ही न थी। मैं उस नन्हे बालकको अभी वृक्षपर चढ़ा दूँगा, मैं उस दीवारको जो मैंने बालकोंको रोकनेके लिये बनवायी थी—उस निगोड़ी दीवारको—फौरन गिरा दूँगा। आजसे, अभीसे मेरा उद्यान बालकोंके लिये ही रहेगा, केवल उनके मनोरञ्जनके लिये ही! हाँ अभीसे और सर्वदा वह बालकोंका उद्यान रहेगा।'

राक्षस अपने महलकी ऊँची अट्टालिकासे नीचे उतरा और आहिस्ता-आहिस्ता बगीचेमें पहुँचा। बालकोंने ज्यों ही उसको देखा, भयभीत होकर वे वहाँसे भाग निकले और वही उद्यान जो अभी-अभी फलों और खिले हुए फूलोंकी सुगन्धसे महक रहा था फिरसे रुण्ड-मुण्ड हो गया।

केवल एक वह नन्हा बालक जो उद्यानके दूसरे कोनेमें खड़ा रो रहा था, नहीं दौड़ा क्योंकि उसकी अश्रुओंसे भरी हुई आँखोंने असुरको देख ही नहीं पाया था।

असुर चुपकेसे उसकी ओर बढ़ा और आहिस्तासे बालकको उठाकर उसे वृक्षकी टहनीपर बैठा दिया। रुण्ड-मुण्ड वृक्ष आन-बानमें हरा हो गया, फलों और फूलोंसे लद गया। पक्षी आ-आकर वृक्षकी टहनियोंपर बैठ गये और अपने मधुर राग अलापने लगे। नन्हे बालकने अपने कोमल हाथ आगेको बढ़ाये, अपने आपको असुरके गलेका हार बना दिया और प्रेमभरे नयनोंसे असुरकी ओर देखकर मुसकराते हुए अधरोंसे राक्षसके मस्तकपर रसभरा चुम्बन दे दिया। असुर निहाल हो गया।

दूसरे बालक जो दूरसे इस घटनाको देख रहे थे निर्भय हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि असुर अब असुर नहीं रहा और वह दौड़ते हुए बागमें फिर घुस आये और वृक्षोंपर चढ़ गये। उद्यान फिरसे हराभरा हो गया। असुर महाशय बोले, 'पुत्रो! आजसे यह बाग तुम्हारा ही है, खेलो-कूदो और मौज़से फल खाओ' उसने दीवारको उसी क्षण तोड़ डाला।

बालक स्वच्छन्दतासे उद्यानमें सारा दिन खेला-कूदा करते और सन्ध्याको असुरको नमस्कार करके घर लौट जाते।

एक दिन असुर देवताने बालकोंसे पूछा कि 'वह नन्हा-सा बालक जिसको मैंने स्वयं वृक्षपर चढ़ाया था, वह फिर कभी देखनेमें नहीं आया।' असुर महाराज उस चुम्बनसे जो उस बालकने उनके माथेपर दिया था, अति प्रसन्न थे और इच्छा यही थी कि वह बालक फिर मिले।

बालकोंने कहा कि 'हम उस नन्हे बालकको, जिसके आगमनसे हमें वह उद्यान मिला है जानते ही नहीं और न उसको उससे पहले अथवा उसके बाद कभी हमने देखा है।' इससे असुरके दिलमें कुछ चोट-सी लगी।

प्रतिदिन बालक उद्यानमें आते, खेलते-कूदते। असुरजी भी उनके साथ खेलते परन्तु वह बालक फिर कभी न आया।

कई वर्ष व्यतीत हो गये। राक्षस देवता भी वयोवृद्ध हो गये। शरीरके क्षीण होनेके कारण अब वह बालकोंके साथ खेल नहीं सकते थे, आरामकुरसीमें बैठकर दूरसे ही बालकोंकी खेल-कूदका आनन्द लेते, कभी-कभी कह देते 'अरे, बागमें अपूर्व फूल हैं पर ये बालक तो उन फूलोंमें भी अपूर्व ही हैं।'

शरद् ऋतु फिर आयी, फूल-पत्ते झड़ गये। परन्तु असुर देवताको अब शरद् अथवा शीतसे वह पहली घृणा

नहीं थी। वह जानते थे कि बसन्त केवल सो रही है फिर जगेगी और फिर वह पहलेकी-सी चहल-पहल होगी।

शीत यौवनपर थी। उद्यानमें सर्वत्र घास सूखी हुई थी, पेड़ रुण्ड-मुण्ड खड़े थे। एक दिन प्रातः असुर देवता शय्यासे उठते ही देखते हैं कि उसके उद्यान-का वही कोना बसन्तसे फला-फूला है—वह वृक्ष हरा-भरा खड़ा है, फूल खिल रहे हैं और उसी वृक्षके तले वही नन्हा बालक खड़ा है।

असुर देवता दौड़ते हुए महलसे नीचे उतरे और उस कोनेकी ओर झपटे। बालकके पास पहुँचते ही उन्होंने देखा कि बालकके दोनों हाथों और दोनों पैरों-में कील गाड़नेके चिह्न-से पड़े हुए हैं। क्रोधातुर होकर बालकसे धीरेसे कहा—'बेटा, यह घाव किसने लगाये हैं, यदि तुम बताओ तो मैं अभी उस निर्दयीका सिर काटकर तुम्हारे पैरोंपर रख दूँ।'

बालकने प्रेमभरे स्वरमें कहा, 'मित्रवर! घबराओ मत, यह घाव द्वेषके नहीं, प्रेमके हैं।'

असुर (कुछ घबराकर) 'तुम कौन हो'—इतना कहते ही असुर देवता बालकके पैरोंपर विनयपूर्वक दण्डवत् करने लगे।

बालकने मुस्कानभरी निगाहसे राक्षसकी ओर देखा और कहा 'तुमने मुझे अपने उद्यानमें प्रेमपूर्वक खेलाया था न? आज मैं तुम्हें अपने बाग (परम धाम) में खेलनेके लिये ले जाना चाहता हूँ।'

सन्ध्याको जब दूसरे बालक उद्यानमें आये तो उन्होंने देखा कि असुर देवताका शव वृक्षके नीचे पड़ा है और श्वेत फूलोंसे लदा हुआ है।*

अध्यात्मकी ओर!

है नहीं किसीको मैंने, सुख-निद्रा सोते देखा।
हा! जन्म लिया है जबसे, जग सारा रोते देखा॥
इस चक्रव्यूहमें किसने, रे! सुख उपभोग उठाया।
वह छला गया जो इसमें, एकाकी दौड़ा आया॥
इस नश्वर जग-जीवनमें, मायामें रास मचाया।
औ सुख-लिप्सामें देखी, उस कल्प-वृक्षकी छाया॥
है हुई यहाँपर मेरी, आते ही रोचक-रोली।
हा! आँखें मींची, कर दी, आ! किसने नंगा-झोली॥
तत्काल चितामें जलते, लोगोंने मुझको देखा।
औ 'मृतक-विरति' की सबने, मानसमें खींची रेखा॥
यह ओस-बिन्दु-सा जीवन, उन्मत्त उषा लहराता।
पर दिन चढ़ते ही स्वयमपि, है रज-कणमें मिल जाता॥

—दयालगिरि गोस्वामी

* "The Selfish Giant" by Oscar wilde.

एक सन्तके अमृत-वचन *

(संग्रहकर्ता—श्रीदेवीचरणजी निगम एम० ए०)

तुम अपनेको देह मत समझो। तुम्हारा स्वरूप यह शरीर नहीं है। तुम मूत्र नहीं हो। तुम मल नहीं हो। क्योंकि इनके त्यागनेपर भी तुम बने रहते हो। तुम केश नहीं हो, जो आठवें रोज काट दिये जाते हैं। तुम वह हो जिसकी स्थितिसे तुम्हारे शरीरकी स्थिति है। जिसके निकलनेसे तुम्हारा शरीर सड़ जाता है।

× × × ×

तुम अमर हो, अजर हो, आनन्दमय हो। तुम्हारा वह स्वरूप है, जिसके लिये गीता कहती है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

× × × ×

तुम्हारे मनसे ही यह सारा संसार है। परमपद पानेकी इच्छा हो तो मनका नाश करो। कहा है—

मनोनाशः परमं पदम्।

गायके चार पैर होते हैं। उनमेंसे यदि एक भी काट दिया जाय, तो गाय चल नहीं सकती। ऐसे ही प्रत्येक ग्रन्थके चार अङ्ग होते हैं। उसका पढ़ना, उसके अर्थ समझना, उसके भावार्थ समझना और उसके अनुसार रहनी रहना। अगर तुमने ग्रन्थ पढ़ लिया पर उसके अर्थ, भावार्थ न समझे तो तुम्हारा पढ़ना व्यर्थ है। अर्थ-भावार्थ समझ भी गये और रहनी न रहे, उसके अनुकूल अपनी दिनचर्या, अपना आचरण नहीं बनाया, तो भी पूरा लाभ नहीं होता। इससे मेरे भाई! चाहे थोड़ा ही पढ़ो, मगर अपनी रहनी वैसी ही बना लो।

× × × ×

बहुत ज्यादा पढ़नेसे कोई लाभ नहीं। एक ग्रन्थ पकड़ो, गीता ले लो, उसपर अमल करो। बस, तुम्हारा कल्याण है।

× × × ×

गीताका एक ही श्लोक ले लो। उसपर चलो। उसके अनुसार बन जाओ, बस, तुम मुक्त हो। गीता कहती है—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
(५।२८)

'जिस मनुष्यने अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये जीत लिये हैं, जो मुनि यानी मननशील है, जो मोक्षके साधनोंमें लगा है, जिसको इच्छा, भय, क्रोध आदि कोई वेग नहीं हैं, वह मनुष्य सर्वदा मुक्त है।' इन सब बातोंको पकड़ो, अपनी दिनचर्यामें इनका समावेश करो।

प्र०—भगवन्! इन्द्रियोंके जीतनेसे क्या मतलब है?

उ०—प्यारे! इन्द्रियोंके जीतनेसे अभिप्राय है 'इन्द्रियोंको वेदानुसार चलाना।' इन्द्रियोंको कोई एकदम बन्द नहीं कर सकता। जैसे वेदोंमें लिखा है, इन्द्रियोंसे वैसे ही काम लेनेको 'इन्द्रियोंको जीतना' कहते हैं।

* सौभाग्यसे और पूर्वजन्मके संस्कारोंसे मुझे भी कभी-कभी बैरीनिवासी श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्रीस्वामी एकरसानन्दजीके मंगलमय चरणकमलोंमें बैठनेका अवसर प्राप्त हुआ है। कभी-कभी उनके अमृतमय उपदेश भी सुननेको मिले हैं। उनमेंसे थोड़े-से मैंने लिख लिये थे। वही आज 'कल्याण' के पाठकोंके सामने उपस्थित करता हूँ। —लेखक

प्र०—मुनि कौन है ?

उ०—मुनि कहते हैं मननशीलको, जो इस बातका मनन करे, विचारे, कि संसारमें सत् वस्तु क्या है और असत् वस्तु क्या है ।

× × × ×

देखो यह तीन अङ्क हैं—'१११' । इनका ऐसा विवेचन है ।

१ (प्रकृति) १ (जीव) १ (ईश्वर) । ईश्वरका मुख जीव और प्रकृति दोनोंकी ओर है । वह दोनोंको देखता है । जीवका मुख प्रकृतिकी ओर है । ईश्वरकी तरफ उसने पीठ कर दी है। बस, इसीलिये उसे दुःख है । जिस दिन वह ईश्वरकी ओर मुख कर लेगा, वह तुरन्त ही निहाल हो जायगा । प्रकृति जड़ होनेकी वजहसे अन्धी है । वह कुछ भी नहीं देखती ।

× × × ×

सगुण-निर्गुणमें कोई भेद नहीं है । दोनोंमें एक ही ईश्वरकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं । जब ईश्वर काम करने लगता है, तब वह सगुण हो जाता है । जब वह विश्राम करने लगता है, तब निर्गुण कहलाता है ।

प्र०—भगवन् ! अभी पूरे तौरसे भेद समझमें नहीं आया ।

उ०—देखो रेलवेके इञ्जिनको । जब वह रेल चलाता है, तब वह सगुण है, जब वह बिना काम किये खड़ा रहता है, तब निर्गुण है ।

× × × ×

सब शास्त्रोंसे 'मानस-शास्त्र' बड़ा है । इसीको समझो, तुम्हारा कल्याण होगा ।

× × × ×

तुमसे कोई पूछे कि तुम काँच बनना चाहते हो या हीरा । तुम यही कहोगे कि हम हीरा बनना चाहते हैं । परन्तु हीरा बननेके लिये तुम्हें अपनेमें हीरेके गुणोंका विकास करना पड़ेगा । निहाईपर काँचको रखकर पीटो । एक ही चोटमें चूर-चूर हो जायगी । फिर हीरेको रक्खो । उसपर चाहे जितनी चोटें लगाओ वह वैसे-का-वैसा बना रहेगा । ऐसे ही जब तुमपर आपत्तियोंके पहाड़ टूट-टूट गिरें और तुम वैसे ही मस्त बने रहो, तुमपर कोई असर न आवे, तब तुम हीरे बन जाओगे । तुम्हारे शरीरका मूल्य ही बहुत अधिक हो जायगा । जीवात्माका तो कहना ही क्या !

× × × ×

अनन्त ईश्वरकी सृष्टि भी अनन्त है । आजकल सन् १९३४ है । सन् १८३४ में यह सृष्टि ऐसी ही हरी-भरी थी । परन्तु १८३४ में हम-तुम इस रूपमें नहीं थे । और न २०३४ में रहेंगे । एक दिन चलना है । इस जीवनको व्यर्थ नहीं खोना चाहिये । परलोकके लिये कुछ कर लेना ही अच्छा है ।

× × × ×

संसारको स्वप्नवत् जानो । जीवको दुःख इसीलिये है कि वह इसे सच्चा मान बैठा है । स्वप्नमें जो वस्तु दिखायी देती है उसे जीव उस समय सच मान लेता है । उसे दुःख-सुख होने लगते हैं । जागते ही उसका भ्रम मिट जाता है । उसे अपनी भूल मालूम हो जाती है । यदि स्वप्नावस्थामें ही वह उन दृश्योंको भ्रम समझ लेता तो उसे सुख-दुःख न होता । ऐसे ही इस जाग्रदवस्थाके संसारका हाल है ।

प्र०—यह संसार और इसकी वस्तुएँ तो देखनेमें सच मालूम होती हैं ।

उ०—देखो, तीन अवस्थाएँ होती हैं । सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् । ये तीनों तीन गुणोंसे बनी हैं । तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण । सुषुप्ति-अवस्था तमोगुणसे, स्वप्नावस्था रजोगुणसे और जाग्रदवस्था

सत्त्वगुणसे बनी है । स्वप्नावस्था रजोगुणसे बनी होनेकी वजहसे थोड़ी ही देर ठहरती है। सत्त्वगुणमयी होनेसे जाग्रदवस्था ज्यादा देरतक ठहरती है। इस कारण जाग्रत् संसारमें सत्यताका आभास मालूम होता है । वास्तवमें वह भी असत् है ।

× × × ×

अपने-अपने संस्कारके अनुसार सुख-दुःख सबको होते रहते हैं। तुम्हारे परिवारमें माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि जो कोई हों उनको जहाँतक तुमसे बने सुख पहुँचाओ । यही तुम कर सकते हो। बाकी परेशान होना व्यर्थ है ।

× × × ×

संसारके भोगोंमें मत फँसो । भोग तो तुम्हारे लिये सभी योनियोंमें तैयार हैं ।

× × × ×

मनुष्यकी दशा खरबूजेके फलके समान है। पकनेपर खरबूजा तुरन्त बेलसे अलग हो जाता है । यही हालत मनुष्यकी है ।

× × × ×

दस बजे सो जाओ । चार बजे उठो । चारसे छःतक परमात्माका भजन करो। बाकी घण्टोंमें चाहे संसारका काम करो । कम-से-कम डेढ़ घण्टा तो रोज़ भजन किया करो । तुम्हारा बहुत कल्याण होगा।

× × × ×

देखो चार बजे मुर्गा उठकर बोलता है। तुम क्या उससे भी गिर गये ? इन्द्रियोंके गुलाम मत बनो । चार बजे उठ बैठो । बिस्तरा छोड़ दो ।

× × × ×

संसारके काम छोड़नेकी ज़रूरत नहीं है । संसारमें रहकर, गृहस्थीमें रहकर, तुम्हारी मुक्ति हो सकती है । संसारमें चिपटो नहीं । नीतिके अनुसार सब काम करो । देखो राजा जनक गृहस्थ थे । फिर भी शुकदेव मुनि उनसे ब्रह्मविद्या सीखने आये ।

× × × ×

सब कार्योंको ईश्वरका विधान समझकर तुम्हें दुखी नहीं होना चाहिये । तुम्हारा हित, तुमसे अधिक, ईश्वर समझता है। वह सब काम तुम्हारे हितके लिये करता है । मनुष्य अपनी मूर्खतासे उन्हें उलटे समझकर दुखी होने लगता है। स्वामी रामतीर्थ कालेजमें भर्ती होने गये थे। उनकी अर्ज़ी नामंज़ूर हो गयी, और वे भर्ती नहीं हुए । यह सब सुनकर वे दुखी होनेके बजाय हर्षसे नाचने लगे। वे कहने लगे कि ईश्वरको इससे और कुछ अच्छा करना है ।

× × × ×

अखण्ड प्रफुल्लित रहो, दुःखमें भी । चाहे कैसा ही दुःख पड़े, गुलाबके फूलकी तरह खिले बने रहो ।

× × × ×

खूब हिम्मत रक्खो। पाताल खोदकर पानी निकालो। अगर तुममें हिम्मत नहीं, तो तुम्हारी कीमत भी नहीं ।

× × × ×

सत्त्वशुद्धिके लिये आहार-शुद्धिकी आवश्यकता है। आहार-शुद्धि बिना कोई काम नहीं बनता। कहा है—'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी, वैसी होवे बानी'—उड़दकी दाल, घुइयाँ, भिंडी, मछली, मांस, मद्य, लाल मिर्चे, लहसुन, प्याज, ये सब चीजें विषकी तरह छोड़ देनी चाहिये । दूध पाव-डेढ़पाव एक उबालका पीना चाहिये, नियत समयपर स्वल्पभोजन करना चाहिये । अगर इसका ध्यान न होगा, तो योग रोग हो जायगा ।

× × × ×

जठराग्नि दीप्त रखनेके लिये कोई व्यायाम अवश्य करना चाहिये । योगके आसन ही किया करो ।

× × × ×

सत्संग किया करो । देखो, शब्दोंमें शक्ति होती है । जैसे शब्द सुनोगे, या पढ़ोगे, वैसा ही तुम्हारा मन बनेगा । अभी हम तुम्हें गाली दे दें; तुम्हें दुःख होगा । क्रोध हो आयेगा ।

प्र०—भगवन् ! सत्संग किस तरह करें ?

उ०—देखो, दो-चार आदमी अपने मुहल्लेके इकट्ठा कर लो । रोजका एक कोई समय नियत कर लो । ऐसा समय जिसमें सबको सुभीता हो । एक आदमी तुलसीकृत रामायणका पाठ करे, बाकी सब लोग उसके साथ कहा करें । यह एक प्रकारका सत्संग हो जायगा ।

× × × ×

हमारे शरीरमें एक प्रकारके शब्द हो रहे हैं । इन्हीं शब्दोंके कारण हमारा शरीर हरा-भरा और जीवित है । मृत्युके आठ रोज पहले ये शब्द बन्द हो जाते हैं । फिर शरीर सड़ने लगता है । योगियोंको ये शब्द सुनायी देते हैं इसीलिये उन्हें मौतका समय मालूम हो जाता है ।

× × × ×

व्यभिचारिणी स्त्रीको जानते हो । वह घरका काम-धन्धा तो सब करती है, परन्तु उसका मन पर-पुरुषमें लगा रहता है । तुम उससे शिक्षा लो । उसीकी भाँति संसारके काम-काज तुम भी करो । परन्तु मन परमात्मामें लगाये रक्खो ।

× × × ×

तुम साधक-अवस्था चाहते हो, तो शिवजीका चित्र देखो । वे आँखें बन्द किये बैठे हैं । मायाको वे देखते ही नहीं । मानो मायासे वे कहते हैं कि तुम हमें सताती हो तो हम तुम्हें देखेंगे ही नहीं ।

और यदि सिद्ध-अवस्था जानना चाहते हो तो श्रीकृष्णजीका चित्र देखो । वे आँखें खोले मायाको देखते और हँसते हैं । मानो वे कहते हैं, मायाको मैं जान गया हूँ । माया मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती ।

× × × ×

जिस तरह गङ्गाकी धार हमेशा चलती रहती है, ऐसे ही जबतक तुम जीवित हो, तुम्हारे हाथ-पैर हमेशा चलते रहें । बराबर काम करते रहो । आलसी मत बनो ।
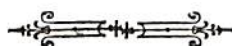
विनोद

इक दिन गया था शीतल अमराईकी तरफ़ । गरमीके दिन थे जब कि धनी पीते हैं बरफ़ ॥
एक वृक्ष सघन छाया संपन्न मिल गया । शीतल पवनको पाकर दिल मेरा खिल गया ॥
बैठा ज़मींके फर्शपर आसन जमा वहाँ । आये युगल बटोही जब मन रमा वहाँ ॥
थे एक कर्मकांडी औ एक ज्ञानवान । दोनों स्वरूपवान् थे दोनों थे शीलवान ॥
कर्मठने पूछा हँसकर 'हे स्वामिजी महान । क्यों तुम नहीं हो करते संध्या त्रिकाल ध्यान ॥'
बोले यती कि 'मर गयी माया हमारी मा । इक पुत्र घरमें जन्मा है ज्ञान नामका ॥
दोनों अशौच घेरे रहते हैं रात-दिन । संध्या करूँ वो कैसे उसमें बहुत है टिन ॥'

—म० बालकराम विनायक

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[गतांकसे आगे]

भगवद्भक्त अम्बरीष एकादशीके व्रतके अनन्तर द्वादशीके दिन 'पारण' करनेकी तैयारी कर रहे थे। इसके पूर्व केवल एक एकादशीका ही उपवास न था 'त्रिरात्रं समुपोषितः' तीन दिनका उपवास हो चुका था। परन्तु नियमानुसार दान देना, ब्राह्मणोंको भोजन कराना, आये हुए अतिथियोंका सत्कार करके फिर पारण करना आवश्यक था। इसलिये जैसे ही दानादिसे निवृत्त हुए कि महर्षि दुर्वासा राजाके यहाँ आ गये। उनसे भोजनके लिये प्रार्थना करना राजाको आवश्यक हो गया। महर्षि इसको स्वीकार करके आह्निकके लिये नदीपर चले गये, किन्तु वहाँ उन्होंने बहुत विलम्ब कर दिया। बड़ा लम्बा पूजन-पाठ ले बैठे। भगवान् व्यास कहते हैं 'बृहद्ध्यायन्'। इधर द्वादशी अर्ध मुहूर्तमात्र रह गयी। भक्तशिरोमणि अम्बरीष कुछ क्षुधा-व्याकुल न थे। वह भागवत थे, ब्राह्मणोंकी प्रतीक्षामें और भी दो दिन भूखे रह सकते थे। किन्तु शास्त्राज्ञानुसार द्वादशीमें पारण करना आवश्यक था। अतएव पुरोहित आदिकी मन्त्रणासे एक आचमनमात्र ले लिया कि यह एक तरह अशन भी हो गया और नहीं भी। वे दुर्वासाकी प्रतीक्षा करते रहे।

दुर्वासा अपने सुदीर्घ आह्निकसे निवृत्त होकर आये और राजाकी ओर जैसे ही उन्होंने नज़र डाली कि दिव्य ज्ञानसे उनको विदित हो गया कि राजाने पारण कर लिया। बस, वह आगबबूला हो उठे। 'अभक्त' 'ढोंगी' 'अभिमानी' आदि कहकर वाचिक अपमान तो किया ही किन्तु अपनी जटासे बाल तोड़कर राजाको दण्ड देनेके लिये कालाग्नि-सदृश कृत्या उत्पन्न की। वह राजाको भस्म करने चली। स्मरण रहे, उन दिनों भक्तकी रक्षाका भार विशेषरूपसे भगवान्ने ले रक्खा था। अपने सुदर्शनचक्रको ही राजाकी नौकरीमें बोल रक्खा था। सुदर्शनने तत्काल ही कृत्याकी मरम्मत करके दुर्वासाको सँभाला। दुर्वासा रक्षाके लिये त्रिभुवनमें घूमते हुए कहीं भी आश्रय न पाकर अन्तमें भगवान्के पास पहुँचे। वहाँ भगवान्ने स्पष्ट कह दिया—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयः'

मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। मुझे बिल्कुल स्वतन्त्रता नहीं। स्वतन्त्रता तो तब हो जब मैं पृथक् सत्ता रखता होऊँ। 'अहं तु साधुभिर्ग्रस्तहृदयः'। मेरे हृदयको साधु (भक्तोंने) ग्रास कर लिया है, सर्वथा ले रक्खा है। कदाचित् तुम कहो कि यह भक्त आपके ही तो हैं। उनकी जो महत्ता और गौरव है सब आपके ही कारणसे तो है। आप उनको हटा दो, दमन कर दो। तो आप कहते हैं—

'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीम्।'

'मैं भक्तोंके विरहमें अपनी आत्यन्तिक श्री, और तो क्या, अपनी आत्मातकको नहीं चाहता। मेरे भक्त न रहें और मैं उनके अभावमें रहूँ यह मुझसे नहीं हो सकता। यदि बचना है तो मैं जिसके अधीन हूँ उसीके पास जाओ।' लाचार होकर दुर्वासा लौटकर अम्बरीषके पैरों पड़ते हैं।

जहाँ भक्तके लिये भगवान्का यह आग्रह है कि आप अपना गौरव नष्ट कर देते हैं परन्तु भक्तकी बातको नीचा नहीं होने देते, वहाँ और क्या बाकी रह गया? विस्तार हुआ जाता है—परन्तु श्रीकृष्णावतारमें स्थान-स्थानपर देखा है कि भगवान् भक्तोंके लिये अपना कितना-कितना अपमानतक सह लेते हैं परन्तु भक्तोंका मन मैला नहीं होने देते। श्रीदामा गोप कहता है 'भाई! मैं तो कन्हुआकी चड्ढी लूँगा। कन्हुआ जैसा घोड़ा मिले और मैं उसे छोड़ दूँ?' बस भगवान् घोड़ा बनते हैं और वह उनके कन्धेपर सवार होता है। जिन वैकुण्ठनाथके दर्शनमात्रके लिये सनकादि सिद्धतक अवसर पूछा करते हैं और बड़े भाग्योंसे वह मिल पाता है, उसी चराचरनायकके मस्तकपर एक गोप पैर रखता है, यह साधारण बात है? भगवान् व्यास-देव इस विडम्बनापर कहते हैं—

'उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।'

'हारे हुए श्रीकृष्ण श्रीदामाको कन्धेपर बिठाते हैं।' यहाँ श्रीकृष्णके साथ 'भगवान्' की इस मगज़ी लगानेकी क्या ज़रूरत थी ? परन्तु वह यह दिखाना चाहते हैं कि विश्व देख ले कि भक्तोंके आगे भगवान्की क्या दशा हो रही है। जिसे 'षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न' कहते हैं वह हारा है और जो गोप है वह उसके ऊपर सवार है। 'पराजितः' दोनों अर्थोंको दिखा रहा है। भगवान् भक्तोंके आगे सदा हारे हैं। इन्हीं फ़ज़ीतियोंके डरसे भगवान् सहसा ही किसीको अपनी भक्ति नहीं देते। मुक्ति चाहे दे देते हैं पर अपनी भक्ति नहीं देते। मुक्तिमें आप झंझटसे बच जाते हैं। एक बारमें सब टण्टा चुक जाता है किन्तु भक्ति देते ही सदाके लिये टण्टा मोल ले लेना पड़ता है। इसीसे तो कहा है—

'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स न भक्तियोगम्।'

जब भक्तके साथ आपका यह व्यवहार है तब जहाँ उसने भक्ति स्वीकार कर ली वहाँ सब कुछ आप उसे एक बारमें ही दे चुके। अब उसे आपके पास आनेकी आवश्यकता ही कहाँ है ? उसको ज़रूरत पड़ेगी तो उसके लिये आप ही सौ दफ़ा जायँगे, वह क्यों आवेगा। फिर 'प्रपन्नाय' के साथ 'सकृदेव' की संगति क्योंकर हुई ? अतएव शरणागति प्रकरणके योग्य अच्छा अर्थ यही प्रतीत होता है कि—'प्रपन्नाय' जो शरणागत हो चुका, तदनन्तर 'तवास्मीति सकृदेव याचते' तुम्हारा हूँ यह एक बार मात्र कह देता है, उसको मैं यावन्मात्र भयोंसे सदाके लिये मुक्त कर देता हूँ और यावन्मात्र आशास्य पदार्थ दे देता हूँ। तात्पर्य यह है कि वह जिस समय भगवान्की शरणागति स्वीकार कर चुका था और उनके पास आ गया था उसी समय तात्कालिक भय (जिससे बचनेके लिये वह भगवान्के पास आया था) की निवृत्ति तो हो चुकी थी किन्तु उसके पीछे उसने यह और कहा कि 'मैं तुम्हारा हूँ।' 'तुम्हारा हूँ' यह कहना लक्षणावृत्तिसे दूसरा अभिप्राय रखता है। क्योंकि भक्त जिस क्षण भगवान्के शरणागत हो चुकता है उसी समय वह तो भगवान्का हो जाता है। 'आप ही मेरे सब कुछ हो, मैं तो अब आपका हूँ' यही तो शरणागतिका फलितार्थ है। फिर पुनरुक्तप्राय यह कहना कि 'मैं आपका हूँ' यह बाधित हुआ। अतएव इसका तात्पर्यार्थ यह निकलता है कि 'वर्तमानकालका उपस्थित भय ही नहीं, यावन्मात्र सङ्कटोंसे मेरे बचानेवाले सदाके लिये अब आप हैं, क्योंकि मैं आपका हो चुका। मुझे सब भयोंसे बचाइये।' शरणागत हो चुकते ही सब कार्योंके ज़िम्मेवार भगवान् हो चुके थे किन्तु उसके अनन्तर उसने 'मुझे भयसे बचाइये' यह और कह दिया। अब तो और भी अहसान हो गया। अतएव भगवान् इस याचनाके फल-स्वरूपमें सर्व भयोंसे निवृत्ति (अपवर्ग) ही क्या दे देते हैं, यावन्मात्र आशास्य ही दे देते हैं। फलित यह हुआ कि 'प्रपन्न' होनेके अनन्तर भक्तके कारण चाहे मुझे हज़ार बार सङ्कट, याचना, परिश्रम, लाञ्छना आदि सहनी पड़ती हों किन्तु भक्तको तो 'सकृदेव' एक बार ही याचना करनी पड़ती है।

वास्तवमें देखा जाय तो 'तवास्मीति याचते' यह 'प्रपन्नाय' का विवरणमात्र है। 'प्रपत्ति' में मैं तुम्हारा हूँ इत्यादि सब कुछ आ जाता है। यहाँ केवल उसे स्पष्टार्थ मात्र करनेके लिये ही कहा है कि 'शरणागत होकर जो एक बार भी मैं तुम्हारा हूँ कहकर (ध्वनिसे) आगे आने-वाले भयोंकी निवृत्ति माँगता है मैं उसको सदाके लिये सर्व भयोंसे निवृत्त कर देता हूँ।'

यह तो हुआ, परन्तु 'एतद्व्रतं मम' यह मेरा व्रत (नियम) है, यह कहनेकी क्या जरूरत आयी ? 'प्रपन्नाय अभयं ददामि' 'शरणागतको मैं संसारके यावन्मात्र फल दे देता हूँ' इसीमें तो सब कुछ आ गया था फिर 'व्रतं मम' अक्षर क्यों बढ़ाये ? 'व्रतं मम' से यह दिखाते हैं कि शरणागतको सर्व अभय और फल दे देता हूँ इसको साधारण न समझना, यह मेरा व्रत (दीक्षा) है। व्रत जैसे किसी भी अवस्थामें छोड़ा नहीं जा सकता और यदि छोड़ दे तो दृष्ट और अदृष्ट दोनोंसे वह गिर जाता है, उसका जीवन लाञ्छित हो जाता है। इसी तरह शरणागत-रक्षा मुझसे त्रिकालमें भी नहीं छोड़ी जा सकती।

महाराज रुक्माङ्गद एकादशीका व्रत किये हुए नियम-में बैठे हैं। वह सदा एकादशीका अखण्डित व्रत लिये हुए थे। देवताओंने उनकी दृढ़ताकी परीक्षा करनेके लिये उनकी छोटी महारानीकी बुद्धि बदली। यह मानमें आकर राजासे कहने लगी कि यदि आपका मुझमें सत्य अनुराग है तो आज मेरे हाथसे भोजन कीजिये। कनिष्ठा रानी मोहिनी-पर राजाका अत्यन्त अनुराग था। यों कहना चाहिये कि राजापर मोहिनीकी मोहिनी पड़ी हुई थी। वह उसके हाथके खिलौने हो रहे थे। बड़ी रानी जिसको कि पाँच-छः वर्ष-

का राज्याधिकारी सुन्दर कुमार था उसको भी अनादृत कर रक्खा था। मोहिनीके यह आग्रह करते ही सत्यव्रत राजाका आसन डोल उठा। वह उसे नाना प्रकारसे समझा रहे थे कि यह धार्मिक नियम है, जो मेरी आत्मासे सम्बद्ध है। इसके विषयमें तुम हठ मत करो। इसके सिवा तुम जो भी कहो मैं करनेको तैयार हूँ। मेरा राज्य, मेरी विभूति और तो क्या शरीरतक उपस्थित है। तुम इनका जो चाहो सो कर सकती हो, किन्तु व्रतभङ्गका आग्रह छोड़ दो।

देवताओंके द्वारा आविष्ट हुई मोहिनीने कहा कि यदि भोजन नहीं करते हो तो देवताके सम्मुख अपने हाथसे अपने पुत्रकी बलि दे दो। सुनते ही राजाकी बड़ी दीन दशा हो गयी। इधर धर्मभङ्ग होता है, उधर अपने राज्याधिकारी प्रिय पुत्रकी निरपराध हत्या करनी पड़ती है। एक राजा ही क्या, सम्पूर्ण राजपरिवार राज्यकार्य छोड़कर प्राणसङ्कटमें पड़ा हुआ है। यह वृत्तान्त धीरे-धीरे राजकुमारको भी विदित होता है। वह बालक होनेपर भी क्षत्रिय सन्तान था। हँसता हुआ वह आकर प्रसन्नतासे राजासे कहता है—'पिताजी! आप चिन्ता क्यों करते हैं, निःशङ्क होकर मुझे बलि दे दीजिये।' धार्मिक राजाके हृदयपर घोर आघात होता है। इस करुणामय दृश्यको देखकर तमाम राजमहल करुणा और शोकमें डूब जाता है किन्तु दृढव्रत राजा इतनेपर भी व्रतभङ्गके लिये तैयार नहीं होते। देव-मन्दिरमें देवताके सम्मुख अबोध राजकुमार प्रसन्नतापूर्वक अपने कण्ठच्छेदके लिये खड़ा हो जाता है। राजा रुक्माङ्गद खड्ग लेकर स्वयं अपने औरस और बालक पुत्रको बलि देनेके लिये तैयार हो जाते हैं किन्तु अङ्गीकार किये हुए व्रतको नहीं छोड़ते। तत्काल देवता प्रकट होकर राजाका अभिनन्दन करते हैं और प्रसन्न होकर वरदान देते हैं।

जिस व्रतकी रक्षाके लिये प्राणप्रिय पुत्रतकको अपने हाथसे मारा जा सकता है क्या उसी व्रतको कोई धार्मिक पुरुष छोड़ सकता है? अतएव मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'एतद् व्रतं मम।'

महाराज दशरथने श्रीरामचन्द्रसदृश प्राणोपम प्रिय पुत्रको अपने हाथसे वन भेज दिया। पुत्र ही क्या, अपने प्राणतक छोड़ दिये परन्तु अपना व्रत नहीं छोड़ा। धार्मिक जीवनमें व्रतरक्षाका सबसे बढ़कर महत्त्व है। जिसमें भी भगवान् श्रीरामचन्द्रके लिये तो त्रिभुवनमात्र कहता है कि—'सत्यवाक्यो दृढव्रतः।' उनके द्वारा लिया हुआ व्रत कभी छोड़ा जा सकता है? इसी आशयसे सर्वथा अत्याज्यताको सूचित करते हुए आप आज्ञा करते हैं कि—'एतद् व्रतं मम।'

यहाँ 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इस सूत्रसे 'सर्वभूतेभ्यः' अपादान पञ्चमी तो है ही किन्तु 'सर्वभूतेभ्यः' इसकी आवृत्ति करके चतुर्थीका भी अर्थ किया जाता है, यही महर्षिका तात्पर्य मालूम होता है। अर्थात् भय करनेवाले सर्वभूतोंसे अभयदान मैं 'प्रपन्न' को भी देता हूँ और 'सर्वभूतेभ्यः' उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणिमात्रको भी अभयदान दे देता हूँ। मेरे प्रपन्न होनेपर केवल उसीको अभय नहीं देता उसके सम्बन्धी सभीको अभय देता हूँ, चाहे मनुष्य हो, पशु हो, पक्षी हो, मेरे भक्तके सम्बन्धी सभी मुक्तिके अधिकारी हैं। कहा भी है—

पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः।
तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

भगवान् प्रह्लादपर प्रसन्न होकर उनकी परीक्षा करते हुए आज्ञा करते हैं—'वरं वृणीष्वाभिमतम्' अपना अभीष्ट वर माँगो, मैं सबके मनोरथ पूर्ण करनेवाला हूँ। प्रह्लाद परीक्षामें उत्तीर्ण होते हैं, वह वरयाचनाकी कड़ी आलोचना करते हैं; किन्तु भगवान् अपने-आप ही उन्हें आयु, भोग, मोक्ष सब कुछ दे देते हैं। उसपर प्रह्लाद कहते हैं 'भगवन्! एक वर मैं आपसे यह माँगता हूँ कि आपके प्रभावको नहीं जाननेके कारण मेरे पिताने आपकी निन्दा करके घोर अपराध किया है। अब मैं चाहता हूँ कि उस दुरन्त पातकसे उनकी मुक्ति हो जाय!' भगवान् कहते हैं जिस कुलमें तुम-सदृश कुलपावन पैदा हो गया वहाँ केवल तुम्हारा एक पिता ही क्या तुम्हारे इक्कीस पुरुष पवित्र हो गये। मेरे भक्तोंका सम्बन्ध किसी तरहका भी जिन-जिनसे हो जाता है 'ते पूयन्त्यपि कीकटाः' वे चाहे जैसे अपवित्र हों पवित्र हो जाते हैं। इसी बातको सूचित करते हुए यहाँ भी कहा है—'सर्वभूतेभ्यः,' शरणागत और उसके सम्बन्धी सब प्राणियोंको अभय देता हूँ।

व्रजराजकुमार भगवान् श्रीकृष्ण कंसका विध्वंस करने जिस समय मथुरापुरीके राजमार्गमें होकर पधारे, उस समय सुदामा मालाकारने भगवान्का कण्ठ शून्य देखकर पुष्पमालाओंसे आपकी सेवा की। आपने उसे तो अभय दिया ही, किन्तु—

'युष्मत्संततिजातानां दीर्घमायुर्भविष्यति ।'

—कहकर उसके सभी वंशजोंको दीर्घ आयुष्य प्रदान की। जब मार्ग चलते हुए, साधारण-सी सेवाके उपलक्ष्यमें आप इतनी कृपा करते हैं तब शरणागतके लिये कुछ न्यूनता रहेगी? अतएव आपने आज्ञा की है कि मैं प्रपन्न और उसके सब सम्बन्धियोंको अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है। (सर्ग १८ श्लो० ३३)

अब विभीषणको देखिये। उसने मानसिक, वाचिक आदि किसी एक ही प्रकारकी शरणागतिको स्वीकार किया हो सो नहीं, 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' आदि छओं अङ्गों-सहित शरणागतिका उसने अवलम्बन किया है। जिस समय रावणने उसका तिरस्कार किया और स्पष्ट कह दिया कि—

योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्वाक्यमेतन्निशाचर ।
अस्मिन्मुहूर्ते न भवेत्त्वां तु धिक्कुलपांसन ॥

'यदि और कोई इस तरहका वाक्य कदाचित् बोलता तो इसी क्षण उसको समाप्त कर देता, पर तू सहोदर भाई है। कुलकलङ्क तुझको धिक्कार है।' उसी क्षण विभीषणने समझ लिया कि अब रावणके हाथसे निष्कृति तभी हो सकती है जब भगवान् श्रीरामचन्द्रका आश्रय लिया जाय। बस, वहींसे 'रक्षिष्यसि' यह विश्वास करके—सदा अनुकूल रहनेका सङ्कल्प आदि स्वरूपवाली शरणागति आरम्भ हो गयी। फिर इतनी दूर चलकर, अपना दैन्य-सूचन करते हुए वह तो स्पष्ट निवेदन कर चुके हैं कि—

'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ।'

भला उनके लिये भगवान् विलम्ब कर सकते हैं? भगवान् गद्गद होकर कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तानिष्टान् प्राणान् धनानि च ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

'स्त्री, पुत्र, घर, सगे सम्बन्धी, धन-धान्य और तो क्या प्राणोंका भी मोह छोड़कर जो मेरे शरण आते हैं उनको भला मैं कैसे छोड़ सकता हूँ?'

विभीषणके स्वीकारके लिये अपने परिकरके साथ विचार करनेमें जो विलम्ब हो रहा था उसका एक-एक क्षण भगवान्‌को घोर असह्य था। किन्तु स्नेहके कारण अनिष्टकी शंकासे सुग्रीव विरोध करते ही जा रहे थे। अन्ततोगत्या भगवान्‌को अपना दिव्य प्रभाव प्रकट करना पड़ा। और यहाँ आकर तो आपको स्पष्ट मुखसे ही कह देना पड़ा कि इसके विरुद्ध चाहे लाख युक्तियाँ हों परन्तु मैं शरणागतको किसी तरह नहीं छोड़ सकता। प्रपन्न-को अभय देनेका मैंने सङ्कल्प कर रक्खा है।

यह हुक्म देकर आपने कुछ कालकी प्रतीक्षा की हो सो नहीं, तत्काल ही इस हुक्मकी इजरा करनेकी भी आप आज्ञा देते हैं। और अदालतोंमें डिग्री मिल जानेपर भी कुछ मियादकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है किन्तु श्रीरामके दरबारमें शरणागतिके हुक्मकी इजरा उसी क्षण की जाती है। अतएव शरणागतिकी स्वीकृति देकर तत्काल ही आप हुक्म देते हैं कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

(वा० रा० युद्ध० १८। ३४)

'हे हरिश्रेष्ठ! जाओ, उसको लिवा लाओ। मैंने उसको अभय दे दिया। चाहे विभीषण हो चाहे वह स्वयं रावण ही क्यों न हो।'

भक्तपरतन्त्र भगवान् श्रीरामचन्द्रको शंका हुई कि ऐसा न हो सुग्रीव फिर विभीषणके स्वीकारमें कोई विरोध कर बैठे। अतएव अपने सङ्कल्पको कह देनेके अनन्तर एक क्षणका भी अवकाश न देकर आप आज्ञा करते हैं कि—'एनम् आनय, इसको लाओ।'

'एनम् (इसको)' यह क्यों? 'इसको' तो उसके लिये कहा जाता है जो सम्मुख वर्तमान हो। श्रीरामने तो विभीषणको अभी देखातक भी नहीं है। सैन्यसंनिवेशका प्रबन्ध करनेवाले सुग्रीवादिने चाहे आकाशसे आते हुए उसे देखा भी हो किन्तु श्रीरामचन्द्रकी तो अभी उसपर दृष्टितक नहीं पड़ी है। फिर जिस तरह अपने सुपरिचितके लिये कहा जाता है उस तरह 'इसको लाओ' यह कैसे कहा? कहना चाहिये 'जो दरवाज़ेपर आकर प्रार्थना पहुँचवा रहा है 'उसे' लाओ'। ठीक है। इसमें कुछ ध्वनि है।

आर्त विभीषणने श्रीरामदरबारमें आकर सुग्रीवादिके द्वारा जैसे ही अपनी प्रार्थना पहुँचायी—

'निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।'

और श्रीरामने उसे अपनी शरणमें आया हुआ जिस क्षण समझ लिया उसी समयसे श्रीरामचन्द्रकी प्रतिज्ञानुसार

वह उनके परिकरमें शामिल हो चुका। आपके यहाँ आर्तको महीनोंतक प्रार्थना, उम्मीदवारी नहीं करनी पड़ती। आपकी ड्योढ़ीमें जैसे ही शरणागतने प्रवेश किया और आपको उसका आना विदित हुआ वैसे ही आप उसे अभय देकर अपनी शरणमें ले लेते हैं। आपकी शरणमें आया हुआ आर्त जितने दुःखके श्वास प्रतीक्षामें लेता है आप उतना ही अपने ऊपर उसका बोझ समझते हैं। सर्पविषकी चिकित्सा करनेवाले गारुड़िकके घर जैसे ही खबर पहुँची कि अमुकको सर्पने काटा है और उसका इलाज कराने रोगी आया है, किंवा बुलानेके लिये आदमी आया है, उसी क्षण वह जैसे-का-तैसा अपने स्थानसे उठ बैठता है। फिर घरमें जलतक नहीं पीता, श्वासतक नहीं लेता। अथवा आग लगनेकी सूचना मिलनेपर जैसे फायरब्रिगेडवाले उसी क्षण दौड़ जाते हैं इसी तरह कालरूपी कालभुजङ्गसे या त्रितापरूपी अग्निसे सताये हुए प्राणियोंके उद्धारके लिये अवतार लेनेवाले श्रीरामकी शरणमें जैसे ही आर्त उपस्थित होता है आप तत्काल उसे अभय दे देते हैं। संसारसे निर्विण्ण होकर, भगवान्‌की दयालुतापर बड़ा भारी भरोसा रखकर, शरणार्थी जैसे ही आपके अभिमुख आया कि आप उसे बड़े बहुमानसे, बड़ी सान्त्वनासे तत्काल आश्रय देते हैं। मानो आप प्रतीक्षा करते रहते हैं कि दुनियाँके चक्करदार मार्गोंमें भूले-भटके बटोही किसी तरह इधर आवें और आप उन्हें तुरन्त घर पहुँचा दें। जब आपकी इतनी दयालुता है, इतनी भक्तवत्सलता है तब भला आर्तको शरण देनेमें विलम्ब हो सकता है?

यह नयी बात नहीं। आर्तकी पुकार पहुँचते ही भगवान्‌को एक अद्भुत तड़फड़ी लग जाती है। एक-एक पल बिताना आपको पहाड़-सा भारी हो जाता है। ग्राहका सताया हुआ गजेन्द्र जिस क्षण पानीमें डूबने लगा, उसकी सूँड तिलमात्र पानीके बाहर रह गयी, उसपर भी हवाके झकोरोंने डुबानेमें कमी न रक्खी। किसीने कहा है—

'बार बराबर बारि है तापर चलत बयार।'

उस समय वैकुण्ठमें स्थित गोविन्दके पास गजेन्द्रकी पुकार पहुँची। श्रीलक्ष्मीजीके साथ जिस स्थितिमें आप बातचीत कर रहे थे उसी तरह बिना कुछ कहे-सुने आप खड़े हो गये। चलते-चलते ही गरुड़को बुलाकर उसपर आपने आरोहण कर तो लिया परन्तु उसकी भी उड़ान आपको बड़ी धीमी मालूम हुई। माघ कविने कहा है—

'जिस समय इन्द्रपर कोई चढ़ाई करता और इन्द्र उससे हारकर उलटे मुँह दौड़ने लगता उस समय ऐरावतके सुन्दर पादन्यास, घूमकर चलना आदि विचित्र गतियोंपर प्रसन्न होना तो कैसा उल्टी उसे झुँझल आती थी। वह तो उसके तेज़ दौड़नेपर वाह-वाह करके प्रशंसा करता जिससे कि वह जल्दी अमरावतीमें सुरक्षित पहुँच जाय।' इसी तरह गरुड़की विभ्रम चालें तो क्या, तेज उड़ानतक भगवान्‌को धीमी मालूम हुई, पसन्द न आयी। अन्तमें गरुड़को भी छोड़कर अपनी दिव्य गतिसे ही आपको गजेन्द्रके पास पहुँचना पड़ा। जहाँ आपको पधारनेका परिश्रम करना पड़ता है वहीं शीघ्रताका यह हाल है तब घर बैठे आपके पास शरणार्थी आवे और आप शरण देनेमें विलम्ब कर दें, यह सम्भव है? नहीं-नहीं। आपके पास 'शरणार्थी विभीषण आया है' इतनी प्रार्थना पहुँचते ही आप अपने हृदयके द्वारा उसे अपने परिकरमें ले चुके थे। किन्तु इधर 'विभीषणको आश्रय देना कि नहीं' इस विषयको लेकर उनकी चर्चा खूब चल चुकी थी। इस चर्चामें जब-जब उनका नाम आता वा प्रसङ्ग उठता वह सुपरिचितकी तरह उन्हें अपने हृदयमें स्थान देते थे। भगवान्‌को अध्यास है कि विभीषण मेरा हो चुका, मेरे पारिषदोंमें आ गया। अतएव निरन्तर हृदयमें खेलते हुए सुपरिचित विभीषणको सम्मुख वर्तमान समझकर आप आज्ञा करते हैं—'एनम्' 'इसको' लाओ।

यहाँ आपने कहा है 'आनय' लाओ। हाकिम वा स्वामी किंवा बड़े आदमी तो ऐसे अवसरपर कहा करते हैं कि 'उसे आने दो'। अर्थात् 'विभीषण शरणार्थी होकर मेरे पास आनेकी प्रार्थना करता है और हमलोगोंने भी परस्पर संवित् करके निश्चित कर लिया है कि शरणागतका त्याग नहीं करना चाहिये। अतएव उसको यहाँ आने दो। उसके आनेमें अवरोध मत करो।' फिर यह न कहकर 'आनय' 'लाओ' से क्या तात्पर्य?

भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्र अपने अभिमुख आनेवाले प्राणिमात्रको शरण देनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। आपके अवतार लेनेका प्रयोजन ही यह है कि पृथ्वीपर जो भक्त वा धार्मिक सांसारिक क्लेशोंसे निर्विण्ण होकर आश्रय ढूँढ़ रहे हैं उन्हें अवलम्बन दिया जाय। दुर्जनोंसे सताये हुए

सज्जनोंको सान्त्वना दी जाय। धर्मके अभिमुख हुआ कोई प्राणी क्लेश न पावे। आपका भूतलपर आना ही 'आर्त-त्राणाय,' दुखियोंकी रक्षा करनेके लिये है। अतएव आपको चिन्ता रहती है कि दुखी जीवोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उनका दुःख दूर किया जाय। अब जो आर्त या पीड़ित भगवान्‌के द्वारा अपनी तलाश न कराकर स्वयं उनकी शरणमें आते हैं भगवान् अपने परिश्रमकी बचत समझकर उनका बड़ा उपकार मानते हैं। 'पङ्गोरुपरि गङ्गापातः' पङ्गुके ऊपर गङ्गाकी धार पड़नेकी तरह अहसान मानते हैं। शरणार्थी होकर स्वयं आनेवाले भक्तोंको अपना आश्रित न समझकर मित्रकोटिमें गिनते हैं। इसीलिये पहले आप कह चुके हैं—

'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।'

यहाँ विभीषण भी स्वयं शरणार्थी होकर आये हैं अतएव उनका दर्जा मित्रके बराबर हो गया। किन्तु उनका आदर तो कैसा, हमलोगोंने 'उन्हें स्वीकार किया जाय या न किया जाय' इत्यादि व्यर्थ वितण्डावादमें ही बहुत-सा समय खो दिया। और वह दरवाज़ेपर खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं कि देखें क्या उत्तर आता है। इस विलम्बसे उनका घोर अपमान हो रहा है। इसपर भी, वह स्वयं यदि यहाँ आ गये तो हमलोगोंकी और भी असभ्यता और भीरुता सिद्ध होगी। अतएव यावन्मात्र सेनाके स्वामी भगवान्‌के अग्नि-साक्षिक मित्र किष्किन्धाधिपति सुग्रीव ही जाकर यदि उनकी अगवानी करें, और उन्हें सादर लिवा लावें तो कुछ सम्मान-रक्षा हो। अतएव आपने सुग्रीवको आज्ञा दी है कि 'आनय'।

भगवान् जब विभीषणको मित्रकोटिमें गिनते हैं और भगवान्‌के हृदयमें साधारण धनियोंकी तरह अभिमान भी नहीं है तब तो स्वयं भगवान्‌को ही आना चाहिये था और बड़े आदरसे विभीषणको लिवा ले जाना था। दुनियाके सभ्यों-का भी यही सदाचार देखा जाता है कि यदि कोई मित्र दूर देशान्तरसे आया हो और उसके आनेकी खबर भीतर पहुँचे तो गृहस्वामी ही स्वयं दरवाज़ेपर लेने आता है। फिर श्रीराम स्वयं न जाकर सुग्रीवको क्यों भेजते हैं? हाँ, यह ज़रूर होता है कि कोई थर्ड क्लास मित्र आया हो तो आप स्वयं नहीं जाते। किसी दूसरे सज्जनको लिवा लानेको भेज देते हैं। तो क्या श्रीरामचन्द्र इन्हें मित्र तो समझते हैं परन्तु हलके दर्जेका? थर्ड क्लास? नहीं-नहीं, इसमें तात्पर्य है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र शरणागत-वत्सल हैं। कैसा भी शरणागत चला आवे, दयासागर श्रीरामचन्द्र तत्काल उसे अवलम्बन देते हैं। वह शरणार्थीके दोष-गुणोंका विचार ही नहीं करते। आप पहले कह आये हैं कि मैं अपने शरणार्थी-पर दृष्टि रखता हूँ उसके गुण-दोषोंपर नहीं। अतएव आप तो विभीषणको आश्रय देनेकी आज्ञा पहले ही दे चुके थे किन्तु प्रधान पारिषद मित्रताके दर्जेतकको पहुँचे हुए सुग्रीव इसका घोर विरोध कर रहे थे। यद्यपि आपने सुग्रीवकी प्रत्येक युक्तिका समञ्जस उत्तर दे दिया था, हर एक पूर्व-पक्षका यथोचित समाधान कर दिया था तो भी सुग्रीवकी तरफ़से आपको अभी कुछ खटका है। ऐसा न हो कि मैं अपने ही आग्रहसे विभीषणको बुला लूँ और मेरे स्नेही फिर भी उसका विरोध कर बैठें। श्रीरामचन्द्रके दक्षिण स्वभावसे यह बिल्कुल विरुद्ध था कि वह अपने स्नेही और अनुजीवियोंके प्रतिकूल कार्य करें। वे लोग तो अप्रसन्न रहा करें और श्रीरामचन्द्र उस अप्रसन्नताकी कुछ भी परवा न करके उस प्रतिकूल प्रसङ्गका सदा निर्वाह करते रहें। अतएव अपने सब परिकरकी सम्मतिसे ही आप विभीषणको स्वीकार करना चाहते हैं। इसीलिये शरणागतके दरवाजेपर प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहनेपर भी आपने अपने सलाहकारोंके साथ बहसमें इतना समय बिता दिया। और अब भी आप यही चाहते हैं कि केवल मेरी ही अनुमतिसे विभीषणका आना न समझा जाय। इसीलिये सब परिकर-के नेता सुग्रीवको ही आप भेजते हैं कि तुम जाओ और लिवा लाओ। आपका तात्पर्य यह है कि यदि स्वयं सुग्रीव ही जाकर लिवा लायेंगे तो परिकरके किसी भी मनुष्यको यह कहनेका अवसर न रहेगा कि 'विभीषणके स्वीकारमें हम तो सम्मत न थे। आप ही जानें'। क्योंकि परिकरके नेता स्वयं सुग्रीव ही तो उन्हें आगे होकर लिवा लाये थे। अतएव श्रीरामचन्द्र सुग्रीवको ही आज्ञा कर रहे हैं कि 'एनम् आनय' 'इन्हें लाओ'।

अथवा—भक्तवशीभूतताके कारण भगवान्‌ने ऐसा कहा है। कई जगह देखा है कि भक्तोंकी प्रतिज्ञा या भक्तों-के हठके आगे भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा और वचनतक छोड़ देना पड़ा है। अपने एकान्तभक्त प्राणप्रिय अर्जुनके लिये कई स्थानपर आपको अपनी प्रतिज्ञा, अपना वचन छोड़

देना पड़ा है। महाभारतमें भीष्मपितामहका युद्ध विश्वके प्रधान युद्धोंमेंसे गिना जाता है। जिन आजन्म ब्रह्मचारीके बलका कुछ पार न था, उनके युद्धकी तुलना कौन कर सकता है। यों समझिये—पाण्डवपक्षमें ही क्या राजमण्डल-भरमें उनके मुक़ाबिलेका कौन था ? जिस अर्जुनको अद्वितीय धनुर्धारी समझा जाता है वह उनकी शिष्य और पोष्य-कोटिमें था। अर्जुन ही नहीं, सभी उन्हें पितामहवत् गौरव-भाजन समझते थे। प्रसिद्धि ही उनकी 'भीष्मपितामह'के नामसे थी। वह जिस समय युद्धके लिये खड़े हुए, सब थर्रा उठे। गाण्डीवधारी अर्जुनको भी दो-एक युद्धोंमें ही मालूम पड़ा कि युद्ध इसका नाम है। वीर पितामहका एक-एक बाण वज्रके समान आकर लग रहा था। अर्जुन विकल हो पड़े। जिधर देखो उधर बाणोंकी वर्षाने व्याकुल कर दिया था !

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा थी कि मैं इस युद्धमें शस्त्र नहीं लूँगा। इधर भीष्मपितामहने प्रण किया था कि मैं युद्धमें श्रीकृष्णको भी शस्त्र ग्रहण करा दूँ तभी तो मेरा नाम। जिस समय यह भयङ्कर युद्धकाण्ड आरम्भ हुआ, पाण्डवपक्षके सब वीर त्रस्त हो गये। सबके शरीर घायल थे। कवच खण्डित हो चुके थे। एक-एक क्षण मुश्किलसे बीत रहा था। अर्जुनके रथके जूड़ेपर श्रीकृष्ण बैठे थे, आपकी भी यह दशा थी कि सारे शरीरसे रक्त बह रहा था। कवचके टुकड़े-टुकड़े हो चुके थे। भीष्मपितामह अपनी की हुई स्तुतिमें कहते हैं—

'शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।'

'तीक्ष्ण बाणोंसे आहत हुए, जिनका कवच टूट गया, रक्तसे चारों तरफ़से नहा गये।' भगवान्‌की आड़में रहते हुए भी अर्जुनकी यह दशा थी कि बाण चलाना मुश्किल था। थोड़ी देरमें तो यह हालत हो गयी कि युद्धक्षेत्रमें ठहरना असम्भव प्रतीत हुआ। घबराकर अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि—'कृष्ण ! यह क्या करा रहे हो ? क्या प्रलय यहाँ ही करा देना चाहते हो ? यह बूढ़ा अभी सब महाभारत समाप्त किये देता है। तुम्हें जबतक यह शस्त्र ग्रहण न करा देगा बाकी न छोड़ेगा।' बाणवर्षासे भगवान् भी तिलमिला उठे थे। यह संहार न देखा गया। आप रथके जूड़ेसे कूद पड़े और सामने टूटे हुए रथका एक पहिया पड़ा था उसको चक्रकी तरह अँगुलीमें घुमाते हुए आगे बढ़ गये। बस, भीष्मपितामहने सिंहनाद करके साभिप्राय एक खँखारा किया, अर्थात् ताना दिया कि क्यों, युद्धमें शस्त्र नहीं लूँगा यह प्रतिज्ञा रख ली !

जिन भगवान्‌की भ्रुकुटिमात्रके एक इशारेपर ब्रह्माण्डकी सब शक्तियाँ नाच उठती हैं, वहाँ बेचारे भीष्मकी क्या गिनती थी ? परन्तु अपनी प्रतिज्ञाकी अपेक्षा आप अपने भक्तकी प्रतिज्ञाका अधिक सम्मान रखते हैं। अपना वचन चाहे चला जाय परन्तु भक्तकी बातमें बल न आये, यह आप संसारको दिखाना चाहते हैं। मरते-मरते भी ज्ञानैकनिधि भीष्मपितामह इस बातको याद करके कहते हैं—

'स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः। धृतरथचरणोऽभ्ययाद्।'

'अपनी प्रतिज्ञाको तोड़कर मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये आप रथसे कूद पड़े और हाथमें पहिया ले लिया।' बात यह है कि भगवान्‌की भक्तवत्सलताका ही यह दोष है कि उनकी प्रतिज्ञा भक्तोंके हठके आगे नहीं ठहरने पाती। कई एक ऐसे उदाहरण आपको मिलेंगे। इसीलिये गीतामें आपने कहा है कि—

'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥'

कहना चाहिये था—

'अहं प्रतिजानामि न मे भक्तः प्रणश्यति।'

मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। परन्तु आप अर्जुनसे कहते हैं कि 'त्वं प्रतिजानीहि' 'तू प्रतिज्ञा कर।' आपका तात्पर्य यह है कि यदि मैंने प्रतिज्ञा कर ली और उसके मुक़ाबिलेमें कोई भक्त अड़ गया तो लेनेके देने पड़ जायँगे। मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भक्तकी प्रतिज्ञा रखनी पड़ेगी। फिर मेरी प्रतिज्ञाका क्या मूल्य रहेगा। अतएव आप भक्तसे ही प्रतिज्ञा कराते हैं कि जिसमें कभी चल-विचल होनेका डर ही नहीं।

वही सन्देह भगवान्‌को यहाँ है। आपने विभीषणके स्वीकारके लिये शास्त्रकी, नीतिकी, धर्मकी, अपने स्वभावकी, सब युक्तियाँ देकर अपना मत परिपुष्ट कर दिया। विभीषणको स्वीकार करनेके लिये स्पष्ट आज्ञा दे दी। तीसरी बार जो आपने आज्ञा दी उसका फिर किसीने विरोध भी नहीं किया था। आपने अबकी स्पष्ट ही तो कह दिया था कि शरणागतको अभय देना यह मेरा व्रत

(प्रतिज्ञा) है। परन्तु सुग्रीवादि भक्तोंके चुप रहनेसे आपको यह शङ्का अबतक बनी हुई है कि कहीं विभीषणको स्वीकार कर लेनेपर भी यदि हमारे हठीले भक्त अड़ गये और विभीषणके स्वीकारमें पीछेसे विरुद्ध हो गये तो मेरे आश्रय देनेका क्या मूल्य रहेगा। मैं बड़े गर्वसे जाकर विभीषणको लिवा तो लाया किन्तु पीछेसे अपने निश्चयको बदलनेकी नौबत आयी तो कैसी होगी ? अतएव आप अपने हठीले भक्त सुग्रीवको ही आज्ञा करते हैं कि 'तुम लिवा लाओ'। जिसमें फिर किसी तरहके सन्देहका अवकाश ही नहीं रहे। इसी आशयसे आप स्वयं न जाकर कहते हैं कि—'आनय', 'लिवा लाओ'।

अथवा, अपना अन्तिम निर्णय सुनाकर शीघ्र ही 'आनय' का हुक्म देनेका दूसरा तात्पर्य है—श्रीजनक-नन्दिनीको हर लानेवाले आततायी रावणको दण्ड देनेके लिये श्रीराघव इस समय समुद्रतटपर आये हुए हैं। त्रिलोकविख्यात क्रूरकर्मा दशाननको पूर्णशासन देनेके लिये किष्किन्धाधिपति सुग्रीवको सेनापति बनाकर आप अपार वानरसैन्य साथ लाये हैं। इस समय फ़ौजी कानून पूर्ण रीतिसे बर्ते जा रहे हैं। चारों तरफ़ सेनानायकोंका बन्दोबस्त है। स्थान-स्थानपर पहरे लग रहे हैं। किसकी मज़ाल है कि बिना आज्ञाके कोई अपरिचित पास तो आ जाय। ऐसे नाजुक समयमें विभीषण श्रीरामचन्द्रके समीप पहुँचनेकी प्रार्थना शिविरसन्निवेशके दरवाज़ेपर कराते हैं। विभीषण वैरीका साक्षात् भ्राता है यह सुनकर सब लोग एकदम बिगड़ उठे। शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्र आर्त विभीषणको परिकरमें लेनेके पक्षपाती हैं किन्तु यह आपके स्वभावके विरुद्ध है कि आप अपने अनुगतोंके विरुद्ध होकर कोई काम करें। अतएव विभीषणका संग्रह करना चाहिये कि नहीं, इसको तय करनेके लिये आपने विचारसभा बुलायी है। विभीषणके स्वीकारके लिये आपने जितनी बार युक्तियाँ दीं उतनी बार ही सभाके प्रधान सदस्य सुग्रीवने विरोध किया। अकेले सुग्रीव ही नहीं, अङ्गद, शरभ, जाम्बवान् आदि सभीने विभीषणको दलमें ले लेनेका विरोध किया। अकेले श्रीमारुतिमात्रने विभीषण-के पक्षमें समर्थन दिया। श्रीरामचन्द्रको स्पष्ट विदित हो गया कि मुझमें अलौकिक स्नेहके कारण मेरे अनुजीवियों-को विभीषणमें घोर शङ्का है कि यह पीछेसे मेरा अनिष्ट करेगा। पक्षसमर्थनके लिये आपने बहुत कुछ युक्तियाँ दीं परन्तु उनके जवाबमें विरुद्ध युक्तियाँ ही तो सुन पड़ीं किन्तु अनुमतिके अक्षर कर्णगोचर न हुए। इधर विचार-ही-विचारमें शरणार्थी विभीषण दरवाज़ेपर खड़े न जाने कितना दुःख पा रहे होंगे, यह आपको अलग विचार हो रहा था। ज्यों-ज्यों विलम्ब होता जा रहा है त्यों-त्यों श्रीराघवका दुःखभार असह्य होता जाता है। दो बार जब-जब श्रीरामने विभीषणको ले लेनेका प्रस्ताव उठाया तब-तब विरोध किया गया। इस समय तीसरी बार सब सेनाके प्रधानाध्यक्षके रूपमें तथा इस विचारसभाके प्रधान सभापतिकी हैसियतसे कुछ ज़ोर देते हुए आपने कहा कि मेरा यह सङ्कल्प है 'शरणागतको अभय दिया जाय।' इस कथनके अनन्तर थोड़ी देर चुप्पी रही। किसी तरफ़से भी तत्काल उत्तर न मिला। श्रीरामचन्द्रने देखा कि—'सम्भव है यह अब भी विरोध न छोड़ें। आगे इसपर भी कोई-न-कोई विरोध किया जाय। अतएव यही अवकाश अच्छा है। सभा न सही, सभापतिकी तरफ़से ही यह प्रस्ताव हुआ सही। क्योंकि सभापतिके आसनसे जो प्रस्ताव होता है वह पास समझा जाता है। अतएव सभापतिकी हैसियतसे इस प्रस्तावको पास ही क्या, कार्यरूपमें परिणत करते हुए आप आज्ञा करते हैं—'आनय' 'इसको लाओ'।

अथवा—सुग्रीवको ही लिवा लानेकी आज्ञा देनेका कुछ तात्पर्य है। अबतक सुग्रीव ही विभीषणके स्वीकारका विरोध क्या घोर विरोध कर रहे थे। कई युक्तियाँ देनेपर भी उनके हृदयमें कोई नहीं जँच रही थीं। ऐसे सङ्कटमय समयमें वैरिपक्षके आदमीको लेना वह कथमपि नहीं चाहते थे। इसमें यही कारण है कि यह श्रीरामचन्द्रके सत्य स्नेही थे। उन्हें पूर्ण शङ्का थी कि यह वैरीका साक्षात् भाई है। अतएव पीछे चलकर दारुण समयमें यह दग़ा करेगा। उनके नहीं लेनेमें उनका कोई स्वार्थ न था, न उनका विभीषणके साथ कोई वैर ही था। केवल श्रीरामचन्द्रका स्नेह ही उन्हें इस आग्रहके लिये बाध्य कर रहा था। किन्तु इधर श्रीरामचन्द्रको शरणागत विभीषणको लेना अभीष्ट है। श्रीराघवने देखा कि मैं जिस समय विभीषणको ले लूँगा और वह मेरे परिकरमें आ जायँगे उस समय मेरे स्नेहके कारण सदाके लिये सुग्रीव और विभीषणमें मनोमालिन्य रह जायगा। विभीषण समझेंगे कि मेरा विरोध करनेवाले प्रधानतया सुग्रीव ही थे।

इधर सुग्रीव भी जब-जब विभीषणको देखेंगे तब-तब उन्हें यही स्मरण होगा कि यह वही है जिसको लेनेमें मैंने विरोध किया था परन्तु मेरी बात काटकर बलात् यह आया है। अतएव सुग्रीव और विभीषणमें विरोध न रहे बल्कि परस्पर यह स्नेहभाव हो जाय कि मुझको श्रीरामपरिकरमें सम्मिलित करनेवाले सबसे प्रथम व्यक्ति सुग्रीव ही हैं। अतः आप सुग्रीवको ही आज्ञा देते हैं कि—'आनय'।

किंवा सुग्रीवको ही आज्ञा देनेमें श्रीरामचन्द्र कोई प्रबल कारण समझ रहे हैं। आप शरणार्थीकी अनुरोधरक्षा सर्वतः प्रधान मानते हैं। शरणार्थीके ही लिये तो इतना वाद-विवाद, आग्रह करके आपने अपना पक्ष सिद्ध किया है। भला आप शरणार्थीका अनुरोध टाल देंगे? शरणार्थी विभीषणने 'निवेदयत मां क्षिप्रम्', 'महात्मा श्रीरामचन्द्रके समीप मेरे आनेका निवेदन कीजिये' कहकर सुग्रीवादिको ही तो अपना प्रधान द्वार बनाया था। विभीषण जानते थे कि जिस समय मैं लङ्कासे रवाना हुआ और मेरी मति श्रीरामके अभिमुख हुई उसी समयसे प्रभुने मुझे स्वीकार कर लिया। अथवा यों समझिये कि प्रभुने मुझे अङ्गीकार करनेकी इच्छा की तभी तो मेरी मति प्रतिकूल संगसे छूटकर श्रीरामके अभिमुख हुई। अतएव मेरे स्वीकार कर लेनेमें श्रीरामकी कृपा ही कारण हुई, मेरी तरफका पुरुषार्थ तो कुछ न हुआ। और वह चाहते थे कि मेरी तरफका उद्योग भी कुछ उसमें सम्मिलित होना चाहिये। इसलिये सुग्रीवादिको ही पुरुषकारतया वरण करते हुए उन्होंने कहा था—'निवेदयत मां क्षिप्रम्।' भक्तपरवश श्रीरामचन्द्र भी अपने शरणार्थीकी इच्छा नहीं टालना चाहते। इसीलिये आप भी अपने परिकरके प्रमुख श्रीसुग्रीवको ही स्वीकृतिका द्वार बनाते हुए आज्ञा करते हैं—'आनय' 'विभीषणको लिवा लाओ'।

आगे है—'हरिश्रेष्ठ!' 'हे हरिश्रेष्ठ! इसको लिवा लाओ'। यहाँ 'हरिश्रेष्ठ' सम्बोधनसे श्रीरामचन्द्र अपना हार्दिक कारुण्य प्रकट कर रहे हैं।

'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः।'

यह दैन्यभरे शब्द जबसे आपके कानमें पड़े हैं तभीसे आप विभीषणको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे हैं। सायंकाल बनसे आयी हुई बालवत्सा गौ जैसे अपने घरके दरवाज़ेपर खड़ी खिड़कके खुलनेकी प्रतीक्षा किया करती है, उसको अत्यन्त उतावल रहती है कि किसी तरह दौड़कर अपने बच्चेको सूँघूँ, चाटूँ। इधर बच्चा भी आयी हुई माताका हुंकार शब्द जैसे ही सुनता है, कान ऊँचे करके 'माँ' यह करुणा और प्रेमसे भरा शब्द पुकार उठता है। बस, उस समय वत्सलप्रकृति गौसे नहीं रहा जाता। वह खिड़कका दरवाजा तोड़कर भी भीतर जाना चाहती है। इसी तरह श्रीराम भी विभीषणके विषयमें विरुद्ध वाक्य सुनते-सुनते ऊब गये। निरर्थक विलम्ब रोकनेके लिये आपको अपना दिव्य प्रभाव भी अपने मुखसे कह देना पड़ा। आपने स्पष्ट कह दिया कि चाहे कुछ भी हो शरणागतको अभय देनेका जो मेरा स्वभाव है इसे मैं नहीं रोक सकता। इसके साथ ही कुछ भी प्रतीक्षा न करके आप आज्ञा भी दे चुके हैं—'एनम् आनय' 'इसको ले आओ।' आपका हृदय तड़प रहा है कि हाय! दरवाज़ेपर अवाङ्मुख खड़े विभीषणको न जाने इस प्रतीक्षामें कितना दुःख होता होगा। हा हन्त! शरणार्थी, और मेरे द्वारपर खड़ा दुःख पावे! अतएव उसकी और मेरी इस दुःख-निवृत्तिके लिये यदि तुम ही जाकर उसको लिवा लाओगे तो मेरे स्नेहपात्र सम्पूर्ण वानरोंमें तुमसे बढ़कर श्रेष्ठ और कौन होगा? यावन्मात्र वानर जो अपने प्राणोंकी भी परवा न करके मेरे लिये सम्मुख समरमें लड़ रहे हैं, भला उनका अहसान कभी मैं भूल सकूँगा। वह मेरे प्राणप्रिय हैं। किन्तु विभीषणके लिये जो मेरे हृदयकी करुणदशा है उसको यदि तुम सबसे आगे होकर सँभाल लोगे तो तुमसे अधिक मैं किसका अहसान मानूँगा। तुमको सबसे बढ़कर समझूँगा। बस, इसी आशयसे यहाँ सम्बोधन दिया है—'हरिश्रेष्ठ!'

'अस्य अभयं मया दत्तम्' 'इसको मैंने अभय दे दिया।' यहाँ 'दत्तम्' दे दिया, यह भूतकाल कैसे? अभी विभीषणको देखा नहीं, उसके दुःखोंको प्रत्यक्ष सुनातक नहीं। फिर अभय अभीसे दे दिया। कहना चाहिये था 'दास्यामि' 'इसको लिवा लाओ मैं अभय दूँगा।' ठीक है, श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि जिस समय विभीषणने अपने सहोदर भाईको छोड़ा। चाहे जैसा क्रूरकर्मा और नृशंस था परन्तु था उसका भाई। अबतक वह उसीके आश्रयमें रह रहा था। उसीने उसका पालनादि किया था। आज वह मेरे ही कारण उसको छोड़कर चला आ रहा है। 'श्रीजनकनन्दिनीको श्रीरामके समीप पहुँचाकर उससे सन्धि

कर लो' यही तो उसको समझाना था। इसीपर तो अभिमानमूर्ति रावणने उसका अपमान किया था। आज वह इसीलिये तो अपने स्त्री, पुत्र, लङ्काकी विभूति, धन, वैभव सब कुछ छोड़कर मेरे पास आश्रय लेनेके लिये चला आ रहा है। मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि कोई भी और कैसा भी दोषी मेरे अभिमुख चला आवे उसको मैं आश्रय दूँगा। मेरे यहाँ तो साधारण-से-साधारण शरणार्थीको भी आश्रय मिलता है। जिसमें इसने तो मेरे ऊपर बड़ा अहसान किया है। मेरे हितके लिये अपना सर्वस्व त्याग किया है। दुस्त्यज घरद्वारतककी ममता छोड़ दी है, भला यह त्याग कुछ कम है? जिस समय भाईपर आपत्ति आ रही है, अपना पारम्परिक राष्ट्र नष्ट हो रहा है, उस सङ्कट-मय समयमें भी न्यायके मार्गको अवलम्बन करके वह मेरी सहायताके लिये यहाँ चला आ रहा है। उसके हृदयमें सची लगन है कि मैं श्रीरामकी सहायता करूँ। मेरी इस सहायताके बदले आजन्मके लिये उसने कलङ्क मोल ले लिया।

विभीषण चाहे जैसे धर्मात्मा हों, चाहे जिस भावसे रामकी सेवा उन्होंने अङ्गीकार की हो परन्तु विश्वभरमें वह विश्वासघातीकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। 'घरका भेदी लङ्का ढाये' यह प्रवाद आजतक नहीं मिटता। जो मेरे लिये इतना त्याग कर चुका है उसका उपकार मेरे ऊपर कुछ सामान्य है? परन्तु इतना होनेपर भी वह अपनी आत्मामें ज़रा अभिमान नहीं रखता। रञ्चकमात्र भी मेरे प्रति अहसानकी झलक दिखाना नहीं चाहता। वह अपने मुखसे अपना निकर्ष सूचित कर रहा है, दैन्य दिखा रहा है। भला यह सामान्य शरणभाव है? नहीं-नहीं, उसका उत्कर्ष मेरा यह हृदय जानता है। जिस समय वह लङ्कासे रवाना हुआ उसी समयसे मैंने भी उसको अङ्गीकार कर लिया, उसको अभय दे दिया। इसी भावको लेकर श्रीरामचन्द्र यहाँ आज्ञा करते हैं—'अभयं दत्तम्' दे दिया।

सदाचारमें चलनेवाले धार्मिक विभीषणने जिस समय सुना कि रावण श्रीरामचन्द्रकी वञ्चना करके श्रीजनक-नन्दिनीको ले आया है। उसी समयसे उनका हृदय लङ्कासे निर्विण्ण हो गया था। फिर जैसे-जैसे अशोक-वाटिकाके क्रूर वृत्तान्त उनके पास पहुँचते रहे वैसे-वैसे उनके हृदयमें एकान्तदुःख बढ़ता रहा। रावणको अहित-मार्गसे हटाकर कल्याणके रास्तेपर लानेके लिये वह बड़े विकल हो रहे थे। जब-जब उनको अवसर मिलता वह उग्रप्रकृति रावणके स्वभावको देखकर दबी ज़बान धीरे-धीरे हितकी सलाह देते। परन्तु राक्षसमण्डलीमें भली सलाह कौन सुनने देता है? जिस समय श्रीराघवका समुद्रतटपर पधारना सुना तथा यह भी विदित हुआ कि किष्किन्धाधिपति अथाह वानर-ऋक्ष-सैन्य लेकर साथ आये हैं और समुद्रोल्लङ्घनकी सलाह हो रही है, उस समय रावणके सच्चे हितैषी विभीषणसे न रहा गया। बिना कहे भी आप लङ्काधिपतिके पास गये। जिस समयसे रावण और उसके सलाहकारोंको यह विदित हुआ कि विभीषण सीताके हरणसे अप्रसन्न हैं तथा रामसे सन्धि कर लेनेके पक्षपाती हैं उसी समयसे लङ्काधिपतिके राजमहलमें उनका सम्मान घट चुका था। कोई उनके अनुकूल न था, सब उन्हें हेयदृष्टिसे देखते थे। रावण भी उनसे न कभी बोलता, न सलाह लेता, किन्तु विभीषण रावणका भला चाहते थे। अतएव अपने मानापमानकी तरफ कुछ न देखकर वे चलकर राजमहलमें पहुँचे।

जहाँतक उनकी शक्ति थी खूब ऊँच-नीच रावणको समझाया। परन्तु इसपर प्रहस्त आदि सभी मन्त्री बिगड़ उठे। इन्द्रजीत जो इनका भतीजा था, पुत्रके समान पोष्य था, उसने भी यहाँतक इनका अपमान और तिरस्कार किया और कहा कि 'इस कुलकी तो क्या कथा किसी नीच कुलमें उत्पन्न हुआ मनुष्य भी ऐसी सलाह नहीं दे सकता। इस वंशमें एक यही ऐसे हुए हैं जो वीर्य, पराक्रम, धैर्य, तेज इत्यादि सबसे हीन हैं।' दयालु विभीषणके हृदयमें भतीजेके ये वाक्य विषबुझे तीरकी तरह लगे। रावणने भी इन्हें बड़े कुटिल वाक्योंसे फटकारा। कहा कि—

> वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण च।
> न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना॥

'शत्रुके साथ, क्रुद्ध हुए साँपके साथ भी आदमी रह सकता है परन्तु ऊपरसे मित्रता-सा दीखे और भीतर शत्रुसे मिला हुआ हो ऐसे मनुष्यके साथ कभी न रहे।' साधुहृदय विभीषण उठ खड़े हुए। अपने कर्तव्यकी जहाँतक दौड़ हो सकती थी उससे अधिक उद्योग वह कर चुके थे। इस दशामें उन्हें यहाँतक दुःख हुआ कि बिना घर गये ही समुद्रतटकी तरफ़ उन्होंने मुख कर लिया। नलिनायतलोचन भगवान् श्रीरामचन्द्रकी ओर उनका

चित्त खिंच गया था। लङ्का, स्त्री, पुत्र, राज्यविभूतियाँ, उसी क्षण उनके हृदयसे हट चुकी थीं। उनको एकमात्र अब यही ध्यान था कि जिन श्रीरामचन्द्रके गुण अबतक सुनता आया हूँ, जो दयाके सागर सुने जाते हैं, वह क्या मेरे सदृश दुष्कुलोत्पन्न पुरुषको भी अपनी सेवामें ले सकेंगे ?

ध्यान रहे, यह विभीषणकी भावना आन्तरिक थी। इसमें कृत्रिमताका लेशमात्र न था। जिन श्रीरामचन्द्रको देखा नहीं, परिचय नहीं, प्रत्युत इस समय वैरीपक्षमें हो रहे थे, उन्हींकी तरफ़ एकाएक हृदयका मुड़ जाना स्वभावकी प्रेरणा नहीं तो और क्या है ? फिर आप ही देख लीजिये—स्वभावसे, सच्चे हृदयसे, अकृत्रिमभावसे, भगवान्‌का ध्यान किया जाय और भगवान् उसका अनिष्ट देखा करें ? नहीं-नहीं, वे अन्तर्यामी हैं। जिस समय इनके हृदयमें अङ्कुररूपसे ही भगवान्‌की भावना उत्पन्न हुई थी, उसी समयसे वह उनसे अविदित न थी। भगवान् उसी समय इन्हें परिकरमें ले चुके थे और अभय दे चुके थे, अब लेना-देना कैसा ? इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं 'अभयं मया दत्तम् ।' 'अभय मैं पहले ही दे चुका।' (क्रमशः)

नरक और स्वर्ग

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति ।

श्यामा—हे बहिन ! सुनते हैं कि पापात्मा प्राणी मरनेके बाद नरकोंमें जाकर पापोंका फल यम-यातना भोगते हैं। और पुण्यात्मा प्राणी स्थूल देहको त्यागकर स्वर्गलोकमें जाकर देवताओंके दिव्य भोग भोगते हैं। बहुत-से लोगोंका कथन है कि नरक, स्वर्ग यहाँ ही है। जो भाई-बहिन धन-धाम, स्त्री-परिवारसे युक्त होनेसे सुखी हैं, उनके लिये यहीं स्वर्ग है। और जो भाग्यहीन धन-धाम आदिसे हीन होनेसे दुःखी हैं उनके लिये यहीं नरक है। दोनोंका कथन ठीक ही है; क्योंकि यहाँ भी सुखी-दुखी देखनेमें आते हैं। और परलोकमें तो नरक-स्वर्ग हैं ही, क्योंकि ऐसा शास्त्रोंका मत है। मैं तुमसे यह सुनना चाहती हूँ कि तेरी समझमें नरक और स्वर्ग क्या हैं ?

कोकिला—हे बहिन ! तेरा यह कहना सर्वथा सत्य ही है कि नरक और स्वर्ग यहाँ भी हैं और परलोकमें भी हैं। परन्तु मुझे तो पूज्यपाद भाष्यकारका कथन रुचता है। उनका कथन है कि अपना देह ही नरक है, और तृष्णाका नाश ही स्वर्ग है। यह बात सोलहों आने सत्य है, क्योंकि देहवाला अथवा देहके अभिमानवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता, वह सदा दुखी ही रहता है। और जो दुखी रहता है, वह नरकमें ही है। इसी प्रकार जिसमें तृष्णा नहीं है, उसके लिये संसारमें कहीं भी दुःख नहीं है। तृष्णा ही दुःखका मूल है, तृष्णारहित मनुष्य सदा सुखी होता है। अतएव तृष्णारहित मनुष्य संसारमें जीता हुआ ही स्वर्गका सुख भोगता है। इस प्रकार सबके अनुभवसे सिद्ध है कि अपना देह ही नरक है और तृष्णाका नाश ही स्वर्ग है। अतः कल्याणकी इच्छा-वालोंको तृष्णाका नाश करना चाहिये और ऐसा उपाय करना चाहिये कि इस देहके त्यागके बाद दूसरे देहकी प्राप्ति न हो। जहाँतक हो सके देहाभिमानका त्याग अवश्य करना चाहिये, इसी बातको मैं तुझे कुछ विस्तारसे समझाती हूँ।

हे बहिन ! स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन देह हैं, ये तीनों देह सदा-सर्वदा ज्वरोंसे युक्त रहते हैं। स्थूल शरीरमें वात, पित्त और कफके दोषसे

अनेक प्रकारके ताप होते रहते हैं। भूख-प्यास भी प्रतिदिन सताती हैं। लड़कपन तथा जवानीमें भी कोई-न-कोई रोग रहता ही है और बुढ़ापा तो प्रत्यक्ष रोगोंका घर ही है। यह बात सबके अनुभव-से सिद्ध है। सूक्ष्म देहमें काम-क्रोधादि और शम-दम आदि ज्वर होते हैं। जब काम-क्रोधादि होते हैं तब सताते हैं; और शम-दम आदि जब नहीं होते, तब सताते हैं। इसलिये सूक्ष्म शरीर रोगमय है, कारण-शरीर इन दोनोंका बीजरूप होनेसे दुःखरूप है। न अपनेको जानता है न परायेको जानता है, मरा हुआ-सा होता है। इस प्रकार तीनों शरीर रोगमय हैं। जागतेमें मनुष्य रोता हुआ-सा रहता है। स्वप्नमें अन्धा-सा हो जाता है और सुषुप्तिमें मरा हुआ-सा हो जाता है। जिनके सत्संगसे स्वयं ज्योति आत्मा रोता हुआ-सा, अन्धा-सा और मरा हुआ-सा हो जाय वे शरीर प्रत्यक्ष नरक नहीं तो और क्या है?

एक दिन एक मनुष्यने एक महात्मासे इस प्रकार प्रार्थना की।

मनुष्य—महाराज! मैं बहुत दिनोंसे गुरुकी खोजमें हूँ, आजतक मुझे कोई गुरु नहीं मिला। आपकी सेवामें मैं सालभरसे आता हूँ, यह बात आप जानते ही हैं। मुझे भी आपपर यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि आपके द्वारा अवश्य ही मेरा कल्याण होगा। कृपया मुझे शिष्य बनाकर योग्य उपदेश दीजिये। मैं आपके उपदेशको सिर-आँखोंसे मानूँगा।

महात्मा—भाई! मैं शिष्य तो किसीको नहीं बनाता परन्तु तुम सालभरसे निरन्तर मेरे पास आते हो, तुम्हारे स्वभावसे मैं परिचित हो गया हूँ। तुम शुद्ध बुद्धिवाले दीखते हो, इसलिये मैं तुम्हें उपदेश दूँगा। जाओ तुम संसारमेंसे ऐसी कोई वस्तु खोजकर लाओ, जो तुम्हारी समझमें सबसे बुरी हो!

मनुष्य चल दिया और गुरुकी आज्ञानुसार सबसे बुरी वस्तुकी खोज करने लगा। किसी चीजको बुरी समझकर उठाता, परन्तु जब दूसरी वस्तु उससे अधिक बुरी मिल जाती तब उसे छोड़कर दूसरीको उठा लेता। इस प्रकार वह कई दिनोंतक करता रहा। उसे एक-से-एक बढ़कर बुरी वस्तु मिलती रही! एक दिन वह विष्ठाको देखकर सोचने लगा कि बस, इससे बढ़कर मेरी समझमें और कोई बुरी वस्तु नहीं है। सब मनुष्य इससे घृणा करते हैं, और दूर रहते हैं। मक्खियाँ इसके ऊपर बैठती हैं, और सूकर आदि इसको खा जाते हैं। ये दोनों मूर्ख हैं, इनकी समझ प्रमाणरूप नहीं है और भङ्गी इसे उठाते हुए देखनेमें आते हैं वे लोभवश ऐसा करते हैं, उनकी बुद्धि लोभवश होनेसे प्रमाणरूप नहीं है। मेरी समझमें सबसे बुरी वस्तु यही है। अतएव इसीको गुरुके पास ले चलना चाहिये।

ऐसा विचारकर मनुष्य विष्ठाको एक टोकरीमें रखकर गुरुके पास ले चला। तब विष्ठा उससे इस प्रकार कहने लगी—

अरे भाई! तू मुझे जैसी समझता है वैसी मैं नहीं हूँ। मैं तो कल दूध, दही, घी, मिष्टान्न आदि सुन्दर और स्वादिष्ट पदार्थ थी। मनुष्योंका मन मेरे लिये ललचाता था, मुझे देखते ही उनकी जीभ लपलपा उठती थी, मुझको मनुष्यने खाया और एक ही रातके उसके सत्संगसे मेरी यह दशा हो गयी। हे मनुष्य! यदि मैं तेरे शरीरका संग न करती तो मेरी यह दशा न होती। मैं बुरी नहीं हूँ, तेरे शरीरके संगसे ही बुरी हो गयी हूँ। इसलिये तेरा यह शरीर ही सबसे बुरा है।

श्यामा—हे बहिन! तूने भी खूब कहा? कहीं विष्ठा भी बोला करती है? जड़ पदार्थ तो कहीं भी बोलते हुए नहीं देखनेमें आते।

कोकिला—हे बहिन! जड़ पदार्थ क्यों नहीं बोलेंगे? चेतन-अचेतन सभी पदार्थ बोलते हैं। कोई सबसे बोलते हैं, कोई किसीसे। बुद्धिमानोंसे तो सभी बोलते हैं। हाँ, बोलनेकी भाषा अपनी-अपनी अलग-अलग होती है। बुद्धिमान् पुरुष उनकी भाषा समझते हैं, विष्ठाको देखते ही सभी हट जाते हैं। घी पुष्टिकारक है, दूध रेचक और पाचक है, उड़दकी दाल वादी करती है, अरहरकी दाल रूखी है, इत्यादि सभी चीजें अपने-अपने गुण बताती हैं। मूर्ख उनके बतानेपर भी नहीं समझते, चतुर समझ जाते हैं। बोलना मुखसे ही नहीं होता। सूरतसे, रंगसे, स्वभावसे, स्वादसे, गुणसे और अन्यान्य अनेक प्रकारोंसे परस्पर बातचीत हो सकती है। अस्तु! हे बहिन! वह मनुष्य विष्ठाकी बात सुनकर इस प्रकार विचार करने लगा। हाँ ठीक तो है, विष्ठा सच कहती है कि मेरा शरीर ही बुरा है, यद्यपि विष्ठाका यह कथन ठीक नहीं है कि मेरे संगसे ही उसकी दुर्दशा हो गयी है। क्योंकि मेरे संगके बिना भी दूध-दही आदि वस्तु सड़ जाती हैं। फिर भी मेरा शरीर बुरा है, यह कथन तो ठीक ही है। क्योंकि जिन अन्नादि वस्तुओंकी बनी हुई विष्ठा है उन्हीं अन्नादि वस्तुओंका बना हुआ मेरा शरीर है। इस शरीरमें हड्डी, मांस, चमड़ा आदि कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं है। इन्हीं वस्तुओंको जब हम बाहर देखते हैं, तब उनसे घृणा करते हैं। किसीने सच कहा है यदि मांस-रक्तादिका यह शरीर चमड़ीसे नहीं ढका होता, तो स्त्री-पुरुष उसे चील-कौओंसे बचाते-बचाते मर जाते।

ऐसा विचारकर मनुष्यने महात्मासे जाकर कहा कि भगवन्! सबसे बुरा मेरा यह शरीर ही है। महात्माने अधिकारी समझकर उसे उपदेश दिया और तीनों शरीरोंसे भिन्न उसके आत्माका साक्षात्कार करवाकर उसे कृतार्थ कर दिया। हे बहिन! अब तू समझ गयी होगी कि अपना यह शरीर ही नरक है। भाष्यकारका यह कथन सत्य है।

अब तृष्णाका नाश स्वर्ग है, यह बताती हूँ। तृष्णा पिशाचिनीने सब जीवोंको दीन बना रक्खा है। जीव स्वभावसे चेतन, अमल और सुखकी राशि है परन्तु इस राक्षसी तृष्णाके कारण यह अपने सुखस्वरूपको भूलकर सुखकी खोजमें ऊँच-नीच योनियोंमें चक्कर काटता हुआ कष्ट पा रहा है। तृष्णा जन्मके साथ ही जीवके संग आती है। और जीवनभर उसके साथ रहकर अन्तमें जीवके मरनेपर उसके साथ ही सती हो जाती है। फिर जहाँ भी वह जाता है, यह साथ ही रहती है। जो धीर भाई-बहिन विचारपूर्वक इस तृष्णासे छूट जाते हैं, वही धन्य हैं और उन्हींका जन्म सफल है।

स्वधर्मका निष्कामभावसे पालन करनेसे दयालु भगवान् अपनी भक्ति और मुक्ति दोनों दे देते हैं। परन्तु यह तृष्णा चुड़ैल मनुष्यको स्वधर्मका पालन नहीं करने देती और उसको परधर्ममें प्रवृत्त कराकर अधोगति प्राप्त करा देती है। तृष्णाके कारण ही उच्च वर्णका मनुष्य नीच वर्णके धर्मका अनुष्ठान करके लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होता है, इसी प्रकार तृष्णासे ही नीच वर्णका मनुष्य अपना धर्म छोड़कर पराये धर्मका आचरण करता है और अपने दोनों लोकोंको बिगाड़ लेता है। उत्तम कुलकी स्त्रियोंका धर्म है कि जब कभी उन्हें बाहर जाना हो तो पति अथवा भाईके साथ जायँ अथवा दो-चार जनी मिलकर जायँ। परन्तु बहुत-सी बहिनें उत्तम कुलकी होकर भी तृष्णाके कारण स्वतन्त्र होकर अकेली ही घूमना चाहती हैं। धर्ममें अधर्म और अधर्ममें धर्मबुद्धि करानेवाली इस तृष्णा राक्षसीसे परमात्मा सबको बचावें।

किसी जगह एक परिवारमें दो स्त्री-पुरुष थे, वे पहले बहुत धनी थे। पीछे दैवयोगसे निर्धन

हो गये, तब दोनोंने बहुत वर्षोंतक एकचित्त होकर सूर्य भगवान्‌की आराधना की । सूर्य भगवान्‌ने उनकी आराधनासे प्रसन्न होकर मनोकामना पूर्ण करनेवाला एक अद्भुत शङ्ख देकर उनसे कहा—

हे भावुको ! यह शङ्ख विना माँगे ही तुम्हारी सब कामनाएँ पूरी करता रहेगा और अन्तमें तुम दोनोंको मेरे दिव्य लोककी प्राप्ति करा देगा । अतएव इससे कुछ माँगना नहीं; यदि माँगे विना मन न रहे तो बीस वारसे अधिक तो कभी माँगना ही नहीं, क्योंकि बीस बारतक तुम्हें यह मुँहमाँगी वस्तु देगा । परन्तु तुम इक्कीसवीं बार माँगोगे तो यह तुम्हें दी हुई सारी वस्तुएँ छीन लेगा । और तुम जैसे इस समय निर्धन हो वैसे ही फिर हो जाओगे ।

शङ्खके आते ही दम्पतिका काम भलीभाँति चलने लगा । अन्न-वस्त्रकी कुछ भी कमी नहीं रही । सूर्य भगवान्‌की आज्ञानुसार उन्होंने उससे बहुत समयतक कुछ भी नहीं माँगा । बिना ही माँगे सारी आवश्यकताएँ अपने-आप पूरी होती रहीं । दोनों सुखी हो गये । परन्तु तृष्णा राक्षसी उन्हें सुखी न देख सकी । पुरुषके ऊपर तो उसका कुछ वस न चला । परन्तु एक दिन स्त्रीके ऊपर वह भूतनी होकर चढ़ बैठी । जैसे मन्थराके वश हुई कैकेयीने राजा दशरथसे वर माँगा था, उसी प्रकार वह स्त्री अपने पतिसे कहने लगी—

स्त्री—हे प्राणपते ! इस लोकमें आकर केवल अन्न-वस्त्रसे ही निर्वाह नहीं करना चाहिये, प्राप्त हो सके तो और भोग भी भोगने चाहिये । सूर्य भगवान्‌ने बीस बार माँगनेकी आज्ञा तो दे ही रक्खी है, दो-चार बार माँगनेमें तो कुछ हानि है ही नहीं । लक्ष्मीचन्द सेठका-सा एक मकान माँग लो तो हमारा मकान ग्राममें सबसे ऊँचा हो जायगा । पुरुष स्त्रीके कहनेमें आ गया, उसने एक मकान माँगा और माँगते ही मकान इच्छानुसार मिल गया । तब दम्पतिने दास-दासियाँ हो जानेकी शङ्खसे प्रार्थना की । दास-दासी भी हो गये । फिर दास-दासियोंके लिये प्रचुर धनकी प्रार्थना की । धन भी हो गया । फिर पुत्र-पुत्रियोंकी चाहना की, वे भी मिल गये । फिर भी तृष्णा पूरी न हुई । फिर नगरके राजा बननेकी प्रार्थना की । राजा हो गये । पर राजा होकर भी सन्तोष न हुआ । फिर देशके राजा बननेकी प्रार्थना की, उससे भी सन्तोष न हुआ । कई बार प्रार्थना करते-करते बीस बार प्रार्थना हो गयी । और वे पृथ्वीभरके सम्राट्-सम्राज्ञी हो गये ।

एक दिन स्त्रीको यह इच्छा हुई कि मनुष्य होकर पूर्ण आनन्द तो हमको प्राप्त हो गया है । अब यदि सूर्य, चन्द्रमा और मेघ भी हमारे वशमें हो जायँ तो फिर आनन्दका कोई पार ही न रहे । सर्दी, गर्मी, वर्षा सभी हमारे अधीन हो जायँ ।

ऐसा विचारकर स्त्रीने, पुरुषसे पुनः प्रार्थना करनेको कहा । उसकी भी तृष्णा अत्यन्त बढ़ी हुई थी । कितनी बार प्रार्थना की, यह उसे याद नहीं था । स्त्रीकी बात मानकर उसने प्रार्थना की । इस प्रार्थनाका पूर्ण होना असम्भव था, क्योंकि यह इक्कीसवीं बारकी थी । प्रार्थना करते ही उनका सब ऐश्वर्य चला गया । और उन्होंने अपनेको उसी गरीबी दशामें पहलेवाले छोटे-से मकानमें पाया, अब तो वे दोनों बहुत ही पछताये, परन्तु अब क्या होता ! तृष्णा ऐसी ही है, यह कभी पूर्ण नहीं होती । देवताओंको भी इसने वशमें कर रक्खा है ।

हे बहिन ! उपर्युक्त कथाका रहस्य यह है कि जीवात्मा पुरुष है और बुद्धि स्त्री है । दोनों

परमात्माका अंश होनेसे धनी हैं, परन्तु तृष्णाके कारण कङ्गाल हो गये हैं। जब वे सूर्य भगवान्‌रूप परमेश्वरकी आराधना करते हैं, तब परमेश्वर उनको पुण्यरूप शङ्ख दे देता है, यदि वे किसी प्रकारकी कामना न करें तो पुण्य वृद्धिको प्राप्त होकर उन्हें परमात्मासे मिला देता है। परन्तु कुबुद्धिके वश होकर जीव अनेक प्रकारकी इच्छाएँ किया करता है । इच्छाएँ करनेसे और उनका फल भोगनेसे जीवका पुण्य क्षय हो जाता है, इच्छाके ऊपर इच्छा करना ही तृष्णा है। यह तृष्णा महान् अनर्थका मूल है और तृष्णाका नाश हो जाना सब अनर्थोंका नाश हो जाना है। इसलिये ठीक ही कहा है कि तृष्णाका नाश स्वर्ग है। सबका सार यह है ।

नर शरीर है नरक सम, कष्ट अनेकों देय ।
तृष्णाक्षय है स्वर्ग सम, यही शान्ति सुख देय ॥

मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्त्तव्य है ?

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रत्येक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'मेरा क्या कर्त्तव्य है ?' मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि हूँ या इनसे कोई भिन्न वस्तु हूँ ? विचारपूर्वक निर्णय करनेसे यही बात ठहरती है कि मैं नाम नहीं हूँ, मुझे आज जयदयाल कहते हैं परन्तु जब प्रसव हुआ था उस समय इसका नाम जयदयाल नहीं था । यद्यपि मैं मौजूद था । घरवालोंने कुछ दिन बाद नामकरण किया । उन्होंने उस समय जयदयाल नाम न रखकर महादयाल रक्खा होता तो आज मैं महादयाल कहलाता और अपनेको महादयाल ही समझता ! मैं न पूर्वजन्ममें जयदयाल था, न गर्भमें जयदयाल था, और न शरीरनाशके बाद जयदयाल रहूँगा । यह तो केवल घरवालोंका निर्देश किया हुआ साङ्केतिक नाम है । यह नाम एक ऐसा कल्पित है कि जो चाहे जब बदला जा सकता है, और उसीमें उसका अभिमान हो जाता है । जो विवेकवान् पुरुष इस रहस्यको समझ लेता है कि मैं नाम नहीं हूँ, वह नामकी निन्दा-स्तुतिसे कदापि सुखी-दुखी नहीं होता । जब वह मनुष्य 'नाम' की निन्दा-स्तुतिमें सम नहीं है, निन्दा-स्तुतिमें सुखी-दुखी होता है तब वह नाम न होनेपर भी 'नाम' बना बैठा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है । जो इस रहस्यको जान लेता है उसमें इस भ्रमकी गन्धमात्र भी नहीं रहती । इसीलिये श्रीभगवान्‌ने तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लक्षणोंको बतलाते हुए उन्हें निन्दा और स्तुतिमें सम बतलाया है—

'तुल्यनिन्दास्तुतिः……' (गीता १२ । १९)

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (गीता १४ । २४)

फिर यह प्रसिद्ध भी है कि जयदयाल 'मेरा' नाम है 'मैं' जयदयाल नहीं हूँ । इससे यह सिद्ध हुआ नाम 'मैं' नहीं हूँ ।

इसी प्रकार रूप—देह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि देह जड है और मैं चेतन हूँ, देह क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है, मैं इनसे सर्वथा रहित हूँ । बालकपनमें देहका और ही स्वरूप था, युवापनमें दूसरा था और अब कुछ और ही है, किन्तु मैं तीनों

अवस्थाओंको जाननेवाला तीनोंमें एक ही हूँ । किसी पुरुषने मुझको बाल्यावस्थामें देखा था, अब वह मुझसे मिलता है तो मुझे पहचान नहीं सकता । देहका रूप बदल गया । शरीर बढ़ गया, दाढ़ी-मूँछें आ गयीं । इससे वह नहीं पहचानता । किन्तु मैं पहचानता हूँ, मैं उससे कहता हूँ, आपका शरीर युवावस्थासे वृद्ध होनेके कारण उसमें कम अन्तर पड़ा है, इससे मैं आपको पहचानता हूँ । मैंने आपको अमुक जगह देखा था । उस समय मैं बालक था, अब मेरे शरीरमें बहुत परिवर्त्तन हो गया, अतः आप मुझे नहीं पहचान सके । इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ । 'शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिमान भी पूर्वोक्त नामके समान ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है । जो पुरुष इस रहस्यको जानते हैं वे शरीरके मानापमान और सुख-दुःखमें सर्वथा सम रहते हैं। क्योंकि वे इस बातको समझ जाते हैं कि मैं शरीरसे सर्वथा पृथक् हूँ । इसीलिये तत्त्ववेत्ताओंके लक्षणोंमें भगवान् कहते हैं—

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।'

(गीता १२ । १८)

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४ । २५)

'समदुःखसुखः' (गीता १४ । २४)

अतएव विचार करनेसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि यह जड शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इस शरीरका ज्ञाता हूँ; और प्रसिद्धि भी यही है कि शरीर 'मेरा' है । मनुष्य भ्रमसे ही शरीरमें आत्माभिमान करके इसके मानापमान और सुख-दुःखसे सुखी-दुखी होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ ।

इसी तरह इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ । हाथ-पैरोंके कट जाने, आँखें नष्ट हो जाने और कानोंके बहरे हो जानेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् रहता हूँ, मरता नहीं । यदि मैं इन्द्रिय होता तो उनके विनाशमें मेरा विनाश होना सम्भव था । अतएव थोड़ा-सा भी विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मैं जड इन्द्रिय नहीं हूँ, वरं इन्द्रियोंका द्रष्टा या ज्ञाता हूँ ।

इसी प्रकार मैं मन भी नहीं हूँ । सुषुप्तिकालमें मन नहीं रहता, परन्तु मैं रहता हूँ । इसीलिये जागनेके बाद मुझको इस बातका ज्ञान है कि मैं सुखसे सोया था । मैं मनका ज्ञाता हूँ । दूसरोंकी दृष्टिमें भी मनके अनुपस्थितिकालमें (सुषुप्ति या मूर्छित अवस्थामें) मेरी जीवित सत्ता प्रसिद्ध है । मन विकारी है, इसमें भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं । मनमें होनेवाले इन सभी संकल्प-विकल्पोंका मैं ज्ञाता हूँ । खान, पान, स्नान आदि करते समय यदि मन दूसरी ओर चला जाता है तो उन कामोंमें कुछ भूल हो जाती है, फिर सचेत होनेपर मैं कहता हूँ, मेरा मन दूसरी जगह चला गया था इस कारण मुझसे भूल हो गयी । क्योंकि मनके बिना केवल शरीर और इन्द्रियोंसे सावधानीपूर्वक काम नहीं हो सकता । अतएव मन चञ्चल और चल है परन्तु मैं स्थिर और अचल हूँ । मन कहीं भी रहे, कुछ भी संकल्प-विकल्प करता रहे, मैं उसको जानता रहता हूँ, अतएव मैं मनका ज्ञाता हूँ, मन नहीं हूँ ।

इसी तरह मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, क्योंकि बुद्धि भी क्षय और वृद्धि-स्वभाववाली है । मैं क्षय-वृद्धिसे सर्वथा रहित हूँ । बुद्धिमें मन्दता, तीव्रता, पवित्रता, मलिनता, विकार, व्यभिचारादि होते हैं परन्तु मैं उसकी इन सब स्थितियोंको जाननेवाला हूँ । मैं कहता हूँ उस समय मेरी बुद्धि ठीक नहीं थी, अब ठीक है ।

बुद्धि कब क्या विचार रही है और क्या निर्णय कर रही है इसको मैं जानता हूँ। बुद्धि दृश्य है, मैं उसका द्रष्टा हूँ। अतएव बुद्धिका मुझसे पृथक्त्व सिद्ध है, मैं बुद्धि नहीं हूँ।

इस प्रकार मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति नहीं हूँ। मैं इन सबसे सर्वथा अतीत, इनसे सर्वथा पृथक्, चेतन, साक्षी, सबका ज्ञाता, सत्, नित्य, अविनाशी, अविकारी, अक्रिय, सनातन, अचल और समस्त सुख-दुःखोंसे रहित केवल शुद्ध आनन्दमय आत्मा हूँ। यही मैं हूँ। यही मेरा सच्चा स्वरूप है।

क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण पापोंसे विमुक्त होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति हुई है। इस परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। मनुष्य-शरीरके बिना अन्य किसी भी देहमें इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थितिकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है, और वह तत्त्वज्ञान विवेक, वैराग्य, विचार, सदाचार और सद्गुण आदिके सेवनसे होता है। और इन सबका होना इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी दयाके बिना सम्भव नहीं। यद्यपि ईश्वरकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा है किन्तु बिना उनकी शरण हुए उस दयाके रहस्यको मनुष्य समझ नहीं सकता। एवं दयाके तत्त्वको समझे बिना उस दयाके द्वारा होनेवाले लाभको वह प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर उनकी दयाके रहस्यको समझकर उससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। ईश्वरकी शरणसे ही हमें परम शान्ति मिल सकती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८।६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्ति और सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

जब यह मनुष्य परमेश्वरके शरण* होकर परमेश्वरके तत्त्वको जान जाता है, तब उस परमेश्वरकी कृपासे अज्ञान नाश होकर वह परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। जैसे निद्राके नाशसे मनुष्य जाग्रत्को, दर्पणके नाशसे प्रतिबिम्ब बिम्बको, तथा घटके फूटनेसे घटाकाश महाकाशको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानके नाशसे यह जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब यह साधक नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको सर्वथा पृथक् समझ लेता है, तब यह ईश्वरके शरण होकर ईश्वरकी कृपासे, देहादि सम्बन्धसे होनेवाले समस्त क्लेशों और पापोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है, एवं विज्ञानानन्दघन परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण सदाके लिये उस विज्ञानानन्दघन प्रभुको प्राप्त हो जाता है। प्रभुको प्राप्त करनेके लिये अनन्यभावसे इस प्रकार प्रयत्न करना और प्रभुको प्राप्त हो जाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

---
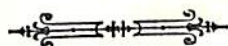
* शरणका सार अर्थ है श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम भावसे प्रभुकी आज्ञाका पालन करना, गुण और प्रभाव-सहित उसके स्वरूपका चिन्तन करना, एवं हमारे कर्मोंके अनुसार परमेश्वरकृत सुख-दुःखादि विधानमें सर्वथा समचित्त रहना। शरणागतिका विशेष वर्णन देखना हो तो 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामक गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तक देखनी चाहिये।

कबीरका हृदय

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०)
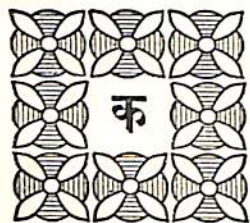
बीरकी अटपटी 'बानी' के भीतर पैठकर उनके हृदयकी निगूढ़ व्यथाका मर्म समझना बहुत कठिन कार्य है। कबीरके सम्बन्धमें हमारी बड़ी विचित्र धारणा है। कबीरको प्रायः नीरस, शुष्क, अक्खड़ महात्मा समझा जाता है। संसारके प्रति कबीरका जो दृढ़ वैराग्य है उसकी ही ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ, प्रेमसे भिने हुए कबीरके हृदयकी कसमसाहटको किसीने देखनेकी चेष्टा ही नहीं की! 'नइयामें नदिया बही जाय' तथा 'बरसे आँगन भीजे पानी' की ओर बार-बार संकेतकर हमने कबीरको ऊटपटाँग महात्मा मानकर सन्तोष कर लिया। इन उलट-बाँसियोंमें लोगोंका बस एक कुतूहलमात्र हुआ। कबीरके साथ अभी हमारा परिचय सर्वथा अपूर्ण है, अधूरा है।

कबीरकी साधनाके दो अंग हैं—'दुःखालय' और 'अशाश्वत'। जगत्के बनने-मिटनेवाले बाह्य रूपके प्रति कबीरका अत्यन्त दृढ़ वैराग्य है। उनकी भावना प्रबल है कि 'रहना नहिं देस बिराना है।' यह संसार जिसके प्रति हमारा अपार आकर्षण है पानीके बुलबुलेकी भाँति क्षणभंगुर है। कबीरने जगत्के असली रूपको खूब अच्छी तरह ठोक-बजाकर देख लिया परन्तु इससे वे परास्त नहीं हुए। मृत्यु, विनाश, सीमा, परिवर्तन और विकारको पारकर कबीरने 'परम पुरुष' के संस्पर्श-सुखको अपने अन्तस्तलमें अनुभव किया। इस ब्रह्म-संस्पर्शके उन्मादकारी मधुमें कबीरने अपनी साधनाको अभिसिञ्चित किया है। कबीरने सच्चे आनन्दका रस पिया और घूँघटका पट हटाकर अपने प्राणवल्लभका आलिङ्गन किया। मृत्युके उस पार प्रेम, सौन्दर्य और आनन्दकी जो त्रिवेणी लहरा रही है उसमें कबीरने अपनी आत्माको नहलाया। उस अमर ज्योतिसे कबीरके जीवनका प्रति पल और उनके विश्वका कण-कण उद्भासित हो रहा है।

> सोवौं तो सुपने मिलै, जागौं तो मन माहिं।
> लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥
> गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
> चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर॥

कबीर 'क्रान्तदर्शी' आत्मज्ञानी सन्त थे। उन्होंने 'उस पार' को देखा और जगत्को बेधती हुई उनकी दृष्टि वहीं जाकर ठहरी जहाँ 'परम पुरुष' का रंगमहल है; जहाँ सत्-चित्-आनन्दका ही साम्राज्य है।

> सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
> बलिहारी वा घटकी, जा घट परगट होय॥
> ज्यों तिलमाहीं तेल है, ज्यों चकमकमें आगि।
> तेरा साइँ तुज्झमें, जागि सकै तो जागि॥

ऊपरी ऊपर तो जगत्में हाहाकार, अशान्ति और विरोध तथा विषमताकी आग धधक रही है। परन्तु जिन्होंने इसके बाह्य रूपको भेदकर अन्तरमें प्रवेश किया है उनके लिये यही संसार आनन्द और शान्तिका आगार है। यह जो कुछ भी है वह परमात्मासे ओतप्रोत है, इस जगत्में जो कुछ भी 'जगत्' है वह प्रभुमय है, हरिका रूप-विलास है। इसे समझनेके लिये आवश्यकता है अपने भीतर डूबकर अपनी वास्तविक सत्ताका साक्षात्कार करनेकी। कबीर इसे ही 'पियका परिचय' कहते हैं—

> पिउ परिचय तब जानिये, पिउसे हिलमिल होय।
> पिउकी लाली मुख पड़ै, परगट दीसै सोय॥
> लिखा लिखीकी है नहीं, देखा-देखिकी बात।
> दुलहा दुलहिन मिलि गये, फीकी पड़ी बरात॥

यह साक्षात्कार, यह प्रिय-मिलन बहुत ही कठिन, बहुत ही दुर्लभ है। यह सिरका सौदा है। इसके लिये कबीरने ललकारते हुए कहा है कि यदि प्रभुका साक्षात्कार करना है तो अपने ही हाथों अपना सिर उतारकर रख देना होगा और उस कटे सिरपर पैर देकर भीतर आना होगा। मिलनके इस आनन्दको राजा, प्रजा जिसे भावे वही सीस देकर पा सकता है। एक बार परम आनन्दके इस अमृत तत्त्वके संस्पर्शमें जो आ गया वह जन्म-जन्मान्तरके लिये निहाल हो गया। आठों पहर वह इसी रसमें भीना रहता है और उसका रोम-रोम प्रेममें छका रहता है। पुतलीमें दिलदारकी तस्वीर जब उतर आयी तो फिर घूँघटका पट आप ही हट गया, और—

नैनोंकी करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकोंकी चिक डारिके, पियको लिया रिझाय॥

आँखोंकी कोठरीमें पुतलीका पलंग बिछा दिया, बाहरसे पलकोंकी चिक डाल ली और रंगमहलमें पियको रिझा लिया। हृदयके भीतर जब प्राणवल्लभकी रूप-श्री उमड़ आयी तो आँखें उसे क़ैद करनेके लिये मचल पड़ीं। कई जन्मोंके भूखे-प्यासे प्राणोंने उसमें 'हाँ' भरा और फिर क्या था—

चढ़ी अखाड़े सुंदरी, माँड़ा पिउसे खेल।
दीपक जोया ज्ञानका, काय जरै ज्यों तेल॥
नैनों अंतर आव तूँ, नैन झाँपि तोहिं लेवँ।
ना मैं देखौं औरको, ना तोहि देखन देवँ॥

कई जन्मोंसे तुम्हें ढूँढ़ता आ रहा था। आज मेरे भाग्य खुले—तुम्हारे दर्शन हुए। अब तो मैं तुम्हें अपनी आँखोंमें बन्द किये बिना न रहूँगा। मुझसे अब तुम्हारा वियोग सहा नहीं जाता। आओ, इन आँखोंमें तुम्हें छिपा लूँ, झाँप लूँ। न मैं ही और किसीको देखूँ और न तुम्हें ही दूसरेको देखने दूँ। सती नारी अपने प्राणवल्लभ पतिके हाथोंमें अपनेको सौंपकर, सर्वथा उसकी ही होकर, अपने जीवनधनपर भी एक अपूर्व अधिकारका अनुभव करती है। उसकी प्रति पलकी यही कामना होती है कि मैं इनकी होकर रहूँ और 'ये' भी केवल मेरे ही होकर रहें। अनन्यताकी इस प्रगाढ़ विभोर अवस्थामें कबीरने 'हरि मोर पिउ मैं हरिकी बहुरिया' कहा था। 'ढाई अच्छर प्रेमका' यही है।

जबतक विवाह नहीं हुआ होता तबतक कन्याओंका मायकेमें अटूट अनुराग रहता है। वे रात-दिन गुड़ियोंके खेलमें मस्त रहती हैं। परन्तु जहाँ कन्याके माँगमें सिन्दूर पड़ा और 'प्राणनाथ' के साथ ग्रन्थिबन्धन हुआ वहीं उसके गुड़ियोंके खेल समाप्त हो जाते हैं। सच्चे खेलमें प्रवेश करते ही झूठे खेलोंसे नाता आप-ही-आप टूट जाता है। गुड़ियोंके खेल खतम होनेपर भी मायकेसे स्नेह बना ही रहता है। वह जानती है, प्रति पल अपने हृदयमें अनुभव करती है कि उसका 'वर' कहीं और है, जहाँ 'साजनका देश' है। अपरिचित और अनजान देशमें जानेकी कल्पनासे ही वह एक बार काँप उठती है परन्तु तुरन्त ही उसे ध्यान हो आता है—'अरे वह देश मेरे लिये अपरिचित कैसे जहाँ स्वयं मेरे प्राणाधार और जीवनसर्वस्व बसते हैं। मैं तो उनकी ही, केवल उनकी ही हूँ। वे मुझे जहाँ रक्खें, जिस प्रकार रक्खें—अपने चरणोंमें रक्खें। बस, यही परम सान्त्वना है, यही परम सुख है। उनके चरणोंकी शरणमें जहाँ भी रहूँगी वहीं मेरे लिये सच्चा सुख है, वही मेरा अपना देश है।'

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माँहिं।
ऐसे जन जगमें रहैं, हरिको भूलत नाहिं॥

यह सब होते हुए भी जब 'वह' लिवाने आता है तो मायकेका प्रेम उमड़ ही आता है; माता-पिताका वियोग हृदयको रुला ही देता है। साजनके देशमें पहुँचकर भी 'संकोच' बना ही रहता है और अपनी ओरसे घूँघट सरकाये नहीं सरकता। हमारी बेबसीको हमारा प्राणाधार खूब जानता है

और इसीलिये आवरणभंग (Lifting of the Veil) का मनोहर और प्रिय कार्य उसे ही करना होता है और वह करता भी है इसे बड़े ही आवेगपूर्ण उल्लास और उन्मद प्यारके साथ ! प्राणनाथद्वारा घूँघटका पट हटना कितना सुखद, कितना मधुर है !!

मिलन-कालकी वह कोमल सलज्ज पुलक ! सारा संसार जब प्रगाढ़ निद्रामें बेसुध होकर सो रहा था उसी समय प्रीतमने पैरोंकी चाप छुपाकर धीरे-धीरे हृदयका पर्दा हटाकर 'भीतर' प्रवेश किया, स्वप्नमें प्रीतम मिले। उन्होंने सोते हुए 'कबीर' को जगा दिया। एक मधुर-मधुर शीतलस्पर्शने कबीरकी आत्माको जगा दिया। रोम-रोम जाग उठे! आँखें खोलते यह भय लगता है कि कहीं 'वह' छोड़कर चला न जाय—

> सपनेमें साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
> आँखि न खोलूँ डरपता, मति सुपना ह्वै जाय॥

आध्यात्मिक परिणय हुए बिना प्रभुमें हमारा वास्तविक समर्पण हो नहीं सकता। गीताजीमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का जो वर्णन है उससे यह स्पष्ट है कि सर्वात्म श्रीकृष्णार्पण हुए बिना 'मामेकं शरणं व्रज' असम्भव है। समर्पण तो एकमात्र पत्नीका पतिमें ही होता है। अन्य सभी सम्बन्धोंमें द्वैतका पूर्णतः लय नहीं हो पाता। पत्नी अपने नाम-गोत्रको, अपनी आत्माको अपने पतिमें एक कर देती है। वह अपने शरीरपरसे भी अपना अधिकार हटा लेती है। वह समग्ररूपसे, सर्वभावेन पतिके चरणोंमें अपनेको अर्पण करती है। हृदयके समर्पणके साथ ही सर्वत्र अखण्डरूपसे 'प्राणनाथ' के दर्शन होने लगते हैं जिसकी मधुर-मधुर अनुभूतिको कबीरने यों व्यक्त किया है—

> लाली मेरे लालकी, जित देखूँ तित लाल।
> लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

अहर्निशका यह मधुर मिलन हृदयके रेशे-रेशेमें ओतप्रोत है। बाहर-भीतर केवल 'प्रीतम' ही रह जाता है। आँखें मूँदकर भीतरके संसारमें आँखें खोलकर बाहरकी दुनियामें जहाँ भी दृष्टि जाती है केवल हरि-ही-हरि रह जाते हैं। स्वयं भक्तकी निजी सत्ता भी उस अपार आनन्द-राशिमें लय हो जाती है। उसे अपनी भिन्न सत्ताका कभी बोध ही नहीं होता। वह स्थिति द्वैत और अद्वैतकी भाषामें व्यक्त नहीं की जा सकती—

> कबीर प्याला प्रेमका अंतर लिया लगाय।
> रोम रोममें रमि रहा, और अमल क्या खाय॥
> सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
> और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥
> प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
> रोम रोम पिउ पिउ कहै, मुखकी सरधा नाहिं॥

आध्यात्मिक परिणयकी—जिसे हम 'ब्रह्म-सम्बन्ध' अथवा 'ब्रह्म-संस्पर्श' कहते हैं कई श्रेणियाँ (stages) हैं। सबसे पहले स्मरण (recollection) होता है। स्मरणका अर्थ है स्मृतिका ध्येयमें तद्रूप हो जाना। यह तद्रूपता धीरे-धीरे इतनी घनीभूत हो जाती है कि अन्तःकरण अपनी स्वस्थ स्वाभाविक स्थितिमें आ जाता है। उस समय निश्चलता (Quiet) प्राप्त होती है। मन प्राणप्यारेके सिवा कहीं हिलता-डुलता ही नहीं; उसे छोड़कर कहीं जाना ही नहीं चाहता! निश्चल मन प्रभुको प्राप्त कर लेता है और तभी मिलन (Union) होता है। मिलनमें आनन्दकी विभोर दशाकी अधिकता हो जाती है और भीतर-ही-भीतर निर्भरतासे मिली हुई अपूर्व उन्मत्तता (Ecstasy) का आविर्भाव होता है। यह उन्मत्तता सर्वथा अलौकिक है; यह मिलन-जन्य आनन्द एवं आत्मविस्मृतिकी विभोर दशा है। उन्मत्ततामें अपने शरीरकी सँभाल स्वयं हट जाती है और भक्त भगवान्में उसी प्रकार लय हो जाता है जिस प्रकार पानीमें रंग; दूधमें मिश्री या समुद्रमें नमक। यह स्थिति तन्मयता (Rapt) की है। यहाँ

भक्तकी संज्ञा 'प्रेमी' की हो जाती है और उसे भगवान्‌का विरह (Pain of God) प्रसादरूपसे मिलता है। इस प्रसादको पाकर प्रेमी सर्वशून्य होकर, निरावरण होकर एकमात्र भगवान्‌का हो जाता है। कबीरका हृदय आठों पहर इसी रसमें भिना हुआ है। यही आध्यात्मिक परिणय है।

आध्यात्मिक परिणयके अनन्तर साधककी एक बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है। उसे परमात्माके मिलनका आनन्द प्राप्त हो जाता है और उसका हृदय उसी रसमें सराबोर रहता है। वह एक पलके लिये भी उससे बाहर नहीं आता। वह संसारका तिरस्कार अथवा अनादर भी नहीं करता। जो जगत् प्राणप्यारेका बनाया हुआ है, जिसपर प्रियतमकी छाप लगी हुई है और जिसकी ओटसे 'वह' स्वयं झाँक रहा है, उस जगत्‌के प्रति अश्रद्धाका भाव कैसे और क्यों हो ? प्रियकी सभी वस्तुएँ प्यारी होती हैं। हर समय और हर स्थानमें साधक अपने 'देवता' की मधुर उपस्थिति (Divine presence) का अनुभव करता है और इस अनुभूतिमें ही वह सुध-बुध खोकर माता-माता फिरता है। प्रेमके इसी अमृतको पीकर मन्सूर हँसते-हँसते सूलीपर लटक गया और मीरा जहरका प्याला भगवान्‌का चरणामृत समझकर पी गयी !

भगवान्‌के विरहका रस मिलनके आनन्दसे कुछ कम सुखकर नहीं है। सगुण भक्तों और निर्गुण सन्तोंने समानरूपसे प्रभुके विरहकी अनुभूतिमें अपनी आत्माको उज्ज्वल किया है। विरह प्रेमकी जाग्रत् अवस्थाका नाम है। प्रेमीसे यह सहा नहीं जाता कि उसका प्रेमपात्र एक क्षणके लिये भी उससे अलग रहे। बार-बार हृदय विरहकी ज्वालामें जा पड़ता है, इस ज्वालामें ही, प्रभुकी स्मृतिमें ही उसे एक सुखद शान्ति मिलती है ! विरहकी इस अवस्थाको भूलसे 'दुःख' कहा जाता है। वह 'दुःख' कैसे, जिसमें बार-बार हृदय चला जाय और जहाँ पहुँचकर ही जीकी तपन बुझे ! विरहकी यह ज्वाला ही भक्तोंका अमृतपान है। प्रेमी बार-बार अपनी ओर देखता है और अपनेमें प्रेमका अभाव अनुभव करता है। वह अनन्यता, वह सर्वात्म समर्पण जो भक्तको प्रभुके चरणोंमें पहुँचा देता है उसको अपने भीतर न पाकर भक्तका हृदय रो उठता है—

> कै बिरहिनको मीच दे, कै आपा दिखलाय।
> आठ पहरका दाझना, मोपै सहा न जाय॥
> हिरदे भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय।
> जाके लागी सो लखै, कै जिन लाई सोय॥

विरहकी वह ज्वाला अमृतमयी है क्योंकि इसमें 'पिय-मिलनकी आस' बराबर है। मिलनकी विह्वल प्रतीक्षामें विरहकी ये घड़ियाँ भी सुखकर ही हैं। 'पति' से मिलनेके लिये कबीरका साधक हृदय कराह उठता है—

> येहि तनका दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
> लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

इस शरीरका दीपक बनाऊँ, जीवको बत्ती करूँ और लोहूका तेल जलाऊँ यदि 'पिय' के मुख देखनेको मिले। त्रुटियों, दुर्बलताओं और अपराधों तथा विकारोंसे भरे अपने जीवनपर जब ध्यान जाता है तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि अभी तो सौ-सौ जन्मोंमें भी 'हरि' के दर्शन दुर्लभ हैं। 'मैं मैली पिउ ऊजलो, मिलना कैसे होय' का भाव कबीरमें बहुधा आया है—

> आय सकौं नहिं तोहिपै, सकौं न तुज्झ बुलाय।
> जियरा यों लय होयगा, बिरह तपाय तपाय॥

'ओदी लकड़ी' की तरह कबीरका हृदय धुँधुआ रहा है और दर्शनके प्यासे नैन—

> बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
> माँगे दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥

विरहमें मिलनकी जो आशा है वही प्राणोंका आधार है। बार-बार पियका स्मरणकर भक्त रो

उठता है। रोनेसे ही हृदय कुछ हलका होता है और जीकी तपन बुझती है—

कबीर हँसना दूर करु, रोनेसे करु चित्त।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥
हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेलै पिउ मिलैं, तो कौन दुहागिन होय॥

यह सारा शृंगार, सभी साज-बाज व्यर्थ गये यदि पतिसे भेंट न हुई। सौन्दर्य, शृङ्गार तथा सजावटकी सफलता तो तभी है, जब 'साईं' की आँखें इनपर पड़े; जब प्रभुसे मिलन हो—नहीं तो ये सभी व्यर्थ ही हैं—

चूड़ी पटकौं पलँगसे, चोली लावौं आगि।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि॥

तन धारण करनेकी सफलता तो हरि-मिलनमें ही है—यदि यह न हुआ तो इन चूड़ियों और चोलीमें आग लगे? वह शृङ्गार किस कामका जो प्रभुके मिलन-सुखसे वञ्चित रहे। यही है 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता!'

यह विरह ही प्रभुको मिलानेवाला है। यह विरह ही सच्चा मिलन है। एक क्षण भी 'साईंकी याद' भूलती नहीं और रोम-रोममें उसीकी छवि, उसीकी स्मृति छायी रहती है। कबीरने विरह-जन्य आत्मविस्मृतिकी उस दशाको, जिसमें साजनके सिवा कुछ रहता ही नहीं—बहुत ही सुन्दर ढंगसे रक्खा है—

कबीर रेख सिंदूर अरु, काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम मिलि रहा, दूजा कहाँ समाय॥
आठ पहर चौंसठ घड़ी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तूँ बसै, नींदको ठौर न होय॥
पतिबरता तब जानिये, रतिउ न उघरै नैन।
अंतरगति सकुची रहै, बोलै मधुरे बैन॥

आँखोंमें प्रीतमकी छवि भरी हुई है। काजलकी रेखा उसमें कैसे अँटे? आठों पहर चौंसठों घड़ी जब हरिके सिवा कोई रहा ही नहीं तो फिर नींद निगोड़ी कैसे आवे? सच्ची पतिव्रता तो वह है जो एक क्षणके लिये भी संसारपर आँखें नहीं डालती। वह तो अहर्निश आँखें बन्द करके प्रभुके रसमें डूबी रहती है।

उस अमर सनातन सत्ताके स्पर्शमें आ जानेपर मानवका लौहजीवन सोना बन जाता है। इसकी हलकी झाँकी कबीरके इस पदमें है—

रस गगन गुफामें अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै॥
बिना ताल जहँ कमल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै, जहँ तहँ हंसा नजर परै॥
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरख जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै॥
जुगन जुगनकी तृषा बुझानी करम भरम अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै॥

अन्तर और बाहर जब सब कुछ प्रभुके प्रकाशसे जगमग-जगमग हो उठा, जब सर्वत्र अबाधरूपसे मधुर मिलनकी प्रक्रिया होने लगी तो फिर कबीरने डंकेकी चोट कहा—

हिरदेमें महबूब है, हरदमका प्याला।
पीवेगा कोई जौहरी गुरुमुख मतवाला॥
पियत पियाला प्रेमका, सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहै, जस मैगल हाथी॥
धरती तो आसन किया, तंबू असमाना।
चोला पहिरा खाकका रह पाक समाना॥

इसीको मीराने 'लीन्ह बजंता ढोल' कहा है। मैंने तो डंकेकी चोट प्रभुको पा लिया। मीराकी यह मधुर अनुभूति श्रीगिरधारीलालकी मधुर मूर्त्तिमें एकाकार हो गयी है। कोई कुछ भी कहे, मीरा तो यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रही है कि उसका प्राणेश्वर निरन्तर उसके नेत्रपाशमें बँधा है, हृदयके मन्दिरमें खड़ा-खड़ा हँस रहा है।

अपने परम प्रियतमको एक बार भी देख लेनेपर फिर नैहरका मोह स्वयं मिट जाता है और एक

क्षणका भी उसके बिना रहना दूभर हो जाता है। बार-बार प्राणप्यारेके देशका स्मरण हो आता है—

नैहरवा हमकाँ न भावै।
साईंकी नगरी परम अति सुंदर
जहाँ कोइ जाय न आवै॥
चाँद सुरज जहाँ पवन न पानी
को सँदेस पहुँचावै
दरद यह साईंको सुनावै॥

परम प्रेमके मधुर पानके लिये यह आवश्यक है कि जगत्‌की इस दीख पड़नेवाली भिन्नता तथा अनेक नाम-रूपमें छिपे हुए एक परमात्मज्योतिसे साक्षात्कार हो। खण्ड, सीमा, परिवर्त्तन, मृत्यु, हाहाकार और विनाशके पार 'प्रीतमकी नगरी' है और इन दीख पड़नेवाली भिन्नताओंको पार करके ही वहाँ जाया जा सकता है, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता। कबीरकी साधनामें इस संसारके प्रति अटूट दृढ़ अजेय वैराग्य है जो उन्हें संसारमें विरमने नहीं देता और उन्होंने इसीके बलपर साईंके देश पहुँचकर, साजनकी अटारीपर पौढ़ते हुए कहा है—'अब हम अमर भये न मरेंगे।'

श्रीभगवन्नाम

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

राम-नाम कलि-कामतरु, सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब, पग-पग परमानंद॥
रामनाम-रति रामगति, रामनाम बिसवास।
सुमिरत सुभ मंगल कुशल, चहुँ दिसि तुलसीदास॥
रसना साँपिनि बदन बिल, जे न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि विधाता बाम॥
हिय फाटहु फूटहु नयन, जरहु सो तन केहि काम।
द्रवहिं, स्रवहिं, पुलकहिं नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

(तुलसीदासजी)

कबीर सब जग निरधना, धनवन्ता नहिं कोय।
धनवन्ता सोइ जानिये, जो रामनाम धन होय॥
कबीर हरिके नाममैं, बात चलावे और।
तेहि अपराधी जीवको, तीन लोक नहिं ठौर॥
नाम जपत कुस्टी भला, चुइ-चुइ परै जु चाम।
कंचन देह केहि कामकी, जा मुख नाहीं नाम॥
नाम हरीका छाँड़िकै, करै औरका जाप।
बेस्या केरा पूत ज्यों, कहै कौन को बाप॥

(कबीरजी)

श्रीभगवान्‌के पवित्र नामकी महिमा सभी अनुभवी सन्तोंने गायी है। जिन पुरुषोंने श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवन्नामका जप-कीर्तन करके इससे परम लाभ प्राप्त किया है वे ही नामका माहात्म्य कुछ जानते हैं। भगवान्‌के नामको ही परम साध्य और नामको ही बहुत बड़ा साधन समझकर जो लोग निरन्तर प्रेमपूर्वक नामजप करते हैं, वे लोग इस कलिकालमें धन्य हैं। भगवन्नामसे क्या नहीं हो सकता ? इहलोक और परलोकमें परमसुख, भगवान्‌की भक्ति, और मुक्ति नामके जपसे अनायास ही मिल जाती है। कलियुगके साधनहीन जीवोंके लिये तो भगवन्नाम ही एकमात्र अवलम्बन है, इसीलिये 'कल्याण'के प्रिय पाठक-पाठिकाओंसे उपर्युक्त षोडश नामका मन्त्र जपने-जपानेके लिये प्रार्थना की जाती है। प्रतिवर्ष ही नाम जपनेवाले कई लोगोंको विभिन्न प्रकारके लाभ और अनुभव होते हैं। अतएव इस वर्ष भी सब लोगोंको प्रेमसे नामजप करना-करवाना चाहिये।

गत वर्ष 'कल्याण'के पाठकोंसे पौष सुदी १ से फाल्गुण सुदी १५ तक, ढाई महीनेमें उपर्युक्त १६ नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी प्रार्थना की गयी थी। और बड़े हर्षकी बात है कि प्रेमी पाठक-पाठिकाओंकी चेष्टा और उत्साहसे दस करोड़की जगह चौबीस करोड़से अधिक मन्त्रोंका जप हो गया।

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जाती है। आशा है, भगवत्-रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्यकार्य करेंगे। नियमादि वही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक, चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है। अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी अनिवार्य कारणवश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे कहकर जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। जो करे सो स्वयं आप ही करे। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तो कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय उतना ही उत्तम है। थोड़ी-सी भी निष्काम-उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक और पाठिकाएँ अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१—किसी भी तिथिसे आरम्भ करें परन्तु पूर्ति फाल्गुण शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३—प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४—सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५—संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ होती है। जिसमेंसे भूल चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई आरम्भ करे उस दिनसे फाल्गुण सुदी पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६—संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७—सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप-विभाग

कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

राम प्रणवका एक रूप है

सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद्में प्रणवकी उद्गीथ उपासना इस प्रकार है।

ॐ अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वादित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति। (प्र० १ खं० ५ मं० १)

अर्थ—अब निश्चयसे जो उद्गीथ है सो प्रणव है, जो प्रणव है वह उद्गीथ है या यह उद्गीथ ही आदित्य है, यह प्रणव है ओम् इस प्रकार उच्चारण किया जाता है। ओंकारको प्रणव कहते हैं क्योंकि ब्रह्मोपासना इस नामद्वारा की जाती है। और सामवेदमें उपासना-का क्रम गानद्वारा है जिसको उद्गीथ कहते हैं। उपर्युक्त श्रुतिमें प्रणवको उद्गीथ कहा है अर्थात् प्रणव-की उपासना उद्गीथसे करनेका विधान बताते हैं।

उपनिषदोंमें प्रणवकी चार मात्राएँ और तन्त्रमें सात मात्राएँ कही गयी हैं, जो इस प्रकार हैं (१) अकार (२) उकार (३) मकार (४) अनुस्वार (५) ध्वनि (६) नाद (७) शान्ति। प्रथम तीन मात्राओंसे प्रणवका स्थूल रूप बनता है जो वैखरी वाणीका विषय है, अनुस्वार और ध्वनि प्रणवका सूक्ष्म रूप है और मध्यमा वाणीका विषय है, नाद प्रणवका कारण या अव्यक्तरूप है, जो पश्यन्ती वाणीका विषय है। और शान्ति निराकार निर्गुण अर्थात् तत्त्वस्वरूप है जो परा वाणीका विषय है। वाणी चार प्रकारकी होती है (१) वाक्‌रूपा वैखरी (२) सङ्कल्परूपा मध्यमा (३) ज्ञानरूपा पश्यन्ती (४) चिच्छक्तिरूपा परा। यह सातों मात्राएँ क्रमानुसार सातों लोकोंसे सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। अकारसे स्थूल रूपका आरम्भ, उकारसे विकास, मकारसे पूर्णता प्रकट होती है। उक्त मात्राओं-को समझनेके लिये किसी काँसेके घण्टेके शब्दपर ध्यान देना चाहिये। पहले शब्द होता है जिसका रूप ओम्‌के सदृश है, उस शब्दके बन्द होनेपर अनुस्वार, तदनन्तर उसकी ध्वनि और नादका ज्ञान होता है, ज्यों-ज्यों शब्द लय होता जाता है क्रमसे सातों मात्राओंका अनुभव होता है। अन्तमें वह शब्द लय होते-होते शान्त होता है, वही उसकी सप्तम मात्राका रूप समझना चाहिये।

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ॐकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता॥
यस्मिन् विलीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते।
(ब्रह्मविद्योपनिषद् १२-१३)

अर्थ—काँसेके घण्टेका शब्द जिस प्रकार शान्त होनेके लिये लय होता है उसी प्रकार मुमुक्षुको ॐकारकी योजना करनी चाहिये, जहाँ शब्द लय हो जाता है वह परंब्रह्म गाया जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मवाचक प्रणवकी योजना उसकी उद्गीथ उपासना कहलाती है।

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्या-चक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदँ सर्वँ स्थितम्।
(प्र० १ खं० ३ मं० ६)

अर्थ—अब निश्चयसे उद्गीथके अक्षरोंकी उपासना करनी चाहिये। उत् गी थ इति। प्राण ही उत् है क्योंकि प्राणसे (ध्वनि और नाद) उठता है, (शब्द) वाक् ही गी है। इसीलिये वाणीको गिरा कहते हैं, अन्न थं है क्योंकि अन्नपर ही यह सब स्थित है।

अर्थात् प्रणवका गान प्राण, वाक् और अन्नके सहयोगसे होता है। अन्नसे शरीरमें बल आता है, बलसे वाक् निकलती है और प्राणके बलसे गान होता है।

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वा-युर्गीरग्निस्थँ सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो

भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति। (प्र० १ खं० ३ मं० ७)

अर्थ—इसी प्रकार—

(१) द्यौ उत् है, अन्तरिक्ष गीः और पृथिवी थं

(२) आदित्य उत् है वायु गीः और अग्नि थं

(३) सामवेद उत् है यजुर्वेद गीः और ऋग्वेद थं

इस प्रकार वाणीको दुहनेवाला (उपासक) जो वाग्दोहनद्वारा दूध दुहता है अर्थात् वाणीरूपी गायका जपरूपी दोहनद्वारा ब्रह्मज्ञानरूपी दूध दुहता है, वह विद्वान् उद्गीथके अक्षरोंकी उपासना करता है, वह अन्नवान् अन्नको पानेवाला होता है।

तन्त्रानुसार—

(१) ओ पृथिवीतत्त्वका अक्षर है
अर्थात् पृथिवीरूपी थं है
म् आकाशतत्त्वका अक्षर है
अर्थात् अन्तरिक्षरूपी गीः है
ँ सूर्य है
अर्थात् द्यौरूपी उत् है
} ओम्

(२) र् अग्नितत्त्वका अक्षर है
अर्थात् अग्निरूपी थं है
आ वायुतत्त्वका अक्षर है
अर्थात् वायुरूपी गीः है
ँ सूर्य है
अर्थात् आदित्यरूपी उत् है
} राम्

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च। (प्र० १ खं० १ मं० ५)

वाक् ऋक् है, प्राण साम है, ओम् यह अक्षर उद्गीथ है। या वह उद्गीथ यह मिथुन है अर्थात् वाक् और प्राण तथा ऋक् और साम। वाक् और प्राणके सहयोगसे ॐका उद्गीथ गान होता है, वाक् ऋक् है और प्राण साम है।

ऋक्+साम ही प्रणवका रूप है, व्यञ्जनोंका अर्थात् क् स् का लोप करनेसे ऋ आमसे राम बन जाता है। राम इसलिये प्रणवका आग्नेय रूप है जो जगद्जाड्य, कर्मबन्धन तथा पापोंकी राशिको समूल भस्म करनेकी शक्ति रखता है।

व्यञ्जन शब्दको स्थूल रूप देते हैं और वे स्वरोंकी अपेक्षा रखते हैं, स्थूल रूपके अन्तर्गत सूक्ष्म रूपसे स्वर होते हैं और स्वर ही प्रणव है जो सदा शब्दोंमें, मणियोंमें सूत्रकी नाईं, आधाररूपसे स्थित है। प्रत्येक शब्दका उच्चारण स्वरोंके संयोगसे होता है, अकारकी सहायतासे ही प्रत्येक व्यञ्जनका रूप प्रकट होता है। कण्ठसे उच्चारणके साथ अकारका उद्गम होता है और फिर जिह्वाके मूर्धा, तालु, दन्तादि स्थानोंके स्पर्शसे व्यञ्जनोंका उच्चारण बनता है और साथ ही उकार भी अव्यक्त रूपसे साथ रहता है। होठोंके बन्द होनेसे अनुनासिक ध्वनिसे ओम्‌का रूप बनता है, यदि व्यञ्जनोंका लोप कर दिया जाय तो ओं शेष रह जाता है। इसी प्रकार बाह्य शब्द जैसे शङ्ख, घण्टा, यन्त्रादिके शब्द या खटका, फटाका, धड़ाका, टङ्कार आदिके शब्दोंमें भी उनके अन्तर्गत ध्वनि होती है जिसकी गूँज या प्रतिध्वनि अनुस्वारयुक्त होती है और जब वह शब्द लय होता है तब ॐकारका स्वरूप स्वच्छरूपसे प्रकट होता है। राम शब्दके उच्चारणमें तो प्रणवकी ध्वनि साफ है ही।

ॐकारकी सात मात्राओंकी तरह राममें भी सात मात्राएँ हो सकती हैं और रामका जप उद्गीथकी उपासनाका भेदान्तर है। रामकी सात मात्राएँ इस प्रकार होंगी (१) र् (२) आ (३) म् (४) ँ (५) ध्वनि (६) नाद (७) शान्ति।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पिता-पुत्र-संवाद

प्राचीन कालमें किसी एक स्वाध्याय-सम्पन्न ब्राह्मणके मेधावी नामक एक बहुत ही बुद्धिमान् पुत्र था। मोक्षधर्ममें कुशल उस पुत्रने अपने वेदपाठी पिताको मोक्ष-लाभसे वञ्चित देखकर कहा—'हे पिताजी! मनुष्यकी आयु क्षण-क्षणमें क्षय हो रही है। यह जानकर बुद्धिमान् पुरुष-को क्या करना चाहिये, आप मुझे बतलाइये।'

पिताने कहा—'वत्स! मनुष्यको पहले ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके वेद पढ़ना चाहिये, फिर पितरोंको तारनेके लिये पुत्र उत्पन्न करना चाहिये, तदनन्तर अग्निस्थापनपूर्वक यज्ञादि करने चाहियें और अन्तमें वनमें जाकर मुनिवेश धारण करना चाहिये।'

पुत्रने कहा—'पिताजी! जब लोग सब ओरसे नष्ट हुए चले जा रहे हैं, चारों ओरसे अव्यर्थ आपत्तियाँ आ रही हैं, तब आप यह शान्त समयकी-सी निश्चिन्त बातें किस तरह कर रहे हैं?'

पिताने कहा—'वत्स! मनुष्योंका कैसा नाश हो रहा है, किसने इनपर चढ़ाई की है और कौन-सी अव्यर्थ विपत्तियाँ आ पड़ी हैं, तू ऐसी बातोंसे मुझको क्यों डरा रहा है?'

पुत्रने कहा—'हे पिताजी! मृत्यु मनुष्यका संहार कर रही है। बुढ़ापेने चढ़ाई कर रक्खी है। ये दिन-रात आपत्तियाँ रोज-रोज आ रही हैं, तब भी आप क्यों नहीं जागते? जब मैं यह जानता हूँ कि मृत्यु तनिक भी नहीं ठहरती। हमें तैयार होनेके लिये क्षणभरका भी मौका नहीं देती, उसी क्षण जीवको घर घसीटती है, तब यह जानकर भी मैं कैसे उसकी प्रतीक्षा करूँ? जैसे थोड़े जलके तालाबमें रहनेवाली मछलीको सुख नहीं मिलता, ऐसे ही हर रातको जिसकी उम्र घट रही है उस मनुष्यको कैसे सुख मिल सकता है? जैसे माली पेड़ोंसे फूलोंको तोड़ लेता है वैसे ही मनुष्यका मन चाहे जहाँ विचर रहा हो, उसका काम चाहे अधूरा पड़ा हो, मौत उसे पकड़कर ले ही जाती है। अतएव कल करनेके कामको आज, और तीसरे पहरके कामको अभी कर डालना चाहिये। क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती कि इसने यह काम किया है या नहीं किया है। इसलिये जो काम हमारे कल्याणका हो उसे अभी ही कर डालना चाहिये। समय नहीं खोना चाहिये, न मालूम कब किसकी मृत्यु हो जाय! काम भले ही अधूरे पड़े हों, मृत्यु जीवको खींच ले जाती है, अतएव बुढ़ापेकी बाट न देखकर अभी जवानीमें ही धर्म कमा लेना चाहिये, क्योंकि जीवनका कोई भरोसा नहीं है। धर्मके आचरणसे इसलोक और परलोकमें सुख मिलता है। मोहसागरमें डूबा हुआ मनुष्य धर्म और अधर्मका ध्यान छोड़कर दिन-रात स्त्री-पुत्रोंको ही सन्तुष्ट रखनेमें लगा रहता है, ऐसे पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न विषयासक्त मनुष्यको काल वैसे ही अचानक बहा ले जाता है जैसे जलकी बाढ़ सुखसे सोते हुए बाघको। नाना प्रकारके मनोरथोंमें फँसे हुए भोगोंसे अतृप्त मनुष्यको काल वैसे ही घसीटकर ले जाता है जैसे भेड़के बच्चेको बाघिन ले जाती है। मनुष्य इस उधेड़-बुनमें ही लगा रहता है कि मैंने यह कार्य कर लिया, यह करना बाकी है, यह काम आधा हो गया है, बस आधा ही शेष है, इतनेमें ही मृत्यु उसके किसी भी कामका तनिक-सा भी विचार न कर, मनुष्यको किये हुए कर्मका

फल मिलनेके पहले ही पकड़कर ले जाती है । मकान बन रहा है, बहुत-सा बन चुका है, उसमें रहनेका मौका आता ही नहीं, और मनुष्यको मौतका शिकार बन जाना पड़ता है । मनुष्य चाहे खेतमें हो या बाजारमें, दूकानमें या घरमें काम करता हो, दुर्बल हो या बलवान् हो, मूर्ख हो या बुद्धिमान् हो, कायर हो या शूरवीर हो, चाहे उसकी एक भी इच्छा पूरी न हुई हो, समय आनेपर मृत्यु उसको पकड़कर ले ही जाती है । मनुष्य मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और अन्य अनेकों कारणोंसे उत्पन्न दुःखोंके पञ्जेसे छूट ही नहीं सकता । इतनेपर भी हे पिताजी ! आप निश्चिन्त-से होकर कैसे बैठे हैं ? प्राणी जबसे जन्म लेता है, तभीसे काल और जरा उसका विनाश करनेके लिये उसके पीछे लगे रहते हैं । बुढ़ापा मृत्युकी सेना है और विषयासक्ति मृत्युका मुँह है । अरण्य देवताओंका स्थान है और ग्राममें रहनेकी इच्छा अर्थात् भोगकी इच्छा बन्धन करनेवाली रस्सी है । पुण्यवान् पुरुष इस रस्सीको काटकर मुक्ति पाते हैं । पापी पुरुष इस बन्धनरज्जुको नहीं काट सकते ।

जो पुरुष मन, वाणी और शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, जो किसीके भी जीविकाके साधनोंका नाश करके किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, उस पुरुषकी कोई हिंसा नहीं करता । अतएव बुद्धिमान् पुरुषको सत्य बोलना चाहिये, सत्य आचरण करना चाहिये, सत्यपरायण रहना चाहिये और सत्यकी ही कामना करनी चाहिये । सब प्राणियोंमें और सब स्थितियोंमें समभाव रखना, इन्द्रियोंका दमन करना और सत्यके द्वारा मृत्युको जीतना चाहिये । अमृत और मृत्यु दोनों हमारे साथ हैं । विषयोंमें मोहसे मृत्यु होती है और सत्यसे ब्रह्मरूप अमृतकी प्राप्ति होती है । अतएव मैं अहिंसाव्रतसे रहकर काम-क्रोधसे दूर रहूँगा । मोक्षसुखका आश्रय लेकर क्षेमके लिये सत्यका अवलम्बन कर मृत्युपर विजय प्राप्त करूँगा । इन्द्रियोंका दमन करके शान्तियज्ञमें रत हुआ ब्रह्मयज्ञमें स्थित रहूँगा । मनसे आत्म-विचाररूप मनोयज्ञ, वाणीसे भगवन्नामजपरूप वाक्यज्ञ और शरीरसे अहिंसा, शौच और गुरु-सेवादि कर्मयज्ञ करूँगा । मैं हिंसायुक्त पशुयज्ञ कभी नहीं कर सकता । मैं स्वयं आत्मयज्ञ करूँगा । मेरे पुत्र नहीं है तो क्या है ? अपने उद्धारके लिये पुत्रकी कोई आवश्यकता नहीं है । जिस पुरुषकी वाणी और मन वशमें हैं, जिसने तप, त्याग और योग किया है वह सब वस्तुओंको पा जाता है । ज्ञानके समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्मविद्याके समान कोई फल नहीं है । आसक्तिके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है । एकान्तवास, समता, सत्यता, सच्चरित्रता, दण्डधारण (मन, वाणी, शरीरसे हिंसाका त्याग), सरलता और उपरामता—द्विजोंका यही असली धन है, इसके समान और कोई भी धन नहीं है । आप ब्राह्मण हैं, और आपको मरना है । फिर आपको धनसे, स्त्रीसे तथा बन्धुओंसे क्या प्रयोजन है ? विचार कीजिये—आपके पिता और दादाजी कहाँ गये ? अतएव आप अपने आत्माकी गुफामें प्रवेशकर आत्माका पता लगाइये !

पुत्रकी इन बातोंको सुनकर पिता सावधान होकर उसी क्षणसे सत्य और आत्मपरायण हो गया ।

(महाभारत शान्तिपर्वसे)

Kalyana-Kalpataru ("The Bliss")

(English edition of the 'Kalyan')

The "Gita-Number."

The "Kalyāna-Kalpataru" has just completed the first year of its existence and is now on the threshold of its second year. The Special inaugural Number for this year will be a "Gitā Number", which will contain articles bearing on the *Bhagavadgītā* from the pen of distinguished writers of this country and abroad, embracing different religions. Like its predecessor, the "God-Number," it will provide a rich feast of spiritual food to all seekers of truth and will also contain a number of multi-coloured and one coloured illustrations. The following are the names of some of its leading contributors:—

His Holiness Jagadguru Sankaracharya Sri Bharati Krishna Tirthaji Maharaj of Govardhana Pitha, Puri, Sri Aurobindo, Sadhu T. L. Vaswani, Sri Meher Baba, Pandit Bhawani Shankerji, Principal A. B. Dhruva, Dr. Bhagavandas, Mahamahopadhyaya Pandit Pramathanath Tarkabhushana, Mahamahopadhyaya Pt. Gopinath Kaviraj, Jayadayal Goyandka, Revd. Arthur E. Massey, Prof. F. Otto Schrader, Dr. Heinrich Lueders and Mrs. Lueders (Berlin), Prof. Otto Stross (Breslau), Prof. Helmuth Von Glasenapp, Prof Ernest P. Horrwitz (New York), Dr. V. G. Rele, Bhai Parmanand, Shivadas Bodhraj, Basant Kumar Chatterjee, M. A., Syt. Bhupendranath Sanyal, Dewan Bahadur K. S. Ramaswami Shastri, Rao Bahadur C. V. Vaidya, Sadhu C. Leik, K. J. Dastur, P. N. Sankara Narayana Iyer, Anilbaran Roy, Nolini Kanto Gupta, Josephine Ransom, Dr. M. H. Syed, etc., etc.

Intending subscribers would be well-advised to send the amount of their subscription in advance so that they may receive the copies of the Special Number as soon as it is published.

The Manager,
Kalyana-Kalpataru,
Gorakhpur.

दूसरा संस्करण   नवीन संस्करण

श्रीशक्ति-अङ्क

केवल २५०० पुनः छपा है।

जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे ४≡) मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेज दें या हमें वी० पी० भेजनेकी आज्ञा दें। इस समयकी माँगको देखते हुए यह संस्करण भी शीघ्र ही समाप्त हो जानेकी आशा है। तीसरी बार छपनेकी अभी कोई सम्भावना नहीं है। ग्राहक बनने-बनानेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि श्रीशक्ति-अङ्क कैसा उपयोगी है। इसका इतना प्रचार ही इसकी विशेषताका अच्छा प्रमाण है।

व्यवस्थापक—कल्याण

गीता-डायरी सन् १९३५ की

मूल्य साधारण जिल्द ।) कपड़ेकी जिल्द ।-)

बहुत थोड़ी प्रतियाँ बची हैं। ग्राहक और विक्रेतागण यदि जल्दी मँगवानेकी कृपा करेंगे तो अभी शायद उन्हें मिल सकेंगी। दूसरे संस्करणकी अभी कोई सम्भावना नहीं है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

अवश्य पढ़िये ! सुन्दर अवश्य पढ़िये !

शिक्षाप्रद पुस्तकें

स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सर्वोपयोगी सचित्र, संक्षिप्त भक्त चरित-मालाके

नये-नये सुवासित पुष्प

[सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार]

१—भक्त बालक—४ रंगीन और १ सादा चित्र, एण्टिक कागज, सुन्दर छपाई पृष्ठ ८०, मू० ।~); इसमें बालक भक्त गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी भक्तिरसपूर्ण कथाएँ हैं। पढ़ते-पढ़ते रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है। बारबार भगवान और उनके प्रभावका स्मरण होता है।

२—भक्त नारी—२ रंगीन और ३ सादे चित्र, एण्टिक कागज, पुष्ट टाइटल, पृष्ठ ८०, मू० ।~); इसमें भक्तिमती शबरी, मीराबाई, जनाबाई, करमैतीबाई और तपस्विनी रबियाकी प्रेमभक्तिसे पूर्ण बड़ी ही रोचक गाथाएँ हैं। पढ़ते-पढ़ते हृदय आनन्दसे भर जाता है। चित्त भगवानकी ओर तेजीसे दौड़ने लगता है।

३—भक्त-पञ्चरत्न—४ रंगीन और २ सादे चित्र, एण्टिक कागज, दोरंगा सुन्दर टाइटल, पृष्ठ ९८, मू० ।~); इसमें भक्त रघुनाथ, भक्त दामोदर, गोपाल चरवाहा, भक्त शान्तोबा और नीलाम्बरदासके परमपावन चरित्र हैं। इनको पढ़ते-पढ़ते हृदय द्रवित होकर बारबार आँसू निकल पड़ते हैं।

४—आदर्श भक्त—७ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ ११२, मू० ।~); इसमें राजा शिवि, महात्मा रन्तिदेव, भक्त अम्बरीष, पितामह भीष्म, पाण्डव अर्जुन, विप्र सुदामा और चक्रिक भीलकी कथाएँ हैं।

५—भक्त-चन्द्रिका—सुन्दर रंगीन ७ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ ९६, मू० ।~); हालहीमें छपी है; इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर भक्तिभावपूर्ण गाथाएँ हैं। पढ़नेसे आत्माको बड़ी शान्ति मिलती है।

६—भक्त-सप्तरत्न—सात सुन्दर बहुरंगे चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ १०५, अभी नयी छपी है, मू० ।~); इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी सुन्दर उपदेशप्रद कथाएँ हैं। पढ़कर चित्तको बड़ा सुख मिलता है।

७—भक्त-कुसुम—६ तिरंगे चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ ९१, नयी ही छपी है, मू० ।~); इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणके सरस, भावपूर्ण जीवन-चरित्र हैं।

८—प्रेमी भक्त— ७ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ १०३, नयी छपी है, मू० ।~); इसमें भक्त बिल्वमङ्गल, जयदेव, श्रीरूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी प्रेम-भक्तिरसमें सनी हुई त्यागपूर्ण महान् जीवनियाँ हैं।

९—यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ—३ चित्र, पृष्ठ-संख्या ९२, हालहीमें प्रकाशित हुई है, मू० ।); इसमें साध्वी रानी एलिजाबेथ, साध्वी कैथेरिन, साध्वी गेयों और साध्वी लुइसाकी सुन्दर उपदेशप्रद जीवनियाँ हैं।

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। पढ़ने-सुननेसे आनन्द तो होता ही है, साथ ही हृदयका मल नष्ट होकर प्रेमभक्तिका अंकुर भी दृढ़तासे जम जाता है। एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

विशेष जानकारीके लिये बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण २७५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. U. P. (India)

* श्रीहरिः *

कल्याण माघ सं० १९९१ की

विषय-सूची

प्रेमनरेन्द्रघासीरामशर्मा
नाथद्वारा

पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रसिद्धान् सिद्धान् वा शिशुतरुणवृद्धानपि जनानुदारान् वा दारानविरतमाराधनपरान् ।
चिदानन्दात्मेयं भुवनजननी संविदमला हरन्ती हृच्छल्यान्नयति किल कल्याणपदवीम् ॥

वर्ष ९ } गोरखपुर, माघ १९९१, फरवरी १९३५ { संख्या ७ पूर्ण संख्या १०३

ब्रजका टोना

या ब्रजमें कछु देख्यो री टोना ॥
लै मटकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नंदजीके छोना ।
दधिको नाम बिसरि गयो, प्यारी, ले लेहु री कोउ स्याम सलोना ॥
बिंद्राबनकी कुंजगलिनमें आँख लगाय गयो मनमोहना ।
मीराके प्रभु गिरधर नागर सुंदर स्याम सुघर रस-लोना ॥

—मीराबाई

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्र०—आपने कहा था कि एक ज्ञान तो वह है जो सुन-सुनाकर होता है, और दूसरा अनुभवगम्य है। इनमें पहला ज्ञान बोध नहीं कहा जा सकता; अतः कृपया यह बतलाइये कि अनुभवगम्य ज्ञानकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—इसके लिये शास्त्रोंमें अनेक साधन बताये हैं। उसमें जैसा मेरा विचार है वह कहे देता हूँ। प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देनेके लिये यह आवश्यक है कि अपनी आँखें साफ हों और दर्पण भी स्वच्छ हो। आत्मानुभवमें विवेककी स्फुटता ही आँखोंका साफ होना है और चित्तका राग-द्वेष-रहित होना दर्पणकी सफाई है।

प्र०—विवेककी स्फुटता और चित्तकी शुद्धि—ये दोनों तो चित्तके ही धर्म हैं। इनमें आँख और दर्पणके समान भेद किस प्रकार किया जा सकता है ?

उ०—विवेक दो प्रकारका होता है। (१) नित्यानित्यवस्तुविवेक और (२) तत्त्वविवेक। नित्यानित्यवस्तुविवेक अज्ञानीको होता है। उसमें वस्तुतः अनित्य वस्तुमें ही नित्य और अनित्य दो विभाग कर लिये जाते हैं। चित्तकी दो अवस्थाएँ हैं (१) कार्यावस्था और (२) कारणावस्था। उनमेंसे कार्यावस्थाको अनित्य और कारणावस्थाको नित्य मान लिया जाता है परन्तु वस्तुतः वे दोनों ही अनित्य हैं, किन्तु तत्त्वविवेकमें साक्षी सम्पूर्ण प्रपञ्चसे अलग रहता है और सारा प्रपञ्च एक ओर होता है। इसलिये इसमें चित्त अलग रहता है और अपना शुद्ध स्वरूप अलग। अतः यह अपनी आँखोंकी सफाईके समान है और इसमें चित्त दर्पण-तुल्य है।

प्र०—ठीक है, इससे आगे कहिये।

उ०—परन्तु यह तत्त्वविवेक भी पूर्णबोध नहीं कहा जा सकता, इसमें भी अपनेसे भिन्न दृश्य वस्तुकी सत्ता बनी रहती है। यह अद्वैतबोधके बिना निवृत्त नहीं हो सकती।

प्र०—इसके लिये साधकको क्या करना चाहिये ?

उ०—जब साक्षी और साक्ष्यका विवेक हो जाय तो यह विचारना चाहिये कि यह जितना प्रतीयमान दृश्य है वह अलग-अलग है या एक। जिस समय वह एक निश्चय हो जायगा उसी समय उसके अत्यन्ताभावका बोध हो जायगा और अद्वैततत्त्वमें स्थिति हो जायगी।

प्र०—समस्त दृश्यकी एकताका अनुभव हो जानेसे ही उसके अभावका बोध कैसे माना जा सकता है ? जिस प्रकार भेद-दृष्टि रहनेपर वह अपनेको परिच्छिन्न उपाधिका साक्षी और उससे असंग समझता था उसी प्रकार इस समय वह अपनेको सम्पूर्ण प्रपञ्चका साक्षी और उससे असंग अनुभव करते हुए भी दृश्यको सत्य ही क्यों न समझेगा ?

उ०—जब सारा प्रपञ्च एक सत्तामें आ जायगा तब उसका कोई कारण न मिलनेसे वह सत्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। सांख्यने जो प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्वोंको सत्य माना है वह युक्ति और अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। जब दो स्वतन्त्र तत्त्व सत्य हैं तो कोई उनका आधार भी अवश्य होना चाहिये, क्योंकि बिना आधारके कोई भी आधेय पदार्थ रह नहीं सकता और जब वे दो हैं तो आधेय अवश्य हैं। इसलिये ऐसी अवस्थामें दृश्यकी सत्यता कभी सम्भव नहीं है।

इस प्रकार जब दृश्यका अत्यन्ताभाव बोध हो जाता है तो उसे समस्त दृश्य अपनेमें ही अनुभव होने लगता है। इस अवस्थामें उसका किसी भी वस्तु अथवा क्रियासे राग या द्वेष नहीं रहता। विवेकीको तो सत्में राग और

असत्‌में द्वेष रहता है परन्तु उसकी सभीमें समदृष्टि रहती है; जैसा गोसाईंजीने कहा है—

सबके प्रिय सबके हितकारी। सुख दुख सरिस प्रसंसा गारी॥

शास्त्रोंमें ऐसे बोधवान् व्यक्ति तीन प्रकारकी क्रिया करते देखे जाते हैं। एक कर्मकाण्डी—जैसे वसिष्ठ आदि, दूसरे उपासक—जैसे नारदादि, और तीसरे विरक्त—जैसे शुकदेव, वामदेव आदि। इस प्रकार यद्यपि उनके व्यापार अलग-अलग हैं तो भी बोधमें कोई अन्तर नहीं है। उनकी वे क्रियाएँ बालवत् लीलामात्र होती थीं।

प्र०—आपने जिस प्रकार ये अलग-अलग व्यापार बतलाये, उसी प्रकार एक ही बोधवान् समय-समयपर सभी व्यापारोंको भी तो कर सकता है न ?

उ०—हाँ, क्यों नहीं कर सकता। नाटकमें देखते नहीं हो? एक ही व्यक्ति कितने पार्ट करता है। इसी प्रकार वह भी समय-समयपर विभिन्न व्यापार करके भी उनसे अलिप्त रहता है। परन्तु इस प्रकार सब कुछ करते हुए भी वस्तुतः वह कुछ नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि प्रपञ्चके अत्यन्ताभावमें स्थित रहती है।

प्र०—जिस प्रकार आपने ज्ञानीके व्यापारके तीन भेद बतलाये हैं उसी प्रकार वह नीतिनिष्ठ भी तो हो सकता है; और यदि नीतिनिष्ठ होगा तो नीतिके प्रति राग और अनीतिके प्रति द्वेषका प्रदर्शन भी आवश्यक होगा।

उ०—हाँ, नीतिनिष्ठ भी अवश्य हो सकता है। परन्तु उस अवस्थामें अथवा पहली तीन अवस्थाओंमें भी उसका जो राग-द्वेषका प्रदर्शन होगा वह केवल लीला-मात्र होगा, वास्तविक नहीं होगा। यदि राग-द्वेषमें वास्तविकता आ जाती है तब तो बोधवान् क्या, उसे विवेकी भी नहीं कह सकते। क्योंकि राग-द्वेषकी दृढ़ता दृश्यकी सत्यता माने बिना नहीं हो सकती और दृश्यकी सत्यता तो तत्त्वविवेक होनेपर ही निवृत्त हो जाती है।

प्र०—परन्तु यदि भय या क्रोध आदिकी वृत्ति होगी तो वह तो बिना अविवेकके नहीं हो सकती। ऐसा होनेसे क्या उसे अज्ञानी माना जायगा।

उ०—यदि वह केवल एक क्षणके लिये कल्पना-मात्र ही होती है तब तो विशेष हानिकारक नहीं है परन्तु यदि क्रोध या भय आदि कल्पनाओंकी निवृत्ति हो जानेपर भी वह बनी रहती है तो अवश्य उसे अविवेकी ही कहा जायगा। बोधवान्‌की कोई भी उत्तेजना स्थायी नहीं हो सकती।

प्र०—ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये तो विचार ही मुख्य जान पड़ता है, उसके लिये ध्यानादिकी क्या आवश्यकता है ?

उ०—जबतक प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव बोध नहीं होता तबतक तो विचार मुख्य है; परन्तु जब यह निश्चय हो गया तो उसपर अधिक जोर देनेकी आवश्यकता नहीं है। वह गौण हो जाना चाहिये। फिर तो ध्यान ही मुख्य होना चाहिये। विचारसे भी वृत्ति प्रपञ्चके अत्यन्ताभावको ग्रहण तो करती है परन्तु उसपर स्थिर नहीं रहती; किन्तु ध्यानसे उसमें स्थिरता आती है। यदि ध्यानादिमें न लगकर विवेकमें ही लगा रहेगा तो उसे उसीका व्यसन हो जायगा और वह जीवन्मुक्तिके आनन्दसे वञ्चित रह जायगा, इसीको शास्त्रवासना भी कहते हैं।

प्र०—यह तो सिद्धपुरुषोंकी स्थितिका वर्णन हुआ। अब यह बतलाइये कि साधकको यदि व्यापारमें विक्षेप होता हो तो उसे व्यापारका त्याग करना चाहिये या विक्षेपकी निवृत्तिका प्रयत्न करना चाहिये ?

उ०—साधकको व्यापारका संकोच करना ही आवश्यक है। उसे विक्षेपके कारणको रखते हुए केवल विक्षेपकी निवृत्ति करनेका प्रयत्न करना ठीक नहीं। व्यापारका संकोच होनेसे और विचारपर जोर रहनेसे स्वतः ही विक्षेप भी निवृत्त हो जायगा।

प्र०—यदि रोग आदि हो जाय तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये या उसे सहन करते रहना चाहिये।

उ०—रोग हमें दबाना चाहता है। उससे हमारा विचार मन्द भी पड़ जाता है, इसलिये उसकी निवृत्ति अवश्य करनी चाहिये। परन्तु विचारवान् पुरुष उसीके पीछे नहीं पड़ जाता। वह तो यही देखता है कि भयंकर दुःखके समय भी उसका विचार तो नहीं छूटता। वह कभी हाय-हाय करके प्राण नहीं देता, क्योंकि वह जानता है कि रोग उसका दास है; वह कैसा ही भय दिखलावे मेरे ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता। भला, जो व्यक्ति यह बात अच्छी तरह जानता है कि मैं एक ऐसी ठोस वस्तु हूँ कि कोई भी शस्त्र मेरा भेदन नहीं कर सकता, वह किसीको हाथमें तलवार लेकर अपने ऊपर आता देखकर भी कैसे कम्पायमान हो सकता है?

प्र०—जिसे बोध हो गया है क्या उसे भी सत्संग आदि करनेकी इच्छा होती है?

उ०—लोकमें यह बात देखनेमें आती है कि पहलवान भले ही मरणासन्न हो जाय वह जिस समय कहीं दंगलका समाचार पाता है फौरन पहुँच जाता है। उसे वहाँ जाकर कुछ सीखना भी नहीं होता, तो भी उससे वहाँ जाये बिना नहीं रहा जाता, वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार जहाँ कहीं विचारकी बात होती होगी वहाँ जानेके लिये उसकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। उसे उसकी आवश्यकता नहीं होती; तो भी वह वहाँ जाये बिना नहीं रह सकता।

लाखकी चूड़ियाँ अपवित्र हैं

उनका त्याग करो

भारतवर्षके कुछ प्रान्तोंमें स्त्रियाँ सौभाग्यका चिह्न समझकर लाखकी बनी चूड़ियाँ हाथोंमें पहनती हैं। लाख बहुत ही अपवित्र चीज़ है। लाख कीड़ोंसे उत्पन्न होती है। लाखमें दो प्रकारके कीड़े रहते हैं। एक तो बहुत बारीक होते हैं जो बरसातमें जहाँ लाख रक्खी रहती है वहाँ निकल-निकलकर दीवारोंपर चढ़ जाते हैं। वे इतने होते हैं कि उनसे दीवार लाल हो जाती है। दूसरे कीड़े लम्बे होते हैं। ये लाखके बीज समझे जाते हैं। इन असंख्य प्राणियोंकी बहुत बुरी तरहसे हिंसा होती है। पहले तो लाखके धोनेमें ही असंख्य प्राणी मर जाते हैं। फिर उसको थैलियोंमें भर-भरकर जलती हुई भट्टीमें तपाया जाता है, जिससे जानवरोंका चपड़ा बनता है। जानवरोंके खूनका लखवटिया बनता है। जिस समय उसको तपाते हैं उस समय चटाचट् शब्द होता है। चारों ओर दुर्गन्ध फैल जाती है। इस प्रकारकी अपवित्र और हिंसाप्रधान लाखसे चूड़ियाँ बनती हैं। फिर उनके बनानेवाले मांसभक्षी मुसलमान मनियार (चूड़गर) होते हैं, जो चूड़ियाँ बनाते समय उनमें थूकते भी रहते हैं। अतः ऐसी चूड़ियोंका व्यवहार धर्म, अहिंसा तथा पवित्रताकी दृष्टिसे सर्वथा निन्दनीय और त्यागने-योग्य है। अतएव धर्मप्रेमीमात्रको अपने-अपने घरोंमें-से लाखकी चूड़ियाँ तुरन्त निकालकर धर्मका भागी बनना चाहिये। इसीलिये इनके बदलेमें सब नाप और सब रंगोंकी सुन्दर सस्ती और टिकाऊ काँचकी चूड़ियाँ तैयार करवानेकी व्यवस्था की गयी है। सुनहरी पात लगी हुई चूड़ियाँ लाखकी चूड़ियों-जैसी ही देखनेमें लगती हैं। अतएव माताओं और बहिनोंसे लाखकी चूड़ियाँ त्याग करके इन काँचकी पवित्र चूड़ियोंका व्यवहार करनेका निवेदन किया जाता है। लाखकी अपवित्र और हिंसामयी चूड़ियोंमें सुहाग समझना निरी मूर्खता है। आशा है, वे इस निवेदनपर ध्यान देंगी। लाखनिषेधक कार्यालय, पो० फिरोजाबाद (आगरा) को पत्र लिखनेपर चूड़ियाँ मिल सकती हैं।

देशकालतत्त्व

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

देश और कालके सम्बन्धमें हमारा जो ज्ञान है वह बहुत ही सीमित और सङ्कुचित है। हमलोग प्रायः इस स्थूल देशको ही देश, और युग, वर्ष आदि स्थूल कालको ही काल समझते हैं। इनकी गहराईमें नहीं जाते। देश क्या वस्तु है, उसका मूल स्वरूप क्या है; समय या काल क्या वस्तु है और उसका मूल स्वरूप क्या है, इसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लेनेपर देश और कालविषयक हमारा अधूरा ज्ञान बहुत अंशोंमें पूर्ण हो सकता है, और हमारी दृष्टि सीमित देश और परिमित कालसे परे पहुँच जा सकती है।

विचारणीय विषय यह है कि हम जिस आकाशादिको देश, और युग, वर्ष, मास, दिन आदिको काल समझते हैं वह देश-काल तो प्रकृतिसे उत्पन्न है और प्रकृतिके अन्तर्गत है। परन्तु महाप्रलयके समय जब यह कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् अपने कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाता है उस समय देश-कालका क्या स्वरूप होता है? वह देश-काल प्रकृतिका कार्य होता है या कारण?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि स्थूल देश-काल जिस प्रकृतिरूप देश-कालमें लय हो जाता है वह प्रकृतिरूप देश-काल तो प्रकृतिका स्वरूप ही है, और इस प्रकृतिका जो अधिष्ठान है अर्थात् यह प्रकृति अपने कार्य सम्पूर्ण जड दृश्यवर्गके लय हो जानेके बाद भी जिसमें स्थित रहती है, वह अधिष्ठान प्रकृतिका कार्य कभी नहीं हो सकता। वह तो सबका परम कारण है और सबका परम कारण वस्तुतः एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें मूलप्रकृति या माया स्थित है। वह प्रकृति कभी साम्यावस्थामें रहती है और कभी विकारको प्राप्त होती है। जिस समय वह साम्यावस्थामें रहती है उस समय अपने कार्य समस्त जड दृश्यवर्गको अपनेमें लीन करके स्वयं परमात्मामें स्थित रहती है, और जिस समय वही परमात्माके सकाशसे विषमताको प्राप्त होती है, उस समय उससे परमात्माकी अध्यक्षतामें संसारका सृजन होता है। सांख्य और योगके अनुसार सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, परन्तु गीता आदि वेदान्तशास्त्रोंके अनुसार ये प्रकृतिके कार्य हैं।

गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। (गीता १४ । ५)

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(१३ । १९)

प्रकृतिमें विकार होनेपर पहले सत्त्वगुणकी उत्पत्ति होती है, फिर रजोगुणकी और उसके बाद तमोगुणकी। सत्त्वगुणसे बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ, तथा तमोगुणसे पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति हुई है। इन्हीं भूतोंमें आकाश है और यही आकाश * हमारे इस व्यक्त स्थूल देशका आधार

---

* यह आकाश अर्थात् पोल प्रकृतिका कार्य होनेसे उत्पत्ति, तिथि और लय धर्मवाला है। योगमाया यानी प्रकृति इसका आधार है। प्रकृतिका अधार विज्ञानानन्दघन परमात्मा है, यह पोलरूपी आकाश मूल तन्मात्रारूप आकाशका एक स्थूल स्वरूप है। यह पोल समष्टि अन्तःकरणमें है, समष्टि अन्तःकरण मायामें है, और माया परमात्मामें वैसे ही है, जैसे स्वप्नका देश-काल स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अन्तर्गत रहता है। वस्तुतः यह आकाश या पोल परमात्माका संकल्पमात्र है। इस संकल्पका अभाव होनेपर, जिसका संकल्प है, वह अपनी योगमाया (मूलप्रकृति) सहित स्वयं अधिष्ठानरूपसे रहता है, वह किस प्रकार रहता है सो नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है।

है । इसी प्रकार हमारा युग, वर्ष, मास, दिन आदि-रूप स्थूल काल भी प्रकृतिसे प्रादुर्भूत है । यह देश-कालका स्थूल रूप है । यह जड और अनित्य है । सबका अधिष्ठान होनेसे परमात्मा ही सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है, इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्डमें प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त होनेपर भी इस स्थूल देश-कालसे, और इस देश-कालके कारणरूप प्रकृतिसे भी परे है । स्थूल देश-कालको तो हमारी इन्द्रियाँ और मन समझ सकते हैं परन्तु सूक्ष्म देश-कालतक उनकी पहुँच नहीं है । महाप्रलयके समय प्रकृति जिस परमात्मामें स्थित रहती है और जबतक स्थित रहती है, वह अधिष्ठानरूप देश और काल वास्तवमें परमात्मा ही है । वही मूल महादेश और महाकाल है । वह चेतन, उपाधिरहित, नित्य, निर्विकार और अव्यभिचारी है । वह कालका भी महाकाल * और देशका भी महादेश है, सारे काल और देश एक उसीमें समा जाते हैं । परमात्माका यह नित्य सनातन और शाश्वत स्वरूप ही देश-कालका चिन्मय रूप है । यह सदा-सर्वदा एकरस है । अव्याकृत मूलप्रकृति महाप्रलयके समय इसी परमात्मारूप देश-कालमें रहती है । हमारी बुद्धिमें आनेवाला यह मायारचित जड और अनित्य देश-काल तो बुद्धिका कार्य है, और बुद्धिके अन्तर्गत है । बुद्धि स्वयं मायाका कार्य है । इस मायाके स्वरूपको बुद्धि नहीं बतला सकती, क्योंकि यह बुद्धिसे परे है, बुद्धिका कारण है । इस मायाके दो रूप माने गये हैं—एक विद्या, दूसरा अविद्या । समष्टिबुद्धि विद्यारूपा है, और जिसके द्वारा बुद्धि मोहको प्राप्त हो जाती है, वह अज्ञान ही अविद्या है । अस्तु ।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार देश-कालके ये तीन भेद होते हैं—

१—नित्य महादेश या नित्य महाकाल ।

२—प्रकृतिरूप देश या प्रकृतिरूप काल ।

३—स्थूल देश या स्थूल काल ।

इनमें पहला चेतन, नित्य, अविनाशी, अनादि और अनन्त है । शेष दोनों जड, परिवर्तनशील, अनादि और सान्त हैं ।

जिसको सनातन, शाश्वत, अनादि, अनन्त, कालस्वरूप, नित्य ज्ञानस्वरूप और सर्वाधिष्ठान कहते हैं, निर्विकार परमात्माका वह स्वरूप ही मूल नित्य महादेश और महाकाल है ।

महाप्रलयके बाद जितनी देर प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूप काल है, और अपने कार्यरूप समस्त स्थूल दृश्यवर्गको धारण करनेवाली होनेसे यह कारणरूपा मूलप्रकृति ही प्रकृतिरूप देश है ।

आकाश, दिशा, लोक, द्वीप, नगर, और कल्प, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन आदि स्थूल रूपोंमें प्रतीत होनेवाला प्रकृतिका कार्यरूप यह व्यक्त देश-काल ही स्थूल देश और स्थूल काल है ।

इस कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप देश-काल

---

*यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥
(कठ० २ । २५)

'जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों भात हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन (शाक-दाल आदि) है वह जहाँ है उसे इस प्रकार (ज्ञानीके सिवा और) कौन जान सकता है ?'

सूक्ष्म और पर है; और इस प्रकृतिरूप देश-कालसे भी वह सबका महाकारण और मूल अधिष्ठानरूप देश-काल अत्यन्त सूक्ष्म और परम श्रेष्ठ है जो नित्य, शाश्वत, सनातन, महाकालरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माका स्वरूप है । वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित है परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ उनको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले तथा सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही देश-कालरूप बतलाया जाता है । संक्षेपमें यही देश-काल-तत्त्व है ।

श्रीस्वामी श्रीकृष्णानन्दजी अवधूतके उपदेश

(१) इस असार संसारमें मनुष्य-जन्म पाकर भी जिसने श्रीकृष्णकीर्तन नहीं किया, श्रीकृष्णभजन नहीं किया एवं श्रीकृष्णभक्तोंका संग नहीं किया, उसने वृथा ही जन्म लिया ।

(२) विषयी मनुष्य भागवतरूपी कामधेनुसे श्रीकृष्ण-भक्तिरूपी दुग्धामृत पान नहीं कर पाते, किन्तु शोणितरूपी विषयादिजन्य कुतर्क ही प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं ।

(३) कामको और मदको मोहित करनेवाले श्रीकृष्ण ही हैं ।

(४) परिपूर्ण पापके कारणसे ही जीवोंको श्रीकृष्णकथा तथा श्रीकृष्णकीर्तनमें रुचि नहीं होती । ऐसे मनुष्योंको धिक्कार है ।

बस, श्रीकृष्णभक्तमें और विषयी मनुष्यमें इतना ही भेद है कि श्रीकृष्णभक्त तो श्रीकृष्णसेवा करते हैं और विषयी मनुष्य प्राकृत स्त्रीकी सेवा करते हैं । श्रीश्रीगौराङ्ग-पार्षदोंने श्रीकृष्णप्रेमके द्वारा काम-क्रोधादि षड् रिपुओंपर विजय प्राप्त किया था । एक बार श्रीश्री-भागीरथीके सुहावने तटपर सुन्दर रमणीक गुफामें परम सुन्दर युवावस्थावाले श्रीश्रीगौराङ्गचरणाश्रित परमतेजस्वी श्रीहरिदासजी महाराज भजन करते थे । जब उनके भजन और तपस्याका प्रभाव चारों ओर फैल गया तब मुसलमान नवाबको भी इस बातकी खबर हुई । उसने हरिदासजीकी परीक्षाके लिये तथा उनका सुनाम सुनकर ईर्ष्यावश उन्हें तपमार्गसे भ्रष्ट करनेके लिये एक रूपवती युवती वेश्याको उनके पास भेजा । वेश्या सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे शृङ्गार करके सायंकालके समय उनके पास गयी । परमपूज्य हरिदासजी महाराज उस समय—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस महामन्त्रका ऊँचे स्वरसे जप कर रहे थे । वेश्याको देखकर उन्होंने उसे इशारेसे बैठनेके लिये कहा और फिर अपने हरि-कीर्तनमें लग गये । बहुत देर हो गयी । वेश्याने जब अधिक रात होते देखा तो चलनेका इरादा किया । हरिदासजी महाराजने फिर उसे बैठनेको कहा । वेश्या फिर बैठ गयी । वेश्याने हाव-भाव-कटाक्षोंसे अपनी इच्छा प्रकट की । हरिदासजी महाराज प्रतिदिन साढ़े तीन लाख जप करते थे । उन्होंने वेश्यासे कहा कि मैं अपना भजन-कीर्तन कर लूँ । वेश्या फिर बैठ गयी । धीरे-धीरे रात बीतने लगी । ब्राह्ममुहूर्तका समय हो गया । वेश्याका चेहरा फीका पड़ गया । वह निराश होकर चल दी । इसी प्रकार दो-तीन दिन-तक वह वहाँ आयी और वहाँके शुद्ध वायुमण्डलसे तथा

श्रीहरिनाम सुननेसे उसका मन एकदम पलट गया और वह हरिदासजी महाराजसे श्रीकृष्ण-नामका उपदेश प्राप्त कर ऐसी भक्तिमती बन गयी कि उसके दर्शनोंको बड़ी-बड़ी दूरसे मनुष्य आते थे। इसी प्रकार परमपूज्य नित्यानन्दजी महाराजने क्रोधपर विजय प्राप्त किया। जगाई-मधाईने उनके सिरमें मारी, जिससे उनके सिरसे खूनकी धारा बह चली। लेकिन आप उसी प्रकार 'हरि बोल', 'हरि बोल' ही कहते रहे। जगाई-मधाई बड़े ही दुष्टप्रकृतिके मनुष्य थे परन्तु श्रीनित्यानन्दजीकी कृपासे वे महान् भक्त हो गये। स्वयं भक्तप्राण श्रीश्रीगौराङ्गदेव भी श्रीकृष्णप्रेममें विह्वल होकर अहैतुकी भक्तिके सम्बन्धमें इस प्रकार कहते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

'हे जगदीश्वर! मुझे न तो धनकी इच्छा है, न मित्रोंकी, न सुन्दर स्त्रीकी और न विद्वत्ताकी। मेरी तो केवल यह अभिलाषा है कि जन्म-जन्मान्तरमें मेरी तुम्हारे प्रति हेतुरहित भक्ति बनी रहे।'

(५) काम, क्रोध, मद, मोहसे कलुषित स्वभाववाले क्षुद्र जीवोंको भगवान् श्रीकृष्णके चरितमें व्यभिचार तथा मिथ्या दोष दीखते हैं। इसमें उनका दोष नहीं। कुसंगति तथा पूर्व-कर्म-सम्बन्धसे प्राप्त स्वभावका दोष है क्योंकि कामी और अभिमानी पुरुष उतना ही समझ सकते हैं।

(६) श्रीश्रीसद्गुरुचरणारविन्दाश्रय बिना जीव इस संसार-समुद्रसे पार नहीं जा सकता। सन्त श्रीकबीरदासजी महाराजने कहा है—

गुरु बिन कौन बतावे बाट। बड़ा बिकट जमघाट॥
भ्रांतिकी पहाड़ी नदिया बिचमें अहंकारकी लाट।
काम क्रोध दो परबत ठाढ़े लोभ चोरको ठाट॥
मदमत्सरका मेहा बरसत माया पवन बहे बाट।
कहत कबीर सुनो भाई साधो क्यों तरना यह घाट॥

(७) 'कलौ केशवकीर्तनात्' कलियुगमें भगवत्-प्राप्तिका सरल साधन केवल श्रीकृष्णकीर्तन ही है।

(८) जब तुम श्रीकृष्णकीर्तन करो तब श्रीकृष्ण-प्रेममें इतने मस्त हो जाओ कि अपने शरीरकी भी सुध-बुध न रहे। जब हमारे गुरु श्रीस्वामी ज्ञानानन्ददेवजी महाराज बैठते थे और भक्त लोग उनके सामने कीर्तन करते थे तो स्वामीजी महाराज श्रीकृष्णप्रेममें इतने मस्त हो जाते थे कि उनको अपने शरीरका भी पता नहीं रहता था। मैंने कई बार उनका हाथ अग्निमें पड़ा देखा लेकिन स्वामीजीको इसका कुछ पता नहीं रहता था, उसे भक्त ही उठाते थे।

(९) दुष्ट मनुष्य भक्तोंको सताते हैं, लेकिन भक्त इस बातकी परवा नहीं करते। अभी थोड़े दिनकी बात है, एक ब्राह्मणी श्रीकृष्णकी बड़ी भक्त थी। वह रात-दिन श्रीकृष्णभजनमें अपना समय बिताती थी। उस ब्राह्मणीकी सास उससे जला करती थी। एक दिन उसने गुस्सेमें आकर उसे एक कोठरीमें बन्द कर दिया और उससे कहा कि अगर तू भजन करना छोड़ दे तो मैं तुझे कोठरीसे निकाल दूँ। उसने कहा—'प्राण भले ही चले जायँ लेकिन भजन करना नहीं छोड़ूँगी।' सासने उसे दो-तीन दिनतक कोठरीमें बन्द रक्खा। वह भूखी-प्यासी कोठरीमें बन्द पड़ी रही। चौथे दिन स्वयं भगवान्‌ने उसे अपने हाथोंसे भोजन करवाया।

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

[गतांकसे आगे]

प्रेम-भक्ति और गौणी भक्तिका स्वरूप

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

५१—प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है ।

प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं, जिस प्रकार वाणीसे ब्रह्मका वर्णन असम्भव है, वेद 'नेति नेति' कहकर चुप हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रेमका वर्णन भी वाणीद्वारा नहीं हो सकता । संसारमें भी हम देखते हैं कि प्रिय वस्तुके मिलनेपर, उसका समाचार पानेपर, उसके स्पर्श, आलिङ्गन और प्रेमालापका सुअवसर मिलनेपर हृदयमें जिस आनन्दका अनुभव होता है, उसका वर्णन वाणी कभी नहीं कर सकती । जिस प्रेमका वर्णन वाणीके द्वारा हो सकता है, वह तो प्रेमका सर्वथा बाहरी रूप है । प्रेम तो अनुभवकी वस्तु है । भगवान् श्रीराम लंकामें स्थित जगज्जननी जानकीजीको सन्देशा कहलाते हैं—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मन मोरा ॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं । जानेउ प्रीति रीति यहि माहीं ॥

प्रेमका अनुभव है मनमें, और मन रहता है सदा अपने प्रेमीके पास । फिर भला, मनके अभावमें, वाणीको यत्किञ्चित् भी वर्णन करनेका असली मसाला कहाँसे मिले ! अतएव प्रेमका जो कुछ भी वर्णन मिलता है वह केवल सांकेतिकमात्र है—बाह्य है । प्रेमकी प्राप्ति हुए बिना तो प्रेमको कोई जानता नहीं, और प्राप्ति होनेपर वह अपने मनसे हाथ धो बैठता है । जलमें मुखसे शब्दका उच्चारण तभीतक होता है जबतक कि मुख जलसे बाहर रहता है, जब मनुष्य अतलतलमें डूब जाता है तब तो डूबनेवालेकी लाशका पता लगना भी कठिन होता है । इसी प्रकार जो प्रेम-समुद्रमें डूब चुका है, वह कुछ कह ही नहीं सकता । और ऊपर-ऊपर डुबकियाँ मारने और डूबने-उतरानेवाले जो कुछ कहते हैं सो केवल ऊपर-ऊपरकी ही बात कहते हैं—

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान ।
गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान ॥

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

५२—गूँगेके स्वादकी तरह ।

जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परन्तु गुड़का स्वाद नहीं बतला सकता, इसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभवकर आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं परन्तु अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरे किसीको भी बतला नहीं सकते । इस प्रेममें तन्मयता होती है । इसलिये प्रेमी यह नहीं जानता कि मैं क्या हूँ और क्या जानता हूँ । इसीसे श्रीराधाने एक समय कहा है कि हे सखि ! मैं कृष्णप्रेमकी बात कुछ भी नहीं जानती, नहीं समझती, और जो कुछ जानती हूँ उसे प्रकट करनेयोग्य भाषा मेरे पास नहीं है । मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जब उनका स्पर्श होता है, तभी मेरा सारा ज्ञान चला जाता है ।

प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥५३॥

५३—किसी बिरले योग्य पात्रमें (प्रेमी भक्तमें) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है ।

यह तो निश्चित है कि वाणीद्वारा प्रेमका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु जब कोई प्रेममदसे छके हुए भाग्यवान् महापुरुष तन-मनकी सुधि भुलाकर दिव्य उन्मत्तवत् चेष्टा करने लगते हैं तब प्रेमका कुछ-कुछ प्रकाश लोगोंको प्रकट दीखने लगता है । उस समय ऐसे महात्माकी केवल वाणीसे और नेत्रोंसे

ही नहीं, शरीरके रोम-रोमसे प्रेमकी किरणें अपने-आप ही निकलने लगती हैं। यह प्रेमका प्राकट्य साक्षात् भगवान्का ही प्रकाश है। ऐसा प्रकाश किसी विरले ही प्रेमी महापुरुषमें होता है।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण-वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

५४—यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

किसी गुणको देखकर जो प्रेम होता है वह तो गुण न दीखनेपर नष्ट हो जा सकता है। परन्तु असली प्रेममें गुणोंकी अपेक्षा नहीं है। प्रेमीको अपने प्रेमास्पदमें गुण-दोष देखनेका अवकाश ही कहाँ मिलता है, वहाँ तो स्वाभाविक सहज प्रेम होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि प्रेम गुणातीत होता है। वह तीनों गुणोंके दायरेसे परेकी वस्तु है।

प्रेममें कुछ भी कामना नहीं होती, क्योंकि प्रेममें प्रेमास्पदको सुखी देखनेकी एक इच्छाको छोड़कर अन्य किसी स्वार्थकी वासना ही नहीं रहती। उसका तो परम अर्थ केवल प्रेमास्पद ही है। जहाँ कुछ भी पानेकी वासना है वहाँ तो प्रेमका पवित्र आसन कुटिल कामके द्वारा कलङ्कित हो रहा है। अतएव प्रेममें कामनाका लेश भी नहीं है।

सच्चा प्रेम कभी घटता तो है ही नहीं, वरं वह सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेममें कहीं परिसमाप्ति नहीं है। प्रेमीका सदा यही भाव रहता है कि मुझमें प्रेमकी कमी ही है। किसी भी अवस्थामें उसे अपना प्रेम बढ़ा हुआ नहीं दीखता, अतएव उसकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रेम बढ़ानेकी होती है। इस विच्छेदरहित प्रेमकी सतत वृद्धिका क्रम कभी टूटता ही नहीं। यह विशुद्ध प्रेम दिन दूना, रात चौगुना बढ़ता ही रहता है।

प्रेम सदा बढ़िबौ करै ज्यौं ससिकला सुबेष।
पै पूनौं यामें नहीं तातें कबहुँ न सेष॥

यह प्रेम हृदयकी गुप्त गुहामें रहनेवाला होनेके कारण सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर होता है और केवल अनुभवमें ही आता है। प्रेमी रसखानिजी मानो इसी सूत्रका अनुवाद करते हुए कहते हैं—

बिनु जोबन गुन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध, कामनातें रहित, प्रेम सकल रसखानि॥
अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरो अति दूर।
प्रेम कठिन सबतें सदा, नित इकरस भरपूर॥
रसमय स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल महान।
सदा एकरस बढ़त नित सुद्ध प्रेम रसखान॥

यह प्रेम परम आनन्दमय है और आनन्दमय श्रीहरिके साथ मिलाकर प्रेमीको आनन्दमय बना देता है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

५५—इस प्रेमको पाकर प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।

परम प्रेमके दिव्य रसमें डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने प्रेममय, रसमय प्रियतमको ही देखता है। उसे कहीं दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं। ऐसी ही स्थितिमें एक गोपी कहती है—

जित देखौं तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगन ही की, स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नरदेवनकी कौन कथा है अलख ब्रह्म छबि स्याममई है॥

दूसरा भक्त कहता है—

बाटनमें घाटनमें बीथिनमें बागनमें,
बृच्छनमें बेलिनमें बाटिकामें बनमें।

दरनमें दिवारनमें देहरी दरीचनमें,
हीरनमें हारनमें भूषनमें तनमें ॥
काननमें कुंजनमें गोपिनमें गायनमें,
गोकुलमें गोधनमें दामिनमें घनमें ।
जहाँ-जहाँ देखौं तहाँ स्याम ही दिखाई देत,
सालिगराम छाइ रह्यो नैननमें मनमें ॥

कहि न जाय मुखसौं कछू स्याम-प्रेमकी बात ।
नभ जल थल चर अचर सब स्यामहि स्याम दिखात॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल ।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यौ एक नँदलाल ॥
को, कासों, केहि बिधि कहा, कहै हृदैकी बात ।
हरि हेरत हिय हरि गयो हरि सर्वत्र लखात ॥

ऐसी अवस्थामें उसके कानमें जो कुछ भी आवाज आती है, वह केवल प्रेममयके प्रेमसंगीतकी स्वरलहरी ही होती है, वह सर्वदा उसकी मुरलीकी मीठी तानमें मस्त रहता है । इसी प्रकार उसके मुखसे भी प्रेम-मयको छोड़कर दूसरा शब्द नहीं निकलता । वह प्रेममयका गुण गाते-गाते कभी थकता ही नहीं, बात-बातमें उसे केवल दिव्य प्रेमरसामृतका ही अनुपम स्वाद मिलता रहता है और वह अतृप्त रसनासे सदा उसी अमृतरसपानमें मत्त रहता है । उसके चित्तमें तो दूसरेके लिये स्थान ही नहीं रह गया । वहाँ एकमात्र प्रियतमका ही अखण्ड साम्राज्य और पूर्ण अधिकार है । ऐसा जरा-सा भी स्थान नहीं, जहाँ किसी दूसरेकी कल्पनाकी स्मृति छायारूपसे भी आ सके । चित्त साक्षात् प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन जाता है; इस अवस्थाका अनुमान करते हुए कवि कहता है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो ।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो ॥
ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै, हम कैसेहु टेक तजै नहिं भोरो ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो ॥

समस्त अंग केवल उसीका अनुभव कर रहे हैं । सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसीको विषय करती हैं । आँखें अहर्निश सम्पूर्ण विश्वको श्याममय देखती हैं । कान सदा उसी अनाहत शब्दब्रह्मकी मधुर वेणुध्वनि सुनते हैं । नासिका नित्य-निरन्तर उसी नटवरके अंगसौरभको ही सूँघती है । जिह्वा अविच्छिन्नरूपसे उसी प्रेमसुधाका आस्वादन करती है । और शरीर सर्वदा उसी अखिल सौन्दर्यमाधुर्य-रसाम्बुधि रसराज परम सुख-स्पर्श आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दनके अनुपम स्पर्श-सुखका अनुभव करता है । आकाशमें वही शब्द है, वायुमें वही स्पर्श है, अग्निमें वही ज्योति है, जलमें वही रस है और पृथ्वीमें वही गन्ध बना हुआ है । सबमें वही भरा है । सबमें वही अपनी अनोखी रूपमाधुरीकी झाँकी दिखा रहा है । सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम—आनन्द-ही-आनन्द है । समस्त विश्व प्रेममय, आनन्दमय, रसमय या श्रीकृष्णमय है । सब कुछ आनन्दसे और सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है । दृश्य, द्रष्टा सभी मधुर हैं, हम-तुम सभी मधुर हैं, उस परमानन्द-रस-सुधामय मधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है । 'मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः, मधुमत् पार्थिवं रजः' सर्वत्र मधु ही मधु । इस प्रकार प्रेमी भक्तकी दृष्टिमें सर्वत्र प्रेममय भगवान् हैं और भगवान्की दृष्टिमें भक्त । भगवान्ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

'जो मुझे सर्वत्र देखता है, और सबको मुझमें देखता है, न कभी मैं उसकी आँखोंसे ओझल होता हूँ और न वह मेरी आँखोंसे ओझल होता है ।'

इस अवस्थामें प्रेमी भक्त जिस नित्य महान् दिव्य प्रेमामृतरससागरमें मग्न रहता है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है । यही प्रेमाभक्ति या पराभक्तिका स्वरूप है । यही महान् भूमानन्द है, इसी सर्वव्यापी भूमानन्दके साथ अल्प सुखका तारतम्य दिखलाती हुई श्रुति कहती है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। (छान्दोग्योपनिषद्)

'जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वही भूमा है। और जहाँ दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है, वह मरा हुआ है।' इसीलिये प्रेम सदा मधुर, अविनाशी, सनातन और सत्य है।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥५६॥

५६—गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादि-भेदसे तीन प्रकारकी होती है।

पिछले सूत्रतक उस परा या मुख्या भक्तिका विवेचन हुआ जिसमें प्रेमी भक्त उस प्रेमाभक्तिसे अपने प्रियतम भगवान्‌के प्रेममय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। इसीको श्रीमद्भागवतमें अहैतुकी—निर्गुण-भक्ति तथा गीतामें ज्ञानीकी भक्ति कहा है। अहैतुकी भक्तिमें भक्तकी चित्तवृत्ति और कर्मगतिका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे स्वाभाविक ही भगवान्‌की ओर बहता रहता है अर्थात् उसका चित्त निरन्तर निष्काम अनन्य प्रेमभावसे भगवान्‌में लगा रहता है और उसकी समस्त क्रियाएँ श्रीभगवान्‌के लिये ही होती हैं (भागवत ३। २९। ११-१२)। और गीतोक्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानी महात्मा भक्त भी सब कुछ वासुदेव ही देखता है (अध्याय ७। १७)। ये दोनों तो भगवत्-स्वरूप ही हैं। अब यहाँ इस भक्तिकी अपेक्षा निम्न-श्रेणीकी गौणी भक्तिका वर्णन किया जाता है। यह गौणी भक्ति सात्त्विकी, राजसी और तामसी-भेदसे अथवा आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी-भेदसे तीन प्रकारकी है।

जो भक्ति पापनाशकी इच्छासे सब कर्मफल भगवान्‌में समर्पण करके भगवान्‌की प्रीतिके लिये, यज्ञ करना कर्तव्य है यह समझकर भेद-दृष्टिसे की जाती है वह सात्त्विकी है (श्रीमद्भागवत ३। २९। १०)।

जो भक्ति विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे भेद-दृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमादिके पूजनके रूपमें ही की जाती है वह राजसी है (श्रीमद्भागवत ३। २९। ९)।

जो भक्ति क्रोध, हिंसा, दम्भ, मत्सरता और अहंकारसे कामनापूर्तिके लिये भेद-दृष्टिसे की जाती है वह तामसी है (श्रीमद्भागवत ३। २९। ८)।

इसी तरह आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुष त्रिविध उपासनासे तीन प्रकारकी भक्ति करते हैं, अर्थात् भक्तोंके भाव-भेदसे गौणी भक्तिके तीन भेद होते हैं।

गौणी भक्तिके साधनोंसे यद्यपि साक्षात् भगवत्-प्राप्ति नहीं होती, तथापि इस गौणी भक्तिके साधक भी सुकृती ही होते हैं और उन्हें भी भगवत्कृपासे इसका अनुष्ठान करते-करते अन्तमें भगवत्-प्राप्तिकी मुख्य साधनस्वरूपा या साक्षात् भगवत्-स्वरूपा प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति होती है। भगवान्‌की भक्तिमें यही विशेषता है कि इसका अन्तिम फल दुर्लभ भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति ही है। इसीसे गौणी भक्तिको भी श्रेष्ठ और पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा ही होनेवाली माना गया है। क्योंकि भक्तिमात्रमें ही भगवान्‌का भजन, भगवान्‌का आश्रय, भगवान्‌का ध्यान किसी-न-किसी रूपमें रहता है, और भगवद्भजन, भगवदाश्रय तथा भगवान्‌के ध्यानका फल सीधा भगवत्प्राप्ति ही होता है। अतएव किसी प्रकारसे भी हो भगवान्‌की भक्ति मनुष्यको अवश्य ही करनी चाहिये। परन्तु जहाँतक हो सके सात्त्विकी भक्ति अथवा त्रिभुवनके वैभवको भी अनर्थ एवं भगवान्‌को ही परम अर्थ—परम धन मानकर उसीके प्रेमकी प्राप्तिके लिये सच्चे अर्थार्थीके भावसे भक्ति करनी चाहिये।

(क्रमशः)

कल्याण

याद रक्खो, विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं। जीवके रूपमें शिव ही विविध लीला कर रहे हैं। इसलिये तुम किसीसे घृणा न करो, किसीका कभी अनादर न करो, किसीका अहित मत चाहो। निश्चय समझो, यदि तुमने स्वार्थवश किसी जीवका अहित किया, किसीके हृदयमें चोट पहुँचायी तो वह चोट तुम्हारे भगवान्‌के ही हृदयमें लगेगी। तुम चाहे जितनी देर अलग बैठकर भगवान्‌को मनाते रहो परन्तु जबतक सर्वभूतोंमें स्थित भगवान्‌पर तुम स्वार्थवश चोट करते रहोगे तबतक भगवान् तुम्हारी पूजा कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

× × ×

सबका सम्मान करो, सबका हित चाहो, सबसे प्रेम करो, आत्माकी दृष्टिसे सब भेदोंको भुलाकर सबको नमस्कार करो। इसका यह अर्थ नहीं कि व्यवहारके आवश्यक भेदको भी मिटा दो। दुष्टबुद्धि-वाले पुरुषको जीवन्मुक्त महात्मा मत समझो। मूर्खको विद्वान् समझकर उसकी बात सुनोगे तो गिर जाओगे। विद्वान्‌को मूर्ख मानकर उसकी बात नहीं सुनोगे तो ज्ञानसे वञ्चित रह जाओगे। पापसे घृणा करो, असंयमसे द्वेष करो, दुष्ट आचरणोंसे वैर करो, कुविचारोंका अपमान करो, नास्तिकताका विनाश करो, जिनमें ये दोष हों उनसे अलग रहो, परन्तु उनसे आत्माकी दृष्टिसे घृणा न करो। स्वरूपमें अभेद और व्यवहारमें आवश्यक भेद रक्खो।

× × ×

किसीको नीच, पतित या पापी मत समझो; याद रक्खो, जिसे तुम नीच, पतित और पापी समझते हो, उसमें भी तुम्हारे वही भगवान् विराजित हैं जो महात्मा ऋषियोंके हृदयमें हैं। सबको प्रेमदान करो, सबके प्रति सहानुभूति रक्खो। किसीकी निन्दा न करो। किसीकी निन्दा न सुनो। साधकको तो दूसरेकी निन्दा सहन ही नहीं होनी चाहिये। निन्दा सुननी हो अपनी सुनो, और करनी आवश्यक समझो तो अपनी सच्ची निन्दा करो।

× × ×

निःस्वार्थभावसे सबके साथ प्रेम करो, अपने प्रेमबलसे दूसरोंके चरित्रको सुधारो, उन्हें ऊँचे उठाओ। तुम्हारे आचरण आदर्श होंगे तो तुम अपने स्वार्थहीन प्रेमके बलसे गिरे हुए भाईको ऊँचा उठा सकोगे। याद रक्खो, शुद्ध आचरणयुक्त निःस्वार्थ प्रेममें बड़ा बल होता है।

× × ×

अपनेको कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती केवल इसी बुनियादपर किसी चीज़को बुरी न मान लो। और न उसके ध्वंसकी चेष्टा करो। यह मत समझ बैठो कि तुम्हारा सर्वथा सुधार हो गया है, तुम्हारी सभी बातें सबके लिये कल्याणकारी हैं और तुम्हारे विचारोंमें भ्रम है ही नहीं। जबतक मनुष्यमें राग-द्वेष है, तबतक उसका निर्णय कभी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। कभी अपनेको दूसरोंसे श्रेष्ठ समझकर अभिमान न करो। अगर करोगे तो याद रक्खो, तुम्हारा पतन भी जरूर होगा। अतएव पहले अपने दोषोंको देखो, उनमें सुधार करो, फिर दूसरेके सुधार-की चेष्टा करो।

× × ×

सुधारका ठेका मत लो। न अपने मतको सर्वथा उपकारी समझकर किसीपर लादनेका हठ करो। सुधारका रूप जो तुम समझते हो, सम्भव है वह

नहीं हो, और तुम्हें मोह, परिस्थिति, स्वार्थ या द्वेषवश वैसा दीखता हो। सावधान, कहीं सुधारके नामपर संहार न कर बैठो। सुधार तुम्हारे किये होगा भी नहीं। सच्चे सुधारक तो भगवान् हैं जो प्रकृतिके द्वारा निरन्तर ध्वंस और निर्माणके रूपमें सुधार करते रहते हैं। निःस्वार्थी, जीवोंके सुहृद्, सर्वज्ञ, तथा सर्वशक्तिमान् होनेके कारण भगवान्का किया हुआ सुधार परिणाममें निश्चय ही कल्याणकारी होता है, और मोहवश इच्छा न करनेपर भी बाध्य होकर उसे सबको स्वीकार भी करना ही पड़ता है।

× × ×

भगवान् मंगलमय हैं, हमारे परम हितैषी हैं, सर्वज्ञ हैं, किस बातमें कैसे हमारा हित होता है, इस बातको जानते हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधानका स्वागत करो। खुशीसे सिर चढ़ाकर स्वीकार करो। उनके हाथके दिये ज़हरमें अमृतका अनुभव करो; उनके हाथकी तलवारमें शान्तिकी छवि देखो, उनके कोमल करस्पर्शसे महिमाको पाये हुए सुदर्शनमें चरम सुखके शुभ दर्शन करो, और उनकी दी हुई मौतमें अमरत्वको प्राप्त करो। उनके प्रत्येक मंगलविधानमें उनको स्वयमेव अवतीर्ण देखो।

× × ×

थोड़े-से जीवनमें इतना समय ही कहाँ है, जो पर-चर्चा और परनिन्दामें खर्च किया जाय। तुम्हें तो अपनी उन्नतिके कामोंसे ही कभी फुरसत नहीं मिलनी चाहिये। इतना अवश्य याद रक्खो कि दूसरोंकी अवनति करके— दूसरोंका बुरा करके तुम अपनी उन्नति या भलाई कभी नहीं कर सकते। तुम्हारा मंगल उसी कार्यमें होगा जिसमें दूसरेका मंगल भरा हो। कम-से-कम अपने मंगलके लिये, मोहवश, दूसरोंका अमंगल कभी न करो— न चाहो। अपने अमंगलसे दूसरोंका मंगल होता दीखे तो जरूर करो, यह विश्वास रक्खो कि दूसरोंका मंगल करनेवाले पुरुषका परिणाममें कभी अमंगल हो ही नहीं सकता।

× × ×

डरो पापसे, अभिमानसे, ममतासे, कामनासे, शोकसे, क्रोधसे, लोभसे, सम्मानसे, बड़ाईसे, ख्यातिसे, पूजासे, नेतृत्वसे, गुरुपनेसे, महन्तीसे, पदवीसे, सभा-समितियोंसे, स्वेच्छाचारसे, उच्छृङ्खलतासे, मनमाने आचरणोंसे, इन्द्रियोंकी गुलामीसे, विषयासक्तिसे, मौज-शौकसे, विलासितासे, वादविवादसे, परचर्चा-से, परनिन्दासे, परधनसे, परस्त्रीसे; और इनसे यथासाध्य सदा बचे रहो।

× × ×

किसी कामके सफल होनेपर यह मत समझो कि यह तुम्हारी करनीसे हुआ है। तुम तो निमित्त-मात्र हो। सफलतापर बड़ाई मिलनेपर खुशीसे फूल मत उठो। यह तो संसारका नियम ही है। सफलता-पर सभी बधाई और बड़ाई देते हैं और असफलता-पर धिक्कार एवं निन्दा। आज बड़ाईमें फूलोगे तो कल निन्दा सुनकर रोना पड़ेगा। सदा न किसीको सफलता मिलती है, न असफलता।

× × ×

अपनी समझसे कोई बुरा काम न करो, बुरी नीयत मत रक्खो, फल बुरा हो तो शोक न करो। इसी प्रकार अपनी समझसे अच्छा काम करो, अच्छी नीयत रक्खो, फल तो विधाताके हाथ है। तुम अपना काम करो। विधाताके विधानको पलटनेकी व्यर्थ चेष्टा मत करो।

'शिव'

ब्रह्मज्ञानदीपिका

(लेखक—परमहंस श्रीकृष्णवियोगी योगिराज)

जो लोग मुँहसे अपनेको 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हैं, उनको इस उत्तम ज्ञानपर बार-बार विचार करना चाहिये। इसमें किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं की गयी है, भगवान् आनन्दकन्द प्यारेने ब्रह्मविचारवालोंके लिये यह खुशखबरी जाहिर की है—

१—जब तुम केवल सत्य हो अर्थात् 'आत्मा' हो, फिर रुपया पैदा करनेकी चिन्ता क्यों रहती है ? विषयोंके लिये क्यों पागल हो ? ऐसा कदापि नहीं होना चाहिये ।

२—इन्द्रियोंके विषय अज्ञानकी अवस्थामें प्रिय जान पड़ते हैं, जिस प्रकार मनुष्य सीपीको चाँदी समझकर भ्रमसे सीपीको लेनेके लिये दौड़ता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष विषयोंके लिये दौड़ते हैं। ज्ञानीको यह भ्रम कैसा ?

३—जिस प्रकार नदीकी लहरें नदीसे अलग नहीं उसी प्रकार जगत् आत्मासे अलग नहीं, जब यह ज्ञान हो गया कि मैं एक आत्मा हूँ, फिर विषयोंका प्रलोभन कैसा ?

४—जब तुम शुद्ध ज्ञान हो अर्थात् विकाररहित, स्वच्छ और सुन्दर आत्मा हो तो फिर तुम्हारे मनमें विषयोंकी वासनाका मैल क्यों भरा है ?

५—जब तुम सबमें एक आत्माको जानते हो, और इसी आत्मामें सब जगत्के पदार्थ इसी प्रकार स्थित हैं जिस प्रकार स्वप्नके दृश्य। अर्थात् स्वप्नमें आत्मासे ही असंख्य जीव निकलते हैं, आत्माके संकल्पसे ही पैदा होते हैं, आत्मामें ही स्थित रहते हैं, उसीमें मिलकर व्यवहार करते हैं, फिर खेल दिखाकर संकल्पसे ही उसी आत्मामें अदृश्य हो जाते हैं। आत्मा ही अपना शरीर स्वप्नमें बनाता है। फिर आश्चर्य है कि मेरा-तेरा-पन बराबर कैसे चला जाता है।

जब यह ज्ञान हो गया, कि यह स्वप्न है, सत्य नहीं, फिर उसके प्राप्त करनेके लिये इतना यत्न क्यों करते हो ?

६—जब यह ज्ञान हो गया सब कुछ ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ तब कामना और वासनाओंका दास बनकर व्याकुल रहना और अपनेको सुखी-दुखी जानना आश्चर्यकी बात है।

७—जब तुम आत्माके स्वरूपको जानते हो तब ज्ञानके शत्रु कामना और आकांक्षाकी लहरमें क्यों फँसे हुए हो ? यह तो ऐसा जाल है कि मरनेके समय-तक भी नहीं छूट सकता ।

८—जिसने आत्माको अमर और शेष सब पदार्थों-को नाशवान् जान लिया, और इस लोक और परलोक-के सारे विषयोंको वैराग्य-विवेकसे छोड़ दिया है, वह मृत्युसे क्यों डरेगा ?

सत्य ज्ञानकी व्याख्या

१—ज्ञानी वह है जो सुख-दुःखमें घबरानेवाला न हो।

२—ज्ञानी तो सब विषयोंमें वर्तता हुआ भी न कभी खुश होता है और न व्याकुल होकर क्रोधमें आता है। वह तो हर हालतमें आत्मामें ही स्थिर होकर आनन्दमय रहता है, और जगत्के सब पदार्थोंको स्वप्नवत् समझता है। अपने शरीरको भी और पदार्थोंकी तरह ही असत् जानता है।

३—ज्ञानी अपने शरीरको भी सत् नहीं मानता, इसलिये उसको न तो इसकी निन्दा या स्तुति सुनकर मनमें जोश आता है और न वह मौतसे ही डरता है।

४—ज्ञानी तो अपने-आपको शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा मानता है, दृश्य-प्रपञ्चको मायाका खेल और स्वप्नवत् असत् जानता है, फिर उसके मनमें कामना और वासनाओंका गुजर होना सम्भव ही नहीं। वह तो आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है ।

५—सच्चा ज्ञानी वह है जो आत्माके ज्ञानमें ही तृप्त रहता है, उसके मनमें कोई संकल्प ही नहीं उठता, उसे किसी बातकी इच्छा ही नहीं रहती, वह सदा आत्मस्वरूपहीमें मस्त रहता है ।

६—सच्चा ज्ञानी आत्माको सबमें समभावसे देखता

है। उसकी दृष्टिमें यह दुनिया आत्मरूप है। फिर इस दुनियाके नजर करनेसे क्या लाभ, क्या हानि ? फिर राग-द्वेष कहाँ रहा, वह किस चीज़को छोड़ दे और किसको ग्रहण करे ?

७–सच्चे ज्ञानीकी हर अवस्थामें एक ही दशा रहती है, उसे न अच्छी चीज़से सुख मिलता है और न बुरी चीज़से दुःख।

योगकी विधि

१–शरीरका खयाल छोड़ दे अर्थात् इसे मायामें लय करके अपने स्वरूपमें समा जा।

२–सारा जगत् तुमसे इस प्रकार पैदा हुआ है जिस प्रकार नदीमें लहरें—बुद्बुदे। बस, आपको अपनेसे जुदा न समझकर आत्माको एक जानकर उसमें लय हो जा अर्थात् समा जा।

३–यद्यपि यह संसार स्पष्टरूपसे दिखायी देता है, किन्तु शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मामें यह संसार कोई वस्तु नहीं है।

४–जिस प्रकार अँधेरेमें रस्सी साँप दिखायी देती है, किन्तु रस्सी न पहले साँप थी, न अब है, और न भविष्यमें ही ऐसा हो सकता है।

५–तू भरपूर शुद्ध आत्मा है, इस कारण सुख-दुःखमें समान है, मरने-जीनेको एक-जैसा ही समझकर अपने स्वरूप आत्मामें समा जा।

प्रश्न–यह चाह अर्थात् कामना क्यों उत्पन्न होती है ?

उत्तर–१–इसका बड़ा भारी कारण विषयोंकी आसक्ति है, मनुष्य सदैव यही चाहता है कि दूसरेकी भी चीज़ मैं ले लूँ। इसको अहंकार वा खुदी कहते हैं। मनुष्य अहंकारसे बँधा हुआ है। अहंकार छूटना ही मोक्ष है !

२-३–ज्ञान बोलनेवालेको गूँगा—त्रिकालज्ञ, काम करनेवालेको बेकार और विद्वान्‌को अबोध बना देता है।

४–मनुष्यको खुदी खुदग़रज़, कामी, बहुत बोलनेवाला, बहुत दौड़-धूप करनेवाला, और अपने-आपको विद्वान् जनानेवाला बना देती है।

विचार-तरंग

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी व्यास लालाणी 'विशारद')

१–मैंने अपर्याप्त विश्वासरूप सुमनाञ्जलिको तव पाद-पद्मोंमें समर्पित किया। तू रहस्यमयी हँसी हँसा और तैंने मुट्ठीभर रत्नोंको मेरे जीर्ण पटमें बाँध दिया।

२–हा ! सहजहीमें प्राप्त रत्नोंका यथार्थ मूल्य न जानकर मैंने उन्हें शूकरोंके समक्ष निक्षेपित कर दिया।

३–वे वंशपरम्परागत पुरातन स्वभाववश 'गुड-गुड' शब्द करते हुए विष्ठामें मुँह मारने लगे और उन अमूल्य कणकोंकी ओर उन्होंने उपेक्षा-दृष्टिसे देखा।

४–मैं अपनी मूर्खतापर पछताया एवं अपनी चञ्चलतापर मुझे मन-ही-मन खीझ हुई।

५–थोड़ी देरके बाद मुझे स्पष्ट ज्ञात हुआ कि मूर्खता एवं चञ्चलताकी ओटमें छिपा हुआ दर्प अपनी उत्तमता प्रकट करनेका प्रयत्न कर रहा था, किन्तु वह विफल-मनोरथ हुआ।

६–इसे उसकी किंवा अपनी पराजय मानूँ अथवा इस पराजयको वास्तविक विजय समझकर इसीमें तेरी कृपाके दर्शन करूँ।

७–मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ।

८–आओ, झिलमिलाती हुई वारुणी*का एक प्याला पिला दो, ताकि इस झंझटसे भी पीछा छुड़ानेमें समर्थ हो सकूँ।

---

* प्रगाढ़ भक्ति

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

सभासद्गण—ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यके साथ शाकल्यने द्वेष किया, इस द्वेषरूपी विषवृक्षका मृत्युरूप फल शाकल्यको मिला। यद्यपि शाकल्य विद्वान् और सर्वगुणसंयुक्त था तो भी ब्रह्मवेत्ताके द्वेषरूपी प्रबल द्वेषसे शाकल्य मृत्युको प्राप्त हुआ, जैसे एक प्रलयकालका अग्नि स्थावरजंगमरूप सब जगत्को जला देता है, इसी प्रकार एक ही ब्रह्मवेत्ताका द्वेष विद्यादि सब गुणोंका नाश करता है, क्योंकि शाकल्य यद्यपि अनेक विद्याओंमें कुशल और सर्वगुणयुक्त था तो भी ब्रह्मवेत्ताके द्वेषरूप अग्निसे क्षणभरमें भस्म हो गया। जैसे समुद्रको सुखा देनेकी किसीमें सम्भावना नहीं होती, इसी प्रकार याज्ञवल्क्यके शापसे शाकल्यके मरणकी यद्यपि किसी प्राणीको सम्भावना न थी तो भी याज्ञवल्क्यके साथ द्वेष करनेसे शाकल्यकी मृत्यु हुई। इसलिये ब्रह्मवेत्ताका द्वेष अद्भुत प्रभाववाला है। सर्वगुणयुक्त तथा अनेक विद्याओंमें कुशल शाकल्य ब्रह्मवेत्ताके साथ द्वेष करनेसे जब इस प्रकारकी दुर्गतिको प्राप्त हुआ तो विद्यादि गुणोंसे रहित अन्य पुरुष ब्रह्मवेत्ताके साथ द्वेष करनेसे दुर्गतिको क्यों न प्राप्त होगा ? इसलिये ब्रह्मवेत्ताके साथ कभी भी द्वेष नहीं करना चाहिये। 'ब्रह्मवित्परमाप्नोति' 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मभावको प्राप्त होता है।' यह श्रुति आज हमने सत्य हुई देखी है क्योंकि विद्यादिगुणसम्पन्न शाकल्यको कोई भी मारनेमें समर्थ न था, यह अचिन्त्य शक्तिरूप परमात्माका ही कार्य था। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य साक्षात् ब्रह्मरूप है। ब्रह्मवेत्ता सर्वात्मभावको प्राप्त होता है, यह श्रुति भी आज सत्य हुई हमारे देखनेमें आयी। क्योंकि जैसे अपने शत्रुका नाश होनेपर देहधारी जीव सुखको प्राप्त होता है, वैसे ही याज्ञवल्क्यके शत्रु शाकल्यके नाश होनेसे सब लोग सुखको प्राप्त हुए। जैसे देहधारी जीव अपनी निन्दा नहीं करता किन्तु अपनेसे भिन्न दूसरोंकी निन्दा करता है, इसी प्रकार सब लोग याज्ञवल्क्यकी निन्दा नहीं करते किन्तु शाकल्यकी निन्दा करते हैं। इससे ऐसा जाननेमें आता है कि ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य सब जीवोंका आत्मरूप है। यदि याज्ञवल्क्य सब जीवोंका आत्मा न हो तो जैसे देवदत्त नामके पुरुषके शत्रुके मरणसे यज्ञदत्त नामके पुरुषको सुख नहीं होता, इसी प्रकार याज्ञवल्क्यके शत्रुके मरणसे अन्य सब लोगोंको सुख नहीं होना चाहिये, किन्तु शाकल्यके मरणसे सब लोग सुखको प्राप्त हुए हैं, इससे याज्ञवल्क्य सब जीवोंका आत्मरूप है, इसीलिये अपने आत्मरूप याज्ञवल्क्यकी कोई निन्दा नहीं करता किन्तु सब लोग शाकल्यकी निन्दा करते हैं। सब पापकर्मोंसे ब्रह्महत्यारूप पापकर्म अधिक है, ब्रह्महत्यासे भी अधिक पापकर्म ब्रह्मवेत्ता पुरुषपर द्वेष करना है क्योंकि इस जन्ममें की हुई ब्रह्महत्या इस जन्ममें पुरुषको दुःखरूप फलकी प्राप्ति नहीं करती, दूसरे जन्ममें दुःखरूप फलकी प्राप्ति करती है। ब्रह्मवेत्ता पुरुषपर किया हुआ द्वेष इस जन्ममें और जन्मान्तरमें भी मनुष्यको दुःखकी प्राप्ति करता है, इस अर्थमें शाकल्य ही दृष्टान्तरूप है, क्योंकि उत्तम गद्दी तथा तकियोंके योग्य तथा अत्यन्त कोमल शाकल्यका शरीर ब्रह्मवेत्ताके साथ द्वेष करनेसे

पिशाचरूप उन्मत्त पुरुषके समान अपवित्र भूमि-पर पड़ा है, इसलिये ब्रह्मवेत्ताके द्वेषसे शाकल्य-को इस जन्ममें परम दुःखकी प्राप्ति हुई। याज्ञवल्क्य-के शापसे शाकल्यकी दक्षिणायनके कृष्णपक्षकी अमावस्याको मृत्यु हुई है, इससे जाननेमें आता है कि शाकल्यको अवश्य नरक प्राप्त होना चाहिये। इस शाकल्यने विना कारण ही ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य-के साथ द्वेष किया। इस दोषरूपी पापकर्मसे शाकल्यको दुःख हुआ हो, इतना ही नहीं किन्तु उसने अपने सब बान्धवोंको भी शोकरूपी समुद्रमें डाल दिया है। उसने अपनी स्त्रीको भी विधवा बना दिया तथा अपनेको भी नरकोंमें डाला। अपने कोमल शरीरको पृथिवीपर डाला और अपने पुण्यकर्मको भी पापरूप अग्निमें जला दिया, इस-लिये ब्रह्मवेत्ताके साथ द्वेष करनेसे शाकल्यके दोनों लोक भ्रष्ट हुए। इसी प्रकार यदि कोई अन्य ब्रह्म-वेत्ताके साथ द्वेष करेगा, तो वह दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होगा।

इस प्रकारके वचनोंसे जनक, गार्गी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सब याज्ञवल्क्यकी स्तुति और शाकल्यकी निन्दा करने लगे। पश्चात् शाकल्य-के शिष्योंने उसके शरीरको ले जाकर संस्कारसे रहित लौकिक अग्निमें जलाया, पश्चात् श्रद्धावान् शिष्य शाकल्यकी अस्थियोंको वस्त्रमें बाँधकर घर ले जाने लगे। मार्गमें चाण्डाल जातिवाले निर्दय चोरोंने वस्त्रमें हड्डियाँ देखकर ऐसी कल्पना करके कि जनकके यज्ञमेंसे ये ब्राह्मण सुवर्ण लाये हैं, धनके लोभसे शिष्योंको मार डाला और वस्त्रसहित हड्डियोंको वे अपने घर ले गये। शाकल्यके मरनेके बाद सभामें बहुत देरतक हाहाकार शब्द होता रहा। जब हाहाकार निवृत्त हो गया तब याज्ञवल्क्य सबसे इस प्रकार कहने लगे—

याज्ञवल्क्य—हे सब ब्राह्मणो! आप सब विद्वान् ब्राह्मण कुरु, पाञ्चाल आदि अनेक देशोंसे आकर इस सभामें एकत्र हुए हैं, आप सब मेरा एक वचन सुनिये। आप सब ब्राह्मणोंमेंसे जिस किसीको प्रश्न करनेकी इच्छा हो, वह मुझसे निःशंक होकर प्रश्न करें, अथवा जो ब्राह्मण मेरे प्रश्न-का उत्तर देना चाहते हों, उनसे मैं प्रश्न करूँ। यदि कोई भी एक ब्राह्मण प्रश्न करने और उत्तर देनेमें समर्थ न हो, तो आप सब मिलकर मुझसे प्रश्न करें अथवा सब ब्राह्मणोंसे मैं प्रश्न करूँ। इन दोनों बातोंमेंसे जो बात आपको अच्छी लगे, वह कीजिये।

इस प्रकारके वचन जब याज्ञवल्क्यने ब्राह्मणों-से कहे तो कोई भी ब्राह्मण याज्ञवल्क्यसे प्रश्न करने-में अथवा याज्ञवल्क्यके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हुआ; बल्कि शाकल्यकी मृत्यु देखकर सब भयभीत होकर मौनको प्राप्त हो गये। पश्चात् याज्ञ-वल्क्य अपनी विद्याकी उत्कृष्टता बोधन करनेके लिये आप ही सब ब्राह्मणोंसे प्रश्न करने लगे।

मनुष्य तथा पीपलमें समानता

जैसे लोकमें पुष्प विना फलको ग्रहण करने-वाले पीपलादि वृक्ष मिथ्या प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार मनुष्यादि शरीर भी मिथ्या प्रतीत होते हैं। जैसे पीपलके वृक्षके अनेक पत्ते होते हैं, इसी प्रकार मनुष्यशरीरमें अनेक रोम हैं। जैसे पीपलके वृक्ष-की बाह्य त्वचा कठिन होती है, इसी प्रकार मनुष्य-शरीरकी बाह्य त्वचा कठिन है। जैसे कुल्हाड़ेसे काटनेसे पीपलवृक्षमेंसे रस निकलता है तथा श्वेत वस्त्रके समान त्वचाका नीचेका भाग निकलता है, इसी प्रकार शस्त्रसे काटनेसे मनुष्य-शरीरमेंसे भी रुधिर निकलता है और श्वेत वस्त्रके समान त्वचाका नीचेका भाग निकलता है। जैसे कुल्हाड़ीसे छेद करने-से पीपलवृक्षमेंसे काष्ठमय टुकड़ा निकलता है, इसी प्रकार शस्त्रसे छेदन करनेसे शरीरमेंसे भी मांसमय टुकड़ा बाहर निकलता है। जैसे पीपलके वृक्षमें

रही हुई नाड़ियाँ मिलकर गाँठें करती हैं, इसी प्रकार मनुष्य-शरीरमें भी अनेक सूक्ष्म नाड़ियाँ मिलकर मस्तक आदि अंगोंमें गाँठें करती हैं, जैसे पीपल-वृक्षमें कठिन सार भाग होता है, इसी प्रकार मनुष्य-शरीरमें हड्डियाँ कठिन होती हैं, जैसे पीपल-वृक्षके कठिन सार भागमें रस होता है इसी प्रकार मनुष्य-शरीरकी हड्डियोंमें मज्जारूपी रस होता है। इसलिये मनुष्य-शरीरमें तथा पीपलके वृक्षमें सर्वथा समानता प्रतीत होती है। किन्तु मनुष्य-शरीरमें पीपलके वृक्षसे एक विशेषता देखनेमें आती है, उस विशेषताको मैं कहता हूँ, सुनो। जैसे कुल्हाड़ीसे काटा हुआ पीपल फिर मूलमेंसे नवीन उत्पन्न हो आता है यह बात सब लोगोंके अनुभव-सिद्ध है, इसी प्रकार नाशको प्राप्त हुआ मनुष्य-शरीर जिस मूलमेंसे नया उत्पन्न हो आता है, वह मूल प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आता। किन्तु मूल बिना शरीरकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसलिये शरीरका भी कोई मूल होना चाहिये। इस मूलको आप सब ब्राह्मण बताइये। यदि आप पिताके वीर्य तथा माताके रक्तको शरीरका मूल कहें, तो आपका यह कहना नहीं बनता क्योंकि प्राणको धारण करनेवाले देहधारी जीवके अन्नादि भक्षणसे वीर्यकी उत्पत्ति होती है, और मेरे पूछनेका अभिप्राय यह है कि जब सुषुप्ति-अवस्थामें तथा प्रलय-अवस्थामें सब कार्य-प्रपञ्चका नाश हो जाता है, उसके पीछे किस मूल कारणमेंसे नया देह उत्पन्न होता है, और माता-पिताका शरीर प्रलयकालमें होता नहीं, इसलिये देहका मूल कारण वीर्य नहीं है। यदि आप कहें कि जैसे पीपलका वृक्ष अपने मूल बिना अन्य वृक्षपर नवीन होकर उत्पन्न होता है, इसी प्रकार यह शरीर भी मूल बिना नवीन होकर उत्पन्न होगा, तो यह आपका कहना सम्भव नहीं है क्योंकि अन्य वृक्षके ऊपर जो पीपलका वृक्ष उत्पन्न होता है, वह अपने मूलमेंसे उत्पन्न नहीं होता किन्तु वृक्षके ऊपर पीपलके बीजको पक्षी ले जाता है, उस बीजमेंसे वहाँ पीपलका वृक्ष उत्पन्न होता है, बीज बिना अन्य वृक्षपर पीपलका वृक्ष उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार इस शरीरके मूलरूप कारणका अभाव होनेपर बीजरूप कारण आपको कहना चाहिये। इस बीजके समान शरीरके बीजका क्या कारण है, वह मुझसे कहें। यदि आप ऐसा कहें कि शरीरादि प्रपञ्चके मूलरूप कारणका तथा बीजरूप कारण-का निश्चय करनेसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती, तो आपका यह कहना भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे जिस पुरुषको वृक्षके नाश करनेकी इच्छा होती है, वह पुरुष वृक्षके मूलका कुल्हाड़ीसे छेदन करता है और वृक्षके बीजको अग्निमें जला देता है, इन दो उपायोंसे वृक्षका नाश हो जाता है। इसी प्रकार अधिकारी पुरुषको जब शरीरादि प्रपञ्चके मूलका तथा बीजका ज्ञान होता है, तब वह अधिकारी असङ्ग बुद्धिरूपी शस्त्रसे तथा ज्ञानरूपी अग्निसे मूल तथा बीज-का नाश करता है। मूलादिके ज्ञान बिना उसका नाश करना सम्भव नहीं है, इसलिये देहादि प्रपञ्चके मूलरूप कारणको तथा बीजरूप कारणको अवश्य जानना चाहिये। यदि आप कहें कि जो पदार्थ एक बार उत्पन्न होता है, वह पदार्थ दूसरी बार उत्पन्न नहीं होता किन्तु स्वभावरूप कारणमेंसे अपूर्व पदार्थ ही उत्पन्न होता है, इसलिये मूलका विचार करनेसे कुछ प्रयोजन नहीं है तो आपका यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि एक बार उत्पन्न हुए पदार्थकी फिर उत्पत्ति नहीं मानेंगे, तो किये हुए पुण्यपापरूप कर्मका बिना भोग नाश होगा, और नहीं किये हुए पुण्यपापरूप कर्म-का सुखदुःखरूप फल भोगना पड़ेगा, इन कृतनाश तथा अकृताभ्यागमरूप दो दोषोंकी प्राप्ति होगी और पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थकी फिर उत्पत्ति माननेमें ये दो प्रकारके दोष प्राप्त नहीं होते क्योंकि पूर्व-

जन्ममें जीव जो कुछ पुण्यपापरूप कर्म करता है, उस पुण्यपापरूप कर्मका फल सुखदुःख इस जन्ममें भोगता है और इस जन्ममें जीव जो पुण्यपापरूप कर्म करता है, उस कर्मका फल जन्मान्तरमें भोगेगा, इसलिये पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थमें ही पुण्यपापरूप अदृष्ट रहता है। जो पदार्थ नृश्रृङ्गके समान कभी उत्पन्न नहीं होता, उस पदार्थमें पुण्यपापरूप अदृष्ट सम्भव नहीं है। जो पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थकी फिर उत्पत्ति न मानें तो माताके गर्भमेंसे निकला हुआ बालक उसी समय स्तनका पान करनेमें प्रवृत्त होता है, यह न होना चाहिये, क्योंकि यह पदार्थ मेरे सुख-का कारण है, इस प्रकारकी सुखकी साधनताका ज्ञान जीवकी प्रवृत्तिमें कारणरूप है, सुखसाधनताके ज्ञान बिना किसी जीवकी प्रवृत्ति नहीं होती। जन्म-कालमें 'यह स्तनपान मेरे सुखका साधन है' इस प्रकारका ज्ञान बालकको न हो तो स्तनपानमें उस-की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, परन्तु उत्पन्न हुए पदार्थकी फिर उत्पत्ति मानें, तो इस दूषणकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि जन्मकालमें जीवको यद्यपि स्तनपान मेरे सुखका साधन है, इस प्रकारका ज्ञान अनुभवरूपसे नहीं है तो भी पूर्वके अनन्त जन्मोंमें यह जीव स्तनपानके सुखकी साधनताका अनुभव करता आया है, इस अनुभव-जन्य संस्कारसे जीवको जन्मकालमें यह स्मृतिज्ञान होता है कि यह स्तनपान मेरे सुखका साधन है। बालककी इस स्तनपानकी प्रवृत्तिसे ऐसा सिद्ध होता है कि उत्पन्न हुए पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है, अपूर्व पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि आप कहें कि जैसे बीजमेंसे अंकुर होता है और अंकुरमें-से फिर बीज होता है, इसी प्रकार पुण्यपापरूप अदृष्टमेंसे यह शरीर होता है। इस शरीरमेंसे फिर पुण्यपापरूप अदृष्ट होता है। इसलिये दूसरे किसी कारणका विचार करना निष्फल है तो आपका यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि जैसे बीजमें तथा अंकुरमें पृथिवीरूप कारण अनुगत हुआ प्रतीत होता है, इसी प्रकार पुण्यपापरूप अदृष्टमें तथा शरीरमें कोई अनुगत कारण प्रतीत नहीं होता। इसलिये बीजाङ्कुररूप विषम दृष्टान्तसे अदृष्ट शरीरका कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता। जैसे बीजमें तथा अङ्कुरमें पृथिवीरूप मूलकारण अनुगत है, इसी प्रकार पुण्यपापरूप अदृष्टमें तथा शरीरमें भी कोई मूलकारण अनुगत होगा, यह मूलभूत कारण यद्यपि प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता तो भी वेदरूप अलौकिक प्रमाणसे सिद्ध है, इसलिये पुण्यपापरूप अदृष्टके तथा शरीरादि प्रपञ्चके उपादान कारणका स्वरूप आप मुझसे कहिये।

इस प्रकारका प्रश्न जब याज्ञवल्क्यने सब ब्राह्मणोंसे किया तो सब ब्राह्मण जगत्‌के कारणको न जाननेसे पराभवको प्राप्त हुए। पश्चात् याज्ञवल्क्य मुमुक्षुओंके हितके लिये आप ही उस प्रश्नका उत्तर देने लगे।

जगत्‌के कारण परमात्माके लक्षण

याज्ञवल्क्य–स्थूल–सूक्ष्मरूप जड-प्रपञ्चका विज्ञान-आनन्दरूप परमात्मा ही कारण है। यह परमात्मा सुवर्णादि पदार्थोंके दान करनेवाले पुरुषोंको सुखरूप फलकी प्राप्ति करता है और ब्रह्महत्यादि पाप-कर्म करनेवाले पुरुषोंको दुःखकी प्राप्ति करता है, भाव यह है कि परमात्माके लक्षण दो प्रकारके हैं। एक स्वरूपलक्षण और दूसरे तटस्थलक्षण। जो लक्षण अपने लक्ष्यका स्वरूप होकर अन्य पदार्थसे अपने लक्ष्यकी व्यावृत्ति भिन्नता करे, उसको स्वरूपलक्षण कहते हैं, जैसे कि विज्ञान तथा आनन्द ब्रह्मका स्वरूप होनेसे जड-प्रपञ्चमेंसे ब्रह्मकी व्यावृत्ति करते हैं। इसलिये विज्ञान तथा आनन्द ब्रह्मके स्वरूपलक्षण हैं। जो लक्षण अपने लक्ष्य अर्थमें सर्वदा न रहकर किसी समय रहे

और किसी समय न रहे, और अपने लक्ष्य अर्थको अन्य पदार्थोंसे भिन्न करके बतावे, उसको तटस्थ-लक्षण कहते हैं। जैसे सुखदुःखफलका दातापना ब्रह्ममें सर्वदा नहीं रहता किन्तु जगत्‌की स्थिति-कालमें ही रहता है और आकाशादि जड पदार्थोंसे लक्ष्यरूप ब्रह्मको भिन्न करके बताता है। इसलिये सुखदुःखरूप फलका दातापना ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। इस प्रकारके जगत्‌के मूल कारणका निरूपण मैं आपसे आगे करता हूँ।

वृक्षरूप दृष्टान्तकी समानता

हे ब्राह्मणो ! जैसे वृक्षका नाश होनेपर भी फिर वृक्षकी उत्पत्तिमें बीज कारण होता है इसी प्रकार जीवके स्थूलशरीरके नाश होनेपर फिर स्थूलशरीरकी उत्पत्तिमें सूक्ष्मशरीर कारण है। जैसे बीजका नाश होनेपर केवल पृथिवी रह जाती है, इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था तथा प्रलय-कालमें सूक्ष्मशरीरका लय होनेपर केवल अज्ञान रह जाता है।

ब्राह्मण–हे याज्ञवल्क्य ! जब अज्ञानसे तथा सूक्ष्मशरीरसे ही सब जगत्‌की उत्पत्ति हो सकती है, तो ब्रह्मके माननेकी क्या आवश्यकता है ?

याज्ञवल्क्य–हे ब्राह्मणो ! जैसे वृक्षकी उत्पत्तिमें बीजको अदृष्टरूप निमित्त कारणकी अपेक्षा है, इसी प्रकार सूक्ष्मशरीरको स्थूलशरीरकी उत्पत्ति-में परमात्माकी अपेक्षा है। चैतन्यरूप परमात्माकी सत्ता बिना जड सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। इसलिये परमात्माको अवश्य मानना चाहिये। पृथिवीमें रहे हुए बीजका अङ्कुर-रूप कार्यद्वारा ज्ञान होता है। पृथिवीमें संस्कार-रूपसे बीजकी स्थिति अङ्कुररूप कार्यके द्वारा बीजके ज्ञानमें कारण है क्योंकि यदि संस्काररूपसे बीज पृथिवीमें न हो तो अङ्कुररूप कार्यद्वारा उस बीजको ज्ञान न होना चाहिये। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें तथा प्रलयकालमें रहा हुआ अज्ञान सृष्टिकालमें सूक्ष्मशरीराकार परिणामको प्राप्त होता है; इसलिये अज्ञानमें रहे हुए सूक्ष्मशरीरके संस्कार सूक्ष्मशरीरकी उत्पत्तिके कारण हैं क्योंकि यदि प्रलयकालमें सूक्ष्मशरीरके संस्कार अज्ञानमें न हों तो सृष्टिकालमें अज्ञानसे सूक्ष्मशरीरकी उत्पत्ति न होनी चाहिये। इसलिये प्रलयकालमें सूक्ष्म शरीरके संस्कार अज्ञानमें रहते हैं, ये संस्कार अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे सर्वज्ञ परमात्माके सिवा किसी अन्यसे जाने नहीं जा सकते, अतएव सूक्ष्म संस्कारोंको जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्माको अवश्य मानना चाहिये। जैसे अमूर्त आकाशमें मूर्तरूप पृथिवी रहती है, इसी प्रकार विज्ञानरूप परमात्मामें जड अज्ञान रहता है। चैतन्यरूप परमात्माके सिवा अन्य किसी पदार्थमें अज्ञान नहीं रहता क्योंकि चैतन्य परमात्माके सिवा अन्य सब जड पदार्थ अज्ञानके कार्य हैं, अतः उन जड पदार्थोंमें अज्ञान नहीं रह सकता। अज्ञान अपने आश्रय रहे हुए पदार्थोंको अन्धकारके समान आवरण करता है। यह अज्ञानका स्वभाव है, और आकाशादि जड पदार्थ स्वभावसे ही आवरणरूप होनेसे अज्ञानकृत आवरण जड पदार्थोंमें सम्भव नहीं है। इसलिये जड पदार्थोंमें अज्ञान नहीं रहता। जो मनुष्य आकाशादि जड पदार्थोंके आश्रय रहा हुआ अज्ञान मानते हैं उनसे पूछना चाहिये कि जब आकाशादि जड पदार्थ उत्पन्न हुए नहीं होते तब वह अज्ञान क्या आश्रय बिना रहता है अथवा किसी दूसरेके आश्रय रहता है ? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम निराश्रय पक्ष मानना सम्भव नहीं है क्योंकि 'अज्ञान' इस प्रकारके शब्दके श्रवणसे लोग ऐसा पूछेंगे कि किस वस्तुका अज्ञान है और किसमें अज्ञान है। इस प्रकारके लोगोंके अनुभवसे अज्ञानमें आश्रयकी तथा विषयकी अवश्य अपेक्षा रहती है, इसलिये आश्रय बिना अज्ञान नहीं रहता, यह सिद्ध हुआ। आकाशादि जड

पदार्थोंकी उत्पत्तिसे पूर्व किसी दूसरेके आश्रय अज्ञान रहता है, यह दूसरा पक्ष जो कोई माने, उससे पूछना चाहिये कि वह दूसरा जीव है, ईश्वर है अथवा शुद्ध परमात्मा है ? इनमेंसे जीव अथवा ईश्वरमें अज्ञानकी आश्रयता सम्भव नहीं है क्योंकि अज्ञानविशिष्ट चैतन्यका नाम जीव एवं ईश्वर है। इन जीव-ईश्वरमें यदि अज्ञानकी आश्रयता मानें तो अज्ञानमें अज्ञानकी आश्रयतारूप आत्माश्रय-दोषकी प्राप्ति होती है, इसलिये जीव-ईश्वरके आश्रित अज्ञान नहीं रहता किन्तु शुद्ध परमात्माके आश्रित अज्ञान रहता है। यह वेदान्त-मतका सिद्धान्त है। जैसे इस लोकमें निर्धन पुरुष धनवाले पुरुषका आश्रय करता है, इसी प्रकार दुःखरूप अज्ञान विज्ञान-आनन्दरूप आत्माका आश्रय करता है।

विज्ञान-आनन्दका अभेद

विज्ञान आनन्दरूप है। इस लोकमें भी विज्ञान-से भिन्न आनन्द देखनेमें नहीं आता क्योंकि 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकारके ज्ञान विना आनन्दकी सिद्धि नहीं होती।

ब्राह्मण—हे याज्ञवल्क्य ! जैसे 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकारके ज्ञान विना सुखकी सिद्धि नहीं होती, इसलिये सुख विज्ञानरूप है। इसी प्रकार 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकारके ज्ञान बिना दुःखकी भी सिद्धि नहीं होती, इसलिये दुःख भी विज्ञानरूप होना चाहिये।

याज्ञवल्क्य—हे ब्राह्मणो ! सुख विज्ञानरूप है, इसमें केवल लोकप्रसिद्धि ही प्रमाण नहीं है किन्तु 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुति भी प्रमाणरूप है। इस प्रकार दुःखकी विज्ञानरूपतामें श्रुति तथा प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है, इसलिये दुःख विज्ञानरूप नहीं है।

ब्राह्मण—हे याज्ञवल्क्य ! शास्त्रोंमें अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिरूप योग तथा प्राप्त वस्तुका रक्षणरूप क्षेम इन दोनों रूपोंसे सुखदुःखकी समानता कही है, इसलिये यदि सुखको विज्ञानरूप मानेंगे तो दुःख-को भी विज्ञानरूप मानना चाहिये। यदि सुखको ही विज्ञानरूप मानें और दुःखको विज्ञानरूप न मानें तो सब शास्त्रोंमें कही हुई सुखदुःखकी समान योगक्षेमता असङ्गत हो जायगी।

याज्ञवल्क्य—हे ब्राह्मणो ! यद्यपि शास्त्रोंमें सुख-दुःखकी समानता कही है तो भी सुखदुःखमें इस प्रकारकी विलक्षणता सब लोगोंके अनुभवसिद्ध है कि सब लोग 'हमको सुख हो' इस प्रकार आत्मसम्बन्धी सुखकी इच्छा करते हैं और 'दुःख हमको कभी न हो' इस प्रकार दुःखमें सब द्वेषबुद्धि करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'हमको यह पदार्थ सर्वदा प्राप्त रहे' इस प्रकारकी इच्छाका विषय जो पदार्थ होता है, वह पदार्थ अनुकूल होता है और वह स्वशब्दसे प्रतिपादन करनेयोग्य होता है। और 'हमको यह पदार्थ कभी प्राप्त न हो' इस प्रकारकी इच्छाका विषय जो पदार्थ होता है, वह पदार्थ प्रतिकूल होता है और वह स्वशब्दसे प्रतिपादन करने योग्य नहीं होता। इन दोनोंमेंसे 'हमको सर्वदा सुख हो' इस प्रकारकी इच्छा सब जीवोंको होती है, इस इच्छामें 'सर्वदा सुख हो' इतने अंशसे सुखमें अनुकूलता प्रतीत होती है और 'हमको' इतने अंशसे सुखमें स्वशब्दकी प्रतिपाद्यता प्रतीत होती है, इसलिये सुखका लक्षण यह है कि जो सर्वदा अनुकूल हो तथा स्वशब्दसे प्रतिपाद्य हो, उसका नाम सुख है। और 'हमको कभी दुःख न हो' इस प्रकारकी इच्छा भी सब जीवोंको होती है, इसलिये दुःखका लक्षण यह है कि जो सब जीवोंको प्रतिकूल हो और स्वशब्द-से अप्रतिपाद्य हो, वह दुःख है। इसमें जो अनुकूल हो, उसको ही सुख कहते हैं। यदि इतना ही सुख-

का लक्षण कहें, तो वैरी पुरुषका सुख भी सुख-रूपसे अनुकूल है, इसलिये वैरीका सुख भी अन्यको सुखरूप होना चाहिये। परन्तु वैरीका सुख किसी-को सुखरूप प्रतीत नहीं होता, इसलिये स्वशब्दसे प्रतिपाद्य कहा है। 'जो स्वशब्दसे प्रतिपाद्य हो, उसको सुख कहते हैं' यदि इतना ही सुखका लक्षण मानें तो 'यह मेरा शत्रु है, यह मेरा दुःख है' इस प्रकारकी प्रतीति सब जीवोंको होती है। इस वाक्यमें स्वशब्दसे वैरीमें तथा दुःखमें प्रति-पाद्यपना प्रतीत होता है, इसलिये वैरी तथा दुःख सुखरूप होने चाहिये, अतएव अनुकूल सुखका लक्षण कहा है। वैरीमें तथा दुःखमें किसीको अनुकूलताका ज्ञान नहीं होता इस प्रकार अनुकूल और स्वशब्दसे प्रतिपाद्य होना यह सुखका लक्षण है।

ब्राह्मण—हे याज्ञवल्क्य! जो अनुकूल हो तथा स्वशब्दसे प्रतिपाद्य हो, उसको सुख कहते हैं। इस प्रकारके सुखके लक्षणमें स्वशब्दका अर्थ आत्माका सम्बन्धी लेना चाहिये अथवा आत्माको ही लेना चाहिये? इन दोनोंमेंसे यदि आत्माका सम्बन्धी स्वशब्दका अर्थ मानें तो आत्माके सम्बन्धी शरीरादि आत्मा नहीं हैं, इसलिये आत्म-सम्बन्धी सुख आत्मरूप न होना चाहिये और यदि स्वशब्दका अर्थ आत्मा मानें तो 'मुझे सुख हो' इस प्रतीतिमें सुखका तथा आत्माका जो भेद प्रतीत होता है, वह न होना चाहिये किन्तु 'मैं सुखरूप हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये।

याज्ञवल्क्य—हे ब्राह्मणो! सुखके लक्षणमें स्वशब्द-का आत्मसम्बन्धी अर्थ नहीं है किन्तु आत्मा ही स्वशब्दका अर्थ है। इसलिये सुख आत्मारूप है। जैसे लोकमें मनुष्य आप अपना उपकार करता है, इस प्रकारका शब्द बोलनेमें आता है, तब शब्दोंसे यद्यपि अपनेमें अपना भेद प्रतीत होता है तो भी अपनेमें भेद नहीं है, इसलिये वह प्रतीति भ्रमरूप है। इसी प्रकार श्रुतिके प्रमाणसे सुख तथा आत्माको अभेदकी सिद्धि होनेपर भी 'मुझे सुख हो' इस प्रकारके शब्दसे सुख तथा आत्माके भेद-की जो प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिरूप है। इसलिये भ्रान्तिज्ञानसे सुख तथा आत्माका भेद सिद्ध नहीं होता। सुख तथा आत्माका परस्पर सम्बन्ध नित्यरूप है। क्योंकि यदि सुख तथा आत्माका सम्बन्ध अनित्य मानें, तो जो पदार्थ अनित्य होता है, वह किसी कालमें होता है और किसी कालमें नहीं होता। जैसे घटादि पदार्थ किसी कालमें होते हैं और किसी कालमें नहीं होते, इसी प्रकार सुख तथा आत्माका सम्बन्ध भी जिस समय न हो, उस समय आत्मा सुखसे भिन्न हो। जो सुखसे भिन्न होता है, वह दुःखके समान प्रतिकूल होता है, इसलिये आत्मा-में भी प्रतिकूलता होनी चाहिये, किन्तु किसी कालमें किसी जीवको अपने आत्मामें प्रतिकूलता नहीं होती, सब जीवोंको अपने आत्मामें सर्वदा अनुकूलता ही होती है, इसलिये सुख तथा आत्मा-का नित्य सम्बन्ध है।

ब्राह्मण—हे याज्ञवल्क्य! समवाय सम्बन्धको ही नैयायिक नित्य सम्बन्ध मानते हैं, तथा गुण और द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध रहता है, इसलिये सुखरूप गुण भी आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहता है। जिनका समवाय सम्बन्ध होता है, उनका परस्पर भेद होता है, इसलिये सुख तथा आत्माका भेद सिद्ध होता है।

याज्ञवल्क्य—हे ब्राह्मणो! सुख तथा आत्माका परस्पर समवाय सम्बन्ध नहीं है। किन्तु कल्पित भेदवाला वास्तव अभेदरूप तादात्म्य-सम्बन्ध सुख तथा आत्माका नित्य सम्बन्धरूप है। क्योंकि 'नेति-नेति' यह श्रुति आत्मासे भिन्न सर्व जगत्का निषेध करती है। इसलिये सुख और आत्मा अभिन्न हैं। जैसे सुख आत्मासे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार विज्ञान भी आत्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि यदि

विज्ञानको आत्मासे भिन्न मानें तो जैसे बुद्धिकी वृत्तिरूप गौण ज्ञान आत्मासे भिन्न होनेसे जडरूप है, इसी प्रकार आत्मासे भिन्न हुआ विज्ञान भी जड हो जायगा। जो जड होता है, वह अपनी सिद्धिके लिये अन्य ज्ञानकी अपेक्षा रखता है, जैसे घटादि जड पदार्थ अपनी सिद्धिके लिये अन्य ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं, इसी प्रकार जड विज्ञान भी अपनी सिद्धिके लिये किसी अन्य विज्ञानकी अपेक्षा करेगा। दूसरा विज्ञान अपनी सिद्धिके लिये तीसरे विज्ञानकी अपेक्षा करेगा। इस प्रकार विज्ञानको अनवस्थादोषकी प्राप्ति होगी। जो अपनी सिद्धिके लिये अन्य विज्ञानकी अपेक्षा करे, वह विज्ञानरूप न हो। जैसे घटादि पदार्थ अपनी सिद्धिके लिये अन्य विज्ञानकी अपेक्षा करते हैं, इसलिये घटादि विज्ञानरूप नहीं हैं, इसी प्रकार यदि विज्ञान भी अपने प्रकाशके लिये अन्य विज्ञानकी अपेक्षा करे तो विज्ञान भी घटादिके समान अविज्ञानरूप हो जाय। विज्ञानको अविज्ञानरूप कहना अत्यन्त विरुद्ध है, इसलिये सुखके समान विज्ञान भी स्वप्रकाश आत्मारूप है। सब जगत्में मिथ्यात्व बोधन करनेके लिये श्रुति विज्ञान तथा आनन्दरूप आत्माको ब्रह्मरूप कहती है, भाव यह है कि देश, काल, वस्तु इन तीनों परिच्छेदसे रहित महान् अर्थका ब्रह्म शब्द बोध कराता है। यदि प्रपञ्चको सत्यरूप मानें तो ब्रह्ममें वस्तु-परिच्छेदकी प्राप्ति होती है इसलिये ब्रह्म शब्द आत्मासे भिन्न सब जगत्में मिथ्यात्वका बोध करता है। जैसे एक ही आकाशमें घट-मठादि उपाधियोंसे अनेक प्रकारका भेद प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक ही अद्वितीय आत्मामें अज्ञानादि उपाधियोंसे अनेक प्रकारका भेद प्रतीत होता है इसलिये ब्रह्ममें सजातीय भेद नहीं है। जैसे कि मायावी अपनी मायासे आकाशमें मायामय शरीर उत्पन्न करता है। जब ये शरीररूप उपाधियाँ होती हैं तब मायावीका आकाश आदिमें जो भेद प्रतीत होता है, तथा आकाश आदिका मायावी पुरुषमें जो भेद प्रतीत होता है, वह भेद उपाधियाँ मिथ्या होनेसे मिथ्या हैं। इसी प्रकार अज्ञानादि उपाधियाँ मिथ्या होनेसे अज्ञानादिका किया हुआ ब्रह्ममें अनेक प्रकारका भेद भी मिथ्या है। इसलिये ब्रह्म विजातीय भेदसे रहित है। इस विज्ञानरूप ब्रह्मका स्वरूप मैंने आपसे कहा। यह शुद्ध ब्रह्म जगत्का कारणरूप नहीं है, किन्तु मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत्का कारण है। इस अभिप्रायसे श्रुतिने पुण्य तथा पापके फलके देनेवालेको जगत्का कारण-रूप कहा है, और मायामें जगत्की कारणताका बोध करानेको मायाविशिष्ट परमात्मामें जगत्की कारणता पूर्वमें कही है, किन्तु इस अर्थमें अनुपपत्ति-रूप दोषकी प्राप्ति होती है क्योंकि चैतन्यकी सत्ता बिना जड माया अपनी ही स्थिति करनेमें समर्थ नहीं है, तो फिर सब जगत्का निर्वाह करनेको यह जड माया कैसे समर्थ होगी? इस प्रकारकी अनुपपत्तिके विचारसे वेद भगवान् केवल शुद्ध ब्रह्मको ही सर्व जगत्का अधिष्ठानरूप कहते हैं। यह ब्रह्म केवल जड अज्ञानका ही अधिष्ठान नहीं है किन्तु ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे जिस पुरुषको 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' ऐसा अभेद ज्ञान हुआ है, उस विद्वान्-का शुद्ध ब्रह्म चरम स्थान है।

देवी—हे डोरूशंकर! मायाविशिष्ट ब्रह्म पुण्य तथा पापका फल देनेवाला है तथा मायासे रहित हुए ब्रह्मज्ञानी पुरुषका जो आत्मा है वही ब्रह्म जगत्का उपादानकारण है। इस अभिप्रायसे याज्ञवल्क्यने सब ब्राह्मणोंसे जगत्का कारण पूछा किन्तु सब ब्राह्मण जगत्के कारणको जानते नहीं थे। यह कारणरूप ब्रह्म अधिकारियोंने वेदके वचनसे श्रवण किया है। इस प्रकार सूर्यभगवान्के शिष्य याज्ञवल्क्यने गौओंको घर ले जानेरूप निमित्तसे सब ब्राह्मणोंको पराजित किया। शाकल्यने ब्रह्मवेत्तासे द्वेष किया, इसलिये वह भस्म हुआ। जो ब्रह्मविद्या सूर्यभगवान्ने याज्ञवल्क्यसे कही थी और जो याज्ञवल्क्यने सब ब्राह्मणोंसे पूछी थी, वही ब्रह्मविद्या याज्ञवल्क्यने जनक राजासे कही थी।

तीसरा अध्याय समाप्त (क्रमशः)

गोस्वामी तुलसीदासजीका एक अपूर्व दोहा

(छः महीनेका अनुष्ठान)

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीके 'रामचरितमानस' (रामायण) और विनयपत्रिका ये दो अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त भी उनके छोटे-छोटे बहुत-से ग्रन्थ हैं। उनमें दोहावली भी एक परम चामत्कारिक ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर ५७३ दोहे हैं। बहुत-से दोहे श्रीरामचरितमानस तथा सतसईके भी हैं। जैसे अन्य ग्रन्थोंमें गोस्वामीजीने श्रीनाममहिमाके वर्णनमें हद कर दी है उसी प्रकार इस ग्रन्थमें भी नाममहिमा-वर्णनमें पराकाष्ठा कर दी है। इसमें आपने श्रीराम-नामजपका एक आनुष्ठानिक प्रयोग बताया है। दोहावलीका पाँचवाँ दोहा है—

पय अहार फल खाइ जपु, राम नाम षटमास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब, करतल 'तुलसीदास'॥

इस दोहेमें मुख्यतया तीन विधि हैं। एक तो पय अहार फल खाना, दूसरी रामनाम जपना, तीसरी छः महीनेतक जपना। विधि कहनेके बाद उसका फल भी कहना चाहिये। इसलिये इसका फल बताते हैं—ऐसा अनुष्ठान करनेसे सम्पूर्ण अच्छे मंगल और सब सिद्धियाँ करतल अर्थात् मुट्ठीमें आ जायँगी। अन्तमें 'तुलसीदास' पद देनेसे वे कहते हैं—'इसका साक्षी तुलसीदास है। तुलसीदास सुनी बात नहीं कहता, शास्त्रोंकी बात नहीं कहता, इसका अपना अनुभव है, तुम विश्वास कर लो।

अब तीन विधि तो स्पष्ट ही हैं, चौथी विधि गुप्त है। फलाहारका भोजन यह तो ठीक ही हुआ, रामनामका जप भी कर्तव्यकर्म रहा, अब जो छः महीनेकी अवधि बाँधी थी इससे स्पष्ट है कि छः महीनेतक सिवा रामनामके और न कुछ कहो, न बोलो और न कुछ करो। यदि भोजनके सम्बन्धमें भी कुछ न कहते, तब समझ लेते भोजन भी न करना चाहिये। किन्तु पहले ही फलाहारकी विधि बतायी है, इससे स्पष्ट है कि शरीरसम्बन्धी कार्य—मलमूत्र-त्याग, स्नान-सन्ध्या आदिके सिवा कुछ न करो। 'छः महीनेतक रामनाम जपना' ऐसी विधि करके स्पष्ट कर दिया है कि रामनामके सिवा छः महीनेतक और कुछ भी बोलना नहीं, मौन रहना। अब चार विधि हुई। फलाहार, रामके नामोंका जप, मौन और छः मासकी अवधिपर्यन्त।

फलाहारमें दो शब्द पड़े हैं 'पय-अहार' 'फल खाइ' इसके तीन अर्थ हैं या तो छः महीनेतक केवल दूध पीकर ही रहे, या केवल फल खाकर ही रहे अथवा फल-दूध दोनों ही खाकर रहे। फलाहार-व्रत चार प्रकारके माने गये हैं। एक तो केवल जल पीकर रहना। जलको कुछ लोग आहारमें सम्मिलित करते हैं कुछ नहीं करते। दूसरा केवल दूध पीकर ही रहना। तीसरा दूध-फल दोनों खाकर रहना और चौथा एक और भी प्रचलित है—सिंघाड़ेका हलुआ, कूटूकी पूड़ी, जलेबी, पेड़ा, बरफी, साबूदानेके पापड़, भाँति-भाँतिकी फलारी चटनी, अचार, रायते। यह फलाहार क्या है, एक प्रकारसे अन्नका बचाव है। उत्तम तो यही तीन हैं दूध पीकर या फल खाकर या दूध-फलपर ही रहे।

फलाहारसे कितना लाभ है, शरीर कितना हलका रहता है, मन कैसा शुद्ध रहता है, इस विषयपर बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। लोगोंने अपने अनुभव भी बताये हैं। इतना कहना यथेष्ट होगा कि परमार्थपथमें हलका भोजन, सात्त्विक पदार्थ और जल्दी पचनेवाली वस्तुएँ अत्यन्त ही सहायक हैं, और दूध-फलसे हलका, सात्त्विक और जल्दी पचनेवाला पदार्थ दुनियामें कोई भी नहीं। अतः परमार्थपथके पथिकको फलाहार बहुत ही उपयुक्त हैं।

दूसरी विधि है मौनकी। जब निरन्तर मुखसे भगवन्नामोंका जप और कीर्तन ही होता रहेगा तब उसमें बोलनेकी गुंजाइश ही कहाँ है। मौन तो अपने आप ही हो जायगा। मौनके भी तीन भेद हैं—एक तो संकेतशून्य मौन, दूसरा संकेतसहित मौन और तीसरा वाणीसे न बोलनेका मौन। संकेतशून्य तो ऐसा कि न किसीकी ओर देखना, न बोलना और न किसी भी प्रकारका संकेत—इशारा करना। किसीने दे दिया तो खा लिया, न दिया तो माँगना नहीं, उढ़ा दिया तो ओढ़ लिया नहीं तो जैसे हैं वैसे ही पड़े रहे। ऐसे मौनको या तो अत्यन्त विरक्त ही कर सकते हैं जिन्हें शरीरकी कुछ भी परवा नहीं, अथवा अत्यन्त सम्पन्न ही कर सकते हैं जिनके सुयोग्य सेवक ठीक समयपर यन्त्रकी तरह चुपचाप उनकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकते हैं। यह हम-जैसे साधारण लोगोंकी शक्तिके बाहरकी बात है।

संकेतसहित मौन उसे कहते हैं जो अत्यन्त आवश्यक कार्योंको संकेतसे समझा दिया और अपना मौन रहे। तीसरा वाणीसे न बोलनेका मौन है, जिसमें लिखकर संकेतसे तरह-तरहकी बातें कर ली जाती हैं। यह भी अच्छा है, कुछ-न-कुछ वाणीका संयम तो होता है परन्तु इसकी गणना मौनमें नहीं है। फिर निरन्तर राम-नामका जापक न तो लिख ही सकता है और न बहुत अधिक इशारे ही कर सकता है। लिखनेमें जप नहीं हो सकता और जपमें सामान्य खाने-पीनेके संकेतको छोड़कर इशारे भी नहीं हो सकते। अतः सर्वोत्तम यही है कि मुखसे निरन्तर जप-कीर्तन होता रहे। दूसरी बात जीभसे निकले ही नहीं।

तीसरी विधि है जपकी। जप तीन प्रकारका है—मानसिक, उपांशु और वाचिक। मानसिक जो मनसे किया जाय; उपांशु, जिसमें केवल ओष्ठ हिलते रहें, और वाचिक जो जरा जोरसे बोला जाय जिसे पासमें बैठा मनुष्य सुन सके। इन तीनों प्रकारके जपोंकी संख्या रखनी पड़ती है। बिना संख्याका जप निष्फल बताया गया है। किन्तु जोर-जोरसे अकेला या बहुत-से आदमियोंके साथ मिलकर जो भगवन्नामोंका उच्चारण किया जाता है उसे कीर्तन कहते हैं। उसमें संख्याकी विधि नहीं। चाहे जबतक करते रहो। कलियुगमें इसी कीर्तनकी महिमा विशेष है। अकेले-दुकेले, सबके साथ मिलकर, गाकर-बजाकर, नाचते हुए, रोते हुए, गद्गद कण्ठसे, मनसे, बे-मनसे कैसे भी नामोंका कीर्तन या जप होना चाहिये। शुक्राचार्यजीने भागवतमें कहा है—'हे प्रभो! आपके नाममें इतनी शक्ति है कि यज्ञादि कर्मोंमें, विधिमें जो भी कुछ न्यूनता रह जाती है, वह सब आपके नाम लेनेसे पूर्ण हो जाती है।' इसलिये जप-कीर्तन कैसे भी हो मुखसे भगवन्नामोंका उच्चारण होना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि गोस्वामीजीने छः महीनेकी ही अवधि क्यों बाँध दी। रामनामका जप तो जितने ही अधिक समयतक किया जाय उतना ही उत्तम है। छः महीनेमें ही 'सकल सुमंगल सिद्धि' की बात क्यों कह दी? असली बात यह है कि रामनामको तो मरते समयतक लेना चाहिये और सभी महापुरुष

अन्त समयतक निरन्तर रामनामकी रट लगाते रहे हैं। बल्कि यहाँतक कहा गया है कि अन्त समयमें रामनाम न आनेसे सद्गति ही नहीं होती। अतएव यह न समझना चाहिये कि छः महीनेतक रामनाम जपकर फिर इससे एकदम अलग ही हो जाना चाहिये। अलग हो गये तो जप करनेसे लाभ ही क्या; जप, तप, पूजा-पाठ सब अन्त समयके ही लिये किया जाता है। किन्तु जिसने छः महीनेतक निरन्तर मौनी-फलाहारी रहकर जप किया है उसकी जिह्वा कभी रामनामके रसको छोड़ ही नहीं सकती। जिसने मिश्रीका स्वाद चख लिया है और मनों मिश्री उसके सामने पड़ी है, वह फिर काले गुड़को क्यों खाने लगा। उसकी जिह्वा तो मिश्रीको छोड़कर दूसरे पदार्थकी इच्छा ही न करेगी। छः महीनेकी अवधि तो विश्वासके लिये रक्खी गयी है वह भी तीव्र वैराग्यवालोंके लिये—अत्यन्त उत्कण्ठावालोंके लिये। जिन्होंने अपना तन, मन सर्वस्व श्रीप्रभुके ही पाद-पद्मोंमें अर्पण कर दिया है, जो प्रभुको छोड़कर और कुछ सोचते या कहते ही नहीं जिनका जीवन सर्वतोभावेन उन्हींका हो लिया है उनके लिये छः महीनेका नियम नहीं है। यह तो अत्यन्त उत्सुक साधकोंके लिये विधि है।

अत्यन्त दुःखमें, अत्यन्त जिज्ञासामें और धनकी कामना होनेपर अत्यन्त गरीबीमें यह इच्छा होती है कि कोई कैसा भी उग्र साधन मिल जाय जिससे हमारी मनोकामना पूर्ण हो जाय। धनके लिये लोग कैसे-कैसे घोर यत्न करते हैं। कोयलोंकी खानमें घुस जाते हैं। ज्येष्ठ-वैशाखकी गर्मीमें दहकते हुए इञ्जनके सामने आठ-आठ घण्टे खड़े रहते हैं। एक पैसेके लिये बढ़ती हुई गङ्गा-यमुनामें डुबकी लगाते हैं, इतने कठिन-कठिन उपाय करनेपर भी पेटकी ज्वाला नहीं बुझती। यदि अर्थके ही लिये सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरण ली जाय तो अर्थ तो मिलेगा ही, भगवान् उसे अपना भी लेंगे। कामनासे, बिना कामनासे या मोक्षकी कामनासे कैसे भी भगवान्‌की शरण जानेमें कल्याण ही है। अतः दुःखकी तीव्रतामें, परमार्थकी जिज्ञासाकी तीव्रतामें या धनकी इच्छाकी तीव्रतामें सच्चे हृदयसे भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास करके जो इस प्रयोगको करेंगे, उनकी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी।

अत्यन्त आर्त, अत्यन्त जिज्ञासु और अत्यन्त अर्थार्थी ही ऐसे विधिपूर्ण अनुष्ठानोंमें प्रवृत्त होंगे। अत्यन्त ज्ञानीको क्या पड़ी है वह तो इन सबसे मुक्त है, किन्तु कभी-कभी अत्यन्त ज्ञानी भी ऐसे अनुष्ठानोंमें प्रवृत्त होते देखे गये हैं। श्रीनारदजीसे बढ़कर ज्ञानी कौन होगा। जब शौनकजीने सुना कि वे भी श्रीमद्भागवतकी सप्ताहकी विधिमें प्रवृत्त हुए तो उन्होंने आश्चर्यके साथ सूतजीसे पूछा—

लोकविग्रहयुक्तस्य नारदस्यास्थिरस्य च।
विधिश्रवे कुतः प्रीतिः संयोगः कुत्र तैः सह॥

'निरन्तर घूमने-फिरनेवाले और लोकोंके विग्रहमें निरत उन नारदजीकी ऐसे विधिविधानपूर्ण अनुष्ठानोंमें प्रीति कैसे हुई और सनकादि महर्षियोंके साथ उनका सङ्गम कैसे हुआ, इसके उत्तरमें अन्तमें सनकादि ऋषियोंने ही स्वयं नारदजीसे कहा है—

त्वयि चित्रं न मन्तव्यं भक्त्यर्थमनुवर्तिनि।
घटते कृष्णदासस्य भक्तेः स्थापनता सदा॥

'आप इतने विवेकी और भक्त होकर भी जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी जरठता दूर करनेके लिये इतने व्याकुल हो रहे हैं सो यह बात आपके लिये कुछ आश्चर्यकी नहीं है। क्योंकि सदा सब स्थानोंमें भक्तिकी स्थापना करना ही श्रीकृष्णके दासोंका मुख्य कर्तव्य है।'

इससे यही सिद्ध हुआ कि अत्यन्त ज्ञानी भक्त भी (अपने लिये नहीं तो लोककल्याणके ही निमित्त सही) ऐसे अनुष्ठानोंमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिये जबतक कैसे भी हो हृदयमें तीव्र उत्कण्ठा न होगी तबतक ऐसे कठिन अनुष्ठानोंमें प्रवृत्ति ही न होगी । तीव्र उत्कण्ठा होनेपर जो श्रद्धापूर्वक एकाग्र चित्तसे इनमें प्रवृत्त होंगे, उनकी छः महीनेमें अवश्य ही मनोकामना पूर्ण होगी, इसमें मैं साक्षी नहीं हूँ । श्रीवाल्मीकिजीके ही अवतार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी इसमें प्रमाण हैं।

अत्यन्त आर्तता, अत्यन्त जिज्ञासा और अत्यन्त अर्थार्थीपन ये तीनों बातें हमें श्रीध्रुवजीके चरित्रमें मिलती हैं। अपने भाई उत्तमको राजाकी गोदमें देखकर उनकी भी वहाँ बैठनेकी इच्छा हुई, क्योंकि उत्तमकी तरह उनके भी वे पिता थे। इसपर उनकी सौतेली माँने कहा—'बेटा ! तैंने इतने पुण्य कहाँ किये हैं जो तू इस गोदमें बैठ सके। मेरे कोखसे पैदा हुआ होता तब तू इसमें बैठनेका अधिकारी होता। जा भगवान्का भजन कर तब कहीं इसका अधिकारी होगा।'

सौतेली माताने ये बातें कुछ उपदेशकी नीयतसे बालक ध्रुवसे नहीं कही थी। उसने बच्चेका अपमान किया था। व्यंग करके यह कहा था कि तू गोदमें चढ़नेका साहस मत कर, नहीं तो दूसरा व्यवहार होगा।

राजपुत्रका इससे बढ़कर क्या अपमान होगा कि वह अपने सगे पिताकी गोदमें भी न चढ़ सके। क्षत्रियके बच्चेकी आँखोंमें खून उतर आया। कोई उसे गोलीसे मार देता तो भी उसे इतना दुःख न होता।

'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥'

अपमानजन्य दुःखके घूँटको मुखमें भरे हुए वह अपनी प्रेममयी माताके समीप आया। उसने जिज्ञासु बनकर मातासे पूछा—'क्या भगवान्की आराधनासे ही मैं राजाकी गोदमें बैठनेका अधिकारी हूँगा ?'

माताने डबडबाई आँखोंसे रोते-रोते कहा—बेटा ! तेरी सौतेली माताने जो भी कुछ कहा ठीक ही कहा। यदि अपने भाई उत्तमकी तरह तू भी राज्यासनपर बैठना चाहता है, तो विष्णुभगवान्की निष्कपट भावसे आराधना कर। एक बात और है, तू मनमें अपनी सौतेली माताके प्रति मत्सरताके भाव मत लाना। उसने किसी भी भावसे क्यों न कहा हो, बात तो उसने ठीक ही कही—

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्राऽपि यदव्यलीकम्।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥

पुत्रके जिज्ञासु होनेपर माताने सौतेली माके वचनोंका समर्थन किया। किन्तु उसने तो बुरी नीयतसे, अपमान करनेकी नीयतसे कहा था। इससे बालकको उसके प्रति क्रोध और वैर होना स्वाभाविक ही था और हुआ भी ऐसा ही। बालक रूठकर चला आया। माताने कहा—'इस उपायसे यदि तू उत्तमका-सा राज्यासन चाहता है तो जरूर मिल जायगा, किन्तु भगवान्की शरणमें जानेवालेको कपट और मत्सरता दो छोड़नी पड़ती हैं। सच्चे हृदयसे शत्रुके प्रति भी द्वेषभाव न रखकर जो जिस भावसे भगवान्की आराधना करेगा उसका वह कार्य अवश्य सिद्ध हो जायगा। इसीलिये माता फिर कहती है—

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।

अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥

'हे वत्स ! मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुष जिनके चरणकमलोंका अन्वेषण करते हैं, उन भक्तवत्सल प्रभुकी शरणमें तू जा और अपने धर्ममें स्थिर रहकर अनन्यभावसे उन श्रीहरिको मनमें धारण करके भजन कर ।'

पहले श्रीध्रुवजी आर्त थे, आर्त होनेसे माताके पास जिज्ञासु होकर आये । माताने जिज्ञासुको यथार्थ उपदेश किया । इससे पहले कभी स्वप्नमें भी उन्हें राज्य पानेकी इच्छा नहीं उठी थी । इस अपमानने और माताके उपदेशने उन्हें राज्य-प्राप्तिकी इच्छा पैदा कर दी । अब वे अर्थार्थी बनकर प्रभुकी शरणमें चले । सच्ची जिज्ञासावाले प्रभुकी शरणमें प्राप्त होनेवाले साधकको गुरु स्वयं खोज लेते हैं, उन्हें गुरुकी खोज नहीं करनी पड़ती । श्रीनारदजीने उन्हें मन्त्रोपदेश दिया ।

उन्होंने क्रोध, मत्सर छोड़कर अनन्यभावसे मधुवनमें जाकर केवल छः महीने उपासना की । बड़ा कठिन तप किया । पहला महीना तीन-तीन दिनका अन्तर देकर बेर और कैथा खाकर बिताया । दूसरे महीनेको छः-छः दिनका उपवास करके सूखे पत्ते खाकर काटा । तीसरे महीनेको नौ-नौ दिनका उपवास करके केवल जल पीकर बिताया । चौथे महीने बारह-बारह दिनका उपवास करके एक समय वायु पीकर रहे थे । बाकी समय श्वास रोककर ध्यानमें मग्न रहते थे । पाँचवें महीने प्राणको रोककर बिल्कुल खम्भेकी तरह खड़े रहे । छठे महीने प्राणोंको रोककर एक पैरके अँगूठेपर खड़े रहे ।

बस, छः महीने बाद भगवान् प्रकट हुए और उनकी मनोकामना पूर्ण की । इस लोकमें राज्य दिया और परलोकमें इतना ऊँचा पद दिया कि जिसे आजतक किसीने पाया ही नहीं । अन्तमें भगवत्-स्वरूप तो उन्हें होना ही है । सच्ची लगनसे अनन्यभावसे करनेसे छः महीनेमें उन्होंने वह पद प्राप्त कर लिया जिसे करोड़ों वर्षोंमें योगी योग, याग, जप, तपसे नहीं प्राप्त कर सकते ।

अब शंका यह होती है कि उन्होंने तो इतना घोर तप किया था, गोस्वामीजी तो केवल फलाहार करके मौनी रहकर राम-नाम जपनेको ही कहते हैं । इससे इतनी जल्दी सिद्धि कैसे होगी ? सो इसका उत्तर यही है, कि यह सत्ययुगकी बात थी । सत्ययुगमें ध्यान ही प्रधान था । इस कलियुगमें तो केवल श्रीकृष्ण-कीर्तनसे ही वह सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं जो पहले तप, योग और ध्यानसे प्राप्त होती थीं । तभी तो भगवान् व्यासदेव स्थान-स्थानपर पुकार-पुकारकर कह रहे हैं—

यत् फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।
तत् फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात् ॥

इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा ? यदि तुम सच्चे हृदयसे प्रभुको पाना चाहते हो, यदि श्रीकृष्ण-दर्शनकी तुम्हें सचमुच जिज्ञासा है, यदि इस संसारको सचमुच तुम दुःखमय समझते हो, यदि प्राण-प्यारे प्रभुकी प्राप्तिके लिये सचमुच तुम्हारे प्राण तड़प रहे हैं, यदि तुम भगवान् श्रीरामको इन चर्मचक्षुओंसे देखनेके लिये लालायित हो, तो गोस्वामी तुलसीदासजीके वचनोंपर विश्वास करो । छः महीने क्या बात है ? किसीसे झगड़ा हो गया, छः महीने जेल ही चले गये । तब कौन काम सँभालता है । बीमार ही पड़ गये, वर्षों वैद्य-डाक्टरोंको घरकी पूँजी लुटानी पड़ती है । इसमें तुम्हारा बिगड़ता ही क्या है । कोई खर्च नहीं, कुछ देना नहीं । राम-

नाम जपो और छः महीने जगत्‌की ओरसे आँख मींच लो। कैसे नहीं 'सकल सुमंगल सिद्धि' तुम्हारे करतल आवेंगी।

समय बड़ा खराब है, एकान्तमें भजन-साधन और भी कठिन है; निद्रा, तन्द्रा, आलस्य और भाँति-भाँतिके विघ्न एकान्तमें आते हैं। यदि सच्ची लगन-वाले, भगवान्‌को चाहनेवाले उत्साही और प्रेमी दस-पाँच भक्त मिलकर इस साधनको करें तो शीघ्र सफलता-की सम्भावना है। तभी तो भगवान्‌ने एक भक्त न कहकर बहुवचन कहा है—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

मेरे बहुत भक्त जहाँ गाकर कीर्तन करते हैं वहाँ मैं रहता हूँ। यदि सचमुच ऐसी सच्ची लगनके साधक मिल जायँ तो कोई भी कार्य कठिन नहीं।*

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[गताङ्कसे आगे]

यहाँ कहा है 'अस्य अभयं मया दत्तम्'। 'दा' धातुका प्रयोग होनेपर 'सम्प्रदाने' चतुर्थीका होना अनिवार्य है। अतएव 'अस्मै अभयं मया दत्तम्' 'इसके लिये मैंने अभय दे दिया' यों कहना चाहिये, फिर 'अस्य' क्यों ? ठीक है। दानका अर्थ है 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वा-पादन'। अर्थात् 'दी जानेवाली चीज़परसे अपना स्वत्व हटाकर, जिसे दी जाती है उसका स्वत्व स्थापित करना।' हमने गाय ब्राह्मणको जिस समय दी उसी समय उसपरसे हमारा स्वत्व हट गया और ब्राह्मणका स्वत्व (अधिकार) हो गया। इसलिये यह दान कहलाता है। किन्तु धोबीको कपड़े हम जिस समय धुलनेके लिये देते हैं उस समय उन कपड़ोंसे हम अपना स्वत्व नहीं हटाते, न धोबीको स्वामित्व देते हैं, धोकर वापस देनेके लिये देते हैं। दो दिन भी देर हो जाती है तो तक़ाज़ेपर तक़ाज़ा भेजते हैं। ऐसी हालतमें धोबीको कपड़ोंका देना 'दान' कौन कहेगा ? अतएव वहाँ सम्प्रदानमें चतुर्थी भी नहीं होती 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' यही बोला जाता है।

गीताने भगवान्‌की तरफ़ अभिमुख होनेवाले अधिकारियोंमें प्रधानतया चारको गिनाया—'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च'। उनमें विभीषण पहली कोटिमें आते हैं। श्रीरामचन्द्रके गुणश्रवण करनेके कारण वह बहुत कालपूर्वसे ही उनमें सद्बुद्धि रखते थे। उन्हें साधारण नहीं अलौकिक महापुरुष समझते थे। उनको मालूम था कि यह पराक्रम मानुष नहीं देवविभूति है। इसीलिये रावण और इन्द्रजित्‌का लोकविख्यात, प्रत्यक्ष दृष्ट पराक्रम जानकर भी उन्होंने कहा था—

यावन्न सगजां साश्वां बहुरत्नसमाकुलाम्।
पुरीं दारयते बाणैर्दीयतामस्य मैथिली ॥

'हाथी, घोड़े, रत्नोंसहित इस लङ्काको जबतक श्रीरामचन्द्र अपने बाणोंसे नष्ट नहीं करते उसके पहले ही जानकीको दे दीजिये'। किन्तु दुर्दैवदावानलसे दग्ध हुए रावणने इस बातपर ध्यान नहीं दिया। प्रत्युत विभीषणको घरसे निकल जानेकी भर्त्सना की कि—

न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना।

भगवान् श्रीरामचन्द्रके गुणोंने पहले ही इनके हृदयमें स्थान कर लिया था। इधर इस तिरस्कारने और भी हृदयभूमिका शोधन कर दिया। अहर्निश कोसलेन्द्र

* भाई श्री श्रीनिवासदासजी पोद्दारकी प्रेरणासे ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजने अपनी देख-रेखमें झूसी, प्रयागमें छः महीनेके लिये ऐसा अनुष्ठान कराना स्थिर किया है। यदि दस-बारह उत्साही और सच्चे साधक मिल गये तो माघके अन्तिम सप्ताहमें अनुष्ठान आरम्भ करनेका विचार है। जो सच्चे साधक भगवत्प्रीत्यर्थ छः महीनेतक मौनी फलाहारी रहकर सच्ची लगनसे निरन्तर महामन्त्रके अनुष्ठानमें लगे रहना चाहते हों वे श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी हंसतीर्थ, पोस्ट झूसी (इलाहाबाद) के पतेपर पत्र लिखें। कुछ सज्जन उन्हें मिल भी गये हैं।—सम्पादक।

श्रीरामचन्द्रकी भावना रहने लगी। वह चाहते थे कि अवश्यावश्य नष्ट होनेवाली इस लङ्कासे बाहर निकल जाऊँ। दुर्जनोंके निरन्तर संसर्गसे किसी तरह भी बच जाऊँ। परन्तु सगे भाईका स्नेह इन्हें रोके हुए था कि किसी तरह भी इसे दुष्कार्योंसे बचाकर अच्छे रास्तेपर ले आऊँ, जिससे इसके प्राण बच जायँ। परन्तु जब देखा कि यह दैवकी ही प्रेरणा है कि रावण अब नष्ट होनेसे नहीं बच सकता। उसपर भी सब लङ्काभरने विभीषणका तिरस्कार किया। 'दूसरा होता तो इसी क्षण तुझे मार देता। कुल-कलंक! तुझको धिक्कार है' कहकर रावणने इन्हें ठुकराया। इन्होंने देखा अब अपना बस नहीं। न लोकके अनुसार मैं दोषी ही हूँ। श्रीरामके समीप चलनेका यही अवसर है। बस, अङ्कुररूपसे स्थित भगवान्‌की भक्ति इनके हृदयमें लहलहा उठी। यह उसी आन्तरिक वेदनाको लिये 'आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः' 'लक्ष्मणसहित श्रीरामकी सेवामें उपस्थित हुए।'

अब आप ही देखिये—श्रीरामचन्द्रका पक्ष लेनेके कारण किसीको पीड़ा हो, उसका घोरातिघोर अपमान हो, और अन्तर्यामी श्रीरामचन्द्र जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करें, उसको भयाभिभूत रहने दें, क्या यह सम्भव है? नहीं, नहीं, जैसे ही रावणने—'अस्मिन् मुहूर्ते न भवेत्' इत्यादि भय देनेके वाक्य विभीषणके प्रति कहे, उसी समय त्रिलोक-साक्षी भगवान्‌ने आगे बढ़कर भयके जवाबमें अभय दे दिया। उसी समयसे अभय विभीषणकी मुट्ठीमें आ गया। अब अकेला रावण ही क्या त्रिभुवन भी उसका अनिष्ट नहीं कर सकता। जिस समय अजामिलका काल आया और यमदूतोंने पाशमें डालकर उसको डराया उसी समय 'नारायण' यह नाम लेते ही भगवान्‌के पार्षद पहुँचे। उसको केवल उसी भयसे नहीं, सदाके लिये यावन्मात्र भयोंसे मुक्त कर दिया।

भगवद्भक्त प्रह्लादको हिरण्यकशिपु जैसे ही खड्ग लेकर भरी सभामें मारनेको तैयार हुआ और गर्जना करके बोला कि बता अब तुझे बचानेवाला कौन है। उसी क्षण, अस्थानसे भी प्रकट होकर भगवान् स्वयं पहुँचे और प्रह्लादकी रक्षा की। जहाँ-जहाँ भगवान्‌के भक्तोंको पीड़ा दी गयी और उनको डराया गया, वहाँ-वहाँ भक्त तो पीछे चेते हों परन्तु भक्तोंके वशीभूत भगवान् पहले पहुँचे हैं, और उन्हें इस तरह निर्भय कर दिया है कि सब भयोंका एक भय मौत भी उनसे डरती है—'मृत्युरस्मादपैति'। फिर भगवान्‌के कारण ही जिन्हें भय दिया जा रहा हो ऐसे विभीषणको भला भगवान् भूल जायँगे? नहीं। उसी क्षण अभय उनके सुपुर्द कर दिया गया। विभीषणके लिये जिस अभय देनेकी बातको आप अब उठा रहे हैं वह बहुत काल पहलेसे ही उनका हो चुका। भगवान्‌का कब्जा उसपरसे हट गया। अतएव भगवान् कहते हैं यह अभय तो मैं पहले ही दे चुका, उसका स्वत्व पहले ही उसपर हो चुका, अब दान कैसा? इसीलिये सम्प्रदानमें होनेवाली चतुर्थी भी नहीं हुई। किन्तु पहलेसे ही हो चुके हुए इनके परस्पर सम्बन्धको लक्ष्य करके 'सम्बन्धे षष्ठी' की गयी है। इसीलिये यहाँ कहा है 'अस्य अभयं मया दत्तम्'।

अनन्तशक्ति भगवान्‌की शक्ति भी भक्तकी इच्छाके आगे कुण्ठित होती हुई देखी जाती है। भगवान् चाहते कुछ हैं और भक्तकी इच्छा यदि दूसरी है तो भक्तकी इच्छाके अनुसार ही भगवान्‌को चलना पड़ता है। दुर्वासाको जिस समय सुदर्शनचक्रने लपकाया उस समय भगवान श्रीकृष्णने स्पष्ट कह दिया कि—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

भगवान् भक्तकी मुट्ठीमें हैं। अब आप ही समझ लीजिये कि भगवान्‌की भक्ति हो जाना कितना ऊँचा अधिकार है। त्रिलोकनायक भगवान्‌को भक्तके इङ्गितके अनुसार नाचना पड़ता है। अतएव भगवान्‌की भक्ति हर एकके भाग्यमें नहीं। भगवान् सब कुछ दे देते हैं परन्तु भक्ति देते समय बड़ा विचार करते हैं। स्वर्ग, सार्वभौम राज्य, ब्रह्माका अधिकार, और तो क्या मोक्षतक दे देते हैं परन्तु भक्ति नहीं देते। परमहंस भी भक्तिके लिये तरसते हुए भगवान्‌की कंजूसी वर्णन करते हैं कि—

मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स न भक्तियोगम्।

परन्तु जिस भाग्यवान्‌के ललाटमें भगवान्‌की भक्ति लिखी होती है वह त्रिभुवनमें धन्य है। जिस समय उसका जन्म होता है—गन्धर्व, विद्याधर, देवतातक उसके बड़े भाग्यकी सराहना करते हैं। अनन्त पुण्य करनेवाली माताएँ तक भक्त पुत्रके लिये तरसती हैं—

सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥

विभीषण भूरिभाग्य थे जिनके हिस्सेमें भगवान्‌की भक्ति आयी थी। रावण और कुम्भकर्ण पुलस्त्यकुलके जैसे प्रत्यक्ष पाप थे वैसे ही विभीषण पूर्ण पुण्योदय थे। महर्षि विश्रवाने हर्षगद्‌गद होकर कहा था कि—

पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने।
मम वंशानुरूपः स धर्मात्मा च न संशयः॥

'तुम्हारा सबसे छोटा जो पुत्र होगा वह धर्मात्मा होगा, मेरे वंशके योग्य होगा, इसमें सन्देह नहीं।' जिस समय उनका जन्म हुआ देवताओंतकने बधाई बाँटी। देवलोकमें नौबतखाने बैठे। पुष्पवर्षा हुई—

तस्मिन् जाते महासत्त्वे पुष्पवर्षं पपात ह।
नभःस्थाने दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तथा॥

उनकी धर्मरुचि और भगवद्भक्तिको क्या कहा जाय, वह जनककी तरह सर्वदा अपने अन्तःकरणमें भगवान्‌की तरफ अन्तर्मुख रहते थे। प्रसन्न होकर ब्रह्माने कहा कि—'वर माँगो' धर्मात्मा विभीषणने उसके उत्तरमें क्या माँगा?

प्रीतेन यदि दातव्यो वरो मे ननु सुव्रत।
परमापद्गतस्यापि धर्मे मम रतिर्भवेत्॥

'हे भगवन्! आप प्रसन्न हुए हैं और मुझे वर देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि घोरातिघोर आपत्ति आनेपर भी मेरी मति धर्ममें रहे।' उनके जन्म होते समय देवता ही नहीं, भगवान्‌तक प्रसन्न हुए थे कि मेरे एक भक्तका जन्म हो रहा है। जन्मसे ही भगवद्भावना उनके साथ थी। कहिये—सन्मार्गमें चलनेवाले साधारण मनुष्यतकको जब निर्भय माना जाता है तब विभीषण-सरीखे भाग्यवानोंके भाग्यमें अभय न होगा? नहीं-नहीं, अभय तो भगवत्सेवकोंके साथ-साथ चलता है—

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावा-
द्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥

'इस संसारमें भगवच्चरणारविन्दका सेवन ही ऐसा है कि 'अकुतश्चिद्भयम्' किसी तरफसे भी जिसपर भय नहीं आ सकता, ऐसा है। देहादि असत् पदार्थोंमें जो मनुष्यको आत्मबुद्धि रहती है उससे जहाँ उसको उद्वेग हुआ कि उसका भय सर्वथा निवृत्त हो जाता है।' आहा, निर्भयताका क्या अव्यभिचारी कारण बतलाया है। मनुष्य जबतक देह, घर, स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्त रहता है, अहन्ता-ममतासे ग्रस्त रहता है तभीतक तो उसपर चारों तरफ़से वार होते हैं। जहाँ उसने इन सबको मिथ्या समझकर सत्यतत्त्वकी ओर मुख किया, भगवच्चरणारविन्दका आश्रय लिया, उसी समय 'निवर्तते भीः' भय सदाके लिये दूर हो जाता है। भगवच्चरणारविन्दोंका आश्रय लेनेवालोंके पास भला भय आ सकता है? सब भयोंका महाभय तो संसारचक्रका भय है जिससे बाहर निकल जाना सम्भव ही नहीं। इस भयसे देवता, ऋषि-महर्षि ही क्या बड़े-बड़े महाभागवत भक्ततक घबराते हैं।

भगवान् नृसिंहकी उग्र मूर्तिको देखकर बड़े-बड़े देवतातक काँप उठे थे। और तो क्या, श्रीलक्ष्मीजीने भी भगवान्‌का—

अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्सा नोपेयाय शङ्किता।

'ऐसा भयानक रूप न कभी देखा था न सुना था। अतएव वे भी डरके कारण न जा सकीं।' किन्तु महाभक्त प्रह्लादको उससे भी भय न हुआ। वे कहते हैं—'हे भगवन्! त्रिलोकीको भय पैदा करनेवाले आपके इस रूपसे मैं नहीं डरता। डरता हूँ इस भयानक संसारचक्रसे'—

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात्।
× × ×
त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनात्……।

इस भयके मारे ब्रह्मादि देवता तक काँप उठते हैं किन्तु वह भयानक भय भी भगवत्सेवकोंके पास नहीं आने पाता—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥

'जो भगवच्चरणारविन्दरूप नौकाका आश्रय लेते हैं उनके लिये यह भवसागर वत्सके खुरके समान हो जाता है। 'परं पदं तेषां पदं भवति' परमपद उनका स्थान

होता है। विपत्तियोंका जो स्थान है वह उनका स्थान कभी नहीं होता।' भला ऐसोंके लिये कहीं अभय खोजने जाना पड़ता है ? नहीं-नहीं, अभय उनका है। इसी आशयसे भगवान्ने भी यहाँ कहा है—'अभयम् अस्य', अभय तो इस विभीषणका ही है जो 'मया दत्तम्', मैंने अपने हाथसे नाममात्रके लिये दे दिया है।

जिन भक्तोंको इतना अधिकार मिल गया है कि उनके लिये भवाम्बुधि भी गोखुरवत् है, भला उनके पास कोई भय, ताप, दुःख आ सकता है ?

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥

'भगवच्चरणारविन्दकी नखचन्द्रिकासे जिनके सब ताप दूर हो चुके हैं उनके हृदयमें फिर सांसारिक तापादिका प्रसङ्ग हो सकता है ? चन्द्रके उदय होनेपर कभी किसीको सूर्यके तापने सताया है ?' मनुष्य जिस समय भगवान्का स्मरण सच्चे मनसे करता है और भगवान् उसके हृदयमें आ विराजते हैं उस समय उसके सब पाप-ताप दूर हो जाते हैं। जिन भगवान्के नामस्मरणमात्रसे अजामिल-सरीखे पापी भी तर जाते हैं, भला वह भगवान् साक्षात् हृदयमें आ विराजें और पाप-ताप फिर भी उसे सताते ही रहेंगे ? नहीं-नहीं, जो अनन्यभावसे भगवच्चरणारविन्दका आश्रय लेते हैं, हृदयमें संनिविष्ट हुए परात्पर भगवान् उनके उन सब विरुद्ध कर्मोंको भी दूर कर देते हैं जो ज्ञानाज्ञानमें बन पड़े हों—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-
द्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

आज विभीषणसे बढ़कर भाग्यवान् कौन होगा जिनके हृदयमें स्वयं भगवान् विराजे हैं। धर्मानुरोध और भाईके कर्तव्यानुसार जिस समय उन्होंने रावणको हितकी सलाह दी और उसके बदलेमें उसने क्रोध ही नहीं, उनका घोरापमान किया उस समय भगवान्की स्मृति उनके हृदयमें और भी उज्ज्वल हो उठी। वह पहलेही-से विरक्त-से तो रहते ही थे, इस समय सब कुछ छोड़कर भगवान्की तरफ चल पड़े। भगवान्का आश्रय लेनेके सिवा उन्हें अब कुछ नहीं दिखायी दे रहा था। अहा! जो भगवान्की शरणमें जा रहा है उससे बढ़कर पुण्यात्मा और भाग्यवान् कोई हो सकता है ? देवतातक उसके भाग्यकी बड़ी श्लाघा और भीतर-भीतर ईर्ष्या करते हैं। जिस समय शरणार्थी भगवान्की शरणमें जाने लगता है उस समय उसका एक-एक पैंड पवित्रतम और दूसरोंके लिये पावन हो जाता है। भक्तिगद्गद होकर भावुक कहते हैं 'पग-पग होत प्रयाग'

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी न राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्॥

'वह भाग्यवान् देवता, ऋषि, पितर आदि सबसे अनृण हो जाता है, किसीका फिर सेवक नहीं रहता जो सब कुछ छोड़कर शरणागतवत्सल भगवान्के शरण होता है।' कहिये—आज विभीषणसे बढ़कर कोई पुण्यात्मा और भाग्यवान् होगा ? फिर ऐसा पुण्यात्मा भी किसीका मुहताज होगा, भय उसे फिर सतायेंगे! नहीं-नहीं, जिस समय उनकी बुद्धि भगवान्के अभिमुख हुई उसी समय चारों पुरुषार्थ उनके हो चुके। फिर अकेला अभय (मोक्ष) ही कहाँ रहा ? वह तो उसी समय उनका हो चुका था। इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र भी यहाँ कहते हैं 'अस्य अभयं मया दत्तम्' 'अभय तो इसका पहले ही हो चुका था' अब अपनी तरफसे रस्म पूरी करनेके लिये 'मया दत्तम्' 'मैंने दे दिया है।'

भगवत्कृपाजनित शुभ संस्कारोंके बिना किसीके भाग्यमें भक्ति नहीं होती। परमहंसोंका कहना है कि ज्योतिष्टोमयाजी, अश्वमेधयाजी, अब्भक्ष-वायुभक्ष होना सहज है किन्तु भगवद्भक्त होना भगवान्की कृपाके बिना नहीं हो सकता। विभीषण जन्मसे ही संस्कारी थे। महर्षि वाल्मीकिने स्थान-स्थानपर उन्हें 'विभीषणस्तु धर्मात्मा' कहा है। सज्जन वह लङ्कासदृश निशिचर-निवासमें भी 'जिमि दसननि महँ जीभ बिचारी' की तरह रह रहे थे। हृदयमें भगवद्भक्ति रखते हुए भी रावणके कारण उसे प्रकट करना उचित नहीं समझते थे। वह सच्चे भक्त थे। उन्हें ज़मानेको दिखानेकी क्या ज़रूरत थी। फिर ऐसे अवसरपर, जब कि लंकानायक रावणके हृदयमें नाहक

असन्तोष हो । गोस्वामीजी तो यहाँतक कहते हैं कि वह इस विषयमें रावणका भी अनुरोध नहीं रखते थे । वह अपने घरमें पूर्ण भक्तकी रीतिसे रहते थे । उनके राजमहलमें उपासनाके लिये भगवान्‌का मन्दिर अलग बनाया हुआ था । उनके मकानपर राम-नाम अङ्कित थे । श्रीतुलसीके पेड़ चारों तरफ लग रहे थे—

राम-नाम अंकित गृह, सोभा बरनि न जाय ।
नव तुलसिका बृन्द तहँ देखि हरष कपिराय ॥

ऐसे जन्मसिद्ध भगवद्भक्तपर भगवान्‌का अनुग्रह आज हुआ है, क्या यह माना जा सकता है ? भगवान्‌के अनुग्रह बिना जब मनुष्य भगवान्‌के अभिमुख ही नहीं हो सकता तब पहलेहीसे उनपर भगवान्‌का अनुग्रह था, यह अवश्य मानना पड़ेगा । आहा, जब उनपर भगवान्‌का अनुग्रह है और वह भगवद्भक्त हैं तब उनके लिये अब कमी क्या रह गयी ? सांसारिक प्रतिबन्ध तभीतक रहते हैं जबतक मनुष्य सांसारिक पदार्थोंमें ममता रखकर आसक्त रहता है । जहाँ वह सब कुछ छोड़कर भगवान्‌के अभिमुख हुआ कि वे सब प्रतिबन्धक उससे कोसों हट जाते हैं—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनः ॥

'राग-द्वेषादि चोर तबतक उसके पीछे लगे रहते हैं, यह घर भी तबतक उसके लिये क़ैदखाना रहता है और मोह भी तभीतक उसके लिये बेड़ीका काम देता है जबतक यह मनुष्य आपका नहीं हो जाता ।' जब यह मनुष्य आपका हो गया अर्थात् किसी तरहसे भी आपके साथ उसका सम्बन्ध हो गया फिर उसे यह सब विडम्बना नहीं रहती ।

ज़रा विचार करिये, कैसे विज्ञानकी भरी हुई बात कही है । लोग समझते होंगे कि यह भक्तिका माहात्म्य और अर्थवाद है, किन्तु नहीं । यह तो स्वाभाविक बात है । आप जिस घरमें रह रहे हैं, उसकी बड़ी हिफ़ाजत करते हैं । कुर्सी रखते समय भीतपर ज़रा टक्कर भी लग जाती है तो नौकरपर एकदम बिगड़ उठते हैं । किन्तु जिस समय उस घरको बै कर देते हैं उस समय आपकी उसपर दूसरी ही बुद्धि हो जाती है । नौकरने कहा कि 'ओहो, आज तो वह अपनीवाली हवेली इस भूकम्पमें यकायक सब-की-सब बैठ गयी । खैर तो यह हुई कि उस समय सब मकानदार बाहर गये हुए थे नहीं तो बड़ा अनर्थ होता ।' इस बातको सुनकर आपको उतना ही विस्मयसंवलित कौतुक हुआ जो और-और मकानोंके गिरनेकी खबर पत्रोंमें पढ़कर हुआ था । बल्कि भीतर-भीतर आपको यह विजयहर्ष होता है कि चलो यह अच्छा हुआ कि हमने पहले ही बेच दिया था । अन्यथा हज़ारोंपर पानी तो फिरता ही किन्तु इस समय मलबा उठवानेके लिये म्युनिसिपलटीवाले और तंग करते ।

यह वही मकान है जिसमें एक टाँच पड़ जानेपर भी आप आँच हो उठते थे किन्तु देखिये आज यह खबर सुनकर भी उसी तरह पानीकी तरह ठण्ढे हैं । कारण यही है कि अब उससे आपका सम्बन्ध नहीं, मेरा है यह ममता नहीं रही । बस, इसी तरह मनुष्य जब संसारके सब पदार्थोंसे सम्बन्ध हटाकर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध कर लेता है, फिर उसे क्लेश नहीं होता । भक्तोंकी मर्यादा भी पुरानी चली आती है कि वह अपने पुत्र, घर-बार आदिको तो भगवान्‌का बताते हैं । कोई पूछता है 'यह बालक किसका है', वह कहते हैं 'भगवान्‌का' । और भगवन्मूर्तिके लिये कहते हैं 'मेरी ।' रहस्य यह है कि सब वस्तुओंपरसे ममता हटाकर 'यह सब भगवन्मय हैं और भगवान् मेरे हैं' यों जब मनुष्य भगवत्सम्बन्ध कर लेता है उस समय जो वस्तुएँ बाधक थीं वे भी अब बाधक नहीं रहीं, प्रत्युत भगवन्मय होनेसे साधक हो जाती हैं । इसीलिये यहाँ कहा है कि यह सांसारिक विडम्बना तभीतक रहती है जबतक यह मनुष्य तुम्हारा नहीं होता । जहाँ तुम्हारी छाप उसपर लगी कि फिर उसे बाधा देनेवाला है ही कौन ?

जगत्‌को भगवन्मय देखना, भगवान्‌को सर्वस्व समर्पण कर देना यह तो बात ही निराली है परन्तु जो सच्चे हृदयसे, वाणीसे और शरीरसे भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें प्रणाम करता हुआ भी जीवन बिताता है वही मुक्तिका अधिकारी हो जाता है—

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

यहाँ 'दाय' शब्दपर ध्यान दीजिये । जिसपर हमारा नियमतः 'राइट' अधिकार हो चुका उस 'दाय' परसे हमारा स्वत्व हटानेवाला कौन है ? उसपर स्वत्व आगे होकर 'अदालत' दिलाती है । इसी तरह भगवद्भक्तका मुक्तिपर

न्यायसिद्ध स्वत्व है। उसे वह बलात् ले सकता है। वह उसका स्वाभाविक 'रिक्थ' है। इसी आशयसे श्रीरामचन्द्रने भी कहा है कि 'अभयम् अस्य'। जिस समय विभीषण मेरे अभिमुख हुआ उसी समय 'अभय' उसका हो चुका। अदालतके न्यायानुसार उसका वह 'दाय' हो चुका। अब मैं देनेवाला कौन? किन्तु बहती गङ्गामें हाथ पखारनेकी तरह चलता अहसान लेनेके लिये मैं अपनी तरफसे देता हूँ। इसीलिये कहते हैं 'अस्य अभयं मया दत्तम्।'

जब स्वयं श्रीरामचन्द्र आज्ञा कर रहे हैं और पहले पद्यमें 'अभय देना मेरा व्रत है' यह कह भी चुके हैं तब बिना कहे भी यहाँ प्रतीत हो जाता है कि अभय देनेवाले श्रीरामचन्द्र ही हैं फिर 'मया' (मैंने) यह क्यों कहा? इसका तात्पर्य यह है कि—शरणागतरक्षणरूप मेरे दृढ़ व्रतके अनुसार विभीषणके यहाँ आते ही उनका संग्रह करना मुझे अभीष्ट था। परन्तु मर्यादा और मेरे स्वभावके अनुसार सम्पूर्ण परिकरकी सलाहसे ही यह कार्य करना मैंने उचित समझा था। अतएव मैंने आपलोगोंकी राय ली। आपकी रायपर उचित आलोचना करके विभीषणके स्वीकारको मैंने सिद्ध भी कर दिया किन्तु अभीतक दलीलें ही चल रही हैं, स्पष्ट अनुमति नहीं मिल रही है। शरणागतके लिये एक-एक क्षणका विलम्ब मुझे घोर असह्य हो रहा है। अतएव आपलोगोंकी सम्मतिसे यदि विभीषण नहीं लिया जा रहा हो तो—'मया अभयं दत्तम्' 'औरोंकी राय न सही, मैंने स्वतन्त्र, अपनी तरफ़से अभय दे दिया।' अपने कियेका निर्वाह अब मुझे करना है। अब मैं देखूँगा कि मेरे शरणागतको भय देनेवाला कौन है। यों श्रीरामचन्द्र विभीषणके स्वीकारमें विशेष आग्रह और उत्साह प्रकट कर रहे हैं। अतएव यहाँ कहा है कि 'मया' 'लो यह अभय 'मैंने' दे दिया।'

'विभीषण हो चाहे स्वयं रावण हो' यह कहनेका तात्पर्य है कि विभीषणके स्वीकारमें अबतक जो बाधाएँ उपस्थित की जा रही हैं वह रावणके सम्बन्धके कारणसे ही तो हैं। किन्तु जहाँ मेरे यहाँ कोई शरणागत हो जाता है फिर मैं उसके गुणदोषोंपर दृष्टि ही नहीं देता। तुम विभीषणके लिये ही इतना आकाश-पाताल सोच रहे हो, किन्तु तुम जिस रावणके सम्बन्धके कारण विभीषणपर शंका कर रहे हो मैं उस स्वयं रावणतकको लेता हूँ कि 'चाहे शरणागत होकर रावण ही क्यों न आया हो, उसे भी ले आओ'। इसीलिये कहा है कि—'यदि वा रावणः'।

विभीषण धर्मात्मा और सदाचारी हैं। सर्वत्र उनकी सौम्यता और शिष्टता प्रसिद्ध है। लंकासे लौटे हुए हनुमान्ने भी उनके सदाचारकी प्रशंसा की है फिर ऐसे गुणवान्का स्वीकार कर लेना कौन बड़ी उदारता है? दुनियाके साधारण आदमी भी अपने मतलबकी अच्छी चीज़को आग्रहसे लेते हैं फिर भला सोना और सुगन्ध! विभीषण शरणागत भी हैं और गुणी, सदाचारी भी। इनके संग्रह कर लेनेमें कौन-सा बड़ा अहसान है? शरणागत-धर्मका प्रतिपालन तो वह कहलायेगा, जहाँ कैसा भी दोषी और अपराधी चला आवे और उसपर टीका-टिप्पणी किये बिना ही उसको छातीसे लगा लिया जाय। अतएव उचित यह है कि जो रावण जगत्प्रसिद्ध क्रूरकर्मा और दुराचारी है, जिसके लिये तुम स्वयं कह रहे हो कि 'रावणस्य नृशंसस्य भ्राता', वह भी यदि अपने दरवाज़ेपर इस समय आया हुआ हो तो उसे भी मैं खुले हृदयसे अभय देनेको तैयार हूँ। इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि—'यदि वा रावणः स्वयम्'।

भगवान् लोकोद्धारके लिये अवतार लेकर यहाँ पधारे हैं। आपकी हार्दिक इच्छा है कि जितने भी आर्त और पीड़ित हों, जितने भी दीन प्राणी दुर्जनोंके द्वारा सताये गये हों उन सबकी मेरेद्वारा रक्षा हो। जिन पातकियोंकी पहुँच पुण्यलोकोंमें नहीं हो सकती वह भी यदि अपने पापोंपर पश्चात्ताप करते हों तो उन्हें भी इस समय सान्त्वना मिल जाय। दीन, पातकी, अपुण्यकर्माओंको भी अपनी आत्माके उद्धारका अवसर मिले इसीलिये तो दीनोद्धारक भगवान् अवतार लेकर पधारते हैं। गङ्गा यदि स्वर्गङ्गा ही बनी रहतीं तो कहिये कितनोंका उद्धार होता? स्वर्गतक पहुँचनेके लिये कितने पुण्योंकी पूँजी आवश्यक होती? किन्तु जिस समय वह भूमण्डलमें पधार आयीं उस समयसे 'जडानन्धान् पङ्गून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्' मूर्ख, अन्धे, बहरे, गूँगे, लँगड़े आदि अनेक अपाहिजोंको भी आत्मोद्धारका मार्ग दीखने लग गया। इसी तरह भगवान् भी यदि वैकुण्ठमें ही विराजे रहते तो कितने पुण्यवानोंकी वहाँ पहुँच होती, और कितनोंको आत्मोद्धारका अवसर मिलता? जहाँ ब्रह्मादि देवतातक अवसर देखकर पहुँच सकते हैं, जहाँ सनकादि

सिद्ध भी रोक दिये जाते हैं वहाँ क्या दीनोंकी पहुँच हो जाती? परन्तु अधमोद्धारक दीनदयालु भगवान् सबको एक दृष्टिसे देखते हैं। अतएव दीनोंकी भी रक्षा हो इसलिये भूमण्डलमें अवतार लेते हैं। यहाँ आकर जितने भी अधिक दीनोंकी रक्षा हो, जितने भी अधिक पापियोंका उद्धार हो, उतना ही अधिक भगवान्के पधारनेका प्रयोजन सिद्ध होता है। यदि पुण्यकर्मा विभीषणको आश्रय दिया जायगा तो उनके साथ आये हुए चार लंकावासियोंकी ही रक्षा हो सकेगी। किन्तु यदि स्वयं लंकाधिपतिको ही शरणमें लिया जाता तो उनके साथ सम्पूर्ण लंकाका उद्धार होता है। यों रावणके संग्रहमें अधिक जनोंकी रक्षा होती है। इसमें अपना प्रयोजन अधिक सिद्ध हुआ या बिगड़ा? इसी आशयसे आप सुग्रीवको आज्ञा दे रहे हैं कि—'यदि वा रावणः स्वयम्' यदि स्वयं रावण भी आया हुआ हो तो 'एनम् आनय' इसे बेखटके ले आओ।

तुमने बड़ी लम्बी-चौड़ी दलीलोंसे सिद्ध करना चाहा है कि बैरी-भ्राता विभीषणको ले लेनेसे हमारी बड़ी हानि हो सकती है। किन्तु मैं देखता हूँ विभीषण भी नहीं, स्वयं रावणको भी ले लेनेसे हमें लाभ ही है, हानिकी कोई सम्भावना नहीं।

मेरी कीर्ति विश्वव्यापिनी हो यही तो सर्वात्मना आपलोगोंको अभीष्ट है। 'पुण्यश्लोकः' 'महायशाः' कह-कहकर जो आपलोगोंका मुँह सूखा जाता है इसका यही तो तात्पर्य है कि आपलोग जीवनका सबसे बड़ा ध्येय 'कीर्तिरक्षा' समझते हैं। अब ज़रा स्वार्थदृष्टिसे ही विचार कर लीजिये कि विभीषणके संग्रहमें मुझे अधिक लाभ है या स्वयं रावणके। मैं तो समझता हूँ कि विभीषणके स्थानपर यदि स्वयं रावणको ही अभय दे दिया जाता है तो अधिक लाभ होता है। रावणके संग्रहमें विभीषण तो उनके साथमें स्वयं आ ही जाते हैं किन्तु उसके साथ-साथ ही मेरी कीर्तिकौमुदी चतुर्दश भुवनोंमें और भी उज्ज्वल होकर फैलेगी कि घोरापराधी क्रूरकर्मा रावण-सरीखेको भी राघवने शरणमें ले लिया। सम्मुख युद्धमें शस्त्रोंके जोरसे अपने बाहुबलके द्वारा जो वीरलोग भयानक-से-भयानक शत्रुको जीतते हैं उनकी अपेक्षा मैं तो उनको बड़ा वीर समझता हूँ जो अपने साथ घोर अपकार करनेवालेको भी शरणागत होनेपर क्षमा कर देते हैं। आज जो रावणने अपराध किया है वह मेरे पक्षमें सबसे उत्कट है, जगत्मात्र जान रहा है। ऐसे घोर अपराधका अपराधी दीन होकर मेरे दरवाज़ेपर आया हो और मैं अभय देकर उसे अपनी शरणमें ले लूँ इसमें मेरी अधिक कीर्ति होगी या अपकीर्ति? मेरी उदारता समझी जायगी या 'घूँसेका बदला लातसे लेनेवालोंकी'-सी प्रावाहिकता?

आज दिन रावण विश्वविदित एकमात्र वीर है। उसकी क्या कथा, उसके पुत्रोंतकने कई बार देवताओंको छका दिया है। उसके बेटेकी ख्याति ही इन्द्रजित् नामसे है, जिसे सुन-सुनकर बेचारा इन्द्र लज्जाके मारे गड़ा जाता है। भूमिकी कौन गिनती, देवतातक आज उसे प्रणाम कर रहे हैं। सन्ध्योपासनके समय द्विजोंके प्रणाम अबतक सूर्यके हिस्सेमें आते थे। जिस दिशामें सूर्य होता उसी दिशाकी तरफ़ मुख करके ब्राह्मण, क्षत्रियादि सन्ध्या-प्रणाम आदि किया करते थे किन्तु आज रावणका यह दबदबा है कि सूर्य कहीं भी रहे उससे कोई प्रयोजन नहीं। रावण जिस दिशामें जाता है उसी दिशाकी तरफ़ मुख करके ब्राह्मणादि प्रणाम कर रहे हैं। वह भी इतना मनस्वी और मानी है कि कभी किसीसे नम्र नहीं हुआ। इतिहासोंमें सुना जाता है कि ऐसे-ऐसे राजा हो गये हैं जिन्होंने कहा है कि हमें झुकना मालूम नहीं। आजतक किसी राजशक्तिको हमने झुककर सलाम नहीं किया। किन्तु रावणकी मानिता, सर्वमानिता (सबकी मानी हुई) है। आलोचक लोग कहते हैं कि रावणके ऊपर इतनी विपत्तियाँ आयीं, कुटुम्बका इतना क्षय हुआ परन्तु अपनी बातसे कभी न हटा। जिस समय कुम्भकर्ण और इन्द्रजित्-सरीखे मारे गये उस समय प्रहस्त आदि बड़े-बड़े अभिमानी रावण-सचिवोंकी भी हिम्मत हिल गयी। उनकी तरफ़से भी प्रस्ताव हुआ कि अब रामसे सन्धि कर ली जाय, परन्तु वाह रे रावण, हज़ार आपत्ति आनेपर भी दैन्य स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि अबतक जो रावण त्रिभुवनमें शरण्य (शरण देनेवाला) रहा है, कभी किसीसे दीन वचन कहनेका जिसको अवसर नहीं आया, वह आज अपनी तरफसे सन्धिका प्रस्ताव करे? प्राण बड़ी चीज़ है कि अपना यश? मैं कभी सन्धिके अक्षर मुखसे नहीं कह सकूँगा। जो कुछ होना है, मुझे निश्चित है, किन्तु मैं कभी अपने

वचनको नहीं जाने दूँगा। आज भी मैं यही साहस रखता हूँ कि तपस्वी रामको उसके हिमायतियोंसहित ठीक कर दूँगा।

और तो क्या—जिन भगवान् शिवसे इतना रुतबा मिला था उनके आगेतक तो जिससे दीनताके वचन कहे ही न गये। अपने मस्तकोंको अपने ही हाथसे काट-काटकर होम कर देनेके साहससे प्रसन्न होकर चराचरनायक शिवने जिस समय वर माँगनेके लिये कहा उस समय रावणके दसों मुख आपसमें झगड़ने लगे कि 'तू माँग, तू माँग'। प्रत्येक मुखको लज्जा है कि आजतक मैंने किसीसे याचना नहीं की। शिव हुए तो क्या—परन्तु मैं ज़बान कैसे निकालूँ। बस, आपसमें बहुत देरतक मुखोंमें हुज्जत होती रही, कलहतकका मौका आ गया। क्या ऐसा मानी त्रिभुवनमें दूसरा है? कवि मुरारि कहते हैं—

सन्तुष्टे तिसृणां पुरामपि रिपौ कण्डूलदोर्मण्डली-
लीलालूनपुनर्विरूढशिरसो देवस्य लिप्सोर्वरम्।
याच्ञादैन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्वं वृणु
त्वं वृणिवत्यभितो मुखानि स दशग्रीवः कथं कथ्यताम्॥

'अपने हाथसे मस्तक काट दिया जाता है और वह फिर निकल आता है। यों मस्तकहवनरूपी असामान्य साहससे जब त्रिपुरारि भगवान् सन्तुष्ट हो गये और वर देने लगे उस समय याचनाकी दीनतासे पराङ्मुख हुए जिसके दशों मुख 'तू माँग, तू माँग' इस तरह कलह करते हैं, उस दशग्रीवका वर्णन कैसे किया जा सकता है?'

वही मानी रावण यदि आज मेरे दरवाजेपर आया हुआ हो तो मेरी कीर्ति कुछ कम प्रशस्य है? सो भी किसलिये? शरणागत होनेके लिये। बस, इससे बढ़कर कीर्तिपताका और कितनी ऊँची चाहते हो? यह मेरा बड़ा गौरव है कि रावणसदृश त्रिलोकीका अद्वितीय अभिमानी मेरे पास शरणयाचनाके लिये आया हुआ हो, और मैं उसे अभय दे रहा होऊँ। अतएव, श्रीरामचन्द्र यहाँ आज्ञा करते हैं कि—'यदि वा रावणः स्वयम्' 'यदि स्वयं रावण भी आया हुआ हो तो उसे ले आओ, मैंने उसे अभय दे दिया।'

यहाँ 'स्वयम्' और कहा है। स्वयं कहनेका तात्पर्य है कि जिस रावणके सम्बन्धके कारण तुम लोग विभीषणपर भी शंका कर रहे हो वह 'स्वयम्' रावण भी आवे तो भी मैं उसे अभय कर देता हूँ। अथवा 'स्वयम्' से आप बड़ी गूढ़ बात कहते हैं। आप कहते हैं कि यदि रावण अपने कियेपर पश्चात्ताप करे और अब अपनी खैर न समझकर जनकनन्दिनी श्रीसीताको आगे लेकर मेरी शरणमें आवे तो मुझे ही क्या तुमको और साधारण-से-साधारण मनुष्यतकको उसके स्वीकारमें संशय न होगा। जिन मैथिलीके लिये इतना विवादसूत्र छिड़ा है उन्हें ही आगे लिये आ रहा है और क्षमायाचना कर रहा है, अब और बाकी क्या रहा? किन्तु शरणागतवत्सलताका गौरव इसमें ही है कि यदि वह अकेला खाली हाथ भी आये तो भी मैं उसे अभय दूँ। अतएव आप आज्ञा कर रहे हैं कि 'स्वयम्'। यदि बिना सीताको लिये केवल वही आया हो तो भी मैंने उसे अभय दिया।

अथवा—'स्वयम्' से यह सूचित करते हैं कि तुम विभीषण समझकर उसे लिवाने जाओ किन्तु वहाँ तुम्हें मालूम पड़े कि विभीषणका रूप धारण करके यह तो स्वयं रावण ही आया है। तो भी मैं तुमको आज्ञा देता हूँ कि तुम उसको लिवा लाओ। उसे बिना लाये अकेले तुम मुझसे यह पूछने मत आना कि 'वह तो विभीषणके रूपमें रावण है'। नहीं, कोई हो, मैंने अभय दे दिया। अतएव आप कह रहे हैं कि—'स्वयम्'। विभीषणके रूपमें स्वयं रावण ही क्यों न हो, मैंने अभय दे दिया।

जब इस तरह शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्रने तृतीय बार बड़े ज़ोरसे विभीषणके स्वीकारकी केवल सम्मति ही नहीं उसे लिवा लानेकी आज्ञा ही दे दी तब कारुणिक हृदय सुग्रीवसे न रहा गया। वह एकदम प्रसन्न हो गये, कहा कि 'हे भगवन्! आप 'लोकनाथशिरोमणि' हैं' जो लोकोंके नायक हैं उनके भी आप शिखामणि हैं। यह उदारता आपमें न हो तो और किसमें हो? धृष्टताकी क्षमा हो, हमलोग तो आपकी उदारताकी एक तरहसे परीक्षा कर रहे थे। मेरा भी अन्तरात्मा विभीषणको शुद्ध जान चुका है। मैं आपके शरणागत-रक्षणव्रतको आज ही नहीं, पहलेसे ही अच्छी तरह जानता हूँ। अब यह विभीषण 'नः सखित्वम् अभ्युपैतु' 'हमारा मित्र और समान गौरवका भाजन बने' यों सुग्रीव बड़ी प्रसन्नताके साथ विभीषणको लिवा लाते हैं।

श्रीरामके सम्मुख आते ही विभीषण उनके चरणोंमें गिर जाते हैं और—

अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः ।
भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः ॥
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च ।
भवद्गतं हि मे राज्यं जीवितं च सुखानि च ॥

'मैं रावणका छोटा भाई हूँ, उसके द्वारा तिरस्कृत होकर निकाला गया हूँ। आप सर्वलोकोंके शरण्य हैं, मैं आपके शरण आया हूँ। मैंने लङ्का, मित्र, धन आदि सब कुछ छोड़ दिया है। राज्य, सुख, और तो क्या मेरे जीवनतक अब आप हैं' यों दैन्यप्रदर्शनपूर्वक आर्त विभीषण आत्मनिवेदन करते हुए 'मानसिक' के अनन्तर 'वाचिक' शरणागति निवेदन करते हैं।

बस, भगवान् तो उन्हें पहले ही स्वीकार कर चुके थे। अब इस समय, विभीषण अपने दैन्यको भूल जायँ और उनपर इतना बड़ा अहसान श्रीराममे किया है, इस बातका प्रसङ्ग ही हटानेके लिये श्रीरामचन्द्र बात ही दूसरी छेड़ देते हैं। लोचनाभ्यां पिबन्निव' प्रेमातिशयके कारण बड़े स्नेहसे विभीषणको निहारते हुए आप पूछते हैं—'विभीषण! मुझे लङ्काके समाचार कहो' इत्यादि।

बस, विभीषणकी शरणागति सफल होती है। दयालु श्रीरामचन्द्र सबपर इस तरह अनुग्रह करें।

कञ्जमाञ्जुल्यहरणे करणे सर्वसम्पदाम् ।
श्रीरामचन्द्रचरणे शरणेच्छा समेधताम् ॥

सूरदासका अन्तिम पद

(लेखक—अज्ञात)

'खंजन नैन रूप रसमाते' सूरदासका यह अत्यन्त प्रसिद्ध पद है । इसके सम्बन्धमें कहा जाता है कि यह सूरदासका अन्तिम पद है। भक्तोंसे लेकर हिन्दी साहित्यके अनेक पण्डितोंने इस कथनको साधु मान लिया है और बहुतोंने तो इसकी मनमानी व्याख्या कर पाठकोंको भ्रममें डाल दिया है। टीकाकारोंकी टिप्पणियोंपर विचार करनेकी आवश्यकता तो तब पड़ती जब उनमें कुछ सार होता। हमारी धारणा है कि किसी लेखकने इस पदपर विचार नहीं किया है; नहीं तो उसको स्पष्ट हो जाता कि इस पदका प्रसङ्ग क्या है और यदि सूरदासने अन्तिम समय इसका गान किया तो उसका आशय क्या है? इस पदके सम्बन्धमें हमारा मत है कि यह सूरदासका अन्तिम पद नहीं है और इसमें श्रीकृष्ण या सूरदासके नेत्रोंका वर्णन न होकर श्रीराधाके नेत्रोंका वर्णन है। इस पद-का प्रसङ्ग ही हमारे कथनका पुष्ट प्रमाण है। पदका प्रसङ्ग है—

स्यामहि सुख दै राधिका निजधाम सिधारी।
चित तें कहुँ उतरत नहीं श्रीकुंजबिहारी॥
रैनि बिपिन रतिरस रह्यो मो मनहिं बिचारै।
पिय सँगके अँग चिन्ह जे दर्पणहि निहारै॥
यहि अंतर चन्द्रावली राधा गृह आई।
अंग सिथिल छबि देखिकै जहँ तहँ भरमाई॥
कह्यो चहति कहत न बनै मन मन अनुमानै।
सूर स्याम सँग निसि बसी निहचै यह जानै॥

पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि उक्त प्रसङ्गपर ध्यान रखकर सूरदासके इस पदपर विचार करें और देखें कि इसका अर्थ क्या है। सूरदास कहते हैं—

खंजन नैन सुरंग रसमाते।
अतिसय चारु बिमल दृग चंचल पल पिंजरा न समाते॥
बसे कहूँ सोइ बात कही सखि रहे इहाँ केहि नाते।
सोइ संज्ञा देखति औरासी बिकल उदास कला ते॥
चलि चलि आवत श्रवण निकट अति सकुचति टंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु कबै उड़ि जाते॥

इस पदका शुद्ध पाठ 'रत्नाकर'जीके अनुसार शायद यह है—

खंजन नैन सुरंग रसमाते।
अतिसय चारु बिमल चंचल ये पल पिंजरा न समाते॥
बसे कहूँ सोइ बात कही सखि रहे इहाँ किहिं नातैं।
सोइ संज्ञा देखति औरासी बिकल उदास कला तैं॥

चलि चलि जात निकट काननि ह्वै सकि ताटंक फँदा तैं ।
सूरदास अंजन-गुन अँटके नतरु कबै उड़ि जाते ॥

प्रसङ्गको अधिक स्पष्ट करनेके लिये हम सूरदास-जीका एक और पद उद्धृत किये देते हैं। यह पद उक्त पदके बाद ही एक पद छोड़कर, जिसमें श्रीराधाकी छविका वर्णन है, दिया गया है। वह पद है—

मोसौं कहा दुरावति प्यारी ।
नंदलाल सँग रैनि बसी री कोक-कला गुन भारी ॥
लोचन पलक पीक अधरनको कैसे दुरत दुराए ।
मनो इन्द्रपर अरुण रहे बसि प्रेम परस्पर भाए ॥
अधर दसन-छतकी अति सोभा उपमा कही न जाइ ।
मनो कीर फल बिंब चोंच दै भख्यो न गयो उड़ाइ ॥
कुच नख-रेख धनुसकी आकृत मनु सिव सिर ससि राजै ।
सुनत सूर प्रियवचन सखी सुख नागरि हँसि मन लाजै ॥

अब तो आप समझ गये होंगे कि सूरदासका 'अन्तिम पद' वास्तवमें अन्तिम पद नहीं है। इस पदमें तो राधाके नेत्रोंका वर्णन है, 'कृष्ण या सूर' के नेत्रोंका नहीं। राधा 'सुरति-लक्षिता' के रूपमें अङ्कित की गयी हैं जो चन्द्रावलीसे 'सुरति-गोपन' कर रही हैं।

उक्त पदको भलीभाँति समझनेके लिये यह आवश्यक है कि हम इसके रूपकको अलग कर लें और उसमेंसे सखियोंके वाद-विवादको अलग। 'खंजन-नैन' का सांग रूपक इस प्रकार पदमें पूरा होता है—

खंजन-नैन सुरँग-रस माते ।
अतिसय चारु बिमल चंचल ये पल-पिंजरा न समाते ॥
....
चलि चलि जात निकट काननि ह्वै सकि ताटंक-फँदा तैं ।
सूरदास अंजन-गुन अँटके नतरु कबै उड़ि जाते ॥

सखियोंकी बातचीत इस प्रकार है 'बसे कहूँ', 'सोइ बात कही सखि', 'रहे इहाँ केहि नातैं।' इसके बादकी पंक्तिका सम्बन्ध 'खंजन-नैन' से भी हो सकता है, पर हमारी समझमें इसकी व्यञ्जना तभी उचित होती है जब इसका सम्बन्ध राधाकी दशासे होता है। इसका प्रधान कारण यह है कि नेत्र प्रेममें मस्त हैं, खिन्न नहीं। खिन्नता तो स्वयं राधामें है। उसका श्रीकृष्णसे एक ओर तो वियोग हो गया है और दूसरी ओर सखियाँ उसकी रतिको ताड़कर उसके पीछे पड़ गयी हैं। अस्तु, इस पंक्तिका अर्थ है कि राधामें इस समय न तो वह प्रफुल्लता है और न वे हाव-भाव। उसमें तो केवल वियोगजनित खिन्नता और व्यग्रता है। चन्द्रावलीने राधासे प्रश्न किया था 'बसे कहूँ ?' राधाने उत्तर दिया था 'रहे इहाँ केहि नातैं।' चन्द्रावलीने राधासे कहा था कि 'तुम्हारी बातोंसे तो जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण तुम्हारे संग बसे थे।' राधाने टालते हुए उत्तर दिया कि 'यहाँ किसलिये रहने लगे ? हमारा-उनका सम्बन्ध ही क्या है ?' चन्द्रावलीने कहा अच्छा, इसीलिये आपकी यह दशा हो रही है कि आप खिन्न हैं और आपके नेत्र प्रियतममें लगे हुए हैं और उड़कर वहीं पहुँचना चाहते हैं। वे उड़कर चले भी गये होते, पर करें क्या, वे बेचारे तो 'अञ्जन-गुण', लोक-लाज या लोक-व्यवस्थामें बँधे हैं; किन्तु अञ्जन (कृष्ण-रंग) से रिक्त नहीं हैं।

प्रस्तुत पदकी व्याख्या करने हम नहीं बैठे हैं। अतएव प्रसङ्गवश जो उसकी ओर सङ्केत कर दिया गया है वही पाठकोंके लिये पर्याप्त है। इस पदमें जो 'बसे' और 'ताटंक'* पर ध्यान देगा वह स्वतः समझ

* ताटंक शब्द विचारणीय है। 'वार्त्ता' में केवल सांग रूपक दिया गया है। उसमें 'बसे' और 'सखि' शब्द नहीं हैं। पर ताटंक वहाँ भी बना है। 'ताटंक' स्त्रियोंके कानमें पहननेका एक भूषणविशेष है जिसे तरकी भी कहते हैं। सूरसागरमें राधाके ताटंकका उसी प्रकार वर्णन है जिस प्रकार श्रीकृष्णके कुण्डलका है। 'वार्त्ता' में यह पद इस प्रकार दिया गया है—'खंजन नैन रूप रस माते। अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते। चलि चलि जात निकट श्रवननके उलट पलट ताटंक फँदाते। सूरदास अंजन गुन अटके नातर अब उड़ि जाते।'

लेगा कि इसका प्रसङ्ग क्या है । प्रसङ्गको स्पष्टकर हमने यह दिखा देनेकी चेष्टा की है कि सूरसागरकी अधिकांश प्रतियोंमें जिस प्रसङ्गमें यह पद मिलता है वही इसका वास्तविक स्थान है और उसी प्रसङ्गमें, उसी अवसरपर इसकी रचना भी हुई है ।

यह तो हमने देख लिया कि इस पदका प्रसङ्ग क्या है और यह किसके सम्बन्धमें कहा गया है । अब हमको थोड़ा इस बातपर भी विचार कर लेना चाहिये कि इस व्यापक भ्रमका कारण क्या है । लोग इसको क्यों सूरदासका अन्तिम पद मानते हैं । और यदि अन्त समयका पद मान लिया जाय तो इसका तात्पर्य क्या है ?

हमारी धारणा है कि इस व्यापक भ्रमका मूल कारण 'चौरासी वार्त्ता' का यह कथन है 'इतनो कहिकै श्रीसूरदासजीके चित्त श्रीठाकुरजीको श्रीमुख तामें करुणारसके भरे नेत्र देखे, तब श्रीगुसाईंजी पूछो जो सूरदासजी नेत्रकी वृत्ति कहाँ है तब सूरदासजीने एक पद और कह्यो सो पद—'खंजन नैन रूप रसमाते'—इतनो कहत ही सूरदासजीने या शरीरको त्याग कियो सो भगवत्-लीलामें प्राप्त भये ।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस कथनमें केवल 'पद कह्यो' है । इसका तात्पर्य यह नहीं लगाया जा सकता कि सूरदासने इस पदकी रचना की । इसका सीधा-सादा अर्थ है कि सूरदासजीने इस पदका पाठ किया । इस पदका भाव जो ऊपर दिया गया है उसका स्पष्टीकरण इस बातसे हो जाता है कि सूरदासजीने इस पदके पहले जिस पदका पाठ किया था, वह है—

बलि बलि बलि हौं कुमरि राधिका नंदसुवन जासौं रति मानी॥
वे अति चतुर तुम चतुरसिरोमनि प्रीति करी कैसे होत छानी॥
वे जु धरत तन कनक पीतपट सो तो सब तेरी गति ठानी ॥
ते पुनि स्याम सहज वे सोभा अंबर मिस अपने उर आनी ॥
पुलकित अंग अबहिं ह्वै आयो निरखि देखि निज देह सयानी ॥
सूर सुजान सखीके बूझे प्रेम प्रकास भयो बिहँसानी ॥

इस पदके पाठके विषयमें 'वार्त्ता' का कथन है—'सूरदासजीको मूर्छा आयी तब श्रीगुसाईंजी कहें जो सूरदासजी चित्तकी वृत्ति कहाँ है । तब सूरदासजीने एक पद और कह्यो ।' 'वार्त्ता'के कथनोंसे स्पष्ट अवगत हो जाता है कि सूरदास उस समय नये पदोंकी रचना नहीं कर रहे थे, बल्कि अपने प्रिय पदोंका गान कर रहे थे । उनके अन्य पद भी सूरसागरमें संग्रहीत हैं । और उनका प्रसङ्ग भी ठीक-ठीक मिल जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास किस प्रकार मरते समय भी अपने ललित पदोंका गान करते तथा उन्हें आनन्ददायक समझते थे ।

यहाँपर प्रश्न उठता है कि सूरदासने अन्तिम समय श्रीकृष्णका ध्यान न कर श्रीराधाका ध्यान क्यों किया और किस प्रेरणासे प्रेरित होकर किस इष्टकी प्राप्तिके लिये मरते समय भी सूरदासने 'रति' का प्रसङ्ग छेड़ा । श्रीराधाके सम्बन्धमें जो लेख निकल रहे हैं और सूरको जो कुत्सित किया जा रहा है उसका एकमात्र कारण है भक्ति-भावनाके मर्मसे अपरिचित रहकर भी भक्तोंका भाव चूसना । राधा तथा सूरको समझनेके लिये इस प्रश्नपर विचार करना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है । सूरदासने स्वतः कहा है—

रूप-रासि सुख-रासि राधिका सील महा गुनरासी ।
कृष्ण चरन ते पावहिं स्यामा जे तुव चरन उपासी ॥
जगनायक जगदीस पियारी जगत जननि जगरानी ।
नित विहार गोपाल लाल सँग बृन्दावन रजधानी ॥
अगतनि को गति भक्तनकी पति श्रीराधापद मंगलदानी ।
असरन-सरनी भव-भय-हरनी वेद पुरान बखानी ॥
रसना एक नहीं सत कोटिक सोभा अमित अपारी ।
कृष्ण-भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी ॥

सूरदास श्रीराधाको क्या समझते थे, इसका कुछ पता तो चल गया होगा । जो लोग श्रीराधाको जीव समझते हैं उनको एक बार अच्छी तरह सूरका अध्ययन कर लेना चाहिये । राधाको सूर श्रीकृष्णकी शक्ति समझते

थे। यहाँ राधा, श्रीकृष्ण एवं गोपियोंके प्रसङ्गपर विचार करना नहीं है। हमें तो यह स्पष्ट करना है कि सूरदासने राधाकी दशा तथा उनके नेत्रोंके भावका स्मरण इसलिये किया कि राधा भी, लीलाके लिये ही सही, श्रीकृष्णकी चिन्तामें इतनी मग्न थीं कि उनको यदि किसी प्रकारके बन्धनका सामना न करना होता तो वे श्रीकृष्णमें समा जातीं। सूरके नेत्र राधाके नेत्रोंकी उस दशाका अनुभव कर रहे थे जिसमें पड़कर उन बेचारों-को श्रीकृष्णका दीदार दुर्लभ हो गया था और वे उन्हींके पास उड़कर जाना चाहते थे। पर लोकलाजके कारण जा नहीं पाते थे। सूरदासके कहनेका अर्थ था कि नेत्र तो उड़कर श्रीकृष्णके रूपमें लय हो जाना चाहते हैं पर करें क्या, श्रीकृष्णकी लीला अपरम्पार है। उनकी मायाने जो सृष्टि की है अभी उनके नेत्र उसी 'अञ्जन-गुण' में अटके हैं। यदि उनपर कृष्णकी कृपा हो जाती और वे अपनी मायाको समेट लेते तो उन्हें श्रीकृष्णका साक्षात्कार हो जाता। उनकी भी ठीक वही दशा है जो सखियोंके बीचमें राधाके नेत्रोंकी थी। तात्पर्य यह कि सूरदास अब शीघ्र ही श्रीकृष्णलोकमें जाना चाहते हैं और बीचमें किसी अन्य व्यवधानको नहीं देख सकते। राधाका अवतरण इसलिये होता है कि हम उनसे प्रेम करना सीख लें। राधा एक तो सामान्य गोपीके रूपमें हमारे सामने आती हैं और हमें प्रेम करना सिखाती हैं; दूसरे उनका वह रूप भी बना रहता है जिसका उल्लेख उक्त पदमें किया गया है। श्रीकृष्ण भी इन्हीं दो रूपोंमें हमारे सामने आते हैं। सूरदासने इस पदमें श्रीकृष्णके माधुर्य-भावकी कामना की है, ऐश्वर्य-भावकी नहीं। अवतार लेनेका प्रधान कारण धर्मकी व्यवस्था और दुष्टोंका दलन होता है। यही भक्तोंकी दृष्टिमें प्रभुकी प्रभुता है। कहना न होगा कि भगवान्के इस रूपमें आनन्दके साथ ही विषाद भी मिला रहता है। अतएव आनन्दके पक्के उपासक इस ऐश्वर्य-भावकी उपासना न कर भगवान्-के उस भावकी उपासना करते हैं जो दुष्टोंकी शत्रु-भावकी उपासना भी स्वीकारकर उन्हें मुक्त कर देता है और काम-भावके उपासकोंको परम कान्तके रूपमें मिल जाता है। सूरदासने श्रीकृष्णके माधुर्य-भावको चुना और उस रसिककी उपासना की जिसके लिये राधाके नेत्र परवश होकर ललक रहे थे। निदान हमको कहना पड़ता है कि यदि सूरदासने अन्तिम समय 'खंजन नैन सुरंग रसमाते' का गान किया तो उसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने इसकी रचना भी उसी समय की; प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि सूर कृष्णके दीदारके लिये तरस रहे थे, किन्तु लोक-बन्धन-से मुक्त नहीं हो पाते थे। प्रिय पदोंको सङ्कट या मौजके समय सभी गाते हैं। फिर सूर तो उसके निर्माता थे।

अवगुन किये तो बहु किये करत न मानी हार।
भावैं बंदा बकसिये, भावैं गरदन मार॥
औगुन मेरे बापजी बकस गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं तऊ पिताको लाज॥

—कबीर

एक सती

(लेखक—पं० श्रीलालारामजी शुक्ल)

इस विशाल विश्वकी क्रीडास्थलीमें देश, काल और वस्तुके चाहे कितने परिवर्तन ही होते रहें, समाज और संस्थाओंके भीषण तूफान अपनी प्रबलताका कितना ही वेग दिखावें, संसारके उच्चातिउच्च मस्तिष्कोंकी विचारतरंगें चाहे कितनी ही टक्करें खायँ, परन्तु सत्यके स्वयं जाज्वल्यमान प्रदीपपर ये एक छिटक भी नहीं डाल सकते । यह वह प्रदीप है जिसको संसारकी कोई शक्ति बुझा नहीं सकती; यह सदा अविच्छिन्नरूपसे प्रकाशित रहा है और प्रकाशित रहेगा । इस सत्य प्रदीपका प्रकाश समय-समयपर हमारी आँखोंमें चकाचौंध पैदा कर देता है, हमारे मस्तिष्कोंको शून्य बना देता है और हमारी बुद्धि तथा चतुराईको चूल्हेमें झोंक देता है; तब हम किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कहने लगते हैं कि उस लीलाधारीकी लीला कुछ समझमें नहीं आती । इसी सत्यको प्रदर्शित करनेवाली एक सच्ची घटनाका विवरण पाठक-पाठिकाओंके सम्मुख रक्खा जाता है ।

हरदोई जिलान्तर्गत कस्बा साडीके पास एक इकनौरा नामका ग्राम है । जिसमें नवाब खान्दानके एक बड़े सज्जन व्यक्तिकी ज़मींदारी है । इसी ग्राममें पं० छोटेलालजीके गृहमें उनकी धर्मपत्नीकी कुक्षिको पवित्र करनेवाला एक कन्यारत्न अवतीर्ण हुआ; जिसका नाम रेशमदेवी प्रसिद्ध हुआ ।

जबतक बाल्यकाल रहा तबतक यह कन्या अपने स्वभावसे सबको प्रेमविभोर करती रही । ग्रामोंमें शिक्षाका संस्कार कम होनेके कारण इसकी शिक्षा लगभग हिन्दीके चौथी कक्षातक ही समाप्त हो गयी । परन्तु बचपनहीसे इसको रामायणसे विशेष प्रेम रहा, यहाँतक कि जिस दिनसे रामायण पढ़ना प्रारम्भ किया फिर छूटा ही नहीं । कन्याका रूप सुन्दर और स्वभाव बड़ा लजीला था । परोपकारवृत्ति स्वभावमें कूट-कूटकर भरी हुई थी । अपनी शक्ति-अनुसार वह पास-पड़ोसवालोंकी तथा हेली-मेली सबकी सहायता करनेको सदा उद्यत रहती थी । छोटे-बड़े सभी उससे प्रसन्न रहे । 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' वाली कहावत पूर्णरूपसे चरितार्थ हुई ।

धीरे-धीरे समय बढ़ता गया और रेशमदेवी विवाहके योग्य हुई । तेरह सालकी आयुमें कसरावाँ ग्रामके निवासी पं० दीनदयालजी मिश्रके सुपुत्र पं० वंशीधरजीसे, जो कि अंग्रेज़ीके सातवें या आठवें क्लासमें पढ़ते थे, उनका विवाह निश्चित हुआ और आनन्दपूर्वक सुचारुरूपसे शादी हो गयी । शादीके पश्चात् वंशीधरजी अपनी ससुराल इकनौरा दो-एक बार आये-गये ।

समय बीतनेपर गौना होनेकी बात चली और इसी गत ज्येष्ठके महीनेमें गौना होना निश्चित हुआ । परन्तु विधाताका विधान कुछ और ही था । गौना होनेकी तिथिमें केवल एक सप्ताह शेष रहा, तब रेशमदेवीके पति वंशीधरजी अचानक बीमार पड़ गये । और इकनौरा सूचना दी गयी कि वे अत्यन्त भीषण रोगसे ग्रसित हैं कोई देखना चाहे देख ले ।

चूँकि यह दुःखद संवाद शामको मिला था, इसलिये रेशमदेवी तथा कुटुम्बियोंने जैसे-तैसे रात काटी । प्रातः होते ही रेशमदेवी लहड़ूमें बैठकर अपने मामा श्रीरामके साथ पिताकी आज्ञासे कसरावाँको रवाना हुई । अपने प्रियतमके दर्शनके ध्यानमें संलग्न मार्गमें चली जा रही थीं कि अचानक उनके

मुँहसे निकला कि 'मामा ! काम तो हो गया चलना व्यर्थ है ।' मामाने कहा घबड़ाओ नहीं । थोड़ी ही देरमें एक आदमीसे सूचना मिली कि वंशीधर इस असार संसारसे विदा हो गये, और उनका शव गंगाजीको आ रहा है, अब कसरावाँ न जाकर उधर ही चलना चाहिये । इन वज्रतुल्य शब्दोंकी चोटसे रेशमदेवीको जो व्यथा हुई होगी उसको कोई भी नहीं लिख सकता । लेकिन फिर भी वह चुपचाप थीं, शान्त थीं और उनके नेत्रोंमें एक भी आँसू नहीं था । वह शान्तिकी पुजारिन न माल्म किस देवके ध्यानमें ध्यानावस्थित थीं ।

जिस मार्गसे पतिका शव जा रहा था, उसी ओर-को रेशमदेवीका लहड़ू रवाना हुआ । करीब दो घड़ी दिन रहे रेशमदेवीको अपने प्रिय पतिकी लाश देखनेको मिल गयी, और गौना हो गया । देवी फूट-फूटकर रोने लगीं, और मृत शरीरके पास जाकर अपनी साड़ीके छोरसे पतिका मुँह पोंछा और रोकर कहा कि 'बोलो' परन्तु कौन बोले ? फिर दुबारा कहा कि 'बोलना पड़ेगा' इतनेहीमें लोगोंने खींच-कर उसे अलग कर दिया, और फिर शवके पास बहुत कम जाने दिया । यह रात्रि जैसे-तैसे सबको वहीं काटनी पड़ी ।

प्रातः भगवान् भास्करकी किरणोंके प्रकट होनेके साथ-ही-साथ, रेशमदेवीका पवित्र विचार भी प्रकट हो गया । उन्होंने अपने ससुर, जेठादिके चरण स्पर्श करके कह दिया कि मैं सती होऊँगी । और उसी समयसे अपने सिरसे साड़ी हटाकर कन्धोंपर कर ली । जब अनेकों प्रकार समझा-बुझाकर भी लोग उनके पवित्र विचारको रोकनेमें सफल न हुए तो देवीके मामा आदि सम्बन्धियोंने पकड़कर उन्हें लहड़ूमें बैठा लिया, वह बेचारी पर कटे हुए पक्षीकी भाँति फड़फड़ाती हुई अन्तमें मूर्छित हो गयीं ।

उधर वंशीधरका मृत शरीर अन्तिम संस्कारके अर्थ गंगाजीको रवाना हुआ । और इधर रेशमदेवीका मृततुल्य ही मूर्छित शरीर इकनौरा ले जाया गया । तीन-चार घण्टे पश्चात् मूर्छावस्थाहीमें देवीका शरीर उतारकर आँगनमें रख दिया गया । चेत होनेपर उन्होंने कई बार उठ-उठकर पतिके पास जानेका प्रयास किया, पर बलात् रोक लिया गया ।

जब देवीने जाना कि इस भाँति काम न चलेगा; तो वह शान्त हो गयीं और उठकर भलीभाँति स्नान किया तथा नित्यकी भाँति तुलसीजीकी पूजा और आरती करके, श्रीरामायणजीका अन्तिम पाठ करने बैठ गयीं । पाठ समाप्त करके पुनः अपना 'सती होने' का दृढ़ विचार प्रकट किया । उसी समय एक वृद्ध कुटुम्बीने कहा कि 'देखो बिना पति-देहके कोई सती नहीं होती, सुलोचना भी तो पतिका शीश लाकर ही सती हुई थी ।' देवीने उत्तर दिया कि 'नहीं, ऐसा नहीं, सुलोचना तो भगवान्के दर्शनके लिये गयी थी । दैवयोगसे शीश भी मिल गया तो ले लिया । स्त्रीका सारा शरीर ही पतिका शरीर है । पतिव्रता-को सती होनेके लिये पतिशरीर ही अनिवार्य नहीं है । उसे तो केवल 'सत्' चाहिये ।' इसपर लोगोंने कहा कि बिना कोई सत्की बात देखे कैसे विश्वास हो कि तुम सती हो सकती हो । देवीने झट अपनी कनिष्ठिका अँगुली जलती हुई आरतीसे लगा दी और अँगुली मोमबत्तीकी भाँति जलने लगी । जब आधी जल गयी तब देवीने कहा कि देखो 'मेरे पतिदेवका शरीर भी अभी जला नहीं है, चिता तैयार हो गयी है और लोग उनको स्नान करा रहे हैं । शीघ्रता करो मुझे स्नान कराओ नहीं तो मकानादि सब भस्म हो जायगा ।' बस फिर क्या था, लोगोंके मस्तिष्क चकराये, कोलाहल मच गया । देवीने अँगुली दिवालसे रगड़ दी, वह बुझ

गयी। जो निशान अँगुली बुझानेसे दीवालपर बन गया था उसे अपनी माताके लिये छोड़ा क्योंकि माता पहलेहीसे दूसरे ग्राममें अपने किसी सम्बन्धी-के यहाँ गयी हुई थीं। देवीने लोगोंसे कहा कि 'मेरा यह निशान माताको दिखाकर समझा देना कि तुम्हारी रेशम पतिके साथ जा रही है।'

पश्चात् देवी उठ खड़ी हुईं, एक मुट्ठीभर कुश बगलमें दबाया, एक हाथमें अपने अन्तिम काल-तकके आश्रय परम प्रिय रामायणकी पुस्तकको लिया और दूसरेमें आरतीकी कटोरी। इस दशामें सिर खोले हुए दुर्गारूपिणी देवी घरसे निकल पड़ीं। आगे-आगे तेजपुञ्ज मूर्ति जा रही थी और इधर-उधर हज़ारों आदमियोंकी भीड़ चल रही थी। जिस बागमें बारात ठहरी थी उसीमें एक पीपल वृक्षके नीचे, जहाँ-पर पतिकी पीनस रही थी, उन्होंने स्थान पसन्द किया। अति शीघ्र वह स्थान गोबरसे लिपवाया, उस-पर कुश बिछा दिये, चन्दन छिड़का और आरतीकी कटोरी अलग रख दी। श्रीरामायण दोनों हाथोंमें दबाकर पूर्वाभिमुख एक पैरके बल खड़ी हो गयीं और जैसा कि घरसे निकलते समयसे राम-राम उच्चारण करती आ रही थीं वैसा ही करती रहीं। दो-तीन मिनट बाद एकदम दक्षिणको मुँह किया और आसन बाँधकर बैठ गयीं। अब ओष्ठ चलते थे लेकिन आवाज़ नहीं थी। एक मिनटके अन्दर ही तमाम शरीरसे लपटें निकलने लगीं। नीचेकी ओरसे शरीर जलने लगा। जितना शरीर जलता था उतनी ही साड़ी जलती थी। बादको जब सिर नीचेको झुका तब आगकी एक लौ पचीस-तीस फीटतक ऊँची गयी। शरीर लगभग जल चुका था तब लोगोंके कुछ नेत्र खुले और सती-का सत् समझमें आया। फिर श्रद्धा और पूज्यभावसे घी, मेवादि चढ़ाया गया, जय-जयकारका घोष किया, और लोगोंने अपनेको धन्य समझा।

इस प्रकार बिना किसी वस्तुके संयोगके स्वतः प्रज्वलित हुई प्रेम-अग्निसे सप्तदशवर्षीया प्रेमिणीका पुनीत शरीर शान्त हो गया। जगत्‌में यश छा गया, माता-पिताका जीवन धन्य हुआ, और पातिव्रत धर्म-का अटल नियम अटल हो गया।

अब समाधि बन गयी है जिसके दर्शन करके और स्थानीय लोगोंसे सतीचरित्र सुनकर दर्शकगण अपनेको कृतार्थ समझते हैं और मुझे तो यही स्मरण आता है कि—

पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।
सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥

गोपियोंके आँसू

गोपिनुके अँसुवानकौ नीर पनारे भये, बहिकैं भये नारे।
नारेनहूसों भईं नदियाँ, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कगारे॥
बेगि चलौ तो चलौ ब्रजकों कवि 'तोष' कहैं ब्रजराजदुलारे!
वै नद चाहत सिंधु भये, अब नाहिं तो ह्वैहै जलाहल सारे॥

—तोष

आत्मबोध

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

"संसारहृत्कः श्रुतिजात्मबोधः
को मोक्षहेतुः कथितः स एव"

श्यामा—हे बहिन ! प्रश्नोत्तरीमें शिष्यका प्रश्न है कि संसारको हरनेवाला कौन है। इस प्रश्नका उत्तर पूज्यपाद भाष्यकारने यह दिया है कि श्रुतिसे उत्पन्न हुआ आत्मज्ञान संसारको हरनेवाला है। और जब शिष्यने मोक्षका कारण पूछा, तो उसके उत्तरमें भी आचार्यने उसी आत्मज्ञानको मोक्षका कारण बतलाया। मैं तुझसे यह पूछती हूँ कि संसार क्या है ? क्या यह जो बाहर दीखता है यही संसार है अथवा इसके अतिरिक्त कोई और भी संसार है ? आत्मबोध यानी अपना ज्ञान सबको है ही, सब अपनेको जानते ही हैं कि हम हैं, कोई ऐसा नहीं जानता कि मैं नहीं हूँ। छोटे-बड़े सभी अपनेको 'हम हैं' ऐसा कहते हैं, तब आत्मबोध अथवा आत्मज्ञानसे संसारका नाश, और मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह कहना कैसे बनता है ? और श्रुतिसे ही आत्मज्ञान क्यों होता है ?

कोकिला—हे बहिन ! यह दीखता हुआ संसार असली संसार नहीं है, संसार तो सबके मनमें रहता है। मनका संसार ही बाहर देखनेमें आता है और यह मनका संसार सबका अलग-अलग है। इसीलिये वेदवेत्ता कहते हैं कि प्रत्येक जीवकी सृष्टि भिन्न-भिन्न है। संसार कहते हैं संसरणको, और संसरण नाम चलनेका है। इसलिये मनका चलना ही संसार है। सुषुप्तिमें जब हम सो जाते हैं तब मन अपने कारण-रूप अज्ञानमें लय हो जाता है। मनके लय होनेसे वहाँ जगत् नहीं भासता, और जगत्के सुख-दुःख भी नहीं भासते। इससे यह सिद्ध है कि मनका संसार ही जीवको सुख-दुःख देनेवाला है, बाहरका नहीं। संसार मनमें ही है बाहर नहीं है; और यदि बाहर है भी तो जीवकी उससे कुछ हानि नहीं है, हानि-लाभ तो मनके संसारसे ही है। अतएव मन ही संसार है। भगवान् पतञ्जलिका कथन है कि अनर्थका मूल कर्माशय है, मूल होनेसे उसका फल जन्म होता है और जन्मसे आयु और भोग होते हैं। श्रुतिमें भी कहा है कि बन्ध और मोक्षका कारण मन है। जबतक मन है तबतक संसार है। मनका नाश ही मोक्ष है।

हे बहिन ! इन सब बातोंसे सिद्ध हुआ कि मन ही संसार है और जन्म-मरणका कारण भी मन ही है। इसलिये जन्म-मरण ही संसार है और यह जन्म-मरणरूप संसार आत्माके अज्ञानसे है। आत्माके ज्ञानसे इसकी निवृत्ति हो जाती है। अतएव पूज्यपाद आचार्यका यह कथन ठीक ही है कि आत्मबोध संसारका हरनेवाला है, और वही मोक्षमें हेतु है।

श्यामा—हे बहिन ! तब क्या बाहरका यह संसार व्यर्थ ही है ?

कोकिला—नहीं, बाहरका संसार वृथा नहीं है। मूर्खोंको बाहरका संसार मोहित करनेवाला है, और चतुर पुरुषोंको वैराग्यकी शिक्षा देता है। संसारकी कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, सभी चलायमान हैं, क्षण-क्षणमें बदलती रहती हैं। जो दिन चला गया सो चला गया, वह फिर नहीं आता। बालकपन गया सो गया, फिर वह मुख नहीं दिखाता। बालकपनेके पीछे जवानी और जवानीके पीछे बुढ़ापा आ जाता है। मृत्यु तो बालक, जवान और बूढ़ा देखती ही नहीं।

वह सबके सिरपर सवार रहती है। चाहे जब चीलके समान झपटा मारकर भाई-बन्धुओंके देखते-देखते ही वह मनुष्यको इस मनुष्यलोकसे ऐसे लोकमें ले जाती है, जहाँसे फिर उसकी कोई खबर ही नहीं आती। धन और ऐश्वर्य आदिका भी यही हाल है, वे आते हैं और चले जाते हैं। ऐसे अस्थिर संसारको भी सत्य मानकर मूर्ख भाई-बहिन स्त्री, पुत्र, धन, धाम आदिमें मन लगाकर उनके होने और न होने दोनोंमें दुखी रहते हैं। चतुर पुरुष इस क्षणभङ्गुर संसारमें मन न लगाकर अपने आत्मा परमेश्वरमें मन लगाकर उसीकी भक्ति करके, इस असार संसारसे पार हो जाते हैं।

हे बहिन ! जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह संसार आत्माके अज्ञानसे सिद्ध है और आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाता है। आत्मा एक है, वह सबका अपना आप है, नित्य है, अपरिच्छिन्न है और देहसे भिन्न है। देहकी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। देह जड है, दृश्य है, परिच्छिन्न है, और परिणामशील है। देह और देही (आत्मा) का स्वरूप भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायके ११ श्लोकसे लेकर ३० श्लोकतक समझाया है, उन श्लोकोंका मनन करनेसे आत्माका स्वरूप समझमें आ जाता है। उन श्लोकोंका सार यह है कि आत्मा होने, जन्मने, बढ़ने, घटने, बदलने और मरनेसे रहित है। यह छः धर्म देहके हैं, देही यानी आत्माके नहीं हैं। यह आत्मा सब शरीरोंमें एक ही है। जैसे कपड़ा देहसे भिन्न होता है, इसी प्रकार देहसे आत्मा भिन्न है। देहसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी आत्माके अज्ञानसे मनुष्य देहके धर्म जन्म-मरण आदिको आत्माके मानकर यानी अपनेको देह समझकर देहके पालन-पोषणार्थ किसीसे राग और किसीसे द्वेष करता है। जब उसको आत्माका विवेक होता है, तब वह राग-द्वेष छोड़ देता है और संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है, आत्मबोधके अतिरिक्त संसारसे मुक्त होनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

हे बहिन ! यह जो तूने कहा कि आत्माको सब जानते ही हैं कि 'हम हैं' कोई ऐसा नहीं जानता कि मैं नहीं हूँ। यह बात ठीक है। अपना सामान्य ज्ञान तो सबको ही है, परन्तु विशेष ज्ञान बिना श्रुतिके किसीको नहीं होता; 'मैं कौन हूँ' इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर श्रुतिवाक्यसे ही मिलता है। सामान्य मनुष्योंका तो कहना ही क्या है, आत्माके जाननेमें शास्त्रकारोंका भी मतभेद है। कोई देहको आत्मा मानता है, कोई इन्द्रियोंको, कोई मनको और कोई बुद्धिको ! कोई आत्माको कर्ता मानता है, कोई भोक्ता मानता है, और कोई कर्ता-भोक्ता दोनों मानता है। कोई आत्माको चेतन कहता है, कोई अचेतन कहता है और कोई चेतन-अचेतन दोनों कहता है। इस प्रकार आत्माके माननेमें मतभेद है। इसलिये वास्तविक आत्माका जानना आवश्यक है, वास्तविक आत्माके जाने बिना मोक्ष नहीं होता। मोक्ष वास्तविक आत्माके ज्ञानसे ही होता है, इसलिये आत्मबोधसे मोक्ष होता है यह आचार्यका कथन ठीक ही है।

हे बहिन ! यह आत्मा श्रुतिप्रमाणसे ही जाननेमें आता है, अन्य प्रमाणोंसे जाननेमें नहीं आता। श्रुति ब्रह्मविद्याका नाम है, ब्रह्मविद्या ईश्वरकी बनायी हुई होनेसे अलौकिक है, अलौकिक ब्रह्मविद्यासे ही ब्रह्म यानी आत्मा जाननेमें आता है। अन्य प्रमाण जीवोंके बनाये हुए होनेसे लौकिक हैं। लौकिक प्रमाणोंसे ब्रह्मका जानना असम्भव है। श्रुति यानी ब्रह्मविद्या भी ब्रह्मको साक्षात् नहीं बताती, किन्तु तात्पर्यवृत्तिसे बताती है, यानी पहले ब्रह्ममें जगत्का आरोप करती है, और पीछे आरोप किये हुएका अपवाद यानी बाध करके ब्रह्मको लखाती है क्योंकि किसी सत्य

वस्तुके हुए बिना आरोप नहीं हो सकता और निषेध की हुई सब वस्तुओंकी कहींपर अवधि होती है। इसलिये जो जगत्का अधिष्ठान और अवधि है वही सत्य वस्तु है, वही ब्रह्म है, और वही सबका आत्मा यानी स्वरूप है। शुद्ध मनवाला अधिकारी सब जगत्का बाध करके शेष बचे हुए ब्रह्मको अपने आत्मरूपसे जान लेता है।

हे बहिन ! अशुद्ध मनवाला श्रुतिवाक्यसे भी आत्माको नहीं समझ सकता, शुद्ध मनवाला ही समझ सकता है। इसलिये कल्याणके अभिलाषी भाई-बहिनोंको आत्मबोधकी प्राप्तिके लिये मनको शुद्ध करना चाहिये। मनको शुद्ध करनेका उपाय अष्टाङ्गयोग है, परन्तु अष्टाङ्गयोग आजकलके भाई-बहिनोंके लिये सुलभ नहीं है, इसलिये श्रेयाभिलाषियोंको सगुण ब्रह्मके गुण गा-गाकर मनको शुद्ध करना चाहिये ! विद्वानोंका अनुभव है कि सगुण भगवान् और भक्तोंके गीत गानेसे जितना जल्दी मन शुद्ध होता है उतना जल्दी अष्टाङ्गयोगसे भी नहीं होता। गीता, भागवत, रामायणादि शास्त्रोंमें पूर्वके ऋषि मुनियोंने भगवान्के गीत गाये हैं। उनका अथवा उनमेंसे किसी एकका पठन-पाठन अथवा श्रवण करनेसे मन शीघ्र ही शुद्ध होकर आत्मबोधप्राप्तिके लिये योग्य हो जाता है। शुद्ध मनवाले पुरुषको ब्रह्मनिष्ठ गुरुके मुखसे एक बार ही महावाक्यका अर्थ सुननेसे आत्मबोध हो जाता है। और एक बारका हुआ यथार्थ आत्मबोध फिर कभी विस्मरण नहीं होता। वह सर्वदा बना रहता है।

सरला नामकी एक बहिन भागवतका नित्यप्रति पाठ किया करती थी, कुछ दिनोंमें उसका मन शुद्ध हो गया, और गुरु एवं ईश्वरकी कृपासे उसे ज्ञान भी हो गया। फिर भी उसने भागवतका पढ़ना नहीं छोड़ा। बहुत-सी बहिनें उसके पास भागवतकी कथा सुनने जाया करती थीं। और वह बड़े प्रेमसे उनको सुनाया करती थी। कुछ दिनोंमें उसे संसार स्वप्न-सा दिखायी देने लगा और वह इतनी शान्त हो गयी कि कोई उसे कितना ही भला-बुरा कहे उसके मनमें कभी क्षोभ ही नहीं होता था। संसारमें भले-बुरे सब प्रकारके मनुष्य होते हैं, कोई उसकी निन्दा करता, कोई स्तुति करता। परन्तु वह किसीकी निन्दा-स्तुतिपर ध्यान न देकर सर्वदा शान्त बनी रहती। स्तुति करनेवाले परस्पर कहते कि अजी सरलादेवी क्या है, सचमुच देवी है, इसके सङ्गसे बहुत-सी बहिनें सुधर गयी हैं। हमारे पड़ोसकी सब स्त्रियाँ सरल स्वभाववाली हो गयी हैं। चम्पा पहले बहुत क्रोध किया करती थी, अब चाहे कुछ भी कहो, उसे क्रोध ही नहीं आता। चमेली सबसे लड़ा करती थी, गाली-गलौज किया करती थी, अब वह कभी भूलकर भी गन्दी और कड़ी जबान मुँहसे नहीं निकालती, सबसे मीठा बोलती है। बसन्ती देवरानी-जेठानीके लड़कोंको देखकर जला करती थी, अब तो वह उनको अपने बच्चोंसे भी बढ़कर प्यार करती है। मनोहरकी बहू अपने पतिसे वस्त्रा-भूषणोंके लिये दिन-रात झगड़ा किया करती थी, अब वह गहना तो कभी माँगती ही नहीं है, और कपड़ा जो पति ला देता है उसीको सहर्ष पहन लेती है। मोटे कपड़ेसे विशेष राजी रहती है। सालभर हुआ एक नयी बहू आयी है, वह साससे कभी सीधी नहीं बोलती थी, सदा चिल्लाकर बोला करती थी, अब वह ऐसी सीधी हो गयी है कि सबेरे ही उठकर सासके पैर छूती है, और सास कुछ भी कह ले कुछ उत्तर नहीं देती। जिसके सङ्ग-साथसे उसके पास बैठनेवालियोंका जब इस प्रकार दुष्ट स्वभाव छूटकर शुद्ध स्वभाव हो गया है तब उसकी शान्तिका तो कहना ही क्या है। वह तो साक्षात् शान्तिकी मूर्ति ही है। सचमुच

हमारा भाग्य उदय हुआ है कि जिनके पड़ोसमें ऐसी सरल स्वभाववाली, सदाचारिणी, जितेन्द्रिया, ब्रह्मचारिणी, बुद्धिमती सरलादेवी रहती हैं। हमारी स्त्रियाँ भी धन्य हैं जो ऐसी सुशीलाका सङ्ग करती हैं इत्यादि अनेक प्रकारसे शिष्ट पुरुष सरलाकी प्रशंसा करते थे। कई दुष्ट पुरुष निन्दा भी करते थे। कहा करते थे कि अजी इस सरलाने सारे मुहल्लेको बिगाड़ दिया। अभीसे सब वैरागिन-सी हो गयी हैं, जिसको देखो वही माला घुमाती रहती है, जब देखो तब उसीके घर बैठी दिखायी देती हैं। गहने-कपड़ेकी इज्जतको इज्जत ही नहीं समझतीं। बस, सत्सङ्गकी ही बात किया करती हैं। पुरुष कुछ कहे तो सुनती भी नहीं हैं। हाँ, इतना अच्छा है कि पुरुषको कोई स्त्री उत्तर नहीं देती। सम्भव है कि आगे उत्तर भी देने लगेंगी इत्यादि अनेक प्रकारसे बहुत-से लोग निन्दा भी किया करते थे। परन्तु सरलादेवी निन्दा-स्तुतिमें समान ही रहती थीं। हे बहिन! यह आत्मबोधकी महिमा है कि आत्मज्ञानी भाई-बहिन निन्दा-स्तुति, मानापमान, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समान रहते हैं। क्योंकि वे सब भूतोंमें अपने आत्मा एक जनार्दनको ही देखते हैं, इसीलिये वे किसीसे राग-द्वेष नहीं करते। अतएव जबतक जीते हैं यहाँ सुखी रहते हैं और अन्तमें विष्णुके परमपदको प्राप्त होते हैं।

सच कहा है—

कुं०—महिमा सम्यकबोधकी, सकै न कोई गाय।
जीवत ज्ञानी पाय सुख, अन्त परमपद पाय॥
अन्त परमपद पाय, बोधकी महिमा अद्भुत।
नर होवे या नारि, पाय पद होवै अच्युत॥
'जयदेवी' भज आत्म, त्याग दे अणिमा लघिमा।
भगवत गाई आप, आत्मज्ञानीकी महिमा॥

ईश्वरकी दयाका ज्वलन्त प्रमाण

(लेखक—एक दीन)

गत ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीयाको दरभंगेके लक्ष्मीसागर तालाबपर श्रीजंगलीबाबा साधुके दर्शन करनेके लिये कादराबाद मुहल्लेके पश्चिम-दक्षिणकी ओर रहनेवाले श्रीकुञ्जविहारी मिश्र वैद्य गये। इनके भाई श्रीसत्यदेव मिश्र भी चिकित्सक हैं और उनका औषधालय दरभंगेमें कादराबाद मुहल्लेमें है। गत भूकम्पके सम्बन्धमें बाबाजीद्वारा कुशलप्रश्न किये जानेपर श्रीकुञ्जविहारीजीने कहा—

मेरी एक विवाहिता कन्या, जिसकी उम्र लगभग चौदह-पन्द्रह वर्षकी है, बचपनसे ही ईश्वरमें अनुरक्त रहती है। वह त्रिकाल स्नान करती है, नियमसे पूजा-पाठ करती है और उत्तम पुस्तकें पढ़ती है। उसने श्रीबद्रीनारायणधामकी यात्रा भी की है और वहाँसे लौटनेपर वह बड़ी श्रद्धाके साथ भगवत्-मूर्तिकी पूजा करती है। उसकी मुख्य निष्ठा है श्रीभगवान्‌की सेवा और स्मरणमें सदा अनुरक्त रहना। इसमें वह श्रीमीराबाईको अपना आदर्श मानती है। सावित्री, सत्यवान् आदि पातिव्रतसम्बन्धिनी कथाओंको बड़ी श्रद्धासे पढ़ती है और पतिव्रत-धर्मको अपना आदर्श समझती है। श्रीभगवान्‌की सेवामें जीवन लगानेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेपर भी वह पिता-माताकी आज्ञाको शिरोधार्यकर विवाहके लिये सहमत हुई थी। परन्तु अब भी भगवत्सेवा ही उसके जीवनका मुख्य व्रत है और वह अपना अधिकांश समय ईश्वर-स्मरणमें ही बिताती है।

गत १५ जनवरीके भीषण भूकम्पके दिन कम्प होनेके समय वह अपने मकानके दोमंज़िलेपर अकेले

मध्याह्न-स्नान कर रही थी। नीचेके लोगोंके भागनेका कोलाहल सुनकर वह नीचे उतरी और सड़कके तरफ निकलकर भागने लगी। इसके निमित्त उसे तीन कोठरियोंको लाँघना पड़ा। इसके बाद जब वह निकली तो निकलते ही उसपर अपने मकानकी दीवार गिर पड़ी, साथ ही दो और मकानोंकी दीवार भी उस-पर पड़ीं। यों तीन दीवारोंका ढेर उसपर पड़ गया और वह उसके नीचे दब गयी। भूकम्पके बाद हमलोग आँगन तथा मकानके अन्य मुख्य-मुख्य स्थानोंसे मलबा हटवाने लगे, क्योंकि हम समझे हुए थे कि लड़की यहीं कहीं दबी होगी। वह इतनी दूर जाकर दबी है यह किसीने नहीं समझा था। तीन दिनोंके बाद जब उस स्थानका मलबा हटाया गया तब वह लड़की अर्धचेतन अवस्थामें वहाँसे निकाली गयी। होशमें आनेपर लड़कीने अपने दबनेकी घटना बतलाकर कहा कि जब दबे रहनेमें मुझे असीम कष्ट होने लगा तब एक परम सुन्दर पीतवस्त्रधारी बालक प्रकट हुए, जिनके रूपकी सुन्दरताका वर्णन नहीं हो सकता। उन्होंने मुझे आश्वासन देकर कहा कि 'तुम्हारा कष्ट दूर होगा, जीवनकी शंका मत करो, तुम जीती ही इस अवस्थासे छूट जाओगी।' वह बालक जब मेरी पीठपर हाथ रखते थे तब मुझे न बोझ मालूम होता था, न और कोई कष्ट! इस प्रकार वह मेरी पीठपर हाथ रखकर मेरे कष्टको दूर करते थे और तब मुझको नींद भी आती थी। जब-जब मुझे कष्ट होता, तभी तब वह प्रकट होकर मेरी पीठपर अपना हाथ रखकर मेरा कष्ट दूर करते थे। लड़कीके पिताने कहा कि 'भूकम्पके बाद उस लड़कीकी श्रद्धा-भक्ति श्रीभगवान्‌में और भी अधिक बढ़ गयी है।'

भूकम्पके सम्बन्धमें ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं जिनमें विपद्-ग्रस्तोंकी रक्षा हुई, वे बुरी-से-बुरी स्थितिमें पड़कर भी बच गये, ऐसा होना ईश्वरकी कृपा बिना सम्भव नहीं था। परन्तु इस घटनामें विशेषता यह है कि यहाँ विपद्-ग्रस्त एक भगवत्-कृपाकी पात्री थी जिसके कारण श्रीभगवान्‌को स्वयं प्रत्यक्ष होना पड़ा। इससे सिद्ध है कि इस कलिकालमें भी भक्तको भगवान्‌का साक्षात्कार होता है।

जय हो श्रीरघुनाथकी

(लेखक—पं० श्रीगंगाविष्णुजी पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु')

जय हो भरत विरागीकी,
　जय हो लक्ष्मण त्यागीकी,
　　जय हो पृथ्वीनाथकी,
　　　जय हो श्रीरघुनाथकी ॥ १ ॥

जय हो दशरथ दानीकी,
　जय कौसल्या रानीकी,
　　जय श्रीदीनानाथकी,
　　　जय हो श्रीरघुनाथकी ॥ २ ॥

जय कैकयी विमाताकी,
　जय हो लक्ष्मण भ्राताकी,
　　जय शत्रुघ्न सनाथकी,
　　　जय हो श्रीरघुनाथकी ॥ ३ ॥

जय हो जनकनंदिनीकी,
　जय हो विश्व-वंदिनीकी,
　　जय हो सीतानाथकी,
　　　जय हो श्रीरघुनाथकी ॥ ४ ॥

तन्त्र

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

(गतांकसे आगे)

तन्त्रमें साधकके बाह्य भावका उल्लेख करके उसके अन्तर्भावको जाग्रत करनेके लिये संकेत किया गया है, इस बातपर तनिक विशेष ध्यान देना होगा ।

> आद्यतत्त्वं विद्धि तेजो द्वितीयं पवनं प्रिये ।
> अपस्तृतीयं जानीहि चतुर्थं पृथिवीं शिवे ॥
> पञ्चमं जगदाधारं वियद्विद्धि वरानने ।
> इत्थं ज्ञात्वा कुलेशानि कुलं तत्त्वानि पञ्च च ।
> आचारं कुलधर्मस्य जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ॥

महादेव पार्वतीसे कहते हैं कि 'हे प्रिये, तेज ही आद्य तत्त्व, पवन द्वितीय तत्त्व, जल तृतीय तत्त्व, पृथिवी चतुर्थ तत्त्व तथा जगदाधार आकाश पञ्चम तत्त्व है । हे कुलेश्वरि ! कुलधर्मके आचार तथा पञ्चतत्त्व जिस साधकको इस प्रकार विज्ञात हैं वह निश्चय ही जीवन्मुक्त है, इसमें सन्देह नहीं ।'

इससे समझमें आ सकता है कि ये तत्त्व साधनाकी उन्नतिके साथ-साथ फिर उस प्रकार स्थूलभावमें नहीं लिये जाते । इस अन्तर्लक्ष्यकी ओर गये विना कोई भी साधक अन्तमें परम उच्चावस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता । इसी अन्तर्लक्ष्यकी आलोचना अब की जायगी । तेज नहीं रहनेसे साधनमें उत्साह नहीं रहता परन्तु जिस साधकको विषय विषवत् बोध होते हैं, परमात्मा स्वादु बोध होते हैं उसको भगवत्पथमें चलनेके लिये किसी बाह्य उत्तेजक पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती । प्रियतम आत्मा या भगवान्को चाहे जैसे हो प्राप्त करना ही होगा, जिसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी ऐसी प्रबल इच्छा है, उसकी प्रबल इच्छा या तेज ही भगवत्प्राप्तिके मार्गमें उसके अन्दर असीम उत्साह उत्पन्न कर देता है । अतएव भगवत्प्राप्तिकी प्रबल इच्छा ही प्रथम तत्त्व है । यही भक्ति है । श्रीमद्भागवत-में कहा है—

> स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
> अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥

जब फलकी इच्छा नहीं होती तथा कोई विघ्न-बाधा जिसे प्रतिरोध नहीं कर सकती उसी साधकका चित्त परमानन्दमें अवस्थान करता है, एवं इसी प्रकारकी भगवद्भक्ति ही जीवका परम धर्म है ।

साधनामें यही तेज आवश्यक है, यही प्रथम तत्त्व मद्य है ।

द्वितीय तत्त्व पवन, अर्थात् प्राण तत्त्व है । प्राण जब-तक चञ्चल रहेगा, तबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा, इसलिये श्वासपर विजय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है । श्वासपर विजय प्राप्त करनेसे उसीके साथ मन भी स्थिर हो जायगा । इस प्रकारके प्रयत्नके फलस्वरूप आत्म-साक्षात्कार-लाभ हो सकता है । अतएव यह द्वितीय प्रयोजनीय वस्तु है । तृतीय तत्त्व है जल या रस । जिन वस्तुओंमें रस प्रतीत होता है, उन्हीं वस्तुओंके लिये मनमें स्वाभाविक आकर्षण होता है । जब प्राणकी स्थिरताके साथ मनकी स्थिरता आ जाती है, तब एक अनिर्वचनीय रस या आनन्दका अनुभव होता है । इस आनन्दके प्राप्त होते ही जीवको विषयोंसे वैराग्य हो जाता है । चतुर्थ तत्त्व है पृथिवी अर्थात् मूलाधार ग्रन्थि । इस ग्रन्थिको विना भेद किये जीवकी पार्थिव वस्तु अन्नपानादि, नाना प्रकारके भोग और दृश्य पदार्थके प्रति आसक्ति नहीं जाती । साधनाकी उच्चावस्था प्राप्त होनेपर भी जागतिक आकर्षण नहीं मिटता—इस पृथिवीतत्त्वके जय होनेपर फिर वस्तुओंके स्थूलत्वके प्रति आकर्षण नहीं रह जाता, तब वे स्थूल पदार्थ उसके निकट स्थूल जड पिण्डमय पदार्थ न रहकर मानो सभी चिन्मय हो उठते हैं । इस अवस्थामें साधकको स्थूल वस्तु या बाह्य रूप मुग्ध नहीं कर सकते । तत्पश्चात् पञ्चम तत्त्व आकाश है—जब साधकका चित्त समाधिमग्न होकर जगत्को भूल जाता है तब साधकका मन और उसके साथ ही जितनी ज्ञेय वस्तु हैं सब आकाश हो जाती हैं । तब साधक बाह्य आकर्षण या मोहकी सीमासे बाहर आ जाता है । मन महाशून्यमें या परम व्योममें मिल जाता है । तब चैतन्यप्राप्त साधक ब्रह्मानन्दमें विभोर हो उठता है ।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ॥

तब फिर उसके ज्ञाननेत्रोंके सामने—'नेह नानास्ति किञ्चन' रह जाता है। तन्त्रके मतसे यही शिव-शक्तिके सहयोगमें समरस बोध है।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।

आत्माको जानकर जिनकी कामनाएँ निवृत्त हो गयी हैं, तथा अविद्याको अतिक्रमकर जो कृतात्मा अर्थात् शुद्धात्मा हो गये हैं, उनकी इसी जन्ममें सारी कामनाएँ अर्थात् कामनाओंके बीज नष्ट हो जाते हैं। इस पञ्चतत्त्वसे ही जगत्—ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है।

ये पञ्चतत्त्व जैसे स्थूल हैं, वैसे ही सूक्ष्म सृष्टिके भी मूल हैं। प्रत्येक जीवमें ये पञ्चतत्त्व विद्यमान हैं। यदि जीव कभी मुक्तिपदपर आरूढ़ होता है तब भी इन पञ्चतत्त्वोंकी सहायतासे ही वह अपनी स्वरूपावस्थाको प्राप्त करता है। ये पञ्चतत्त्व ही स्थूलरूपमें भोगदेह हैं और पञ्च मकारद्वारा ही साधन प्रारम्भ किया जाता है। परन्तु दुःखकी बात है कि हमारी बुद्धि इतनी स्थूल हो गयी है कि पञ्चतत्त्वके यथार्थ तत्त्वको हम नहीं समझ पाते। इन पञ्चतत्त्वोंका सूक्ष्म उपादान जीवके मेरुदण्डके भीतर सुषुम्नाके अन्तर्गत चक्रके मध्यमें प्रसुप्त रहता है। इसी कारण सुषुम्नाका उत्थान हुए बिना जीवको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति नहीं मिलती, जीवका बन्धन नहीं छूटता। इसीलिये साधक सुषुम्ना-स्थित शक्तिको जाग्रत् करनेकी चेष्टा करते हैं। योगीके योगसाधनका मूल लक्ष्य यही है। तन्त्रोक्त योगी इस मेरुदण्डको ही कुलवृक्ष कहते हैं, तथा उसके मध्यमें स्थित विद्युज्ज्वालाके समान प्रकाश-मयी कुल-कुण्डलिनीको परमशिवके साथ संयुक्त करना ही तन्त्रोक्त योगरहस्य है। इसीको लतासाधन भी कहते हैं। कुलकुण्डलिनी ही लता है। हमारे यहाँ साँपको लता कहते हैं। कुलकुण्डलिनी भी सर्पाकार है, जान पड़ता है इसी कारण लता नामसे प्रसिद्ध है। इस मूल वृक्षका अवलम्बन करके साधनाभ्यास सुदृढ़ होनेपर—'तदुपरि जाय लता गोलोक वृन्दावन' अर्थात् कुलकुण्डलिनी शक्ति मस्तकस्थित सहस्रारमें परम पुरुषके साथ मिल जाती है। यहीं साधनाकी परिसमाप्ति है।

तन्त्र कुलका क्या अर्थ करते हैं, देखिये—

न कुलं कुलमित्याहुः कुलं ब्रह्म सनातनम्।

'वंशपरम्पराको कुल नहीं कहते, सनातन ब्रह्म ही कुल-शब्दवाच्य है।' इस ब्रह्मतत्त्वको वस्तुतः जानकर जो पुरुष मोहशून्य या निर्विकार हो सकते हैं वे कुलतत्त्वज्ञ हैं। जो इस साधनाके साधक हैं वे ही कुलसाधक या कौल हैं। इसी कौलकी तन्त्रमें बड़ी प्रशंसा की गयी है।

श्वपचोऽपि कुलज्ञानी ब्राह्मणादतिरिच्यते।

'चाण्डाल भी यदि कुलतत्त्वज्ञ हो तो वह ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है।' अतएव तन्त्रका कुलतत्त्व कोई सहज बात नहीं है तथा कौल बन जाना कोई मामूली बात नहीं है। तन्त्रमें लिखा है—

कुलं कुण्डलिनी शक्तिरकुलं तु महेश्वरः।

'कुण्डलिनी शक्ति ही कुलशब्दवाच्य है तथा महेश्वरको ही अकुल कहा जाता है।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कुण्डलिनीतत्त्वका ज्ञान होनेपर साधक ब्रह्मज्ञ हो जाता है और यही तन्त्रोक्त साधनाका मर्मस्थान है।

कुण्डलिनी ही जीवतत्त्व या मुख्य प्राण है। यही यथार्थतः 'अध्यात्म या परा प्रकृति' है। जगत्को यही धारण करती है।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

योगीलोग इसीको प्राणशक्ति कहते हैं।

प्राणो हि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत् ॥

'प्राण ही ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक है, प्राण ही जगत्का धारण करनेवाला है। समस्त जगत् ही प्राणमय है।' जो महाशक्ति ब्रह्मस्वरूपसे विकसित होकर स्थूलसे स्थूलतर जगदादिरूपमें परिणत होती है, वह विश्वका मूल या आदि-शक्ति बीज ही प्राण या कुण्डलिनी है।

राधावक्षःस्थलस्थित पुरुष ही श्रीकृष्ण या पुरुषोत्तम हैं। श्रीकृष्णको जाननेके लिये सबसे पहले राधाको जानना होगा। वैष्णवजन कहते हैं कि श्रीकृष्णको पानेके लिये श्रीराधिकाका अनुगत होकर भजन करना होगा। यह परम सत्य है। योगी और तन्त्रोक्त उपासक भी यही कहते

हैं कि कुण्डलिनी ही चैतन्यशक्ति है, उसकी कृपाके बिना कोई शुद्ध चैतन्य या निर्गुण ब्रह्मको नहीं जान सकता।

कुलसाधनाके द्वारा ही यह परम तत्त्व अवगत हो जाता है। यही जीवात्माके साथ परमात्माका संयोग साधन है, श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णका मिलन आनन्द है। इसीको रेतस्के साथ रजका मिलन भी कहते हैं। वास्तविक तत्त्वको बिना समझे ही कुछ मूर्खोंने इस साधनकी आड़ लेकर न मालूम कितनी अद्भुत और घृणित साधनाओंका आविष्कार कर डाला है।

योगी इसे चन्द्र-सूर्यका मिलन, वा प्राणापानका गतिरोध या प्राणके साथ मनका मिलन कहते हैं। यही नादब्रह्मके साथ विन्दुका योग है। यथार्थ शक्तिसाधना यही है।

अब योगतत्त्वके साथ पञ्च मकारकी साधनाका उल्लेख कर इस लेखको समाप्त करना है।

पञ्चतत्त्वोंके निगूढ़ तत्त्व आगमसारमें किस प्रकार व्याख्यात हुए हैं, यहाँ वे उद्धृत किये जाते हैं। यथार्थ सत्य क्या है?

सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्राद्वरानने।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः॥

भगवान् महादेवजी श्रीजगदम्बासे कहते हैं कि 'हे वरानने! ब्रह्मरन्ध्रसे क्षरित अमृतधाराका नाम मद्य है, जो साधक उसे पानकर आनन्दित होता है वही मद्य-साधक है।' कैवल्यतन्त्रमें लिखा है—

यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम्॥

निर्विकार निर्गुण परब्रह्ममें जो प्रमदन है वही ज्ञान है—एवं यह ज्ञान जगत्को भुला देता है, इसी कारण इसे मद्य कहते हैं। योगी कहते हैं कि नाभिदेशमें सूर्य हैं तथा तालुमूलमें चन्द्र हैं। सूर्यको योगाभ्यासके बलसे तालुमूलमें आकर्षण कर लानेसे ही चन्द्र-सूर्यका समागम होता है। चन्द्र-सूर्यके इस समागममें साधकको अमृतस्वरूप अनिल या सुधावायुकी अनुभूति होती है। यही मद्यका कार्य करता है। साधक इस अवस्थामें भगवान्के नशेमें चूर हो जाता है, मदोन्मत्तके समान बाह्य ज्ञानशून्य हो जाता है।

मांसके सम्बन्धमें आगमसारमें लिखा है—

मा शब्दाद् रसना ज्ञेया तदंसाद् रसनं प्रिये।
सदा यो भक्षयेद्देवी स एव मांससाधकः॥

'हे प्रिये! मा शब्दसे जिह्वा जानो, और अंस शब्दसे उसके रसन अर्थात् वाक्यको समझो। हे देवि, जो साधक इस मांसका भोजन करते हैं अर्थात् जो वाक्यसंयमी मौनी हैं वही मांससाधक हैं।' जिह्वाको तालुमूलमें प्रवेश करानेसे ही अपने-आप वाक्यसंयम होता है, और वाक्यसंयमसे ही इच्छाका नाश होता है।

मत्स्य—

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स एव मत्स्यसाधकः॥

'गंगा और यमुना अर्थात् इडा और पिङ्गलाके मध्यमें श्वास-प्रश्वासरूपी दो मत्स्य विचरण करते हैं, इन दो मत्स्योंको जो भक्षण करते हैं वही मत्स्यसाधक हैं, अर्थात् जो प्राणायामादि अभ्यासद्वारा प्राणवायुका निरोध कर समाधिस्थ हो सकते हैं वही यथार्थ मत्स्यसाधक हैं।

मुद्रा—

सहस्रारमहापद्मे कर्णिका मुद्रिता च यत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलं पारदोपमम्॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्।
अतीव कमनीयञ्च महाकुण्डलिनीयुतम्॥
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते॥

'हे देवेशि! सहस्रार महापद्ममें मुद्रित कर्णिकाके मध्यमें आत्मा पारदके समान अवस्थित रहता है। उसका तेज कोटि सूर्यके समान दीप्तियुक्त है तथा कोटि चन्द्रके समान यह सुशीतल और अत्यन्त रमणीय है। उस महाकुण्डलिनीसे युक्त आत्माको जो अनुभव करते हैं वही मुद्रासाधक हैं।'

स्वशरीरस्थ सहस्रदलकमलके अन्तर्गत कर्णिकाके मध्य स्थित कूटस्थके अन्दर पारदके समान निर्मल शुभ्रवर्ण महाकुण्डलिनीयुक्त आत्मा रहता है। उसकी प्रभा चन्द्र-सूर्यकी प्रभाकी अपेक्षा भी अधिक दीप्तिशाली और कमनीय है। वह कुण्डलिनी प्राणवायुके रूपमें देहमें रहती है। रुद्रयामलतन्त्रमें लिखा है—

सा देवी वायवी शक्तिः।

'यह वायवी शक्ति या प्राण ही सूत्रात्मा है। उपनिषद्में लिखा है—

वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति। वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्ति।

'हे गौतम! सूक्ष्म वायु ही वह तुम्हारा (पूछा हुआ) सूत्र है। हे गौतम! वायुके सूत्रद्वारा इहलोक, परलोक तथा समस्त भूतगण ग्रथित रहते हैं। हे गौतम! इसीलिये लोकमें मृत व्यक्तिको देखकर कहा जाता है कि उसके अङ्ग-समूह विस्रंसित (शिथिलभूत) हो गये हैं। क्योंकि वायुरूप सूत्रद्वारा ही तो समस्त अंग विधृत होते हैं।'

यह प्राण ही इन्द्रियरूप तथा इन्द्रियभोग्यवस्तुरूपमें दृष्ट होता है। श्रुतिमें लिखा है—

अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथते यो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति।

'इन्द्रियोंने उसे जाननेके लिये मनोनिवेश किया, उन्हें ज्ञात हुआ कि यह हमसे श्रेष्ठ है—वह कार्य करते या न करते हुए कभी श्रान्त नहीं होता, विनष्ट नहीं होता। अहो! हम सब उसीका रूप धारण करती हैं। हम सब उसका ही स्वरूप बन गयीं अर्थात् सबने प्राणके रूपको ही आत्मरूपसे ग्रहण कर लिया। इसी कारण इन्द्रियाँ उसीके नामसे अभिहित होती हैं। इन्द्रियोंका व्यापार प्राण-व्यापारके ही अधीन है। इसी कारण प्राण और मनके एक साथ स्पन्दित होनेसे प्राणके संयमसे मनका भी संयम हो जाता है। योगवाशिष्ठमें लिखा है—

यः प्राणपवनस्पन्दः चित्तस्पन्दः स एव हि।
प्राणस्पन्दक्षये यत्नः कर्त्तव्यो धीमतोच्चकैः॥

'प्राणवायुके स्पन्दनको ही चित्तके स्पन्दनके नामसे पुकारते हैं।' अतएव धीमान् व्यक्तिको प्राणस्पन्दनिरोधके लिये यत्न करना चाहिये। अमृतनादोपनिषद्में लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते दहनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥

'धातुको दहन करनेसे जैसे उसका मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियकृत दोष प्राणनिग्रहके द्वारा नष्ट हो जाते हैं।'

बाह्य प्राणस्पन्दन ही जगत्-व्यापारकी मूल अविद्या-शक्ति है। प्राणस्पन्दनके रहते चित्त निरुद्ध नहीं होता, और चित्तके निरुद्ध हुए बिना विषयासक्ति दूर नहीं होती, तथा विषयासक्तिके रहते सुख-दुःखातीत ब्रह्मस्वरूपमें कोई प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः।
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये॥

'जिस अवस्थामें प्रकृतिप्रवाहके निवृत्त होनेपर पुरुष अखण्ड अव्यवधान (ध्याता और ध्येयके भेदसे रहित) आत्माका दर्शन करता है, तथा चित्तवृत्तिकी चरम निवृत्तिसे सुख-दुःखसे अतीत महिमामें (ब्रह्मस्वरूपमें) प्रतिष्ठित होता है।'

मैथुन—

मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
रेफस्तु कुङ्कुमाभासः कुण्डमध्ये व्यवस्थितः।
मकारो बिन्दुरूपश्च महायोनौ स्थितः प्रिये॥
आकारो हंसमारुह्य एकतश्च यदा भवेत्।
तदा जातं महानन्दं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
आत्मनि रमते यस्मादात्मा रामस्तदुच्यते।
ब्रह्माण्डं जायते यस्मात्तस्माद्ब्रह्म प्रकीर्तितम्॥
अतएव रामनाम तारकं ब्रह्म निश्चितम्।
मृत्युकाले महेशानि स्मरेद्रामाक्षरद्वयम्॥
सर्वकर्माणि सन्त्यज्य स्वयं ब्रह्ममयो भवेत्।
इदन्तु मैथुनं तत्त्वं तव स्नेहात्प्रकाशितम्॥
मैथुनं परमं तत्त्वं तत्त्वज्ञानस्य कारणम्।
सर्वपूजामयं तत्त्वं जपादीनां फलप्रदम्॥
षडङ्गं पूजयेद्देवि सर्वमन्त्रं प्रसीदति।

'मैथुन-तत्त्व परम गुह्य तत्त्व है, यही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण है। इसीके द्वारा सिद्धि और सुदुर्लभ

ब्रह्मज्ञान-लाभ हो सकता है। कुण्डके मध्यमें कुङ्कुमवर्णयुक्त रेफ और बिन्दुरूप मकार महायोनिमें स्थित रहता है। हंसमें आरोहण करके आकार जब एकीभूत हो जाता है तब सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान और परमानन्द उत्पन्न होता है। आत्मामें रमण करनेके कारण ही वह आत्माराम कहलाता है और उसीसे ब्रह्माण्डका उद्भव होनेके कारण वह ब्रह्म कहलाता है। अतः यह रामनाम ही निश्चयपूर्वक तारक ब्रह्म है। हे महेशानि ! मृत्युकालमें 'राम' इन दो अक्षरोंका स्मरण करनेसे जीवका कर्मबन्धन छूट जाता है तथा वह स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। यह मैथुन-तत्त्व परम गुह्य और तत्त्वज्ञानका कारणस्वरूप है। सब पूजाका सारतत्त्व और जपादिका समस्त फल इससे प्राप्त होता है। हे देवि ! षडङ्गपूजाके अनुष्ठान करनेसे सब मन्त्र प्रसन्न होते हैं।'

संस्कृत श्लोकोंका उपर्युक्त अर्थ करनेसे ठीक मर्म ध्यानमें नहीं आता। इनका अर्थ भी विशेषभावसे ज्ञातव्य हैं। कुण्डमध्यमें कुङ्कुमवर्णयुक्त रेफ और बिन्दुरूप मकार महायोनिमें स्थित है—इसका भावार्थ यह है कि शरीरके भीतर नाभिचक्रमें कुङ्कुमकी आभाके समान रक्तवर्ण तेजस्तत्त्व रहता है—यही 'रं' बीज है। उसी तेजस्तत्त्वके साथ महायोनिमें बिन्दुरूप मकार रहता है। अर्थात् ब्रह्मयोनि—कूटस्थज्योतिर्मण्डलके मध्य जो बिन्दु रहता है वही मकार है। यहाँ पूर्वोक्त 'रं' बीज वा तेजस्तत्त्वके साथ एक 'आ'कार संयुक्त करना होगा, तब दोनोंके योगसे 'राम' नाम उत्पन्न होगा और यही रामनाम तारक ब्रह्म है। उसका आकार क्या है ? वह हंसपर आरूढ़ है—हंस अर्थात् अजपारूपमें श्वास-प्रश्वास। इसी श्वास प्रश्वासमें लक्ष्य या मनको लगाकर साधन करनेसे नाभिचक्रस्थित तेजस्तत्त्वरूप 'र' कारके साथ आज्ञाचक्रस्थित बिन्दुरूप 'म' कारका मिलन होता है। इस प्रकार प्राणापानकी गति रुद्ध होनेपर श्वास मस्तकमें स्थिर होता है। इस प्रकारकी स्थितिलाभ होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति होती है, जीवका वही तारक मन्त्र है—

निःश्वासोच्छ्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये।

'इस निःश्वास और श्वास वायुकी सहायतासे मन्त्रका मनन नहीं करनेसे वास्तविक मन्त्र चैतन्य नहीं होता।' प्राणायामद्वारा वायवी वा प्राणशक्ति कुण्डलिनी जब सहस्रारमें जाकर सहस्रारस्थित महेश्वरके साथ सम्मिलित होती है, तभी जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है। यही बात देवीस्तवनमें है—

राज्यं तस्य प्रतिष्ठा च लक्ष्मीस्तस्य सदा स्थिरा।
प्रभुत्वं तस्य सामर्थ्यं यस्य त्वं मस्तकोपरि॥
निर्वाच्यो निर्गुणो वापि सत्त्वेन परिवर्जितः।
परं पौरुषमाप्नोति यावत्त्वं मस्तकोपरि॥

गौतमीय तन्त्रशास्त्रमें भी लिखा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
एतत्किञ्चिन्न सिद्ध्येत्तु यन्त्रमन्त्रार्चनादिकम्॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा सम्प्रसवा यान्ति यन्त्रमन्त्रार्चनादयः॥

'जबतक मूलपद्मविलासिनी कुलकुण्डलिनी शक्ति निद्रिता है तबतक माताका मन्त्र, यन्त्र, जप, अर्चनादि कुछ भी किसी रूपमें फलप्रद नहीं होता।' किन्तु भाग्यवश यदि वह जाग्रत् हो जायँ तो यन्त्र, मन्त्र, जप, अर्चनादि सब अनुष्ठान सुन्दर फल प्रदान करते हैं।

वस्तुतः देवीकी शक्तिके बिना स्वतन्त्रभावसे किसीमें कुछ करनेकी शक्ति नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवसे लेकर जितने देवगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, लता, तृण आदि जीव हैं, कोई उस निखिल ब्रह्माण्डकी अधीश्वरीकी आज्ञाके बिना स्वाधीनतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता। माँ ! तुम प्रसन्न होकर जब साधकके मस्तकपर प्रतिष्ठित होती हो तब वह क्या नहीं कर सकता ? जो अति निन्दित सब सत्त्वोंसे विवर्जित पशुतुल्य जीव है वह भी तुम्हारी कृपासे निर्वाणमुक्ति लाभ कर सकता है। तुम नाना आकारसे, नाना आधारसे जगत्के शुभाशुभ समस्त कर्मोंको निष्पन्न करती हो। हम मूर्ख अज्ञ जीव समझते हैं कि सब कुछ हमीं करते हैं। तुम कालरात्रिरूपमें जगत्के जीवोंको भीत—सन्त्रस्त करके मृत्युरूपसे ग्रास करती हो, फिर जगदाधिष्ठात्री जगद्धात्रीरूपमें जगत्की माँ होकर जगत्जीवका परिपालन करती हो। तुम चामुण्डारूपमें दुष्ट दैत्योंके दर्पको ध्वंस करके उनका रुधिर पान करती हो। फिर भुवनमोहिनी शिवसीमन्तिनी गौरीरूपमें विश्व-ब्रह्माण्डको विमुग्ध कर रखती हो ! तुम कृपा करके जीवकी

अशेष दुर्गतिको दूर करके त्रिलोकपूज्या दुर्गारूपमें जीवोंके शान्तिविधानके लिये उन्हें परम शान्तिरूपा मुक्ति-ऐश्वर्य प्रदान करती हो। माँ अभये! हम अनेकों शत्रुओंके फेरमें पड़कर दिन-रात उत्पीड़ित हो रहे हैं, एक बार 'मा भैः मा भैः' रवसे दिङ्मण्डलको कम्पित करती हुई हमें अभय दान करो।

यह माँ भगवती ही समस्त विश्वका प्राण है। जब माँ शक्तिरूपमें जगद्व्यापारमें रत होती हैं तब निर्गुण ब्रह्म अचैतन्यभावसे माँके पैरोंके तले पड़ जाते हैं, तभी ब्रह्माण्डका पुनः-पुनः सृजन, पालन और ध्वंस होता है। पुनः जब उसमें पुरुषभाव जाग्रत् हो उठता है तब प्रकृति पुरुषमें आत्मसमर्पण करती है। यही शिव-शक्ति-सम्मिलन है। यह मिलन ही महासमाधिकी अवस्था है। योगीकी समाधि और ब्रह्माण्डका महाप्रलय एक ही वस्तु है।

सारे ही जगत्जीव पुरुष-प्रकृतिमय हैं। यह दोनों शक्तियाँ मिलकर 'राम' बन जाती हैं। यह रामनाम ही जीवका तारक मन्त्र है। परन्तु हम सभी सहज अवस्थासे च्युत हो गये हैं, इससे हम 'राम-राम' नहीं बोल सकते—'मरा-मरा' बोलते हैं। परन्तु इस 'मरा-मरा' (देहेन्द्रियादि) के द्वारा ही 'राम' में (आत्मचैतन्यमें) पहुँचना होगा। यही उलटा नाम है—इस उलटे नामकी साधना ही प्रचलित है। श्वासके बहिर्गमनागमनमें जगद्दृष्टि नहीं ठहरती, इसपर ध्यान देनेसे, इस 'मरा-मरा' के जप करते रहनेसे श्वास ऊर्ध्व हो जायगा, इसका बहिर्गमनागमन बन्द होते ही प्राण सुषुम्नामें प्रवाहित होने लगेंगे, तभी जीवनमें परमानन्दकी प्राप्ति होगी।

योगशास्त्रमें लिखा है—

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वञ्च समाधिरभिधीयते॥

'प्राण क्षीण होकर मनके लय होनेपर जिस समरस-भावका उदय होता है उसीका नाम समाधि है।' वही तारक ब्रह्मनाम है। तन्त्रका यही सारांश है।

खोज

प्रिय! इतना क्यों भरमाया?

उदधि-वीचिमें, सरिता-जलमें,
सघन गहनमें, अनिल-अनलमें,
अगम गगनमें, तारक-दलमें,
खोजा सिगरी बसुंधरामें अपना रूप न दिखलाया।
प्रिय! इतना क्यों भरमाया?

वारि-कणोंमें, खग-गानोंमें,
ऊषाकी मृदु मुसकानोंमें,
प्राचीके चिर आख्यानोंमें,
तरु-पत्रोंके मर्मर स्वरमें खोज-खोजकर फिर आया।
प्रिय! इतना क्यों भरमाया?

हृत्कंपनमें, ओ, तड़पनमें
अपने अनुपम यौवन-धनमें
खोजा, नहीं मिला जीवनमें,
बैठ गया थक हार, तुझे तब हृदयमध्य हँसते पाया।
प्रिय! इतना क्यों भरमाया?

—गौरीशङ्कर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

हमारे विश्वविद्यालय और धार्मिक शिक्षा

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

प्राचीन भारतीय समाजमें शिक्षाका उद्देश्य छात्रको शीलवान् बनाना था। इसलिये आश्रमोंका वातावरण तथा शिक्षाप्रणाली ऐसी रक्खी जाती थी जिसमें बालक बचपनसे परिश्रम, स्वावलम्बन तथा उच्चादर्शका अभ्यासी हो। अध्यापकोंका आचरण भी इसी ध्येयकी पूर्तिके लिये अत्यन्त सरल और बाह्य आडम्बरसे शून्य होता था। बुद्धिमान् और प्रभावशाली होते हुए भी उन्होंने स्वेच्छासे निर्धनता स्वीकार की थी। हर एक प्रकारकी सुविधा मिलनेके साधन होनेपर भी स्वेच्छासे उनसे दूर रहकर कष्टमय तथा स्वावलम्बनपूर्ण जीवन व्यतीत करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। वे जानते थे कि मनुष्यजीवनका उद्देश्य अधिक ऐश्वर्य, धन या प्रतिष्ठा प्राप्त करना नहीं, बल्कि अपनेको भगवान्‌का अंश कहलाने योग्य बनाना है। परन्तु आजकलका दृष्टिकोण यह नहीं है। चाहे वह अंगरेजी विश्वविद्यालयोंकी पढ़ाई हो या संस्कृत कालेजोंकी; इन संस्थाओंमें छात्रको शीलवान्, स्वावलम्बी बनानेकी ओर विशेष ध्यान न दे, किस प्रकार वह अधिक अधिकार, ऐश्वर्य, धन आदि प्राप्त कर सकेगा, बस इसी ओर ध्यान दिया जाता है। किसी भी विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रम तथा उसके वातावरणकी ओर देखनेसे यह बात स्पष्ट मालूम हो सकती है। आज छात्र और अध्यापक जितने ही अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पदपर पहुँचते हैं, प्रायः वे उतने ही अधिक विलासी, शारीरिक परिश्रमको अनावश्यक समझनेवाले और अधिक-से-अधिक सुविधा प्राप्त करनेकी ओर प्रवृत्ति रखनेवाले होते हैं। प्राचीन समयमें जहाँ शिक्षाका उद्देश्य शीलवान् या श्रीटालस्टायके शब्दोंमें दूसरोंसे कम-से-कम लेकर दूसरोंको अधिक-से-अधिक देना था, वहाँ आज शिक्षाका उद्देश्य स्पष्टरूपसे तो नहीं, अप्रत्यक्षरूपसे यही है कि दूसरोंसे अधिक-से-अधिक प्राप्त कैसे किया जाय। और इसका कारण है पश्चिमीय शिक्षाप्रणालीका प्रभाव। यूरोपमें और खासकर इङ्गलैण्डमें एक समय ऐसा था जब विश्वविद्यालयोंमें इसलिये पढ़ायी होती थी कि अच्छे पादरी तैयार हों; परन्तु सतरहवीं शताब्दीसे इस विचारमें परिवर्तन हुआ और विश्वविद्यालयोंमें 'जंटिलमैन' सभ्य बनानेका रिवाज चल पड़ा। आज भी आक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयोंमें 'जंटिलमैन' ही बनाये जानेपर विशेष जोर है। पर ये जंटिलमैन या पादरी उस जमानेमें तो शोभा पा सकते थे जब यन्त्रयुग नहीं था। अब तो यन्त्रयुग आ गया है। इस यन्त्रयुगमें 'जंटिलमैन' को स्थान कहाँ? इसके लिये तो दूसरे ही ढंगके लोग चाहिये। इसलिये आज इन विश्वविद्यालयोंमें भी परिवर्तन हो रहे हैं। अब कलाविद् पैदा करनेकी ओर लोगोंका ध्यान जा रहा है। जिस इङ्गलैण्डमें सालमें चालीस दिन खाने लायक अन्न पैदा होता है उस इङ्गलैण्डके किसानोंको अधिक योग्य बनानेकी ओर सरकारका ध्यान नहीं है, पर वह इङ्गलैण्ड और आस्ट्रेलियाके बीचका रास्ता हवाई-जहाजसे कम-से-कम समयमें किस प्रकार तय किया जा सकता है, इसके लिये लाखों रुपये खर्च कर डालती है। आज पादरीकी उतनी खोज नहीं जितनी पाइलटकी—हवाईजहाज चलानेवालेकी। इससे युगपरिवर्तनका अनुभव हो जायगा।

पर क्या इससे शिक्षाका मुख्य हेतु सिद्ध हो जायगा ? हर-एक मनुष्यकी आर्थिक दुःस्थिति, परस्पर अविश्वास तथा समाजमें बढ़नेवाली बेकारीको देखकर तो यही कहना पड़ता है कि बुद्धिमानोंको—क्योंकि यही समाजके नेत्र होते हैं—अपनी जीवन-प्रणालीमें आमूल परिवर्तन करनेके लिये नये ही ढंगकी शिक्षा-प्रणालीका अवलम्बन करना होगा । वह प्रणाली होगी अपने लिये समाजसे कम लेनेकी और समाजको अधिक-से-अधिक देनेकी । हमारी शिक्षाका उद्योग अधिक ऐश्वर्य, धन या अधिकार प्राप्त करना न होकर जीवनपर्यन्त अपनेको एक विशिष्ट प्रकारके ढाँचेमें ढालनेके लिये—शीलवान् बनानेके लिये संयमी जीवन व्यतीत करना होगा । 'उच्च विचार और सादी रहन-सहन' इस कहावतको साहित्यकी या बोलचालकी ही चीज न रखकर, जीवनमें परिणत करना होगा ।

आज कुछ पाश्चात्य देशोंमें गरीबोंके साथ रहनेकी, उनका सुधार करनेके लिये अपने भी गरीब बनकर गरीबीमें जीवन-निर्वाह करनेकी जो योजना चल रही है वह यह सूचित करती है कि इस युगकी शिक्षा-प्रणाली श्रेयस्कर नहीं है, उसमें परिवर्तनकी आवश्यकता है । पर इस परिवर्तनका कारण आर्थिक समस्या मानी जा रही है । किन्तु जीवनपर दृष्टि डालनेसे यह ज्ञात हो जायगा कि हमारा सुख बाहरी जड पदार्थोंपर नहीं, बल्कि हमारी मानसिक अवस्थापर ही अधिक निर्भर करता है । मनुष्यके शरीरके दो भाग किये जा सकते हैं—एक शरीर और दूसरा आत्मा । शरीरको सुव्यवस्थित रखनेके लिये समाज-सत्तावादियोंद्वारा जोरोंका प्रयत्न किया जा रहा है । इसके लिये कोई भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करेगा । परन्तु मनुष्यमें जबतक बुद्धि है, और आदर्शके लिये सर्वस्व होम करनेकी मनकी तैयारी है तबतक केवल अन्न-वस्त्रसे उसको सन्तोष नहीं हो सकता । जब कि महात्मा सुकरात और भगवद्भक्त माता मीराबाई प्रसन्नतापूर्वक जहरका प्याला पीकर भी अपने आदर्शको छोड़नेके लिये तैयार न हुईं तब इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यकी बुद्धिकी उड़ान बहुत ऊँची है । वह भौतिक सुखमें ही अपना श्रेय नहीं समझता । आज रूसमें समाजसत्तावादी राज्य होनेपर भी बौद्ध-धर्मके अध्ययनकी ओर विद्वानोंका मन आकर्षित हो रहा है—यह भी इसी बातका द्योतक है । बीसवीं शताब्दिमें 'ईश्वर मर गया' कहनेवाले जर्मन विद्वान् नित्शेको भी 'God-man' देव-मनुष्यकी कल्पना करनी पड़ती है और वह देव-मनुष्य केवल धनी या अधिकारसम्पन्न नहीं, बल्कि मानवी गुणोंका पुतला है । इससे यह स्पष्ट होता है कि शरीरके साथ ही बुद्धि-विकासकी ओर भी—शुद्ध बुद्धिकी ओर भी सहसा ध्यान जाता है । और इसीलिये हमारे गायत्री-मन्त्रमें भगवान्से बुद्धिको प्रेरणा करनेके लिये प्रार्थना की गयी है । और जहाँ बुद्धि-शुद्धि—विकासकी बात आयी कि हमें भगवद्भक्तिकी आवश्यकता अनुभव होने लगेगी । आज भगवद्भजनकी ओटमें जो सामाजिक अत्याचार कुछ लोगोंद्वारा किये जा रहे हैं, उससे भगवद्भक्तिको ही हीन समझना या उसको मिटा देनेका सङ्कल्प करना ठीक वैसी ही बात होगी जैसी किसी पुरुषकी असावधानीसे कहीं आग लग जानेपर आगका ही बहिष्कार करनेका बीड़ा उठाना । भक्ति तो हृदयकी चीज है । इसलिये उसकी कसौटी शुद्ध प्रेमपूर्ण व्यवहार है । बाह्य दिखलावा या तिलक-माला भक्तिका चिह्न नहीं, बल्कि एक पद्धतिका रूप है । इसलिये कि हीरा कूड़ेमें पड़ा है, कूड़ेके साथ उसे फेंक देना उचित न होगा । मध्यकालीन भारतीय सन्तोंने और वर्तमान समयके

श्रीरामकृष्ण परमहंस महाराजादि भगवद्भक्तोंने हमको अपने जीवनसे बतलाया है कि भक्तिके लिये धन-सम्पत्ति आदि बाह्य साधनोंकी जरूरत नहीं है। इतना ही नहीं, वरं ये साधन अथवा बाहरी आडम्बर भक्तिमार्गके लिये प्रायः बाधक हैं।

इसलिये हमारे विश्वविद्यालयोंमें—क्योंकि विश्वविद्यालय विद्वानोंका आगार है—देश-कालानुरूप परिवर्तन करनेके लिये योग्य धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध होना ही चाहिये। और इसकी जिम्मेवारी उन विद्वानोंपर अधिक है जो अपनेको आस्तिक मानते हैं। क्योंकि आज आस्तिकता और समाजसेवामें सर्वथा विरोधाभास देखनेका जो जोरोंसे प्रयत्न किया जा रहा है, उसका सुन्दर उत्तर भी इसी प्रकार दिया जा सकेगा। केवल भौतिकवादी लेनिन जब गरीबीका व्रत लेकर अपने अनुयायियोंसे उस जीवनक्रमका सख्तीके साथ पालन करवानेमें उद्यत हुआ है तब अध्यात्मवादको श्रेयस्कर माननेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे भी उससे भी अधिक उत्साहके साथ इस व्रतको धारणकर अपने मतका महत्त्व संसारपर जाहिर कर दें।

अध्यात्मवाद कसौटीपर कसा जा रहा है। इसलिये मैं सभी आस्तिक विद्वानोंसे नम्रतापूर्वक यह प्रार्थना करूँगा कि वे इस समय दृढ़तासे अपने पक्षका क्रियात्मक समर्थन करें, जिससे हमारे विश्वविद्यालयोंपर उनका योग्य प्रभाव पड़े और सारी शिक्षाका रुख छात्रोंको शीलवान् बनानेकी ओर हो जाय।

भक्त-गाथा

(भक्त राजा चित्रकेतु)

प्राचीनकालमें सूरशेन नामक देशमें चित्रकेतु नामक सार्वभौम सदाचारी भगवद्भक्त राजा राज्य करते थे। राजा बुद्धि, बल, विद्या, श्री, कीर्ति, उदारता, ऐश्वर्य, रूपलावण्य आदिसे सम्पन्न थे। पृथ्वी कामधेनुकी भाँति उन्हें मन-इच्छित वस्तु देती थी। उनके बहुत-सी रानियाँ थीं परन्तु सन्तान नहीं थी। राजा बुद्धिमान् होनेपर भी मोहवश सन्तानके अभावसे सदा दुखी रहा करते थे। एक बार परदुःखकातर और परोपकारपरायण अंगिरा ऋषि सदाचारी और भगवान्‌के भक्त राजापर अनुग्रह करके उन्हें भगवन्मार्गपर सुदृढ़ करनेके उद्देश्यसे राजाके यहाँ पधारे, परन्तु राजाको पुत्रके अभावमें दुखी देखकर उन्होंने ज्ञानोपदेश न देकर त्वष्टादेवताका यज्ञ किया और यज्ञ पूर्ण होनेपर यज्ञावशेष अन्न राजाको देकर कहा कि यह अन्न अपनी रानीको खिला दो, इससे तुम्हारे एक पुत्र उत्पन्न होगा और उससे तुम्हें हर्ष-शोक दोनों ही मिलेंगे। ऋषिने सोचा कि भगवद्भक्ति और सदाचार होनेपर भी राजाके मनमें अभी पुत्रका मोह है। जबतक यह पुत्र-प्राप्तिके अनन्तर पुत्रसे होनेवाले दुःखको न देखेगा तबतक इसका मोह दूर होना कठिन है; इसलिये अभी ज्ञानोपदेश न करके उन्होंने यज्ञ कराके राजाकी पुत्रकामना पूरी की। तदनन्तर वे वहाँसे चले गये। राजाने वह अन्न अपनी सबसे बड़ी और श्रेष्ठ रानी कृतद्युतिको दिया और रानीने उसे भोजन करके राजासे गर्भ धारण किया। समय पूरा होनेपर बालक उत्पन्न हो गया। राजकुमारके जन्मसे राजाको बड़ी ही प्रसन्नता हुई, सारे राज्यमें आनन्द-बधाइयाँ बटने लगीं। परन्तु राजाकी दूसरी रानियोंको बड़ा सन्ताप हुआ, वे सब कृतद्युतिको पुत्र

प्राप्त हुआ देखकर जलने लगीं और उन्होंने सौतिया-डाहसे विवेकको खोकर विद्वेषवश राजकुमारको जहर दे दिया। राजकुमारकी मृत्यु हो गयी। राजा और रानी कृतद्युति दुःखसागरमें डूब गये। राजा सिर पीट-पीटकर रोने लगे। यहाँ एक तो यह सीखनेकी बात है कि एकसे अधिक विवाह करनेसे इस प्रकार अनर्थकी सम्भावना रहती ही है। राजा दशरथके मरण और श्रीरामके वनवासमें भी लौकिकदृष्टिसे यह सौतियाडाह ही प्रधान कारण था। अतः पुरुषको एक स्त्री रहते दूसरा विवाह भूलकर भी नहीं करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि संसारके तमाम विषय वियोगशील और दुःखमिश्रित हैं। जिस वस्तुकी प्राप्तिमें जितना सुख होता है, उसके नाश होनेपर उतना ही अधिक दुःख होता है। राजा चित्रकेतुको पुत्रकी प्राप्ति होनेपर जितना सुख हुआ था, उससे अनन्त गुना अधिक दुःख पुत्रकी मृत्युपर हो रहा है। राजा और रानी दोनों तरह-तरहके विलाप करके अति सन्तापसे बहुत ऊँचे स्वरसे ढाह मारकर रो रहे हैं। उन दोनों स्त्री-पुरुषोंके विलापको सुन-सुनकर आसपासके सभी स्त्री-पुरुष दुखी होकर रोने लगे। राजा चित्रकेतुको ऐसी विपत्तिमें पड़ा देखकर महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद दयावश वहाँ आ पहुँचे। वे राजाको मृत बालकके पास मुर्देकी भाँति अचेत पड़े हुए देखकर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे उन्हें समझाने लगे। उन्होंने कहा——

'हे राजन्! तुम जिसके लिये इतना शोक कर रहे हो, रो रहे हो, बताओ तो सही, वह तुम्हारा कौन है? इस जन्मसे पहले तुम इसके कौन थे और अब आगे कौन होओगे? तुम यह निश्चयरूपसे समझ लो कि जैसे जलके प्रवाहसे एक जगहका बालू अलग-अलग कई जगह बह जाता है और दूर-दूरसे आ-आकर एक जगह इकट्ठा हो जाता है, ऐसे ही नियन्त्रणकर्त्ता कालके द्वारा सब देहधारियोंका अपने-अपने कर्मवश कभी संयोग और कभी वियोग हुआ करता है। यह पिता-पुत्रका सम्बन्ध आरोपित है, केवल कल्पनामात्र है। हमारे और तुम्हारे ये शरीर न जन्मके पहले थे, न मृत्युके बाद रहेंगे। इस समय भी वास्तवमें सत् नहीं है अतएव शरीरके नाशसे तुम शोक न करो।'

ऋषियोंके वचन सुननेसे राजाको कुछ सान्त्वना मिली और वह उठकर आँसू पोंछकर कहने लगे—'हे महात्माओ! आप दोनों कौन हैं? आप बड़े ही ज्ञानी और महात्माओंमें भी महात्मा हैं। मुझ-सरीखे विषयोंमें फँसे हुए लोगोंको ज्ञान देनेके लिये आप-सरीखे भगवत्प्रिय सिद्ध महात्मा निःस्वार्थभावसे अवधूत-वेष धारण किये पृथ्वीमें घूमा करते हैं। मैं ग्राम्य पशुके समान मूढबुद्धि हूँ, घोर अन्धकारमें डूब रहा हूँ। आप दोनों महात्मा ज्ञानरूपी दीपक जलाकर मुझको बचाइये।

राजाके ऐसे वचन सुनकर महर्षि अङ्गिराने कहा—'हे राजन्! मैं वही अङ्गिरा हूँ, जिसने तुम्हारी प्रबल इच्छा देखकर तुम्हें यह पुत्र दिया था, और मेरे साथ ये महात्मा ब्रह्मापुत्र देवर्षि नारदजी हैं। हमको यह पता लगा कि इस समय तुम पुत्रशोकसे दुस्तर अज्ञानके समुद्रमें डूब रहे हो। तुम भगवान्‌के भक्त और ब्रह्मण्य हो, तुम्हारे लिये इस तरह मोहमें निमग्न होना उचित नहीं है। तुम्हारे इस मोहका नाश करनेके लिये ही हम दोनों यहाँ आये हैं। हे राजन्! मैं जब पहले आया था तभी तुम्हें ज्ञानोपदेश करनेका मेरा विचार था, परन्तु उस समय तुम्हें पुत्र-प्राप्तिके मोहमें पड़े देखकर मैंने पुत्र ही दिया। अब तुमको यह अच्छी तरह अनुभव हो रहा है कि जिनके पुत्र हैं, उन गृहस्थोंको कितना सन्ताप होता है। जबसे पुत्र-प्राप्तिकी इच्छा मनमें जागृत होती है, तभीसे दुःखका आरम्भ हो जाता है। पहले अभावका दुःख रहता है, गर्भाधान हो जानेपर दस महीनेतक माताको

नाना प्रकारके दुःखोंका सहन करना पड़ता है । प्रसव-कालकी पीड़ा तो असह्य होती है । बच्चेका जन्म होनेपर उसके लालन-पालनमें माता-पिताको महान् कष्ट होते हैं । परन्तु मोहवश वे माता-पिता इस कष्टमें सुखका स्वप्न देखते हैं । तदनन्तर जब वियोग होता है, पुत्रको छोड़कर मरना पड़ता है, अथवा पुत्र पहले मर जाता है तब तो दुःखका कोई पार ही नहीं रहता । आज तुम भी इसी दुःखसे ग्रसित हो रहे हो । यह निश्चय समझो कि स्त्री, धन, घर, ऐश्वर्य और नाना प्रकारकी सम्पत्तियाँ ये सभी वस्तुएँ मोहके कारण इसी प्रकार जीवको सन्ताप देनेवाली हैं । शब्दादि विषय, राज्य, धन, पुत्र, स्त्री, स्वामी आदि सभी चीजें अनित्य और क्षणभंगुर हैं । ये पृथ्वी, राज्य, बल, खजाना, भृत्य, दीवान, सुहृद्, मित्र आदि सभी शोक, मोह, भय और पीड़ा देनेवाले तथा गन्धर्वनगरकी भाँति (बिना ही हुए नेत्र-दोषसे आकाशमें दीखनेवाले पदार्थोंकी भाँति) जरा-जरा-सी देरमें दीखनेवाले और नष्ट होनेवाले हैं । ये सभी स्वप्न या मायामनोरथके सदृश असत् हैं । हे राजन् ! ये सभी दृश्य पदार्थ मनोकल्पित हैं, यथार्थ नहीं हैं । क्योंकि अभी दीखते हैं और दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते हैं । अपनी-अपनी भावनाके अनुसार ही ये सुख-दुःखदायी दिखायी देते हैं । यह द्रव्य-ज्ञान और क्रियात्मक शरीर ही शरीराभिमानी जीवको नाना प्रकारके सन्ताप देनेवाला है । इसलिये एकाग्र-चित्तसे तत्त्वका विचार करो और एक सत्-चित्-आनन्दघन परमात्माको छोड़कर और सभी वस्तुओंको असत् समझकर शान्ति धारण करो ।'

तदनन्तर देवर्षि नारदने शोकसे व्याकुल राजाको सान्त्वना देनेके लिये राजकुमारके जीवात्माका आवाहनकर उसे जीवित किया, और कहने लगे—'हे जीवात्मा ! देखो, तुम्हारे माता-पिता और बन्धु-बान्धव तुम्हारे लिये रो रहे हैं । तुम इनके पुत्र और बन्धु हो, इनके पास क्यों नहीं रहते ।' जीवात्माने कहा—'ये किस-किस जन्ममें मेरे माता-पिता हुए थे ? मैं तो अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये देवता, मनुष्य, पशु आदि अनेकों योनियोंमें भ्रमण कर रहा हूँ । जीव परस्परमें कभी भाई, कभी पिता, कभी पुत्र, कभी मित्र, कभी शत्रु, कभी जातीय, कभी विजातीय, कभी रक्षक, कभी विनाशक, कभी आत्मीय, कभी उदासीन बनते रहते हैं । यहाँ कौन किसका अपना और यथार्थ सम्बन्धी है ? ये लोग मुझे पुत्र मानकर रोनेके बदले शत्रु समझकर खुशी क्यों नहीं मनाते ? जैसे खरीद-बिक्रीकी सोना-चाँदी आदि चीजें खरीदने-बेचनेवाले व्यापारियोंके पास जाती-आती रहती हैं, इसी प्रकार जीव भी नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्मता-मरता है । यहाँ घर, स्त्री, पुत्र, आदिका कोई भी सम्बन्ध सच्चा और स्थायी नहीं है । जितने दिन जिसके साथ जिसका सम्बन्ध रहता है उतने दिन उसका उसपर मेरापन रहता है । आत्मा नित्य शुद्ध है, परन्तु जितने काल-तक वह शरीरस्थ होकर जिसके पास रहता है उतने कालतक उस जीवात्मापर उसका स्वत्व रहता है । आत्मा वास्तवमें न कभी मरता है, न जन्मता है । आत्मा नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म, सर्वाधार और स्वयंप्रकाशित है । वस्तुतः श्रीभगवान् ही अपनी मायाके गुणोंद्वारा विश्वरूपमें प्रकट होते हैं। आत्माके लिये कोई अपना-पराया या प्रिय-अप्रिय नहीं है । वह एक है, और हित तथा अहित करनेवाले मित्र-शत्रु आदि नाना प्रकारकी बुद्धियोंकी साक्षीमात्र है । आत्मा साक्षीरूप-से सदा उदासीनवत् रहता है, वह किसी भी सम्बन्ध तथा गुण-दोषको ग्रहण नहीं करता । अतएव इनका पुत्र-शोकसे व्याकुल होना मोहजनित है । आत्मा कभी भी मरता नहीं, और शरीर नित्य रहता नहीं, फिर ये किसलिये रो रहे हैं ?'

राजपुत्रका जीवात्मा इतना कहकर चला गया, उसकी बातोंसे सबका मोह-बन्धन टूट गया। मृतदेहका अन्त्येष्टि संस्कार किया गया। बालकको मारनेवाली रानियाँ भी इन बातोंको सुन रही थीं। जब उन्होंने जाना कि पुत्रादि सब दुःखके ही कारण हैं, तो वे बहुत ही लज्जित हुईं। और उन्होंने यमुना-तीरपर जाकर अपने पापका प्रायश्चित्त किया। राजा चित्रकेतु भी जीवात्मा और ऋषियोंके वचनोंसे शोक, मोह, भय और क्लेश देनेवाले और कठिनतासे छूटनेवाले घरके स्नेहको छोड़कर जैसे हाथी तालाबके कीचड़से निकलता है, वैसे ही गृहरूपी अँधेरे कुएँसे बाहर निकल आये और यमुना-तटपर जाकर विधिपूर्वक स्नान और तर्पणादि करके मननशील और जितेन्द्रिय होकर महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारदजीसे भगवत्-पद-प्राप्तिका सरल साधन पूछने लगे। भक्त, जितेन्द्रिय और शरणागत राजा चित्रकेतुको अधिकारी जानकर भक्तराज देवर्षि नारदजीने उन्हें स्तुतिविद्या बतलाकर कहा कि तुम बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरसे संयत होकर इस परम कल्याणकारी मन्त्रको ग्रहण करो; श्रद्धा, भक्ति और शरणागतिपूर्वक सात दिनतक इसका अनुष्ठान करनेसे तुम्हें प्रभु संकर्षणदेवके दर्शन होंगे और हे नरेन्द्र! बड़े-बड़े देवगण जिन प्रभुके चरणमूलका आश्रय ले द्वैत-भ्रमसे छूटकर शीघ्र ही जिस अतुलनीय महिमाको प्राप्त हुए हैं, तुम भी उसको प्राप्त हो जाओगे। वह स्तुतिमयी विद्या यह है—

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये॥
आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः।
हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये॥
वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते।
मृन्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः॥
यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तं नतोऽस्म्यहम्॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।
नैवान्यदा लोहमिवाप्रततं
स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकरकरकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परम परमेष्ठिन्नमस्ते॥

(श्रीमद्भागवत ६। १६। १८—२५)

'हे भगवन्! वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणरूपसे विराजमान आपको मैं शुद्ध मनसे नमस्कार करता हूँ। हे विज्ञानघन! आप परमानन्दस्वरूप हैं, आत्माराम हैं, शान्त हैं, द्वैतदृष्टि आपसे दूर रहती है, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे प्रभो! आप आत्मानन्दके अनुभवसे मायारचित प्रपञ्च आदि तरङ्गोंको निरस्त करते हैं, आप इन्द्रियोंके स्वामी और महान् हैं, आप ही विश्वरूपसे प्रकट हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे परमात्मन्! मनसहित समस्त इन्द्रियाँ आपके स्वरूपतक न पहुँचकर उपराम हो जाती हैं, आप सत् और असत्से परे नाम-रूप-रहित अकेले ही चित्स्वरूप हैं, आपके सिवा और कुछ है ही नहीं, आप हमारी रक्षा कीजिये। यह कार्यकारणरूप जगत् जिसमें अवस्थित है, जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लय हो जाता है, जो मिट्टीसे बने हुए घड़े आदि पदार्थोंमें मिट्टीके समान सर्वत्र व्याप्त है उन ब्रह्मस्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आकाशकी भाँति भीतर

और बाहर सर्वत्र सदा व्याप्त रहनेपर भी मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और प्राण जिनको स्पर्श नहीं कर सकते उन विभु भगवान्‌को मेरा नमस्कार है। देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन और बुद्धि ये सब चैतन्यांशसे युक्त होते हैं तभी अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, जिस समय चैतन्यका सम्बन्ध नहीं रहता उस समय ये वैसे ही क्रियाशून्य रहते हैं जैसे अग्निमें बिना तपाया हुआ लोहेका गोला जला नहीं सकता। वह चैतन्य ही सबका साक्षी है। उस साक्षीस्वरूपको जाननेसे ही जीवका कल्याण होता है। उन महापुरुष महानुभाव महाविभूतिपति भगवान्‌को नमस्कार है। महान् श्रेष्ठ भक्तगण निरन्तर अपने करकमलोंकी कलियोंसे आपके दोनों चरणकमलोंकी सेवा करते हैं। हे सर्वश्रेष्ठ सर्वेश्वर ! आपको नमस्कार है।'

देवर्षि नारद और महर्षि अंगिरा शरणागत चित्रकेतुको इस स्तुतिमयी विद्याका उपदेश करके ब्रह्मलोकको चले गये। राजा चित्रकेतुने नारदजीके उपदेशानुसार सात दिनोंतक केवल जलपर रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक एकाग्र चित्तसे उपर्युक्त विद्याका जाप किया। सात रात्रि बीतनेपर इस विद्याके प्रभावसे राजा चित्रकेतु विद्याधरोंके स्वामी हो गये। फिर कुछ दिनोंमें ही उसी विद्याके बलसे राजा मनोगतिके अनुसार देवाधिदेव भगवान्‌के शेषस्वरूपके चरणोंमें जा पहुँचे। वहाँ जाकर राजाने देखा कि भगवान् संकर्षण सनत्कुमारादि सिद्धेश्वर महात्माओंसे घिरे बैठे हैं। उनका वर्ण कमल-की नालके समान गौर है, वह नील वस्त्र धारण किये, देदीप्यमान किरीट, केयूर, कटिसूत्र (तागड़ी) और कंकण आदिसे सुशोभित हैं। उनका मुख प्रसन्न और नेत्र लाल हैं। इस प्रकार शेषरूपमें सर्वेश्वर भगवान्‌के दर्शन करते ही राजाके सब पाप नष्ट हो गये और उनका अन्तःकरण स्वस्थ और निर्मल हो गया। प्रेमावेशसे शरीर पुलकित हो गया, नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे और वाणी रुक गयी। तदनन्तर राजाने आदिपुरुष भगवान् संकर्षणको भक्ति-पूर्वक प्रणाम किया। राजाने स्तुति करना आरम्भ किया परन्तु प्रेमावेशसे उनके कण्ठ रुक गये, बहुत देरतक स्तुति नहीं की जा सकी और वे पवित्रकीर्ति भगवान्‌के चरणप्रान्तको प्रेमाश्रुओंकी बूँदोंसे सींचने लगे। कुछ देरके अनन्तर जब कुछ बोलनेकी शक्ति आयी तब राजाने एकाग्रचित्तसे शास्त्रानुसार जगद्गुरु परमेश्वरकी स्तुति की। स्तुतिसे अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् अनन्त विद्याधराधिपति राजा चित्रकेतुसे कहने लगे—

हे राजन् ! नारद और अंगिराने मेरे सम्बन्धमें तुमको जिस विद्याका उपदेश दिया, उसीके प्रभावसे तुम मेरे दर्शन पाकर सम्पूर्णरूपसे सिद्ध हो गये हो। मैं ही समस्त भूतप्राणी हूँ, मैं ही उनका आत्मा और उत्पन्न करनेवाला हूँ। देखो, शब्दब्रह्म और परब्रह्म दोनों मेरे ही नित्य स्वरूप हैं। लोकमें आत्मा सत्यरूप-से और आत्मामें लोक आरोपितरूपसे व्याप्त है, और मैं दोनोंमें ही कारणरूपसे व्याप्त । ये दोनों मुझमें ही रचित हैं। जैसे सोया हुआ मनुष्य सपनेमें नाना प्रकारकी वस्तुओंको देखता और अपनेको विश्वके एक देशमें स्थित जागता हुआ मानता है, ऐसे ही प्रत्यक्ष जागना भी जीवकी उपाधिभूत बुद्धिकी ही एक अवस्थाविशेष है, और वह मायासे ही आत्मामें कल्पित है। यह जानकर आत्माको उन अवस्थाओंका साक्षी और उनसे रहित समझो। सोया हुआ पुरुष सुषुप्ति-अवस्थामें जिसके द्वारा गाढ़ निद्रा-को और अतीन्द्रिय सुखको जानता है वह आत्मारूप ब्रह्म मैं ही हूँ। हे राजन् ! निद्रा और जागरण इन दोनों अवस्थाओंका अनुसन्धान करनेसे जो पुरुष इन दोनोंमें ज्ञानके प्रकाशकरूपसे स्थित है और दोनों-से अलग है वही परम ज्ञान है और वही ब्रह्म है। इस द्रष्टारूपी ब्रह्मस्वरूपको भूलकर ही जीव आत्मासे अलग

हो जाता है और इसीसे बार-बार जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्ति होती है। इस मनुष्य-शरीरमें ज्ञान और विज्ञानकी प्राप्ति होती है, जो इस मनुष्य-देहको पाकर भी आत्माको नहीं जानता, उसका किसी भी योनिमें कल्याण नहीं होता। विषयोंमें प्रवृत्तिसे ही क्लेश और उलटा फल होता है। विषयोंसे निवृत्त होनेमें कोई डर नहीं है अतएव बुद्धिमान् पुरुषको विषयोंसे निवृत्त होना चाहिये। जगत्‌में स्त्री-पुरुष सभी सुखकी प्राप्ति और दुःखोंके नाशके लिये नाना प्रकारके कर्म किया करते हैं परन्तु उन कर्मोंसे न तो उनको सुख ही मिलता है और न दुःख ही दूर होते हैं। इस प्रकार कर्मोंमें लगे हुए अपनेको बुद्धिमान् और विज्ञ समझकर अभिमान करनेवाले पुरुषोंको सुख न मिलकर दुःख ही मिला करता है। आत्माकी सूक्ष्म गति जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे परे है, ऐसा समझकर विवेकके द्वारा इस लोक और परलोकके विषयोंसे चित्तको हटाना चाहिये और ज्ञान-विज्ञानके द्वारा सन्तुष्ट होकर मनुष्यको मेरी भक्ति करनी चाहिये। योग-मार्गमें निपुण बुद्धिवाले मनुष्योंको यह बात भली भाँति जान लेनी चाहिये कि एक ही परमात्मा सब स्थानोंमें सदा-सर्वदा व्याप्त है। वही सब कुछ है। हे राजन्! तुम यदि सावधान होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेशको ग्रहण करोगे तो शीघ्र ही ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होकर तुम मेरे स्वरूपकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको पा जाओगे।' जगद्‌गुरु विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि इस प्रकार चित्रकेतुको आश्वासन देकर उनके देखते-ही-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये।

अब राजा चित्रकेतु समदृष्टिको प्राप्त होकर द्वन्द्वरहित हो गये। वे कामना, स्पृहा, ममता और अहंताका त्यागकर नित्य परमात्मामें संयुक्त हुए तपोबलसे चौदहों भुवनोंमें इच्छानुसार विचरण करने लगे। एक दिन उन्होंने तेजोमय विमानपर चढ़े हुए आकाश-मार्गसे गमन करते समय मुनियोंकी सभामें भवानीको भगवान् शंकरजीकी गोदमें बैठे देखा। चित्रकेतुको यह व्यवहार विपरीत मालूम दिया। उन्होंने इसकी कुछ कटु आलोचना की, इसपर भगवान् शंकर तो हँस दिये परन्तु भवानीजीसे नहीं रहा गया, उन्होंने यह सोचकर कि यह बहुत अविनीत हो उठा है, अतः भगवान्‌के चरणोंमें रहने लायक नहीं है, चित्रकेतुको शाप दे डाला कि 'तू जाकर असुर-योनिमें जन्म ग्रहण कर।'

श्रीसतीजीके शापको सुनकर यद्यपि राजा चित्रकेतुको कुछ भी शोक नहीं हुआ। क्योंकि वह सर्वत्र सब समय भगवान्‌को देखते थे, इससे उन्होंने समझा कि असुर-योनिमें भी मेरे भगवान् तो मुझसे अलग नहीं होंगे, फिर क्या चिन्ता है। तथापि शिष्ट व्यवहारके अनुसार भवानीजीसे क्षमा माँगनेके लिये वे विमानसे उतरकर सतीके चरणोंपर गिरकर नम्रतापूर्वक उनसे बोले—माताजी! आपने कृपा करके जो शाप दिया, उसको मैं सादर स्वीकार करता हूँ। मैं इस बातको जानता हूँ कि देवगण जो कुछ मनुष्यके लिये कहते हैं सो उनके कर्मानुसार ही कहते हैं। अज्ञानसे मोहित होकर प्राणी इस संसारचक्रमें घूमता हुआ सदा और सर्वत्र सुख-दुःख भोगता ही रहता है। इस गुणोंके प्रवाहरूप संसारमें शाप-वरदान, स्वर्ग-नरक और सुख-दुःख वस्तुतः कुछ भी नहीं है। हे देवि! स्वयं बन्धनादिसे रहित एक परमेश्वर ही अपनी मायाके द्वारा सब प्राणियोंको रचते हैं और उनके सुख-दुःख और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करते हैं। हे माता! उन ईश्वरका न कोई प्रिय है, न अप्रिय; न अपना है, न पराया; न कोई जातिवाला है, न बन्धु है, वह सर्वत्र समान और असंग हैं। उन भगवान्‌को जब सुखमें प्रीति नहीं है तब क्रोध कहाँसे होगा? तथापि उनकी मायासे जीव

जिन पुण्य-पापरूप कर्मोंको करता है, वे ही उसके सुख-दुःख, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष, जन्म-मृत्यु और संसारके कारण होते हैं। हे देवि ! मैं शापसे छूटनेके लिये आपको प्रसन्न नहीं कर रहा हूँ। मेरे जो शब्द आपको बुरे लगे हैं उन्हींके लिये आप मुझपर क्षमा कीजिये !

इस प्रकार कहकर शिव-सतीको प्रसन्न करके राजा चित्रकेतु सबके सामने ही विमानपर चढ़कर आकाश-मार्गसे चले गये। उनकी ऐसी स्थिति देखकर वहाँ बैठे हुए सभी लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। तदनन्तर श्रीशिवजीने भक्तोंकी प्रशंसा करते हुए सबके सामने सतीजीसे कहा—'हे सुश्रोणि ! देखा तुमने अद्भुतकर्मा भगवान् श्रीहरिके दासानुदास निस्पृह महात्माओंका माहात्म्य ! भगवान् नारायणके परायण हुए भक्तगण किसीसे कहीं भी नहीं डरते, वे नित्य निर्भय हुए स्वर्ग, नरक और मोक्षमें समदृष्टि रहते हैं। हे देवि ! भगवान्की लीलासे ही जीवोंको देहकी प्राप्ति होकर उसमें सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप-अनुग्रह हुआ करते हैं, और उनमें, जैसे स्वप्नमें मनुष्यको सुख-दुःख होता है अथवा रस्सीमें जैसे सर्पका भ्रम होता है वैसे ही अज्ञानसे इष्ट-अनिष्टका बोध होता है। भगवान् वासुदेवमें भक्ति करनेवाले ज्ञान और वैराग्यके बलसे सम्पन्न पुरुष किसी भी सांसारिक पदार्थको 'यह अच्छा है' ऐसा समझकर उसका आश्रय ग्रहण नहीं करते। मैं, सनत्कुमार, नारद, मरीचि आदि ब्रह्माके पुत्र महर्षिगण, इन्द्रादि देवता भी जब परमेश्वरकी लीलाके रहस्यको उनकी कृपा बिना नहीं समझ पाते तब जो लोग उनके अंशके भी अंश हैं वे अपनेको अलग-अलग ईश्वर मानकर अभिमान करनेवाले लोग उनके स्वरूपको कैसे जान सकते हैं? उन श्रीहरिके कोई भी प्रिय-अप्रिय या अपना-पराया नहीं है, तथापि वह सब प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण सब प्राणियोंके प्रिय हैं। हे सती ! यह महाभाग चित्रकेतु उन्हीं भगवान्का प्यारा भक्त, भगवान्की रुचिके अनुसार चलनेवाला, शान्त और सर्वत्र समदृष्टि है। मैं भी उन्हीं अच्युतका प्रिय हूँ। इसी कारण मुझको उसपर क्रोध नहीं हुआ। अतएव इस प्रकारके शान्त, समदृष्टि, भगवद्भक्त, महात्मा पुरुषोंके आचरण देखकर आश्चर्य नहीं मानना चाहिये।'

भगवान् श्रीशिवजीके वचन सुनकर देवीका विस्मय दूर होकर उनका चित्त शान्त हुआ। उलटा शाप देनेमें समर्थ होनेपर भी भगवद्भक्त चित्रकेतुने शान्तभावसे बिना किसी हर्ष-विषादके देवीके शापको सिर चढ़ा लिया। यही तो उनकी साधुता है। इसी शापके कारण चित्रकेतु अगले जन्ममें त्वष्टाकी दक्षिणाग्निमें उत्पन्न होकर वृत्रके नामसे प्रसिद्ध हुए, और निरन्तर प्रेमपूर्वक भगवान्में चित्त लगाये हुए अन्तमें भगवान्को प्राप्त हो गये !

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामनामका महत्त्व

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

रम कल्याणकारी जगत्-विख्यात 'कल्याण' पत्रके कल्याणस्वरूप श्रीसम्पादकजीने जनताके कल्याणार्थ श्रीरामचरितमानसमेंसे श्रीरामनामका महत्त्व उद्धृत करनेकी प्रेरणा की है। श्रीत्रिवेणी-बाँधगुफा, प्रयागके निजनाथ स्वामी श्रीपरमहंसजी महाराजसे सम्मान्य सम्पादकजीने यह स्वीकार करवा लिया है कि श्रीतुलसीकृत रामायण-सम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर गुफासे अवश्यमेव भेजे जाते रहेंगे। उसी स्वामि-आज्ञाका पालन करनेके लिये विवश होनेके कारण इस दीनके तुच्छ अन्तः-करणकी ठीक 'साकबनिक मनि-गुनगन जैसे' की ही दशा हो रही है; क्योंकि—

कहँ यह नाम-महत्त्व अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥

अतः—

समुझत अमित नाम प्रभुताई। लेख करत मन अति कदराई॥

परन्तु आश्रितोंको स्वयं विचार करनेका अवकाश कहाँ? 'सबतें सेयक-धर्म कठोरा।' अतएव करबद्ध आज्ञा शिरोधार्य कर लेख आरम्भ किया जा रहा है,—

यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।

श्रीरामनामका महत्त्व रामचरितमानसके जिस किसी अंशको देखिये, वहीं अगाधरूपमें ओतप्रोत है, जैसा कि ग्रन्थकार श्रीगोस्वामीजीकी प्रतिज्ञासे ही सूचित होता है—

भनित मोरि सब गुनरहित, बिस्वबिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहैं सुमति, जिनके बिमल बिबेक॥

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मंगल-भवन अमंगल-हारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी॥
भनित बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुनरहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥
जदपि कवित-रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगटि एहि माहीं॥

इस प्रतिज्ञाके अनुसार इस पुराण-श्रुतिके सारभूत 'पावनं पावनानाम्' उदार श्रीरामनामके अपार महत्त्वका परिचय देते हुए श्रीगोस्वामीजीने स्वरचित रामायणकी केवल चौबीस पंक्तियोंको प्रयोजनवश छोड़कर, जिसका कारण फिर कभी अवसर मिलनेपर दूसरे किसी लेखमें विस्तारके साथ स्पष्ट करनेकी सेवा की जायगी, शेष समस्त ग्रन्थ (सातों काण्डोंके प्रत्येक पद) की रचना ऐसे नियमसे की है कि श्रीरामनामके बरवरणयुग (रा) रकार और (म) मकार दोनों अक्षरोंमेंसे एक-न-एक किसी-न-किसी रूपमें प्रत्येक पंक्तिमें अवश्य पाया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें रामनाम ओतप्रोत होनेसे 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा' तो सिद्ध हो ही गया है; इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं प्रसङ्गवश अवसर मिला है, वहीं ठौर-ठौरपर प्रकटरूपमें श्रीरामनामका महत्त्व भरपूर गाया गया है। उदाहरणार्थ विभिन्न स्थलोंसे कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥
राम राम कहि जे जमुआहीं। तिनहिं न पाप-पुंज समुहाहीं॥
जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुक्त होइ श्रुति गावा॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं समगति अबिनासी॥
जासु नाम त्रयताप-नसावन। सो प्रभु प्रगट समुझ जिय रावन॥
जाकर नाम लेत जगमाहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥
बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। भव-बारिधि गोपद इव तरहीं॥
बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥
कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

कृतजुग त्रेता द्वापरहुँ, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि-नाम ते पावहिं लोग॥
यहि कलिकाल मलायतन, मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनायक नाम तजि, नहिं कछु आन अधार॥

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें गुप्त और प्रकटरूपसे श्रीरामनामका महत्त्व तो प्रदर्शित किया ही गया है; फिर बालकाण्डके वन्दना-प्रसंगमें श्रीरामनाम-वन्दना पृथक् ही नौ दोहोंमें रचकर उस रामनाम-महत्त्वकी असीमता सूचित की गयी है। वह इस तरह कि, अंकोंकी सीमा नौ (९) पर ही जाकर समाप्त हो जाती है। नौके पश्चात् चाहे

अर्ब, खर्ब, संख्य, असंख्यतक लिखते जाइये, वही १ से लेकर ९ तकके अंकोंको इकाई-दहाई आदिके स्थानोंमें घूम-फिरकर लिखना पड़ेगा। ९ से अधिक अंक हैं ही नहीं तब आवेंगे कहाँसे? इस प्रकार अंकोंकी सीमा ९ ही है। पुनः ९ का ही अंक एक ऐसा अंक है जो अपने गुणनफलमें सदैव अपनी नौ की संख्याको अचलरूपसे पूर्ण बनाये रखता है। यह गुण १ से लेकर ८ तकके किसी दूसरे अंकमें आपको नहीं मिलेगा। यह ऐश्वर्य केवल ९ के अंकको ही प्राप्त है। उदाहरणके लिये किसी एक अंकको गुणा करके देख लीजिये। ८ का दूना १६ हुआ, जिसमें दो अंक १ और ६ हैं। इन दोनों अंकोंको जोड़िये तो दोनों मिलकर ७ हुआ, ८ पूरा नहीं हुआ। पुनः ८ का तिगुना २४ हुए, जिसमें २ और ४ दो अंक हैं। इन दोनोंका योग ६ ही होता है। इसी प्रकार पूरे पहाड़ेतक इकाई और दहाईके अंकोंको जोड़ते जाइये। आठ ही क्यों ७, ६, ५, ४, ३, २, १ किसी भी अंकको अपने गुणनफलमें उसके पूरे रूपमें बराबर नहीं पायेंगे। किन्तु ९ का अंक ऐसा विलक्षण है कि वह हर हालतमें नौका नौ ही मिलता है। जैसे ९ का दूना १८ हुआ, जिसमें १ और आठ दो अंक हैं, इनको जोड़िये तो १+८=९ ही होता है। पुनः ९ का तिगुना २७ हुआ और २ तथा ७ का जोड़ ९ हुआ। फिर ९ का चौगुना ३६ हुआ और ३+६=९ हुआ। इसी प्रकार नौ नवाँ ८१ तक जोड़ते चले जाइये, किसी गुणनफलमें ९ से कम या अधिक जोड़ नहीं होगा। इसके दसगुना नब्बे (९०) तकमें भी ९ और शून्यका जोड़ ९ ही रहता है। अतएव श्रीरामनामकी वन्दना अलग नौ दोहोंमें करके उसके महत्त्वकी असीमता और अचलताका लक्ष्य कराया गया। और भी ऐसे प्रसंगोंपर जहाँ-जहाँ यह रहस्य सूचित करनेकी आवश्यकता श्रीगोस्वामीजीको प्रतीत हुई है, वहाँ-वहाँ वन्दना और उपमा आदिको नौकी ही संख्यातक रखकर इस नियमको पुष्ट किया है। जैसे, बालकाण्डके आदि मङ्गलाचरणके श्लोकोंमें केवल नौ महानोंकी ही वन्दना की गयी है—'वन्दे वाणीविनायकौ'—श्रीसरस्वती और श्रीगणेश (दो), 'भवानीशङ्करौ वन्दे'—श्रीशिव और श्रीपार्वती (चार), 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुम्'—श्रीगुरुदेव (पाँच), 'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वर-कपीश्वरौ'—श्रीवाल्मीकि और श्रीहनुमान्‌जी (सात), 'सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्'—श्रीसीताजी (आठ) तथा—

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।

श्रीसरकार रघुनाथजीकी वन्दना अन्तमें करके नौकी संख्या पूरी की गयी है। अवधकाण्डमें जब श्रीसुमन्तजी श्रीसरकारकी वनयात्राके समय उन्हें शृंगवेरपुर गङ्गातटपर पहुँचाकर अयोध्या वापस आये हैं तो उनके शोककी पराकाष्ठा दिखानेके लिये वहाँ भी नियमसे ९ ही उपमाएँ दी गयी हैं—

(१) मनहु कृपिन धनरासि गँवाई।

(२) चलेउ समर जनु सुभट पराई।

(३) बिप्र बिबेकी बेदबिद, संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद पान कर, सचिव सोच तेहि भाँति॥

(४) जिमि कुलीन तिय साधु सयानी।
पति देवता करम मन बानी॥
रहै करमबस परिहरि नाहू।
सचिव-हृदय तिमि दारुन दाहू॥

(५) बिबरन भयउ न जाइ निहारी।
मारेसि मनहु पिता-महतारी॥

(६) हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी।
जमपुर पंथ सोच जिमि पापी॥
पैठत नगर सचिव सकुचाई।
जनु मारेसि (७) गुर (८) बाँभन (९) गाई॥

फिर उत्तरकाण्डमें जहाँ—

बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।

यह निश्चय करना इष्ट था, वहाँ भी नौ ही असम्भव बातोंको गिनाकर असीमताके लिये नौका ही नियम निबाहा गया है। यथा—

(१) कमठ पीठ बरु जामहिं बारा।

(२) बंध्यासुत बरु काहुहि मारा।

(३) फूलहि नभ बरु बहुबिधि फूला।
जीव न लह सुख हरि-प्रतिकूला॥

(४) तृषा जाइ बरु मृग जलपाना।

(५) बरु जामहि सस-सीस बिषाना।

(६) अंधकार बरु रबिहि नसावै ।
　　　　रामबिमुख सुख जीव न पावै ॥

(७) हिम ते अनल प्रगट बरु होई ।
　　　　बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥

(८) बारि मथे घृत होइ बरु,

(९) सिकता ते बरु तेल ।

इसी प्रकार नौ अंकके द्वारा, नौ दोहोंमें वन्दना करके श्रीरामनामका महत्त्व तो प्रकट किया ही गया है, साथ ही इस वन्दनाके एक-एक पदमें जिन सप्रमाण और सगर्भ हेतुओं तथा दलीलोंके द्वारा प्रत्येक शब्द श्रीरामनामके महत्त्वसे भर दिया गया है,—जो भगवत्कृपासे भावार्थोंद्वारा सुझाये जा सकते हैं,—उनकी गम्भीरता, अगाधता और असीमताका तो ठिकाना ही नहीं है । यदि कोई इन्हीं नौ दोहोंके प्रत्येक पदका भावार्थ लिखकर श्रीरामनामका महत्त्व दिखलाना चाहे तो पूरे सातों काण्ड रामायणसे भी विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो जायगा, किन्तु फिर भी वह पूरा नहीं लिखा जा सकता । इसलिये इस वन्दना-प्रसंगका एक पद आरम्भका तथा एक पद अन्तका सम्पुटरूपमें लेकर इन्हीं दोनों पदोंके भावार्थ संक्षेपरूपमें श्रीरामनाम-महिमा प्रकट करनेके लिये अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार 'तस कहिहौं हिय हरिके प्रेरे' का अवलम्बन कर समर्पित किये जा रहे हैं ।

आरम्भका पद है—

बन्दौं नाम राम रघुबरको। हेतु कृसानु भानु हिमकरको॥

इससे पहले श्रीराम-रूपकी वन्दना आप कर चुके—

पुनि मन बचन करम रघुनायक । चरन-कमल बन्दौं सब लायक ॥

तथा 'गिरा अर्थ जल बीचि सम' की उपमा देकर दोहेमें युगल सरकारकी एकता भी कर चुके । अतः अब कहते हैं कि 'बन्दौं नाम'—श्रीसरकारके नामकी वन्दना करता हूँ । यह नाम क्या है ? राम ऐसा नाम है । राम भी तो अनेक हैं; जैसे—परशुराम, बलराम, व्यापक राम इत्यादि; तो फिर कौन-से राम ? रघुबरको राम । अर्थात् श्रेष्ठ रघुकुलोत्पन्न श्रीदाशरथी रामजी ('रामो दाशरथी बभूव' इति तापिनी) इस निर्णयके अनुसार श्रीगोसाईंजी श्रीअवधनाथ, दशरथपुत्र, कौशल्यानन्दन, रघुकुलश्रेष्ठ जो राम हैं, उन रामजीके नामकी बन्दना करते हैं । कैसा है वह रामनाम ? वह कृशानु (अग्नि), भानु (सूर्य) तथा हिमकर (चन्द्रमा) का हेतु (कारण) है । तात्पर्य, रामके (र) रकारसे अग्नि, (ा) अकारसे सूर्य, एवं (म) मकारसे चन्द्र इन तीनों कार्यरूपोंकी उत्पत्ति हुई है । इस पदसे श्रीरामनामका महान् महत्त्व इस प्रकार सूचित कर रहे हैं कि इस जगत्मात्रके आधार अग्नि, सूर्य और चन्द्र ही हैं, यदि ये तीनों न होते तो संसारका कोई भी कार्य चल ही नहीं सकता था । यह प्रत्यक्ष और निर्विवाद है । जब कार्योंका महत्त्व इतना प्रकट है तब उनके कारण-स्वरूप रामनामके महत्त्वका क्या कहना ? अतः इस जीवका जो अर्थ अग्निके द्वारा सिद्ध हो रहा है, उसके लिये तो अग्नि ही समर्थ है; परन्तु जो 'परमार्थ' अग्निके सामर्थ्यमें नहीं है, उस परमार्थके जिज्ञासुको अग्निके कारण (र) रकारकी शरण लेनी चाहिये, तब काम चलेगा । तात्पर्य यह कि सृष्टिके सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अग्निद्वारा भस्म किया जा सकता है; परन्तु शुभाशुभ कर्मोंको भस्म करनेका कार्य अग्निसे नहीं सिद्ध हो सकता । इसलिये जिसे शुभाशुभ कर्मोंसे छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त करनेकी चाह हो, वह अनलके बीज (कारण) रामनामके रकारका अनुसन्धान करे, तब उसके शुभाशुभ कर्म भस्मीभूत होंगे । इसका प्रमाण भी इस प्रकार है—

रकारोऽनलबीजः स्याद् ये सर्वे बाडवादयः ।
कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥

इसी प्रकार जो अर्थ सूर्यसे नहीं सिद्ध होनेवाला है, वह, जैसे, जगत्भरके अन्धकारका नाश तो सूर्योदयसे हो जाता है—

रबिमंडल देखत लघु लागा । उदय तासु त्रिभुवन तम भागा ॥

परन्तु हृदयके अज्ञानान्धकारका नाश—सूर्यके बीज (कारण) स्वरूप रामनामके अन्दर रकारके आगे आनेवाली जो पाई (ा) है, उस अकारके अनुसन्धानसे ही सम्भव है । प्रमाण—

अकारो भानुबीजः स्यात् सर्ववेदप्रकाशकः ।
दहत्येव च सद्दीप्त्या याविद्या हृदये तमः ॥

इसी भाँति जो अर्थ चन्द्रमासे सिद्ध नहीं हो सकता, उसकी सिद्धिके लिये रामनामके (म) मकारकी ही शरण पर्याप्त होगी, जो चन्द्रका बीजस्वरूप है । संसारी उष्णतासे उत्पन्न होनेवाले तापको हरण करनेमें चन्द्रदेव समर्थ हैं—

'सरदातप निसि ससि अपहरई'; परन्तु अन्तःकरणके तापका निवारण इनके बीज रामनामके मकारसे ही सम्भव है। प्रमाण—

मकारश्चन्द्रबीजः स्यात् सदम्या परिपूरणम्।
त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च॥

इन्हीं भावोंकी पुष्टि श्रीरामचरितमानसकी उन बीजक चौपाइयों और दोहोंके द्वारा स्वयं श्रीग्रन्थकारजीने भी स्पष्ट-रूपमें कर दी है, जिनकी रचना यहाँके बीजको सफल करनेके निमित्त ही प्रसङ्गानुकूल अवसर पानेपर ग्रन्थके बीच-बीचमें अनेक स्थलोंपर की हुई मिलती है। जैसे—

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥
(बालकाण्ड)

जिन श्रीरामजीका 'राम' नाम पतङ्ग अर्थात् सूर्य है। परन्तु लौकिक तिमिरके लिये नहीं, भ्रम (अज्ञान)-तिमिर (अन्धकार) का नाश करनेके लिये रामनाम सूर्य है। जो तम इन सूर्यसे नष्ट होता है, उसके लिये तो यही समर्थ हैं। पुनः—

जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥
(अवधकाण्ड)

जिन श्रीरामजीका 'राम' नाम पावक अर्थात् अग्नि है। परन्तु पाञ्चभौतिक पदार्थोंको भस्म करनेके लिये नहीं, क्योंकि इन्हें तो यही अग्नि भस्म कर सकती है, श्रीराम-नाम तो अघरूप रूईको भस्म करनेके लिये पावकरूप है। पुनः—

राका रजनी भगति तव, रामनाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल, बसहिं भगत उर ब्योम॥
(वनकाण्ड)

जिन श्रीरामजीका 'राम' नाम चन्द्र है। परन्तु साधारण रजनीके लिये नहीं, इस रात्रिको तो यही चन्द्रमा शोभित करते हैं; श्रीरामनाम भक्तिरूप पूर्णमासीकी रात्रिके लिये सोम अर्थात् चन्द्र है, जहाँ त्रिताप एवं अन्तःतापका नाम नहीं रह पाता।

साथ ही श्रीगोस्वामिपादने उक्त पदमें अग्नि, सूर्य और चन्द्रके लिये ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है, जिनमें रकार, अकार और मकार बीजरूपसे झलक रहे हैं और इस तरह इन्हीं भावोंकी पुष्टि होती है। उन्होंने पावक, अग्नि, अनल आदि किसी ऐसे शब्दका प्रयोग न कर, ढूँढ़कर 'कृशानु' शब्द लिखा है, जिस कृशानुमें (र) रकार बीज 'क' में 'ऋ' के रूपमें झलक रहा है। यदि रकारकी मात्रा न रहे तो 'कशानु' निरर्थक शब्द हो जाय। इसी प्रकार सूर्य, पतङ्ग, दिनेश आदि शब्दोंका प्रयोग न करके, जान-बूझकर 'भानु' शब्द रक्खा गया है, जिसमें 'भ' और 'नु' के बीचमें (ा) अकारकी पाई बीजरूपसे वर्तमान रहे। यहाँ भी पाईके हट जानेपर केवल 'भनु' रह जायगा जो सूर्यका बोधक ही नहीं होगा। ऐसे ही विधु, शशि, चन्द्र आदि शब्दोंको छोड़कर चन्द्रमाके लिये 'हिमकर' शब्द ढूँढ़ा गया है, जिससे इसमें भी (म) मकार बीज-रूपसे झलकता रहे। इसका भी 'म' हटा देनेपर केवल 'हिकर' शब्द निरर्थक ही रह जाता है।

इस प्रकार कार्य-कारण-भावका पूर्ण प्रमाण देकर यह विशेष वैलक्षण्य श्रीरामनामके महत्त्वमें दिखाया गया है कि कार्योंसे तो केवल एक-एक अर्थ अलग-अलग साधे जा सकते हैं; किन्तु कारण-रूप केवल एक रामनामसे ही तीनों अर्थ एक साथ ही पूर्ण हो जाते हैं—(१) जन्म-जन्मान्तरके शुभाशुभ कर्म भी भस्म हो जाते हैं; (२) अज्ञान-तम भी निवृत्त हो जाता है; तथा (३) सब प्रकार-के बाह्यान्तर ताप भी दूर हो जाते हैं, जिससे श्रीभक्ति महारानीकी प्राप्ति होती है तथा हृदय नित्य शीतल एवं सुखमय हो जाता है।

नाम-वन्दना-प्रसङ्गके अन्तका पद, नवाँ दोहा इस प्रकार है—

राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल॥

श्रीरामनाम नरसिंह भगवान्की उपमामें है, कलियुग हिरण्यकशिपुकी उपमामें है, नामजापक लोग प्रह्लादकी उपमामें हैं तथा पुण्यात्मा लोग देवताओंकी उपमामें हैं। जैसे सुरसालि (देवताओंको दुःख देनेवाला हिरण्यकशिपु) सुरोंको दुखी करता रहा, उसी प्रकार कलियुग पुण्यात्माओं-को (जो अपने वर्णाश्रम-धर्मानुकूल शुभाचरण करते हुए चलना चाहते हैं) रगड़ता रहता है। एक रामनामके जापकोंसे उसकी उसी प्रकार एक भी नहीं चलती जिस प्रकार हिरण्यकशिपुकी प्रह्लादसे एक भी नहीं चली थी।

सहे सुरन बहु काल बिषादा। नरहरि प्रगट किये प्रहलादा॥

जबतक हिरण्यकशिपु देवताओंको ही दुखी करता रहा तबतक तो भगवान्‌के लिये असह्य नहीं हुआ, किसी प्रकार चलता गया। किन्तु जब उसने नामजापक भक्त प्रह्लादको दुःख देना आरम्भ किया तब—

निज अपराध रिसाहि न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल स्वभाऊ ॥
जो अपराध भगतकर करई। राम रोष पावक सो जरई ॥

—के अनुसार भगवान्‌ने तत्काल नरसिंह-रूपमें प्रकट होकर उसे चीर-फाड़ डाला। वैसे ही अपर यज्ञ-यागादि कर्मावलम्बियोंको कलिकाल क्लेश पहुँचाता रहता है, परन्तु अगर कभी वह किसी रामनाम-जापक भक्तपर अपना जोर दिखावेगा तो उसी समय नष्ट-भ्रष्ट कर डाला जायगा—ऐसा समझकर वह नामजापकोंके नजदीक नहीं आता और न कोई विघ्न ही पहुँचाता है। इसी कारण इस घोर कलिमें एक नामावलम्ब ही निष्कण्टक मार्ग बताया गया है। जैसे—

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेष नहिं आन उपाऊ ॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलम्बन एकू ॥
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन-ग्रामहिं ॥
सो भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥

राम राम जपे जैहै जियकी जरनि।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये
जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि।
(विनयपत्रिका)

अर्थात् रामनामको छोड़कर और दूसरे समस्त उपाय बिना पगके हो गये हैं, चल नहीं सकते। वे देखनेमात्रको रह गये हैं, कलियुगने उन्हें शक्तिहीन बना दिया है, जैसे चित्रमें सूर्यका आकार तो छपा रहता है पर वह देखनेभरके लिये होता है; उससे यदि कोई रात्रिका निवारण करना चाहे तो कदापि नहीं हो सकता। हाँ, एक राम-नामसे चाहे जो हो सकता है—

नाम प्रताप सही जो कहे कोउ सिलो सरोरुह जामो।
(बिनयपत्रिका)

क्योंकि इसपर अपना जोर डालनेमें कलियुग भय खाता है तथा इसी नाते इस कलियुगकी भी प्रशंसा इतने अंशमें हो रही है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं, जो नर कर बिसवास।
गाइ राम गुनगन बिमल, भव तर बिनहि प्रयास ॥
कृतजुग त्रेता द्वापरहुँ, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि-नाम ते पावहिं लोग ॥

श्रीगोस्वामीजी महाराज 'बिनयपत्रिका' में भी ठीक इसी भावकी अपनी प्रेमपूर्ण सम्मति दे रहे हैं—

नाना पथ निर्वाणके साधन अनेक बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे रटु राम नाम दिन राति ॥

फिर 'कवितावली' में भी कितना स्पष्ट कह रहे हैं—

न मिटै भवसंकट दुरघट है तप तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलिमें न बिराग न ग्यान कहूँ सब लागत फोटक झूठ जटो ॥
नट ज्यों जनि पेट कुपेटक कोटिक चेटक कौतुक ठाठ ठटो।
तुलसी जो सदा सुख चाहिय तो रसना निसबासर राम रटो ॥

बरवैरामायणमें कहते हैं—

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
राम नाम जपु तुलसी प्रीति समेत ॥
कलि नहिं ग्यान बिराग न जोग समाधि।
राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि ॥

ऐसे ही सैकड़ों वचन श्रीतुलसी-ग्रन्थावलीमें भरे पड़े हैं तथा नाना पुराण-निगमागम भी एकमुख होकर कलि-युगमें केवल नामका ही अवलम्बन लेनेकी आज्ञा दे रहे हैं, जिसके प्रमाण ठौर-ठौर भरे पड़े हैं।

उपर्युक्त दोहेमें एक भाव और भी बड़े मार्केका है, वह यह कि इसके ऊपरकी चौपाईमें एक बार कलियुगका कालनेमिकी तथा रामनामको श्रीहनुमान्‌जीकी उपमा दी जा चुकी है—

कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनमानू ॥

किन्तु इस चौपाईमें केवल इतना ही भाव प्रकट हुआ था कि जैसे श्रीहनुमान्‌जीसे कालनेमिका कोई कपट नहीं चल सका, वह खुद ही नष्ट कर दिया गया, उसी प्रकार कलियुगका कोई कपट-तन्त्र रामनामपर नहीं चल सकेगा और यदि चलायेगा तो वह कलि ही नाशको प्राप्त हो जायगा। इससे यह सिद्ध होता था कि और साधनोंकी भाँति रामनामको कलियुग कील नहीं सकता, रामनाम अपनेको आघातसे बचानेमें पूर्ण समर्थ है। पर इस दोहेके द्वारा इस बातका स्पष्टीकरण किया गया है कि यदि राम-नाम जपनेवालेपर कलियुगने आघात किया तो उस हालतमें भी वह नष्ट कर डाला जायगा अर्थात् जब नामसे भिड़ेगा

तो कालनेमिकी भाँति और जब नामजापकसे भिड़ेगा तो हिरण्यकशिपुकी भाँति दोनों ही हालतोंमें नष्ट कर डाला जायगा—चाहे कालनेमिकी भाँति कपटसे जुटे, चाहे हिरण्यकशिपुकी भाँति प्रकट युद्ध करे, उसका कपट-प्रकट एक भी नहीं चलेगा ।

उपर्युक्त नाम-वन्दना बालकाण्डके चौबीसवें दोहेके पश्चात्से आरम्भ होकर तैंतीसवें दोहेपर समाप्त हो गयी है । नियमपूर्वक आठ-आठ चौपाइयोंके बाद एक-एक दोहा दिया हुआ है । इस प्रकार कुल नौ दोहोंके अन्तर्गत बहत्तर चौपाइयाँ हैं । इनमेंसे प्रत्येक पदमें मानो श्रीरामनाम-महिमाका भाण्डार भर दिया गया है । यहाँतक कि 'राम न सकहिं नाम गुन गाई' इत्यादि पद भी कह डाले गये हैं । इनमेंसे आरम्भकी एक चौपाई तथा अन्तके केवल एक दोहेका भावार्थ यहाँ संक्षेपमें लिखा जा सका है । परन्तु पाठकोंकी श्रद्धा और विश्वास होनेके लिये तो उपर्युक्त दो ही पदोंसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया है कि श्रीरामनामके ऐश्वर्य और महत्त्वका ठिकाना नहीं है, न ऐसा सामर्थ्य कहीं हो सकता है तथा इस घोर कलियुगमें केवल रामनामका ही बोलबाला है । जिस बड़भागीने रामनाममें अनुराग कर लिया उससे कलिकाल भी दबक जाता है—

काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत ।
राम नाम महिमाकी चरचा चले चपत ॥

तथा—

प्रिय रामनाम ते जाहि न रामौ ।
ताकहँ भलो अजहुँ कलिकालहुँ आदि मध्य परिणामौ ॥

(विनयपत्रिका)

अब उपर्युक्त महत्त्वकी पुष्टिमें सरकारी मुहर-छाप-सहित एक और सही देख ली जाय जो श्रीरामचरितमानसके ही अन्तर्गत वर्तमान है । वनकाण्डमें वर्णन है कि जब पम्पा-सरोवरपर श्रीरघुनाथजी परम प्रसन्नरूपमें विराज रहे थे—

बैठे परम प्रसन्न कृपाला । कहत अनुज सन कथा रसाला ॥

तब देवर्षि नारदजीको स्मरण हुआ कि—

मोर साप करि अंगीकारा । सहत राम नाना दुख भारा ॥
ऐसे प्रभुहिं बिलोकौं जाई । पुनि न बनै अस अवसर आई ॥
यह बिचारि नारद कर बीना । गये जहाँ प्रभु सुख आसीना ॥

× × × ×

नाना बिधि बिनती करि, प्रभु प्रसन्न जिय जानि ।
नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह पानि ॥

सुनहु परम उदार रघुनायक । सुंदर अगम सुगम बरदायक ॥
देहु एक बर माँगौं स्वामी । जद्यपि जानत अंतरजामी ॥

श्रीनारदजीके इस प्रकार विनती करनेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ । जन सन कबहुँ कि करौं दुराऊ ॥
कवन बस्तु अस प्रिय मोहि लागी । जो मुनिवर न सकहु तुम्ह माँगी ॥
जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे । अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥

श्रीरघुनाथजीकी ऐसी कृपा और उदारता देखकर देवर्षि नारदजी हर्षसे भर गये—

तब नारद बोले हरषाई । अस बर माँगौं करौं ढिठाई ॥
जद्यपि प्रभुके नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक ते एका ॥
राम सकल नामन ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥

राका रजनी भगति तव, **राम** नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडुगन बिमल, बसहु भगत उर ब्योम ॥

भगवद्भक्तिके परमाचार्य, नामनिष्ठशिरोमणि, कीर्तन-कलानिधि, परम भागवत, साक्षात् भगवद्विग्रह (देवर्षीणां च नारदः—'गीता') महर्षि नारदजी प्रसन्नचित्त होकर विनय करते हैं कि हे नाथ ! मैं ढिठाई करके ऐसा वर माँगता हूँ कि यद्यपि सरकारके बहुत-से नाम हैं और उन सब नामोंका महत्त्व वेदोंमें एकसे एक अधिक वर्णित है (तात्पर्य, भगवान्‌के सभी नामोंका असीम महत्त्व वर्णित है); तथापि आपका रामनाम समस्त नामोंकी अपेक्षा पाप-रूप पक्षियोंके लिये बधिक होनेमें अधिक महत्त्वका होवे । आपकी भक्ति तो पूर्णिमाकी रात्रि हो और आपके भक्तोंका हृदय विमल आकाश हो । उस हृदयाकाशमें भक्तिरूपा रात्रि पाकर आपके अन्यान्य नाम तारागणकी तरह उदय रहें और आपका **राम** नाम सर्वोत्कृष्ट पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति देदीप्यमान रहे ।

इस प्रकारकी देवर्षि नारदकी वर-याचना सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने 'एवमस्तु' उच्चारण करते हुए इस अनुपम वरके लिये अपनी स्वीकृति दे दी—

एवमस्तु मुनि सन कहेउ, कृपासिंधु रघुनाथ ।
तब नारद मन हर्ष अति, प्रभु पद नायेउ माथ ॥

इस प्रकार इस रामनामके महत्त्वपर भगवान्‌की मुहर-छाप भी इस रामचरितमानससे ही प्रमाणित है। भगवान्‌के समस्त नामोंसे अधिकता श्रीरामनामके लिये स्वयं नामी भगवान्‌ने ही प्रदान कर रक्खी है। उसपर विलक्षणता यह है कि जैसे वधिक (शिकारी) खगगण (पक्षियों) को खोज-खोजकर वध करनेमें आह्लाद मानता है, वैसे ही श्रीरामनाम शौकके साथ अपने नामजापकोंके पापोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर नष्ट करनेमें आनन्द मानता है। इतना ही नहीं, पापोंकी निवृत्तिमें तो वधिककी भाँति रामनामको ही सुख होता ही है, भक्तोंको भी सुखी करना नाम भगवान्‌का मुख्य बिरद है। अतः वे अपनी अनपायिनी भक्ति-रूपा पूर्णिमाकी रात्रि प्रदानकर भक्तोंके हृदयाकाशमें स्वयं चन्द्रमाके समान सदैव उदय रहकर उसे शीतल और सुखमय बनाये रहते हैं। श्रीरामनाम-रूपी सोमसे सदैव प्रेमामृत स्रवित होकर नामानुराग-रूपी प्रेमाङ्कुरका अद्भुत पोषण हुआ करता है।

सकल कामनाहीन जे, रामभगति रस लीन।
नाम प्रेम पियूष ह्रद, तिन्हु किये मन मीन॥

उत्तमता यह है कि श्रीरामनामका जापक भगवान्‌के और समस्त नामोंको भी अपने हृदयमें जगह दिये रहता है, श्रीरामनाम सोम अपने अपर नामसमाजको उडुगणकी भाँति संग लिये रहते हैं—

रामनाम बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा॥

अतएव भगवत्-चरणानुरागियोंको सब ओरसे मुँह मोड़कर इस कलिकालके पहरमें, जब कि—

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥

—की दशा प्राप्त है, रामनाम-कल्पतरुकी ही छायामें गुजारा करनेका निश्चय कर लेना चाहिये—

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत सुलभ सुखद सब काला॥

श्रीरामचरितमानसके दो-एक प्रसङ्गोंको आज्ञानुसार उद्धृत कर देनेकी सेवा इस दीनसे हो सकी, इसमें जो त्रुटि हो उसे भगवज्जन क्षमा करेंगे। इस तुच्छको रामनाम-के महत्त्वका क्या पता?

महिमा राम नामकी जान महेस।
देत परमपद कासी करि उपदेस॥

जान आदिकबि तुलसी नाम प्रभाव।
उलटा जपत कोल ते भै ऋषिराव॥

कलस जोनि जिय जानेउ नाम प्रताप।
कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जाप॥

अपनी दशा तो यह हो रही है कि 'एकहि एक सिखावत जपत न आप।' कारण क्या? कारण यह है कि 'तुलसी नाम प्रेमकर बाधक पाप।' इसलिये इस तुच्छ जीवके लेखकी त्रुटिपर ध्यान न देकर पाठकोंको चाहिये कि श्रीगोस्वामीजीके मूल वचनोंपर विश्वास करें और श्रीरामनामके महत्त्वको यथावत् मानकर, हठनियमसे यथाशक्ति संख्याका संकल्प करके रामरटनमें लग जावें। पहला दर्जा हठ है, दूसरा रुचि, तीसरा अभ्यास और चौथा तदाकारता है। जैसे, जब हम सब बचपनमें माताका दूध पीते थे और जब अन्नप्राशनकी साइत पूछकर हमारे मुखमें पहले-पहल अन्न चढ़ाया गया था तब हम थू थू करके रो उठे थे। परन्तु माता हठ करके रोज चढ़ाती रही। उस हठका फल यह हुआ कि रुचि हो गयी, अनिष्टता गयी, कुछ दिनों पीछे अभ्यास हो गया। जैसे माताका दूध माँगते थे वैसे अन्नकी रोटी भी माँगने लगे। आज दिन वही अन्न तद्रूप होकर जीवनाधार बन गया है और इस समय वह माताका दूध याद करनेपर घृणा-सी मालूम होती है। इसी प्रकार जब आपकी बुद्धि नाम-महिमापर निश्चितरूपसे विश्वास कर ले तब अपने मन-रूप शिशुसे बुद्धि-माताद्वारा हठपूर्वक अन्नप्राशनकी भाँति नाम-रटन आरम्भ करा दीजिये। यद्यपि पहले-पहल वह कुछ बोझ-सा प्रतीत होगा; परन्तु यदि हठ न छोड़ा जायगा तो कुछ दिनोंमें रुचि हो जायगी और फिर आगे चलकर अभ्यास भी हो जायगा। जैसे व्यवहारकी बातोंमें मन लगता है, वैसे ही रामभजनमें भी लगने लगेगा। कुछ दिनों तो दोनों चलेंगे; किन्तु पीछे यदि नेम दृढ़ रहा तो अन्नकी ही भाँति श्रीरामभजन ही जीवन हो जायगा, विषय-व्यवहारकी माताके दूधकी भाँति विस्मृति हो जायगी।

माय बाप गुरु स्वामि रामकर नाम।
तुलसी जेहि न सोहाय ताहि बिधि बाम॥

तप तीरथ मख दान नेम उपवास।
सब ते अधिक नाम जप तुलसीदास॥

रामनामपर तुलसी नेह निबाहु ।
एहि ते अधिक न यहि सम जीवन लाहु ॥
आगम निगम पुरान कहत करि लीक ।
तुलसी नाम राम कर सुमिरन नीक ॥
तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि ।
बेद पुरान पुकारत कहत पुरारि ॥
तुलसी रामनाम सम मित्र न आन ।
जो पहुँचाव रामपुर तन अवसान ॥
केहि गनती महँ गनती जल बन घास ।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास ॥
नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु ।
जनम जनम रघुनन्दन तुलसिहिं देहु ॥
सियावर रामचन्द्रजी जय !

ईश्वर-भजन

(लेखक—पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०)

सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर-भजन क्यों किया जाय ? जिनको कम-से-कम ईश्वरकी सत्ता, आत्माकी अमरता, आवागमन, कर्म और कर्म-फलपर ही श्रद्धा नहीं है उनको तो पहले ये ही विषय समझानेकी आवश्यकता है जो कि इस लेखका विषय नहीं। उनके लिये तो यहाँ संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि जिनको ईश्वरकी सत्तामें सन्देह हो वे 'कल्याण' का 'ईश्वराङ्क' अथवा अंग्रेजी 'कल्याण-कल्पतरु' का God-number और वैशाख, १९९१के 'कल्याण' में हमारा 'अवतार-सिद्धि' नामक लेख पढ़ें । कर्म और कर्मफलका इतना ही प्रमाण बहुत है कि सृष्टिकी विचित्रता और सुख-दुःखका और कोई कारण ही सिद्ध नहीं हो सकता । आवागमन न होता तो जीव पहले जन्मके अनन्तर ही, और कर्म भोगे बिना ही, नष्ट हो जाते और ऐसी थोड़े दिनोंकी सृष्टिसे फल-सिद्धि ही क्या होती ? आत्मा अमर नहीं है तो आवागमन किसका होता है ? यह उत्तर उन लोगोंके लिये है जो अश्रद्धासे धन, अधिकार और भोग-विलासके पीछे, ईश्वर-भजनको व्यर्थ समझते हैं ।

कोई यह कहते हैं कि ईश्वर जो कुछ करता है हमारे कर्मोंके अनुसार करता है और कर्मफल अमिट है, इसलिये हम ईश्वरको क्यों भजें, अपने कर्मोंको ही क्यों न सुधारें ? यदि यह भी मान लिया जाय कि मनुष्य अपने कर्मोंको सुधार सकता है, तो भी उनका यह कहना ऐसा ही है जैसे कोई मनुष्य राज्यके सब कर दे और सब प्रकारकी राज्य-सेवा भी करे, पर जब राजाकी सवारी निकले तो उसका अभिवादन या आदर न करे, जैसा कि J. S. Blackie इस प्रसंगमें अपने Self-culture के तीसरे भागके दूसरे पैरेमें कहते हैं—

It is as if a good citizen in a monarchy were to pay all the taxes conscientiously, serve his time in the army, and fight the battle of his country bravely, but refuse to take off his hat to the queen when she passed.'

यहाँ ये भी प्रश्न उठते हैं कि मनुष्य कहाँतक कर्म करनेमें स्वतन्त्र है; कर्म अपने-आप फल देते हैं अथवा ईश्वर देता है; और ईश्वर पाप क्षमा भी कर सकता है या नहीं । इन विषयोंका विवेचन किसी अलग लेखमें किया जा सकता है । यहाँ इतना ही कह देना बहुत है कि ईश्वर-भजनादि उपायों बिना वह स्थिति ही नहीं आ सकती जिसमें कि मनुष्य कर्मोंको सुधार सके । यह तो सिद्धावस्था है, जो यदि आ गयी तो फिर चाहिये ही क्या ? परन्तु ऐसे संस्कारी जीव विरले ही हो सकते हैं और वे भी इस अवस्थाको पूर्व जन्मान्तरोंमें ईश्वर-भजनादि करके ही पाते हैं । अन्य लोग तो ईश्वर-भजन-जैसे सरल उपायको छोड़कर, केवल ऐसे मनसूबे बाँधते-बाँधते ही, 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' होकर, नरककुण्डमें गोता लगानेके योग्य रह जाते हैं ।

इस प्रकार विषयके विरोधको हटाकर हम बतलाते हैं कि ईश्वर-भजन क्यों करना चाहिये । यहाँ हम उन सिद्ध पुरुषोंको भी अलग कर देते हैं जो वेदान्तके श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा आत्मसाक्षात्कार कर, स्वयं ब्रह्म

रूप हो चुके हैं। उनकी दृष्टिमें जब द्वैत ही नहीं रहा तो कौन किसका भजन करे? हमारा लिखना तो सामान्य मनुष्योंके सम्बन्धमें है—

१—सृष्टिका कर्त्ता हमारा स्वामी अथवा माता-पिता है और हम उसके दास अथवा प्रजा हैं। वह हमको सुख तो देता ही है, पर दुःख भी देता है तो हमको सुधारनेके लिये, न कि शत्रुकी भाँति बदला लेने अथवा उससे अपना जला हृदय टण्ढा करनेके लिये। ऐसे-ऐसे सुख वह हमको देता है जिनकी कुछ योग्यता हममें नहीं मिलती, और जब दुनियाँभर हमारे विरुद्ध हो जाती है और कोई सहारा देनेवाला नहीं मिलता, तब वह इस प्रकार हमारे सङ्कट दूर कर देता है, मानो वे केवल हमको डरानेके लिये ही आये थे। यदि हमारे पूर्व सुकृत ही ऐसे थे तो इस जन्ममें हम उनको क्या जानें? हमारा उपकारक तो वही है। इसलिये कर्तव्य और कृतज्ञताके रूपपर उसको भजना चाहिये जिससे आगे भी वह हमपर दया-भाव रक्खे।

२—हम बड़े क्षुद्र और निर्बल-हृदय प्राणी हैं। आरोग्य, स्त्री, सन्तान, सम्पत्ति आदि अनेक सुख-सामग्री चाहते हैं और अनेक प्रकारके कष्टोंसे बचना चाहते हैं। हमारे मनोरथ पूर्ण करनेवाला और सङ्कटोंसे बचानेवाला बढ़कर समर्थ सहारा और कौन हो सकता है? संसारमें उससे स्वयं समर्थ कोई नहीं है। सम्राट्से लेकर मजदूरतक सभी दूसरेके बलपर समर्थ हैं। वह बल टूटा अथवा विरुद्ध हुआ कि सब समर्थता दूर हुई। ऐसा समर्थ तो परमेश्वर ही है जो अपने ही बलपर समर्थ है और सबको सामर्थ्य देता है। निज़ाम हैदराबाद, महबूब अलीखाँके राजकवि 'दाग़' को जो उनके मित्रोंने निज़ामकी परम कृपाभाजनता-पर बधाई दी तो उन्होंने इतना सच्चा और बढ़िया उत्तर दिया—

> ख़ुदाके फज़लसे है ऐ 'दाग़' सब कुछ।
> जो वह मेहरबाँ है तो शाहे दकन भी॥

इसलिये हमको सांसारिक अर्थके लिये भी ईश्वरको भजनेकी आवश्यकता है।

३—हम पापके कीड़े हैं। मनकी दुष्ट प्रवृत्तियाँ ऐसी प्रबल हैं कि हम पापसे बच नहीं सकते। हम अपने अर्थ अथवा सुखके लिये, उसके रचे हुए उसीके सन्तान और अपने भाईस्वरूप और जीवोंकी, शरीरसे कष्ट पहुँचाकर, सम्पत्ति हरणकर और चित्त दुखाकर कितनी हिंसा करते हैं और कितना भारी ईश्वरका अपराध करते हैं। आँखें तो हमारी तब खुलती हैं जब वह हमको उन पापोंके दण्ड देने लगता है। इसलिये भयसे और क्षमाके लिये भी उसका भजन करना चाहिये, जिससे आगे भी पापसे बचनेकी धारणा चित्तमें बलवती हो। प्रारब्धकर्म चाहे अटल हों, पर सञ्चित अज्ञात पाप ईश्वर-भजनसे अवश्य दूर होते हैं, यह शास्त्रमें सर्वसम्मत है। इस जन्मसे पहलेके सभी पाप अज्ञात हैं और वे असंख्य हैं। यदि वे ऐसे सरल उपायसे, एक साथ नष्ट न होकर, घटते भी रहें तो हम कितने हलके होते रहेंगे और कितने कष्टोंसे बचेंगे? क्या यह थोड़ा लाभ है?

४—जब हम धन उपार्जन करते हैं तो हमारी कामना यही रहा करती है कि खर्च और हानि कम-से-कम हो और आय तथा बचत अधिक-से-अधिक हो। यह बचत ही सङ्कट या आवश्यकताके समय काम आती है और इसीसे चित्तको सहारा रहता है। यदि खर्च और हानि, आय और बचतसे बढ़ गये तो वह ऋण हो गया जो पूँजीको ही खाकर शान्त नहीं होता, किन्तु सब चौपट कर देता है। इस प्रसङ्गमें यह समझना चाहिये कि धन कर्म अर्थात् पाप-पुण्य है; आय सुकृत है; खर्च और हानि पाप है; सुकृत जब पापसे बढ़ जाय तो वह बचत है और पाप जब सुकृतसे बढ़ जाय तो वह ऋण है। बुद्धिमान् मनुष्य जो अपने हिताहितको समझता है यही चाहेगा कि यदि पापसे बचना निरा कठिन है, तो कम-से-कम सुकृतका पलड़ा भारी तो रक्खे, जिससे पापजन्य कष्टोंकी अपेक्षा सुकृतजन्य सुख अधिक भोगनेको मिलें और कष्टोंके समय, भावी सुखकी आशामें, धैर्य भी बना रहे। हमने तो अनायास पापके गट्ठर-के-गट्ठर अपने ऊपर लाद लिये हैं। यदि ये गट्ठर अपने बोझसे हमको गिरा ही देंगे, तब तो हम हाथ-पैर ही क्या हिला सकेंगे और इतने-हीमें कूच करनेका समय आ गया और फिर तिर्यक्योनिमें जा पहुँचे तो कौन तो उपाय बतलावेगा और कौन करेगा?

> बजा नगारा कूचका उखड़ गई सब मेख।
> अब तो टाँडा लद चुका, खड़ा तमासा देख॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति॥

ईश्वरका भजन दोनों काम करता है । पाप भी घटाता है और सुकृत भी बढ़ाता है । और जब कि सब प्रकारके सुकृतमात्र ईश्वरको पानेके ही उपाय हैं, तो साक्षात् उसीको भजनेसे बढ़कर और कौन सुकृत हो सकता है । इसलिये इस लोक और परलोकके लिये पूँजी इकट्ठी करनेके तौरपर भी ईश्वर-भजन करना चाहिये ।

५—ईश्वर-भजनसे बढ़कर लोक और परलोकमें सुख और मुक्ति पानेका और कोई सरल और सीधा मार्ग नहीं है । कर्मों अथवा निचली श्रेणीके देवताओंद्वारा भोगोंको पाने और ईश्वरतक पहुँचनेके उपाय अलग-अलग अधिकारियोंके लिये उसीने बतलाये हैं, और उपाय चाहे कोई हों, फल देनेवाला तो वही है । और उपायोंमें क्लेश, द्रव्य और सहायकोंकी भी आवश्यकता होती है और कोई-कोई उपाय किसी-किसीके उपयुक्त भी नहीं होते । इसलिये द्राविड़-प्राणायामको छोड़कर, क्यों न सीधी उसीसे लौ लगायी जाय ? जब उसीका शरण ले लिया तो और उपाय क्या रहे ।

'सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम् ॥'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८ । ६६)

सब संसार और उसके कार्योंको तिलाञ्जलि देकर दिन-रात ईश्वरके भजनमें लग जाना—यह उन्हींका काम है जिनको भोगमात्रसे पूर्ण वैराग्य हो चुका है अथवा जिनके आगे-पीछे कोई नहीं है अथवा जिनके पुत्र-पौत्रोंने घर-बार सँभाल लिया है और अब करने-धरनेको कुछ नहीं है । ऐसी स्थिति बिना आश्रितोंको उनके भाग्यपर छोड़कर सब समय केवल भजनमें लगे रहना उचित नहीं । ऐसे भजनसे संसार-कार्यमें हानि होती है जो नहीं करनी चाहिये, क्योंकि संसारको चलाना स्वयं परमेश्वरकी इच्छा है और गृहस्थाश्रम एक परम आवश्यक आश्रम है । ऐसे भजन-कर्ताओंका—चाहे वे गृहस्थी हों अथवा वेषधारी साधु—भजनोत्साह भी प्रायः थोड़े ही दिन रहता है । फिर भजनमें मन नहीं लगता और बहुत समय जो खाली रहता है उसमें उनका मन शैतानका कारखाना (An idle brain is the devil's workshop) हो जाता है जिसमें कुत्सित वृत्तियाँ भाँति-भाँतिके पाप ही गढ़ा करती हैं । हाथमें तो माला रहती है, पर मन घूमता है मिठाइयोंमें, सुन्दरियोंमें, रुपये-पैसेमें, अथवा आराममें और सबसे बढ़कर पुजवानेमें । ऐसे लोगोंमेंसे कई तो फिर भोगोंके लिये तरसते-तरसते दुराचारमें पड़ जाते हैं और कभी-कभी वापस गृहस्थाश्रममें आ जाते हैं, क्योंकि उनके चित्तसे 'रस' (गीता २ । ५९) नहीं गया । व्यर्थ आश्रितोंको मँझधारमें छोड़ देने और दुर्दशाग्रस्त कर नष्ट कर देनेतकका अपराध उनके गले अलग पड़ता है । ऐसे लोगोंके लिये गृहस्थाश्रम ही उत्तम बन्धन और तपःशाला है । *

हमारा प्रयोजन उतने ही भजनसे है जितना प्रत्येक गृहस्थी कर सकता है । चाहे एक-आध घड़ी ही क्यों न हो । ऐसे भजनमें न कुछ परिश्रम होता, न कुछ खर्च होता और जब कि बहुत-सा समय व्यर्थ ही चला जाया करता है तो थोड़ा-सा भजनमें लगा देनेसे सांसारिक कार्यकी भी कुछ हानि नहीं होती । घड़ी-आध-घड़ी कहनेसे हमारा प्रयोजन यही है कि इतना-सा समय तो प्रत्येकको मिल सकता है, यदि अधिक नहीं, और बूँद-बूँद करके घड़ा भर जाता है । 'अधिकस्याधिकं फलम्' तो है ही । इतना-सा भजन भी यदि मनुष्य नहीं करते हैं तो बिना कारण हाथ लगे बड़े भारी लाभको खोते हैं और बड़े भारी दण्ड और हानिको मोल लेते हैं । जो यह समझते हैं कि भजन बूढ़ोंका काम है, वे बड़े दयाके पात्र हैं । या तो स्वयं माता-पिताने उनके चित्तमें बचपनसे भजनके संस्कार न जमाकर, अथवा योग्य रीतिसे न जमाकर अपने प्राणप्रिय सन्तानोंका परम अहित कर डाला; अथवा वे हम-जैसे पापी, कुसंस्कारी जीव हैं जिन्होंने थोड़े-बहुत विद्या-बुद्धिसम्पन्न होकर भी भजनके गुण बड़ी उम्रतक नहीं जाने । भजनका समय तो बचपनसे बुढ़ापेके पहलेतक ही है । जितना भजन-धन इतने समयमें इकट्ठा हो सकता है उतना तेल बिना बुझते हुए दीपककी-सी वृद्ध मनुष्यकी उम्रमें

* सब समय भजन करनेके लिये संसार और उसके कार्योंको तिलाञ्जलि देनेकी कोई आवश्यकता नहीं । भजनमें लगन होनी चाहिये, फिर भजन करते हुए ही परिवार-पालन, व्यवहार आदि घरके सब काम भगवत्प्रीत्यर्थ हो सकते हैं । अर्जुनको तो श्रीभगवान्ने निरन्तर भगवत्-स्मरण करते हुए युद्ध करनेकी आज्ञा दी थी। मेरी समझसे तो भजनसे और घर छोड़नेसे कोई ऐसा खास सम्बन्ध नहीं है । भजन अलग बैठकर या अलग रहकर ही होता हो, सो बात नहीं है अतएव सभीको सब समय ईश्वर-स्मरण करते हुए ही संसारके सारे वैध कर्तव्यकर्मोंको करना चाहिये ।—सम्पादक

क्या हो सकता है । जब इन्द्रियाँ उत्तर दे जाती हैं, शरीरकी शक्ति क्षीण हो जाती है और यमदूतोंके घण्टेका शब्द सुनायी देने लगता है तब तो भजन, भजन नहीं, किन्तु फाँसीवाले अपराधीकी हाय-हाय और क्षमाकी गुहार है, जब कि और कुछ करने-धरनेको ही नहीं रहता । भजन तो लड़के, लड़की, जवान और स्त्रियाँ सबको करना चाहिये । इसमें तो अनधिकारी कोई भी नहीं और कर्म तो अपने-अपने ही अपने साथ जाते हैं । कैसी भारी भूल है कि माता-पिता सन्तानोंके पापमूलक और नरकपरिणामी सांसारिक हितकी चिन्ता तो उनके उत्पन्न होनेके दिनसे करने लगते हैं, पर जिसमें उनका जन्म-जन्मान्तर और लोक-परलोक दोनोंमें हित है और सांसारिक हित भी जिसके आश्रित हैं उसकी कुछ चिन्ता और शिक्षा नहीं करते। ऐसी ही भूल यह है कि ईश्वर-भजन विधवाओंके ही योग्य मानकर सुहागिनोंको उससे रोका जाता है अथवा उनको इसमें प्रवृत्त नहीं किया जाता । इसी प्रकार कुछ लोगोंको भजन करते लज्जातक आती है, यद्यपि झूठ, जाल, धोखा, चोरी और निर्लज्ज कर्म करते नहीं आती ।

हमको भलीभाँति अनुभव हो चुका है कि भजन एक विलक्षण कल्पवृक्ष और कवच है । मनोरथ पूर्ण करने और सङ्कटोंको टालनेमें जैसी इसकी शक्ति है वैसी और किसीकी नहीं । यथार्थ साधु पुरुषोंके मनोरथ पूर्ण करे और सङ्कट टाले—इसमें तो आश्चर्य ही क्या है । यह तो इसका शास्त्रसम्मत स्वाभाविक प्रभाव है । परन्तु ऐसे पुरुषोंके भी, जिन्होंने सारी उम्र व्यभिचार करने, पराया धन हरने और लोगोंको कष्ट पहुँचानेमें ही बितायी, असहाय दशामें भी मनोरथ पूर्ण होते और सङ्कट टलते हमने देखे हैं, यद्यपि उनके पाप—

अत्युग्रपापण्यानामिहैव फलमश्नुते ।

ऐसे थे । कारण केवल यही था कि वे भजनके नित्य-नियममें कभी नहीं चूकते थे । यह हमने भजनकी शक्तिका अनुभवमात्र लिखा है । हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि भजनके पीछे सब उद्योग छोड़ देने चाहिये अथवा उद्योग बिना भजनसे ही सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं । यह भी हमारा अभिप्राय नहीं है कि ईश्वर भजनके पक्षपातसे दुष्टोंको प्रबल पापोंका दण्ड नहीं देता । यदि ऐसा होता तो दुष्टोंके दोनों हाथ लड्डू रहते । अर्थात् पाप भी पेटभर कर लेते और फिर भजनसे उसका फल भी नष्ट कर देते । यदि ऐसा होता, तो दुष्टोंका अन्त ही नहीं होता और प्रजाका अन्त हो जाता । परन्तु ऐसा नहीं होता, जिसके साक्षी पुराण और वर्तमान इतिहास हैं । फल भुगतानेका देश-काल-निमित्त ईश्वर ही जानता है और कभी-न-कभी वह उनको उन प्रबल पापोंका दण्ड भी दे ही देता है । यह भी हमारा कभी अभिप्राय नहीं है कि ईश्वर-भजन-जैसे अमूल्य रत्नको सांसारिक मनोरथ-पूर्ण और सङ्कट-निवारण-जैसे काँचको खरीदनेमें ही खर्च कर देना चाहिये । परन्तु यह लेख सामान्य संसारियोंके लिये है और जिनके पापक्षय, आत्मोन्नति भगवत्प्राप्ति अथवा मुक्ति-जैसे ऊँचे प्रयोजन होते हैं उनको भी संसारमें रहनेसे मनोरथ और सङ्कटोंके प्रसङ्ग आते ही हैं और एक दिनमें उनकी भी चित्तकी वृत्ति ऐसी बदल भी नहीं जाती कि ऐसे प्रसङ्गोंका विचार न हो ।

ईश्वर-भजनके प्रयोजनोंको हम उत्तम, मध्यम, निकृष्ट श्रेणियोंमें विभक्त करते हैं—

१ भगवत्प्राप्ति अथवा मुक्ति ।

२ पापक्षय ।

३ सुख-प्राप्ति, जिसके अन्तर्गत सङ्कट-निवारण भी है ।

पहला सामान्य गृहस्थियोंके लिये नहीं है और इस लेखका विषय भी नहीं है । तीसरा इसलिये निकृष्ट है कि ईश्वरसे ऐसी अल्पकालस्थायी वस्तु क्या चाहना ? परन्तु संसारियोंका अधिकांश इसीको चाहता है, इसलिये इसमें भी कोई दोष नहीं है । परन्तु उस दशामें यह नीचातिनीच और सर्वथा हेय प्रयोजन है, जब कि मनुष्य यह चाहे कि चाहे किसी भी पापसे मिले, परन्तु मुझे सुख मिले । ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, किन्तु असुर (असुषु=विषयसुखेषु रमते इति) अर्थात् राक्षस है जो औरोंकी हिंसा अथवा हानि करके अपना सुख चाहता है जिसका किसीको अधिकार नहीं । सुख चाहिये तो धर्मानुकूल उपायोंसे ही चाहिये, चाहे थोड़ा मिले । अन्यथा वही नरक और कष्टका कारण होगा जिसको यदि मनुष्य परिणामशोची होगा तो स्वयं नहीं चाहेगा ।

वरं दारिद्र्यमन्यायप्रभवात्खलु वैभवात् ।
कृशताभिमता देहे पीनता न तु शोकतः ॥

परन्तु हमारी समझमें प्रत्येकका प्रयोजन सुखप्राप्तिसे भी अधिक पापक्षय होना चाहिये । क्योंकि सुखका अभाव कष्ट

तो नहीं है। पापका परिणाम तो स्पष्ट कष्ट ही है जिसको कोई नहीं चाहता।

अब हम भजनके आठ प्रकार मानकर, उनमेंसे चार-चारको विचारांश और क्रियांश, अथवा परोक्ष और साक्षात्, अथवा गौण और मुख्य इन-इन श्रेणियोंमें विभक्त कर और प्रत्येक प्रकारको उत्तरोत्तर फलाधिक्यके क्रमसे रखकर, क्रमसे उनपर विचार करते हैं—

पहली अर्थात् विचारांश, परोक्ष, अथवा गौणश्रेणी—

१ पाठ

२ कथा

३ व्याख्यान वा वाद-विवाद

४ शास्त्रालोचन

दूसरी अर्थात् क्रियांश, साक्षात् अथवा मुख्य श्रेणी—

५ दर्शन

६ पूजा

७ नामग्रहण, स्तुति-प्रार्थना

८ कीर्तन

१ पाठ—इसमें हम मूल पद्य पाठको लेते हैं, जैसे भागवतादि पाठ और स्तोत्रपाठ। अर्थज्ञ पुरुष अर्थपर बराबर ध्यान रखता हुआ जो पाठ करे उसका फल अधिक है क्योंकि उसमें ध्यान पूरा लगता है और संस्कार पक्का होता है। जो तोतेकी तरह पाठ किया जाय उसका फल स्पष्ट कम है। और जब मूल कण्ठ हो जाता है अथवा जिनकी वाचनशक्ति तीव्र होती है उस दशामें तो पाठ प्रायः जीभका व्यापार रह जाता है, मनका नहीं। परन्तु निष्फल तब भी नहीं होता, क्योंकि भावना तो बनी रहती है।

२ कथा—जिसमें भागवतादिका अर्थ वा व्याख्यान किया जाता है। मूलपाठसे इसमें ध्यान स्वभावतः अधिक रहता है, क्योंकि ध्यान न रहे तो अर्थ हो ही नहीं सकता।

३ व्याख्यान वा वाद-विवाद—किसी आध्यात्मिक विषय-का स्पष्टीकरण, शङ्का-समाधान, खण्डन और मण्डन। इसमें भी ध्यान बराबर बना रहता है।

४ शास्त्रालोचन—शास्त्रका विचार जो अपने आप अथवा गुरुकी सहायतासे पुस्तकपर किया जाता है। इसमें बुद्धिपर इतना दबाव पड़ता है कि ध्यान कहीं डिग ही नहीं सकता। इसका फल हम एकाग्रजपसे कम नहीं मानते। इस विषयमें विस्तारसे आगे लिखा जा सकता है।

ये चारों प्रकार भी भजनका ही काम देते हैं और वैसा ही इनका फल है। भगवान् वेदव्यास 'सिद्धान्तदर्शन' की समाप्तिमें स्पष्ट कहते हैं—

स्वाध्यायो धियमुल्लावयति निसर्गादुल्लावयति निसर्गात्।

अर्थात् इस शास्त्रका अध्ययन, चाहे वह किसी भी रूपमें हो, मनुष्यकी बुद्धिको अवश्य ऊँचा ले जाता है जिससे वह उत्तम लोक वा जन्म पाता है, क्योंकि सबका प्रयोजन भगवच्चिन्ता ही है। नीचे लिखे प्रकार तो साक्षात् ही भगवद्भजनके रूप हैं—

५ दर्शन—भगवान्‌की मूर्तियोंका दर्शन। यह साधारण लोगोंके लिये है। जबतक दर्शन किया जायगा, चित्त एकाग्र रहेगा। परन्तु दर्शनसे यदि भक्तिभाव उत्पन्न न हुआ तो अधिक फल नहीं, यद्यपि निरा निष्फल भी नहीं।

६ पूजा—यह भी साधारण लोगोंके लिये है। जबतक पूजा होती रहेगी चित्त एकाग्र रहेगा, यद्यपि उस समय जो श्लोक वा मन्त्र बोले जायँगे उनके अर्थपर ध्यान कम रहेगा और मूर्ति और सामग्रीपर अधिक रहेगा। दोनोंपर बराबर साथ रहे वह एकाग्रता है। परन्तु पूजा करते हुए यदि ऐसा आदरभाव न रहे जैसा कि माता-पिता अथवा गुरुकी सेवा करते समय होता है अथवा ऐसा वात्सल्यभाव न रहे जैसा अपने बालकको नहलाते-धुलाते और शृङ्गार करते समय होता है, तो वह पूजा बहुत ही कम फलदायिनी है, यद्यपि निरी निष्फल नहीं।

७ जप—नामग्रहण, स्तुति और प्रार्थनाको हम इसके अन्तर्गत मानते हैं। यह स्थूलबुद्धि और सूक्ष्मबुद्धि दोनोंके लिये है और सब कर्मोंसे बढ़कर है, जैसा कि कहा है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०। २५)

'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।

'कुर्यादन्यन्न वा कुर्यात्'—(मनु० २। ८७)

'जपतो नास्ति पातकम्'

और साथ ही सबसे सरल और सीधा है। विष्णुसहस्र-नामादि पाठको नामग्रहणके अन्तर्गत मानना चाहिये। परन्तु इसका सबसे अधिक फल तब है, जब पूरी शुद्धि, एकाग्रता और भावके साथ, अर्थपर ध्यान रखते हुए किया

जाय। इनमेंसे जिस-जिसमें जितनी-जितनी कमी रहेगी उतना ही फल कम होगा, यद्यपि निष्फल तो कभी भी नहीं, क्योंकि भावना तो बनी ही रहती है। सबसे अधिक फल तो मानस जपका है जिसमें जीभ और ओठ कुछ भी नहीं हिलते। हमारा ऐसा अनुमान है कि इसमें संस्कार कुछ भी बिखरने नहीं पाते, किन्तु एकाग्र होकर दृढ़ होते हैं। इससे कम फल उपांशु जपका है जिसको पास बैठा मनुष्य भी नहीं सुन सकता, यद्यपि इसमें जीभ और ओठ अवश्य हिलते हैं। इससे कम फल उसका है जिसको पासका मनुष्य सुन सकता है, चाहे धीरे बोले। इससे भी कम फल उसका है जो बातचीतके स्वरमें किया जाता है। और सबसे कम फल उसका है जो जोर-जोरसे किया जाता है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणस्साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २। ८५)

८ कीर्तन—एक प्रकारसे तो इसका फल कम होना चाहिये, क्योंकि यह मुक्तकण्ठसे किया जाता है। परन्तु स्वयं भगवान् कहते हैं कि—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

इससे इसका फल सबसे बढ़कर होना चाहिये। कारण यह जान पड़ता है कि जप-पाठादि तो रूखे काम हैं जिनमें मन नहीं लगता और पूरा भाव उत्पन्न नहीं होता। इसमें रागके कारण कीर्तनकर्ता और श्रोता सबके मन इतने प्रसन्न हो जाते हैं कि सब भावमें डूब जाते हैं और ऐसा अनुभव होता है मानो चित्तके सब दुष्ट संस्कार धुलकर स्वच्छ हो गये। एकाग्रता तो भावके साथ ही लगी रहती है।

अब हम 'शास्त्रालोचन' और 'जप वा नामग्रहण' पर कुछ विस्तारसे अपना अनुभव लिखना चाहते हैं—

शास्त्रालोचन—यदि ज्ञानके बिना भी कोई भगवद्भजन अथवा आत्माका उद्धार करना चाहे, तो ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो इसके लिये अनधिकारी (अयोग्य) हो। जडात्मा-से-जडात्मा और नीच-से-नीचके हाथमें सरल-से-सरल उपाय विद्यमान है! केवल लौ होनी चाहिये और पाखण्ड नहीं होना चाहिये। परन्तु यदि भाग्यसे विद्या और विशेषकर संस्कृतविद्या और बुद्धिसे सम्पन्न हो, तो वह जन्म व्यर्थ ही है जिसमें ईश्वर, आत्मा, सृष्टि, परलोक, जीवोंकी गति और कर्म इत्यादिकोंका सम्पूर्ण यथार्थ तत्त्व जाननेका यत्न मनुष्य न करे, चाहे पूर्ण तत्त्व शीघ्र जाननेमें न भी आ सके। पशुओंकी तरह उत्पन्न होकर और कुछ दिन संसारमें रहकर मर जाना तो बड़ा सहज है, और इन तत्त्वोंको जाने बिना भी, केवल श्रद्धासे आत्माकी सद्गति कर लेना भी कठिन नहीं है। और कई विद्वान्, पेटके लिये अथवा रुचिसे, तुच्छ जड प्रकृतिके अनेक भागोंमेंसे एक भागमात्रसे सम्बन्ध रखनेवाले एक लौकिक शास्त्रके अध्ययन और विचार, और उसके भी एक अंश-मात्रके आविष्कारमें, जन्म बिता ही देते हैं। पर ऊपर लिखे तत्त्वोंको नहीं जाना तो जन्म लेकर क्या किया और क्या जाना?

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
(श्रीमद्भा० १। २। १०)

विषयभोग इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये नहीं हैं, किन्तु जीवननिर्वाहमात्रके लिये हैं; और यज्ञादि कर्मोंसे जो स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है वह भी जीवका मुख्य प्रयोजन नहीं है। जीवका मुख्य प्रयोजन तो तत्त्वजिज्ञासा है। केवल श्रद्धासे, जप-पाठादिद्वारा भगवद्भजनादि कर लेना और बात है, और सब तत्त्व जानकर करना और बात है। कहा भी है—

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'
(केन० २। ५)

यदि इसी जन्ममें तत्त्व जान लिया तो अच्छा है, नहीं तो बड़ी हानि है। कौन जाने ऐसी योनि मिल गयी अथवा संस्कारवश मनुष्य-जन्ममें ही इस तत्त्वकी ओर ध्यान न गया अथवा योग्यता न हुई तो हाथ मलना रह गया! माना कि केवल जाननेसे उतना लाभ नहीं, जितना भजनादि करनेसे, जिससे आत्माका हित हो सकता है, तथापि तत्त्वालोचन भी भजनादिकी ही कक्षाका माना गया है, जैसा कि ऊपर लिखे व्यासवचनसे सिद्ध है। और भी कहा है—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्तापि सर्वावनि-
र्यज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥
(वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली)

यह तत्त्व केवल अद्वैतवेदान्तमें है। इससे संसारके सब धर्म और शास्त्रोंका तात्पर्य और सङ्गति करामलकवत् हो जाती है। संसारकार्य भी जैसे इस तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे हो सकते हैं, और दृष्टिसे नहीं। इसीलिये एक यूनानी तत्त्वज्ञने विरोधाभासमें कहा है कि राजकाज तत्त्वज्ञको सौंपना चाहिये, परन्तु तत्त्वज्ञका धर्म नहीं कि राजकाज करे। इससे ऐसी आँखें खुलती हैं कि प्रत्येक वस्तु अथवा घटनाका यथार्थ और अद्भुत अर्थ दिखायी देने लगता है। गृहस्थोंको थोड़ा-बहुत समय इसमें अवश्य लगाना चाहिये। इससे ऐसे संस्कार उत्पन्न होंगे कि भावी जन्मोंमें भी चित्तको बलपूर्वक तत्त्वजिज्ञासा होगी, जैसा कि कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता ६। ४३-४४)

'अगले जन्ममें मनुष्य उस पूर्वजन्मके बुद्धिसंयोगको प्राप्त होकर हे अर्जुन! फिर उसीकी सिद्धिके लिये यत्न करता है। पूर्वजन्मके अभ्याससे विवश होकर वह योग-मार्गमें आकृष्ट हो जाता है और जो योगका जिज्ञासु है वह भी शब्दब्रह्मके परे चला जाता है।' इस प्रकार तत्त्वज्ञान बढ़ानेके ही संयोग मिलेंगे जिससे समयपर पूर्ण तत्त्वज्ञान हो जायगा और मोक्षप्राप्ति स्वतः हो जायगी, यदि वैसी इच्छा होगी।

जप वा नामग्रहण—सनातनधर्मशिक्षाके अभाव, अंग्रेजी रहन-सहन और विचारोंके प्रभाव, धन, अधिकार और भोग-विलासकी लिप्सा और निर्धनता, महँगी और जीवन-यात्राकी दौड़-धूपसे, हम ब्राह्मणतक सर्वथा पतित हो गये हैं। हमको या तो भजनके लिये अवकाश नहीं मिलता है, या उसमें रुचि नहीं होती। फिर चित्त एकाग्र कैसे हो? हमसे शिखासूत्र, सन्ध्यावन्दन और पञ्चमहायज्ञके ही नियम नहीं निभते जिसके बिना ब्राह्मण भी थोड़े ही समयमें शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है। खान-पान, संसर्ग और सम्बन्ध हमारे ऐसे भ्रष्ट हो चुके कि हमारे रक्तकी एक-एक बूँद अपवित्र हो चुकी। भाँति-भाँतिकी चिन्तासे और चर्या बिगड़ जानेसे हमारे शरीर भी ऐसे निर्बल हो गये—चाहे चूनापोती कब्रकी तरह स्वच्छ गोरे और पुष्ट दिखायी दिया करें—कि स्नानादि नियमोंको निभाते हैं तो रुग्ण हो जाते हैं। ऐसी दशामें शौचाचारकी क्या बात है? इसलिये कोई जपादि कर्म हम पूर्ण शास्त्रविधिसे और अविच्छिन्न तो कर नहीं सकते और ऐसी दशामें पहले-जैसा फल भी कैसे हो?

परन्तु ऐसी स्थितिमें यही सिद्धान्त सत्यानाशी है कि—

न नौ मन तेल हो, न राधा नाचे।

अथवा—

'या तो खाय घीसे, या जायँ जीसे'

सिद्धान्त यह होना चाहिये कि—

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति॥

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

इसलिये हमारा मत यह है कि जिनसे शास्त्रविधि निभ सके वे उसको निभावें। उसका फल उतना ही अधिक है। परन्तु जिनसे कम या कुछ न निभ सके वे उसका कुछ विचार न करें। जिस दिन, जिस समय, जितनी-सी देर और जिस दशामें जितना-सा भजन हो सके, अवश्य कर लिया करें, चाहे गायत्री जपें, चाहे प्रणव जपें, चाहे मूलमन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमः शिवाय इत्यादि) जपें, चाहे "हरे राम हरे कृष्ण" आदि जपें, चाहे राम-नाम लें, चाहे कृष्ण-नाम लें, अथवा विष्णु-सहस्रनामादिका पाठ करें, पर जिसमें रुचि हो उसीका जप कर लिया करें। भगवान् भावके भूखे हैं, शुद्धाशुद्धि, एकाग्रता-अनेकाग्रता आदिका कुछ विचार नहीं करते। रोग, यात्रा, आवश्यक कार्य, अथवा चिन्ता आदिके अवसरोंपर भजन न हो सके तो न सही। कदापि कुछ न करनेसे कभी-कभी और थोड़ा भी करना अच्छा है। हमने किसी भी प्रकारसे किये हुए भजनको व्यर्थ नहीं माना है। इसका कारण यही है कि मैं भजन करता हूँ यह भावना तो उस दशामें भी विद्यमान है। श्रद्धा हो तो भजन करना चाहिये, न हो तो भी करना चाहिये। दान भी तो धर्म, अर्थ, भय, स्नेह, दया इन पाँच कारणोंसे करना लिखा है जो सात्त्विक दानके अन्तर्गत नहीं है, किन्तु राजस, तामसके अन्तर्गत है, जैसा कि कहा है—

धर्मादर्थाद्भयात्कामात्कारुण्यादिति भारत ।
यथाशक्त्या प्रदातव्यमेवमाह प्रजापतिः ॥

(महा० अनु० १२९ । ५, ११)

इस प्रकार भजन अश्रद्धासे भी किया जाय तो क्या बुरा है ?

यह सब कुछ हमने प्रारम्भिक अवस्थाके लिये कहा है जिससे अभ्यास प्रारम्भ तो हो जाय । समयपर भजनमें श्रद्धा और रुचि भी उत्पन्न हो ही जायगी । फिर तो ऐसा चाव भी लग सकता है कि—

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।

यदि यह कार्य रूखा होनेसे इतना चाव न भी बढ़े तो कम-से-कम इतनी इच्छा और सङ्कल्प तो अवश्य हो जायगा और होना ही चाहिये कि कोई दिन भजनसे खाली न जाय और जितना भजन संग्रह हो सके उतना ही अच्छा । ज्यों-ज्यों भजनके गुण जान पड़ेंगे, जीवनकी अस्थिरताका अनुभव होने लगेगा और मनुष्य-योनिकी दुर्लभताका ज्ञान होने लगेगा त्यों-त्यों 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना' इस न्यायसे अविच्छिन्न और अधिकाधिक भजन बढ़ने लगेगा । समयपर शौच, एकाग्रता आदि शास्त्र-विधिका भी विचार उत्पन्न हो सकता है और सब न्यूनताएँ पूर्ण कर ली जा सकती हैं । परन्तु यदि अन्ततक भी ऐसा न हो, तो भी कुछ सन्ताप करनेकी आवश्यकता नहीं । भगवान्का नाम अपवित्रोंको पवित्र और सब कर्मोंकी न्यूनताओंको पूर्ण करनेवाला है । इसलिये यह न मनुष्य-की अपवित्रतासे स्वयं अपवित्र हो सकता है और न किसी विधिकी न्यूनतासे निरा निष्फल हो सकता है । यह समझकर सन्तोष और श्रद्धा कर लेनी चाहिये कि हमारे भाग्यमें इतना निभना ही लिखा था । निष्फलताका सन्देह कदापि नहीं करना चाहिये ।

इस सम्बन्धमें हमारा अनुभव यह है, गायत्री तो वेदमाता है और द्विजाति और विशेषकर निष्कामकर्मियोंके उपयुक्त है । इसलिये ऐसे पवित्र मन्त्रका जप तो अशुद्ध-दशामें कदापि नहीं करना चाहिये । जिस दिन और जिस समय पूर्णतया शुद्ध हो तभी करे और समय न भी सही । भजनका समय कम-से-कम प्रातःकाल जगनेके पीछे और रातको सोनेके पहले सबसे उपयुक्त है । अर्थात् प्रातःकाल-का दिनभरके कुशल और शान्तिके लिये और सोनेके पहलेका रात्रिभरके कुशल और शान्तिके लिये । इस बीचमें जब-जब अवकाश और रुचि हुई भजन करने बैठ गये और जी हटा कि उठ गये, चाहे पाँच मिनट ही क्यों न हो । दिनभरमें कम-से-कम एक बेर तो अवश्य भजन होना ही चाहिये और कुछ अवकाश, रुचि अथवा शक्ति न हो तो भी पड़े-पड़े अथवा चलते-फिरते ही कुछ नाम तो भगवान्के लिये ही लेने चाहिये जिससे नित्य-भजनका तन्तु न टूटने पावे । अशुद्ध दशामें—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

इस श्लोकसे भजनका आरम्भ कर सकते हैं और अन्तमें 'ॐ तत्सत्' इसको एक अथवा तीन बेर बोल लेना चाहिये । यदि भजनके बीचमें बोलना अथवा उठना हो तो भी 'ॐ तत्सत्' बोलकर भजन छोड़ सकते हैं । स्थान कोई एकान्त हो जहाँ कोई शब्द नहीं आता हो और अशुद्धिका संसर्ग न हो । सन, ऊन, रेशम, मृगादि चर्मादिका आसन न हो तो पृथ्वी ही सही । सहारा लेकर बैठना अच्छा है, जिससे शरीर हिले नहीं । आँख बन्द रखना चाहिये जिससे दृष्टि कहीं न जाय । कमर, गर्दन और सिर दृढ़ और सीधे रखने चाहिये जिससे चित्तपर दबाव पड़े और एकाग्रता हो । गीताके 'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वम्' (६ । १३) इस श्लोकके शाङ्कर-भाष्यमें लिखा है कि नासिकाग्रसे कोई प्रयोजन नहीं है, केवल दोनों भौंके बीचमें दृष्टि रखनेसे है और उसका भी प्रयोजन यही है कि दृष्टि इधर-उधर न डोले और चित्त एकाग्र हो । मुँह न ऊँचा और न नीचा, किन्तु सीधा रखना चाहिये, जिससे कष्ट न हो । मन बड़ा चञ्चल है । प्रतिपल सावधान न रहे तो वह गया, वह गया ! फिर-फिर पकड़कर लाना पड़ता है । नये अभ्यासियोंके लिये माला आवश्यक है । इससे यह नियम और उत्साह रहता है कि हमने इतना भजन कर लिया । परन्तु मूँगोंपर जो अंगुलियाँ चलती हैं उससे भी कुछ ध्यान बटता है । परिमाण जानना हो तो दूसरा उपाय यह भी है कि घड़ी रखकर मालासे गणना कर ली कि कितने समयमें किस मन्त्र अथवा नामकी कितनी आवृत्ति होती है । दोनों हाथ जोड़कर, नम्रभावसे भजन करनेमें एकाग्रता और सन्तोष अधिक होता है । जितनी एकाग्रताके साथ भजन होगा उतना ही सन्तोष होगा और यह सन्तोष ही

भजनकी सफलताका साक्षी है। यथार्थमें तो एकाग्रताका उपाय एकाग्रताका निरन्तर यत्न ही है, और कुछ नहीं। प्रत्येक नित्यके अथवा विशेष कार्यके प्रारम्भ और समाप्तिमें चुपचाप दस-पन्द्रह परमेश्वरके नाम ले लेनेका अभ्यास कर लेनेसे भी भजनकी मात्रा और चित्तकी निर्मलता अनायास बढ़ सकती है। भगवान्के जिस स्वरूपमें विशेष रुचि हो उसीके चित्रको छोड़कर सोते-जागते और किसीका मुँह न देखनेका नियम कर लिया जाय, तो इसमें भी कुछ श्रम नहीं होता और सदा मङ्गल रहता है। ऐसे अनेक, सहज, भगवद्भजनके प्रकार अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार निकाले जा सकते हैं। हम तो स्वयं उन रँगरूटोंमें हैं जिनका भजनमें न विशेष चित्त लगता और न स्थिति ऐसी है कि कोई शास्त्रीय विधि निभ सके। परन्तु—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः।

इस न्यायसे स्वच्छन्दता और सुखपूर्वक जो कुछ हम कर सकते हैं वही हम-जैसे औरोंके लिये लिख दिया है। जिसको जिस प्रकारमें सुभीता और लाभ दिखायी दे और जितना निभ सके उसके लिये वही उपयुक्त है।

परन्तु चेष्टा ऐसी ही करनी चाहिये जिसमें भजन अधिक-से-अधिक और निरन्तर हो सके, समयपर भजनकर्ताको अनुभव हो जायगा कि भजन कैसे-कैसे मनोरथ पूर्ण कर रहा है और कैसे-कैसे सङ्कट टाल रहा है; चित्तमें कैसी निश्चिन्तता, निःशोकता, दृढ़ता, निर्भयता और शान्ति आ रही है और पाप नष्ट हो-होकर कैसी निर्मलता आ रही है; आगेके लिये नित्यप्रति कैसा धन इकट्ठा होता जा रहा है जिसके आगे मौतका डर भी भाग रहा है और कम-से-कम यह तो निश्चय हो रहा है कि हम वर्तमानसे ऊँची नहीं तो, नीच गति तो नहीं पायँगे। यह क्या कम लाभ है, हमारा तो यहाँतक विश्वास है कि भजनसे स्वराज्यतक सुलभ है जिसमें कि कोई क़ानून, पुलिस या फौज़ आदि रुकावट नहीं डाल सकते, केवल प्रजाके अधिक-से-अधिक संख्यामें श्रद्धासे प्रार्थना करते रहनेकी आवश्यकता है।

परन्तु भजनके अनुसार आचरण भी रहना चाहिये। पापोंसे भजन व्यर्थ तो नहीं जा सकता; परन्तु पाप न छोड़े तो वह भजनमें कलङ्क ही है। यह सत्य है कि मन और इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रबल प्रवृत्ति होनेसे और दुष्ट लोगोंके विवश कर देनेसे, साधु पुरुषका भी पापसे बचना कठिन है। परन्तु कई व्यर्थ पाप भी होते हैं। जैसे वाणीसे परनिन्दा, आत्मश्लाघा, व्यर्थ असत्य, बकवाद, अश्लील और कठोर बोलना जिनसे कोई सांसारिक लाभ नहीं। चित्तसे किसीसे डाह करना, किसीका बुरा चाहना और किसीके कष्ट या हानिसे प्रसन्न होना जिससे अपनेको कुछ लाभ नहीं। शारीरिक व्यभिचार तो करने पावें एक स्त्रीसे पर मनसा, वाचा व्यभिचार करें पाँच सौ से। यह पिछला पाप 'गुनाह बेलज़्ज़त' है। घर बैठे जो अपनी अर्थहानि करे उसको 'जैसेको तैसा' न्यायसे रोकना अथवा हानि पहुँचाना आवश्यक हो सकता है, परन्तु आगे होकर अपने लाभके लिये अथवा बिना कारण किसीकी अर्थहानि करनेका किसीको अधिकार नहीं है। इस प्रकारके व्यर्थ और अनधिकार पाप तो भजनकर्ताको अवश्य बन्द कर देने चाहिये। तब भजन एक महाफल तप हो जायगा। इसलिये मन, वचन, कर्मपर इस प्रकारकी संयमदृष्टि सदा रखनी चाहिये। जहाँतक हो सके मौन रखना—यह इस कार्यमें बड़ा सहायक है और एक प्रकारका तप है। नम्रता भी एक आवश्यक गुण है। इन दोनों गुणोंमें कुछ श्रम वा खर्च भी नहीं होता। इस प्रकार पापोंसे बचकर सदाचारका ग्रहण करते हुए ही भजन करना चाहिये।

इस लेखमें हमने अपने-जैसोंके हितके लिये, इस विषयमें जितने हमारे विचार थे उनमेंसे कुछ यहाँ व्यक्त कर दिये हैं। इसमें कोई बात अनुचित अथवा शास्त्रविरुद्ध दिखायी दे, तो उसके सर्वथा दोषभागी हम ही हैं, 'कल्याण' कदापि नहीं।

छप गया
श्रीतुकाराम-चरित्र
(जीवनी और उपदेश)
९ चित्र, ६९४ पेज, अच्छा कागज
मूल्य १≡) सजिल्द १॥)
लेखक—
श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए०
अनुवादक—
श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर
श्रीशक्ति-अंक
४≡) भेजकर ग्राहक बन जायँ या हमें वी० पी० भेजनेकी आज्ञा दें।
इतनी सामग्री आपको और कहाँ मिलेगी ?
सुन्दर, उपयोगी, सस्ता यही धार्मिकपत्र है।
यह एक बारका व्यय आपके बार-बार पढ़नेके काम आवेगा।
नया संस्करण
१००० बिक गया
मैनेजर 'कल्याण'
गीताप्रेस, गोरखपुर